ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक—३०

[परम श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

श्रुतस्थविरप्रणीत-उपाङ्गसूत्र

जीवाजीवाभिगमसूत्र

[प्रथम खण्ड]

[मूलपाठ, प्रस्तावना, अर्थ, विवेचन तथा परिशिष्ट आदि युक्त]

सन्निधि ☐

उपप्रवर्तक शासनसेवी स्व० स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

आद्य संयोजक तथा प्रधान सम्पादक ☐

(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

सम्पादक ☐

श्री राजेन्द्रमुनिजी, एम. ए., साहित्यमहोपाध्याय

मुख्य सम्पादक ☐

पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल

प्रकाशक ☐

श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क ३०

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनिश्री कन्हैयालाल, 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल

☐ सम्प्रेरक
मुनिश्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वीर निर्वाण सं० २५१५
वि. सं. २०४६
ई. सन् १९८९

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
बृज-मधुकर स्मृति भवन, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य : [illegible] 75/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

JIVAJĪVABHIGAMA SŪTRA

[Part-I]

[Original Text, Hindi Version, Introduction and Appendices etc.]

Inspiring Soul
(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Editor
Shri Rajendra Muni, M. A.
Sahityamahopadhyay

Chief Editor
Pt. Shobhachandra Bharilla

Publishers
Shri Agam Prakashan Samiti
[illegible] Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 30

☐ **Direction**
Sadhwi Shri Umravkunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'
Upachrya Sri Devendramuni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandra Bharilla

☐ **Promotor**
Muni Sri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinakar'

☐ **Date of Publication**
Vir-nirvana Samvat 2515
Vikram Samvat 2046; June, 1989

☐ **Publishers**
Sri Agam Prakashan Samiti,
Brij-Madhukar Smriti-Bhawan, Pipalia Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

Printer
Satishchandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kaisarganj, Ajmer

☐ **Price** 75/-

प्रकाशकीय

श्री जिनागम-ग्रन्थमाला का ३०वाँ ग्रन्थाङ्क 'जीवाजीवाभिगम (प्रथम खण्ड) आगमप्रेमी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते आनन्द का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत सूत्र विशाल है और इसमें तात्त्विक वर्णन होने से इसके अनुवाद में विस्तृत विवेचन की आवश्यकता रहती है। ऐसा किये बिना जिज्ञासु पाठकों को पूरी तरह परितोष नहीं हो सकता। इस दृष्टि को समक्ष रखकर विद्वद्वर मुनिवर श्री राजेन्द्र मुनिजी ने पर्याप्त विस्तृत विवेचन किया है। इससे सूत्र का हार्द समझने में पाठकों को बहुत सुविधा हो गई है, किन्तु साथ इसके कलेवर में वृद्धि भी हो गई है। ऐसा होने पर भी इसे एक ही जिल्द में छपाने का विचार किया था, मगर कतिपय प्रतिकूलताओं के कारण विवश होकर दो खण्डों में प्रकाशित करना पड़ रहा है। पाठकों को धरने-उठाने और विहार के समय साथ रखने में अधिक सुविधा रहेगी, यह एक लाभ भी है।

प्रस्तुत सूत्र का दूसरा खण्ड भी यथासुविधा शीघ्र प्रकाशित करने का प्रयास किया जायगा।

श्री राजेन्द्र मुनिजी आगमों के विशिष्ट अध्येता और वेत्ता हैं, साथ ही उच्च कोटि के लेखक भी हैं। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म. तथा उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म. जैसे विशिष्ट प्रबुद्ध मुनिराजों के अन्तेवासी होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

जीवाजीवाभिगम का सम्पादन-विवेचन करना सरल कार्य नहीं है, फिर भी मुनिश्री ने हमारी प्रार्थना अंगीकार करके इस महान् श्रमसाध्य कार्य को हाथ में लिया और अल्पकाल में ही सम्पन्न कर दिया, इसके लिए आभार प्रदर्शन करने योग्य शब्द हमारे पास नहीं है।

जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में निरन्तर निरत रहने वाले महान् सरस्वती उपासक उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म. का ग्रन्थमाला-प्रकाशन के प्रारम्भ से ही अनमोल सहकार प्राप्त रहा है। निःस्सन्देह कहा जा सकता है कि उपाचार्य श्री का सहयोग न मिला होता तो जिस द्रुत गति से प्रकाशन-कार्य हुआ है, वह कदापि सम्भव न होता। प्रस्तुत सूत्र की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखकर आपने हमें उपकृत किया है।

आगमबत्तीसी के सम्पादन-परिशोधन का कार्य सम्पूर्ण हो चुका है। बीच में आचारांग और उपासकदशांग के द्वितीय संस्करण छपाना अनिवार्य हो जाने से छेदसूत्रों का प्रकाशन रुक गया था। अब वे प्रेस में दे दिये गये हैं। आगम-अनुयोग प्रवर्त्तक पण्डितराज श्री कन्हैयालालजी म. 'कमल' ने छेद सूत्रों के सम्पादनादि में यथेष्ट श्रम किया है, रस लिया है। आपकी कृपा से उऋण नहीं हुआ जा सकता।

जिन-जिन महानुभावों का इस महान् कार्य में सहयोग प्राप्त हुआ और हो रहा है, उन सभी के हम आभारी हैं।

निवेदक

रतनचन्द मोदी	सायरमल चोरड़िया	अमरचन्द मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामन्त्री	मन्त्री

श्री जैन आगम-प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

सम्पादकीय वक्तव्य

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग परमात्मा जिनेश्वर देवों की सुधास्यन्दिनी आगम-वाणी न केवल विश्व के धार्मिक साहित्य की अनमोल निधि है अपितु वह जगज्जीवों के जीवन का संरक्षण करने वाली संजीवनी है। अर्हन्तों द्वारा उपदिष्ट यह प्रवचन वह अमृत-कलश है जो सब विष-विकारों को दूर कर विश्व के समस्त प्राणियों को नव जीवन प्रदान करता है। जैनागमों का उद्भव ही जगत् के जीवों के रक्षण रूप दया के लिए हुआ है।[1] अहिंसा, दया, करुणा, स्नेह, मैत्री ही इसका सार है। अतएव विश्व के जीवों के लिए यह सर्वाधिक हितंकर, संरक्षक एवं उपकारक है। यह जैन प्रवचन जगज्जीवों के लिए त्राणरूप हैं, शरणरूप है, गतिरूप है और आधारभूत है।

पूर्वाचार्यों ने इस आगम-वाणी को सागर की उपमा से उपमित किया है। उन्होंने कहा—

'यह जैनागम महान् सागर के समान हैं। यह ज्ञान से अगाध है, श्रेष्ठ पद-समुदाय रूपी जल से लबालब भरा हुआ है, अहिंसा की अनन्त ऊर्मियों-लहरों से तरंगित होने से यह अपार विस्तार वाला है, चूला रूपी ज्वार इसमें उठ रहा है, गुरु की कृपा से प्राप्त होने वाली मणियों से यह भरा हुआ है, इसका पार पाना कठिन है। यह परम सार रूप और मंगल रूप है। ऐसे महावीर परमात्मा के आगमरूपी समुद्र की भक्तिपूर्वक आराधना करनी चाहिए।'

सचमुच जैनागम महासागर की तरह विस्तृत और गंभीर है। तथापि गुरुकृपा और प्रयत्न से इसमें अवगाहन करके सारभूत रत्नों को प्राप्त किया जा सकता है।

जैन प्रवचन का सार अहिंसा और समता है। जैसाकि सूत्रकृतांग सूत्र में कहा है—सब प्राणियों को आत्मवत् समझ कर उनकी हिंसा न करना, यही धर्म का सार है, आत्मकल्याण का मार्ग है।

जैन सिद्धान्त अहिंसा से ओतप्रोत हैं और आज के हिंसा के दावानल में सुलगते विश्व के लिए अहिंसा की अजस्र जलधारा ही हितावह है। अत: जैन सिद्धान्तों का पठन-पाठन। अनुशीलन एवं उनका व्यापक प्रचार-प्रसार आज के युग की प्राथमिक आवश्यकता है। अहिंसा के अनुशीलन से ही विश्व-शान्ति की सम्भावना है, अतएव अहिंसा से ओत-प्रोत जैनागमों का अध्ययन एवं अनुशीलन परम आवश्यक है।

जैनागम द्वादशांगी गणिपिटक रूप हैं। अरिहंत तीर्थंकर परमात्मा केवलज्ञान की प्राप्ति होने के पश्चात् अर्थरूप से प्रवचन का प्ररूपण करते हैं और उनके चतुर्दश पूर्वधर विपुल बुद्धिनिधान गणधर उन्हें सूत्ररूप में निबद्ध

---

१. सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए भगवया पावयणं कहियं। —प्रश्नव्याकरण सूत्र

२. बोधागाधं सुपदपदवी नीरपूराभिरामं,
जीवाहिंसाऽविरललहरी संगमागाहदेहं ॥
चूलावेलं गुरुगममणिसंकुलं दूरपारं।
सारं वीरागमजलनिधिं सादरं साधु सेवे ॥

३. अहिंसा समयं चेव एयावंतं विजाणिया।

करते हैं। इस तरह प्रवचन की परम्परा चलती रहती है। अतएव अर्थरूप आगम के प्रणेता श्री तीर्थंकर परमात्मा हैं और शब्दरूप आगम के प्रणेता गणधर हैं। अनन्तकाल से अर्हन्त और उनके गणधरों की परम्परा चलती आ रही है। अतएव उनके उपदेश रूप आगम की परम्परा भी अनादि काल से चली आ रही है। इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि यह द्वादशांगी ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, सदाकाल से है. यह कभी नहीं थी, ऐसा नहीं, यह कभी नहीं है—ऐसा नहीं, यह कभी नहीं होगी....ऐसा भी नहीं है। यह सदा थी, है और सदा रहेगी। भावों की अपेक्षा यह, ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है।[1]

द्वादशांगी में बारह अंगों का समावेश है। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग व्याख्या-प्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद् दशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। ये बारह अंग हैं। यही द्वादशांगी गणिपिटक है जो साक्षात् तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट है। यह अंगप्रविष्ट आगम कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अनंगप्रविष्ट—अंगबाह्य आगम वे हैं जो तीर्थंकरों के वचनों से अविरुद्ध रूप में प्रज्ञातिशयसम्पन्न स्थविर भगवंतों द्वारा रचे गये हैं। इस प्रकार जैनागम दो भागों में विभक्त है—अंगप्रविष्ट और अनंगप्रविष्ट (अंगबाह्य)।

प्रस्तुत जीवाभिगम शास्त्र अनंगप्रविष्ट आगम है। दूसरी विवक्षा से बारह अंगों के बारह उपांग भी कहे गये हैं। तदनुसार औपपातिक आदि को उपांग संज्ञा दी जाती है। आचार्य मलयागिरि ने, जिन्होंने जीवाभिगम पर विस्तृत वृत्ति लिखी है—इसे तृतीय अंग—स्थानांग का उपांग कहा है।

प्रस्तुत जीवाजीवाभिगम सूत्र की आदि में स्थविर भगवंतों को इस अध्ययन के प्ररूपक के रूप में प्रतिपादित किया गया है। वह पाठ इस प्रकार है—

'इह खलु जिणमयं जिणाणुमयं, जिणाणुलोमं जिणप्पणीयं जिणप्परूवियं जिणक्खायं जिणाणुचिण्णं जिणपण्णत्तं जिणदेसियं जिणपसत्थं अणुवीइय तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोयमाणा थेरा भगवंता जीवा जीवाभिगमणामज्झयणं पण्णवंसु।'

—'समस्त जिनेश्वरों द्वारा अनुमत, जिनानुलोम, जिनप्रणीत, जिनप्ररूपित, जिनाख्यात, जिनानुचीर्ण जिन-प्रज्ञप्त और जिनदेशित इस प्रशस्त जिनमत का चिन्तन करके, उस पर श्रद्धा-विश्वास एवं रुचि करके स्थविर भगवन्तों ने जीवाजीवाभिगम नामक अध्ययन की प्ररूपणा की।'

उक्त कथन द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि प्रस्तुत सूत्र की रचना स्थविर भगवन्तों ने की है। वे स्थविर भगवंत तीर्थंकरों के प्रवचन के सम्यक् ज्ञाता थे। उनके वचनों पर श्रद्धा-विश्वास और रुचि रखने वाले थे। इससे यह ध्वनित किया गया है कि ऐसे स्थविरों द्वारा प्ररूपित आगम भी उसी प्रकार प्रमाणरूप है जिस प्रकार सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर परमात्मा द्वारा प्ररूपित आगम प्रमाणरूप हैं। क्योंकि स्थविरों की यह रचना तीर्थंकरों के वचनों से अविरुद्ध है। प्रस्तुत पाठ में आये हुए जिनमत के विशेषणों का स्पष्टीकरण उक्त मूलपाठ के विवेचन में किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र का नाम जीवाजीवाभिगम है परन्तु मुख्य रूप से जीव का प्रतिपादन होने से अथवा संक्षेप दृष्टि से यह सूत्र 'जीवाभिगम' के नाम से भी जाना जाता है।

---

१. एयं दुवालसंगं गणिपिडगं ण कयावि नासि, न कयावि न भवइ, न कयावि न भविस्सइ, धुवं णिच्चं सासयं।—नन्दीसूत्र।

जैन तत्त्वज्ञान प्रधानतया आत्मवादी है। जीव या आत्मा इसका केन्द्र बिन्दु है। वैसे तो जैन सिद्धान्त ने नौ तत्त्व माने हैं अथवा पुण्य-पाप को आस्रव बन्ध तत्त्व में सम्मिलित करने से सात तत्त्व माने हैं परन्तु वे सब जीव और अजीव कर्म-द्रव्य के सम्बन्ध या वियोग की विभिन्न अवस्थारूप ही हैं। अजीव तत्त्व का प्ररूपण जीव तत्त्व के स्वरूप को विशेष स्पष्ट करने तथा उससे उसके भिन्न स्वरूप को बताने के लिए है। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष तत्त्व जीव और कर्म के संयोग-वियोग से होने वाली अवस्थाएँ हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि जैन तत्त्व ज्ञान का मूल आत्मद्रव्य (जीव) है। उसका आरम्भ ही आत्मविचार से होता है तथा मोक्ष उसकी अन्तिम परिणति है। प्रस्तुत सूत्र में उसी आत्मद्रव्य की अर्थात् जीव की विस्तार के साथ चर्चा की गई है। अतएव यह जीवाभिगम कहा जाता है। अभिगम का अर्थ है ज्ञान। जिसके द्वारा जीव-अजीव का ज्ञान-विज्ञान हो वह 'जीवाभिगम' है। अजीव तत्त्व के भेदों का सामान्य रूप से उल्लेख करने के उपरान्त प्रस्तुत सूत्र का सारा अभिधेय जीव तत्त्व को लेकर ही है। जीव के दो भेद—सिद्ध और संसारसमापन्नक के रूप में बताये गये हैं। तदुपरान्त संसारसमापन्नक जीवों के विभिन्न विवक्षाओं को लेकर किये गये भेदों के विषय में नौ प्रतिपत्तियों—मन्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है। ये नौ ही प्रतिपत्तियां भिन्न भिन्न अपेक्षाओं को लेकर प्रतिपादित हैं अतएव भिन्न भिन्न होने के बावजूद ये परस्पर अविरोधी हैं और तथ्यपरक हैं।

राग-द्वेषादि विभाव परिणतियों से परिणत यह जीव संसार में कैसी कैसी अवस्थाओं का, किन किन रूपों का, किन किन योनियों में जन्म-मरण आदि का अनुभव करता है, आदि विषयों का उल्लेख इन नौ प्रतिपत्तियों में किया गया है। त्रस-स्थावर के रूप में, स्त्री-पुरुष-नपुंसक के रूप में, नारक-तिर्यञ्च-मनुष्य और देव के रूप में, एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय के रूप में, पृथ्वीकाय यावत् त्रसकाय के रूप में तथा अन्य अपेक्षाओं से अन्य-अन्य रूपों में जन्म-मरण करता हुआ वह जीवात्मा जिन जिन स्थितियों का अनुभव करता है, उनका सूक्ष्म वर्णन किया गया है। द्विविध प्रतिपत्ति में त्रस-स्थावर के रूप में जीवों के भेद बताकर १ शरीर, २ अवगाहना, ३ संहनन, ४ संस्थान, ५ कषाय, ६ संज्ञा, ७ लेश्या: ८ इन्द्रिय, ९ समुद्घात, १० संज्ञी-असंज्ञी, ११ वेद, १२ पर्याप्ति-अपर्याप्ति, १३ दृष्टि, १४ दर्शन, १५ ज्ञान, १६ योग, १७ उपयोग, १८ आहार, १९ उपपात, २० स्थिति, २१ समवहत-असमवहत, २२ च्यवन और २३ गति-आगति—इन २३ द्वारों से उनका निरूपण किया गया है। इसी प्रकार आगे की प्रतिपत्तियों में भी जीव के विभिन्न भेदों में विभिन्न द्वारों को घटित किया गया है। स्थिति, संचिट्ठणा (कायस्थिति), अन्तर और अल्पबहुत्व द्वारों का यथासंभव सर्वत्र उल्लेख किया गया है। अन्तिम प्रतिपत्ति में सिद्ध-संसारी भेदों की विविक्षा न करते हुए सर्वजीव के भेदों की प्ररूपणा की गई है।

प्रस्तुत सूत्र में नारक-तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों के प्रसंग में अधोलोक, तिर्यक् लोक और ऊर्ध्वलोक का निरूपण किया गया है। तिर्यक् लोक के निरूपण में द्वीप-समुद्रों की वक्तव्यता, कर्मभूमि अकर्मभूमि की वक्तव्यता, वहाँ की भौगोलिक और सांस्कृतिक स्थितियों का विशद विवेचन भी किया गया है जो विविध दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार यह सूत्र और इसकी विषय-वस्तु जीव के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी देती है, अतएव इसका जीवाभिगम नाम सार्थक है। यह आगम जैन तत्वज्ञान का महत्त्वपूर्ण अंग है।

प्रस्तुत सूत्र का मूल प्रमाण ६७५० (चार हजार सात सौ पचास) ग्रन्थाग्र है। इस पर आचार्य मलयागिरि ने १४००० (चौदह हजार) ग्रन्थाग्र प्रमाण वृत्ति लिखकर इस गम्भीर आगम के मर्म को प्रकट किया है। वृत्तिकार ने अपने बुद्धि-वैभव से आगम के मर्म को हम साधारण लोगों के लिए उजागर कर हमें बहुत उपकृत किया है।

सम्पादन के विषय में—

प्रस्तुत संस्करण के मूल पाठ का मुख्यतः आधार सेठ श्री देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत से

प्रकाशित वृत्तिसहित जीवाभिगम सूत्र का मूल पाठ है परन्तु अनेक स्थलों पर उस संस्करण में प्रकाशित मूलपाठ में वृत्तिकार द्वारा मान्य पाठ में अन्तर भी है। कई स्थलों में पाये जाने वाले इस भेद से ऐसा लगता है कि वृत्तिकार के सामने कोई अन्य प्रति (आदर्श) रही हो। अतएव अनेक स्थलों पर हमने वृत्तिकार-सम्मत पाठ अधिक संगत लगने से उसे मूलपाठ में स्थान दिया है। ऐसे पाठान्तरों का उल्लेख स्थान-स्थान पर फुटनोट (टिप्पण) में किया गया है। स्वयं वृत्तिकार ने इस बात का उल्लेख किया है कि इस आगम के सूत्रपाठों में कई स्थानों पर भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। यह स्मरण रखने योग्य है कि यह भिन्नता शब्दों को लेकर है। तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। तात्त्विक अन्तर न होकर वर्णनात्मक स्थलों से शब्दों का और उनके क्रम का अन्तर दृष्टिगोचर होता है। ऐसे स्थलों पर हमने टीकाकारसम्मत पाठ को मूल में स्थान दिया है।

प्रस्तुत आगम के अनुवाद और विवेचन में भी मुख्य आधार आचार्य श्री मलयगिरि की वृत्ति ही रही है। हमने अधिक से अधिक यह प्रयास किया है कि इस तात्त्विक आगम की सैद्धान्तिक विषय-वस्तु को अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। अतएव वृत्ति में स्पष्ट की गई प्रायः सभी मुख्य मुख्य बातें हमने विवेचन में दे दी हैं ताकि संस्कृत भाषा को न समझने वाले जिज्ञासुजन भी उनसे लाभान्वित हो सकें। मैं समझता हूं कि मेरे इस प्रयास से हिन्दी भाषी जिज्ञासुओं को वे सब तात्त्विक बातें समझने को मिल सकेंगी जो वृत्ति में संस्कृत भाषा में समझाई गई हैं। इस दृष्टि से इस संस्करण की उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। जिज्ञासु जन यदि इससे लाभान्वित होंगे तो मैं अपने प्रयास को सार्थक समझूंगा।

अन्त में, मैं स्वयं को धन्य मानता हूं कि मुझे इस संस्करण को तैयार करने का सु-अवसर मिला। आगम-प्रकाशन समिति, ब्यावर की ओर से मुझे प्रस्तुत जीवाभिगम सूत्र का सम्पादन करने का दायित्व सौंपा गया। सूत्र की गंभीरता को देखते हुए मुझे अपनी योग्यता के विषय में संकोच अवश्य पैदा हुआ परन्तु श्रुतभक्ति से प्रेरित होकर मैंने यह दायित्व स्वीकार कर लिया और उसके निष्पादन में निष्ठा के साथ जुट गया। जैसा भी मुझ से बन पड़ा, वह इस रूप में पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत है।

कृतज्ञता-ज्ञापन—

श्रुत-सेवा के मेरे इस प्रयास में श्रद्धेय गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म. एवं श्रमणसंघ के उपाचार्य साहित्य-मनीषी सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्र मुनिजी म. का कुशल मार्गदर्शन एवं दिशानिर्देशन प्राप्त हुआ है जिसके फलस्वरूप मैं यह भगीरथ-कार्य सम्पन्न करने में सफल हो सका हूं। इन पूज्य गुरुवर्यों का जितना आभार मानूं उतना कम ही है। श्रद्धेय उपाचार्य श्री ने तो इस आगम की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखने की महती अनुकम्पा की है। इससे इस संस्करण की उपयोगिता में चार चांद लग गये हैं।

प्रस्तुत आगम का सम्पादन करते समय मुझे जैन समाज के विश्रुत विद्वान् पं. श्री बसन्तीलालजी नलवाया रतलाम का महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला। उनके विद्वतापूर्ण एवं श्रमनिष्ठ सहयोग के लिए कृतज्ञता व्यक्त करना मैं नहीं भूल सकता।

सेठ देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत का मुख्य रूप से आभारी हूं। जिसके द्वारा प्रकाशित संस्करण का उपयोग इसमें किया गया है। आगम प्रकाशन समिति ब्यावर एवं अन्य सब प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोगियों का कृतज्ञतापूर्वक आभार व्यक्त करता हूं।

यदि मेरे इस प्रयास से जिज्ञासु आगम-रसिकों को तात्त्विक सात्विक लाभ पहुंचेगा तो मैं अपने प्रयास को सार्थक समझूंगा। अन्त में मैं यह शुभकामना करता हूं कि जिनेश्वर देवों द्वारा प्ररूपित तत्त्वों के प्रति जन-जन के मन में श्रद्धा, विश्वास और रुचि उत्पन्न हो ताकि वे ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना करके मुक्ति-पथ के पथिक बन सकें। जैनं जयति शासनम्।

—राजेन्द्र मुनि एम. ए.
साहित्यमहोपाध्याय

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर—(राज.)
११ मई १९८९

प्रस्तावना

जीवाजीवाभिगम : एक समीक्षात्मक अध्ययन

जैनागम विश्व-वाङ्मय की अनमोल मणि-मंजूषा है। यदि विश्व के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य की दृष्टि से सोचें तो उसका स्थान और भी अधिक गरिमा और महिमा से मण्डित हो उठता है। धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य के असीम अन्तरिक्ष में जैनागमों और जैन साहित्य का वही स्थान है जो असंख्य टिमटिमाते ग्रह-नक्षत्र एवं तारकमालिकाओं के बीच चन्द्र और सूर्य का है। जैनसाहित्य के बिना विश्व-साहित्य की ज्योति फीकी और निस्तेज है। डॉ. हर्मन जेकोबी, डॉ. शुब्रिंग प्रभृति पाश्चात्य विचारक भी यह सत्य-तथ्य एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि जैनागमों में दर्शन और जीवन का, आचार और विचार का, भावना और कर्त्तव्य का जैसा सुन्दर समन्वय हुआ है वैसा अन्य साहित्य में दुर्लभ है।

जैनागम ज्ञान-विज्ञान का अक्षय कोष है। अक्षर-देह से वह जितना विशाल है उससे भी अधिक उसका सूक्ष्म एवं गम्भीर चिंतन विशद एवं महान् है। जैनागमों ने आत्मा की शाश्वत सत्ता का उद्घोष किया है और उसकी सर्वोच्च विशुद्धि का पथ प्रदर्शित किया है। साथ ही उसके साधन के रूप में सम्यग् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धान और सम्यग् आचरण के पावन त्रिवेणी-संगम का प्रतिपादन किया है। त्याग, वैराग्य और संयम की आराधना के द्वारा जीवन के चरम और परम उत्कर्ष को प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान की है। जीवन के चिरन्तन सत्य को उन्होंने उद्घाटित किया है। न केवल उद्घाटित ही किया है अपितु उसे आचरण में उतारने योग्य एवं व्यवहार्य बनाया है। अपनी साधना के बल से जैनागमों के पुरस्कर्त्ताओं ने प्रथम स्वयं ने सत्य को पहचाना, यथार्थ को जाना तदनन्तर उन्होंने सत्य का प्ररूपण किया। अतएव उनके चिन्तन में अनुभूति का पुट है। वह कल्पनाओं की उड़ान नहीं है अपितु अनुभूतिमूलक यथार्थ चिन्तन है। यथार्थदर्शी एवं वीतराग जिनेश्वरों ने सत्य तत्त्व का साक्षात्कार किया और जगत् के जीवों के कल्याण के लिए उसका प्ररूपण किया।[1] यह प्ररूपण और निरूपण ही जैनागम हैं। यथार्थदृष्टा और यथार्थवक्ता द्वारा प्ररूपित होने से यह सत्य हैं, निश्शंक हैं और आप्त वचन होने से आगम हैं। जिन्होंने रागद्वेष को जीत लिया है वह जिन, तीर्थंकर, सर्वज्ञ भगवान् आप्त हैं और उनका उपदेश एवं वाणी ही जैनागम हैं। क्योंकि उनमें वक्ता के यथार्थ दर्शन एवं वीतरागता के कारण दोष की सम्भावना नहीं होती और न पूर्वापर विरोध तथा युक्तिबाध ही होता है।

जैनागमों का उद्भव

जैनागमों के उद्भव के विषय में आवश्यकनिर्युक्ति में श्री भद्रबाहुस्वामी ने तथा विशेषावश्यकभाष्य में श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने कहा है—

---

१. सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं। —प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार

२. तमेव सच्चं णिस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं।

३. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। —प्रमाणनयतत्त्वालोक

'तप, नियम तथा ज्ञानरूपी वृक्ष पर आरूढ अनन्त ज्ञान-सम्पन्न केवलज्ञानी भव्य जनों को उद्बोधित करने हेतु ज्ञान-पुष्पों की वृष्टि करते हैं। गणधर उसे बुद्धिरूपी पट में ग्रहण कर उसका प्रवचन के निमित्त ग्रथन करते हैं।'[1]

'अर्हन्त अर्थरूप से उपदेश देते हैं और गणधर निपुणतापूर्वक उसको सूत्र के रूप में गूंथते हैं। इस प्रकार धर्मशासन के हितार्थ सूत्र प्रवर्तित होते हैं।'[2]

अर्थात्मक ग्रन्थ के प्रणेता तीर्थंकर हैं। आचार्य देववाचक ने इसीलिए आगमों को तीर्थंकरप्रणीत कहा है। प्रबुद्ध पाठकों को यह स्मरण रखना होगा कि आगम साहित्य की प्रामाणिकता केवल गणधरकृत होने से ही नहीं किन्तु अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वज्ञता के कारण है। गणधर केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं। अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं।

आचार्य मलयगिरि आदि का अभिमत है कि गणधर तीर्थंकर के सन्मुख यह जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि तत्त्व क्या है? उत्तर में तीर्थंकर 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' इस त्रिपदी का उच्चारण करते हैं। इस त्रिपदी को मातृका-पद कहा जाता है, क्योंकि इसके आधार पर ही गणधर द्वादशांगी की रचना करते हैं। यह द्वादशांगी रूप आगम-साहित्य अंगप्रविष्ट के रूप में विश्रुत होता है। अवशेष जितनी भी रचनाएँ हैं वे सब अंग-बाह्य हैं।

द्वादशांगी त्रिपदी से उद्भूत है, इसलिए वह गणधरकृत है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि गणधरकृत होने से सभी रचनाएं अंग नहीं होतीं, त्रिपदी के अभाव में मुक्त व्याकरण से जो रचनाएं की जाती हैं, भले ही उन रचनाओं के निर्माता गणधर हों अथवा स्थविर हों, वे अंगबाह्य ही कहलाएंगी।

स्थविर के दो भेद हैं—चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी। वे सूत्र और अर्थ की दृष्टि से अंग साहित्य के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। वे जो भी रचना करते हैं या कहते हैं, उसमें किंचित्-मात्र भी विरोध नहीं होता।

आचार्य संघदास गणी का अभिमत है कि जो बात तीर्थंकर कह सकते हैं, उसको श्रुतकेवली भी उसी रूप में कह सकते हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञानी सम्पूर्ण तत्त्व को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं तो श्रुत-केवली श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष रूप से जानते हैं।[3] उनके वचन इसलिए भी प्रामाणिक होते हैं कि वे नियमतः सम्यग्दृष्टि होते हैं।[4] वे सदा निर्ग्रन्थ-प्रवचन को आगे करके ही चलते हैं। उनका उद्घोष होता है कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, निःशंक है, यही अर्थ है, परमार्थ है, शेष अनर्थ है। अतएव उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में द्वादशांगी से विरुद्ध तथ्यों की सम्भावना नहीं होती। उनका कथन द्वादशांगी से अविरुद्ध होता है। अतः उनके द्वारा रचित ग्रन्थों को भी आगम के समान प्रामाणिक माना गया है।

---

१. तवणियमणाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं णिरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा॥ —आवश्यकनिर्युक्ति गा. ८९-९०

२. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ॥ —विशेषावश्यक भाष्य गा. १११९

३. बृहत्कल्पभाष्य गाथा ९६३ से ९६६

४. बृहत्कल्पभाष्य गाथा १३२

पूर्व और अंग

जैनागमों का प्राचीनतम वर्गीकरण पूर्व और अंग के रूप में समवायांग सूत्र में मिलता है। वहाँ पूर्वों की संख्या चौदह और अंगों की संख्या बारह बताई गई है।[1] जैन वाङ्मय में ज्ञानियों की दो प्रकार की परम्पराएँ उपलब्ध हैं—पूर्वधर और द्वादशांगवेत्ता। पूर्वधरों का ज्ञान की दृष्टि से उच्च स्थान रहा है। जो श्रमण चौदह पूर्वों का ज्ञान धारण करते थे उन्हें श्रुतकेवली कहा जाता था। पूर्वों में समस्त वस्तु-विषयों का विस्तृत विवेचन था अतएव उनका विस्तार एवं प्रमाण बहुत विशाल था एवं गहन भी था। पूर्वों की परिधि से कोई भी सत् पदार्थ अछूता नहीं था।

पूर्वों की रचना के विषय में विज्ञों के विभिन्न मत हैं। आचार्य अभयदेव आदि के अभिमतानुसार द्वादशांगी से पहले पूर्वसाहित्य रचा गया था। इसी से उसका नाम पूर्व रखा गया है।[2] कुछ चिन्तकों का मत है कि पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा की श्रुतराशि है।

पूर्वगत विषय अति गंभीर दुरूह और दुर्गम होने के कारण विशिष्ट क्षयोपशमधारियों के लिए ही वह उपयोगी हुआ। सामान्य जनों के लिए भी वह विषय उपयोगी बने, इस हेतु से अंगों की रचना की गई। जैसा कि विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—'यद्यपि भूतवाद या दृष्टिवाद में समग्र ज्ञान का अवतरण है परन्तु अल्पबुद्धि वाले लोगों के उपकार हेतु उससे शेष श्रुत का निर्यूहण हुआ, उसके आधार पर सारे वाङ्मय का सर्जन हुआ।[3]

वर्तमान में पूर्व द्वादशांगी से पृथक् नहीं माने जाते हैं। दृष्टिवाद बारहवां अंग है। जब तक आचारांग आदि अंगसाहित्य का निर्माण नहीं हुआ था तब तक समस्त श्रुतराशि पूर्व के नाम से या दृष्टिवाद के नाम से पहचानी जाती थी। जब अंगों का निर्माण हो गया तो आचारांगादि ग्यारह अंगों के बाद दृष्टिवाद को बारहवें अंग के रूप में स्थान दे दिया गया।

आगम साहित्य में द्वादश अंगों को पढ़ने वाले और चौदह पूर्व पढ़ने वाले दोनों प्रकार के श्रमणों का वर्णन मिलता है किन्तु दोनों का तात्पर्य एक ही है। चतुर्दशपूर्वी होते थे वे द्वादशांगवित् भी होते थे क्योंकि बारहवें अंग में चौदह पूर्व हैं ही।

आगमों का दूसरा वर्गीकरण अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के रूप में किया गया है।

अंगप्रविष्ट : अंगबाह्य

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का विश्लेषण करते हुए कहा है—

---

१. चउद्दसपुव्वा पण्णत्ता तं जहा— उप्पायपुव्व..........तह बिंदुसारं च।
दुवालस गणिपिडगे प. तं—आयारे जाव दिट्ठिवाए।

२. (क) प्रथमं पूर्वं तस्य सर्वप्रवचनात् पूर्वं क्रियमाणत्वात् —समवायांग वृत्ति।
(ख) सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि, उत्पादपूर्वादीनि चतुर्दश। —स्थानांग वृत्ति
(ग) जम्हा तित्थकरो तित्थपवत्तणकाले गणधराणं सव्वसुत्ताधारत्तणतो पुव्वं पुव्वगतसुत्तत्थं भासति तम्हा पुव्वं ति भणिता। —नंदी चूर्णि

३. जइवि य भूयावाए सव्वस्स य आगमस्स ओयारो।
निज्जूहणा तहा वि हु दुम्मेहे पप्प इत्थी य।
—विशेषावश्यक भाष्य गाथा, ५५१

अंगप्रविष्ट श्रुत वह है (१) जो गणधर के द्वारा सूत्ररूप में बनाया हुआ हो, (२) जो गणधर द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित हो, (३) जो शाश्वत सत्यों से संबंधित होने के कारण ध्रुव एवं सुदीर्घ-कालीन हो। इसी अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है कि—यह द्वादशांगी रूप गणिपिटक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, कभी नहीं है और कभी नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है। यह था, है, और होगा। यह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।

अंगबाह्य श्रुत वह है—(१) जो स्थविरकृत होता है, (२) जो बिना प्रश्न किये ही तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित होता है, (३) जो अध्रुव हो अर्थात् सब तीर्थंकरों के तीर्थ में अवश्य हो, ऐसा नहीं है, जैसे तन्दुलवैचारिक आदि प्रकरण।

नंदीसूत्र के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—'सर्वोत्कृष्ट श्रुतलब्धि-सम्पन्न गणधर रचित मूलभूत सूत्र जो सर्वथा नियत हैं, ऐसे आचारांगादि अंगप्रविष्ट श्रुत हैं। उनके अतिरिक्त अन्य श्रुत स्थविरों द्वारा रचित श्रुतअंगबाह्य श्रुत है।' अंगबाह्य श्रुत दो प्रकार का है—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यकव्यतिरिक्त श्रुत दो प्रकार का है—(१) कालिक और (२) उत्कालिक। जो श्रुत रात तथा दिन के प्रथम और अन्तिम प्रहर में पढ़ा जाता है वह कालिक श्रुत है तथा जो काल वेला को वर्जित कर सब समय पढ़ा जा सकता है, वह उत्कालिक सूत्र है। नन्दीसूत्र में कालिक और उत्कालिक सूत्रों के नामों का निर्देश किया गया है।

अंग, उपांग, मूल और छेद

आगमों का सबसे उत्तरवर्ती वर्गीकरण है—अंग, उपांग, मूल और छेद। नन्दीसूत्र में न उपांग शब्द का प्रयोग है और न ही मूल और छेद का उल्लेख। वहाँ उपांग के अर्थ में अंगबाह्य शब्द आया है।

आचार्य श्रीचन्द ने, जिनका समय ई. १११२ से पूर्व माना जाता है, सुखबोधा समाचारी की रचना की। उसमें उन्होंने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए अंगबाह्य के अर्थ में 'उपांग' का प्रयोग किया है। चूर्णि साहित्य में भी उपांग शब्द का प्रयोग हुआ है। मूल और छेद सूत्रों का विभाग कब हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। विक्रम संवत् १३३४ में निर्मित प्रभावकचरित में सर्वप्रथम अंग, उपांग, मूल और छेद का विभाग मिलता है। फलितार्थ यह है कि उक्त विभाग तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो चुका था।

मूल और छेद सूत्रों की संख्या और नामों के विषय में भी मतैक्य नहीं है। अंग-साहित्य की संख्या के संबंध में श्वेताम्बर और दिगम्बर सब एक मत हैं। सब बारह अंग मानते हैं। किन्तु अंगबाह्य आगमों की संख्या में विभिन्न मत हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक ४५ आगम मानते हैं, स्थानकवासी और तेरापंथी बत्तीस आगम मानते हैं। ११ अंग, १२ उपांग, ६ मूल सूत्र, छह छेद सूत्र और दस पइन्ना—यों पैंतालीस आगम श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक समुदाय प्रमाणभूत मानता है। स्थानकवासी और तेरापंथ के अनुसार ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल सूत्र, ४ छेद सूत्र, १ आवश्यक सूत्र यों बत्तीस वर्तमान में प्रमाणभूत माने जाते हैं।

जीवाजीवाभिगम—प्रस्तुत जीवाजीवाभिगमसूत्र उक्त वर्गीकरण के अनुसार उपांग श्रुत और कालिक सूत्रों

---

१. गणहर-थेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा।
ध्रुव-चलविसेसओ वा अंगाणंगेसु णाणत्तं॥ —विशेषावश्यक भाष्य गा. ५५०

में इसका उल्लेख है। वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने इसे तृतीय अंग स्थानांग का उपांग कहा है।[1] इस आगम की महत्ता बताते हुए वे कहते हैं कि यह जीवाजीवाभिगम नामक उपांग राग रूपी विष को उतारने के लिए श्रेष्ठ मंत्र के समान है। द्वेष रूपी आग को शान्त करने हेतु जलपूर के समान है। अज्ञान-तिमिर को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान है। संसाररूपी समुद्र को तिरने के लिए सेतु के समान है। बहुत प्रयत्न द्वारा ज्ञेय है एवं मोक्ष को प्राप्त कराने की अमोघ शक्ति से युक्त है। वृत्तिकार के उक्त विशेषणों से प्रस्तुत आगम का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत आगम के प्रथम सूत्र में इसके प्रज्ञापक के रूप में स्थविर भगवंतों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—'उन स्थविर भगवंतों ने तीर्थंकर प्ररूपित तत्त्वों का अपनी विशिष्ट प्रज्ञा द्वारा पर्यालोचन करके, उस पर अपनी प्रगाढ श्रद्धा, प्रीति, रुचि, प्रतीति एवं गहरा विश्वास करके जीव और अजीव सम्बन्धी अध्ययन का प्ररूपण किया है।'

उक्त कथन द्वारा यह अभिव्यक्त किया गया है कि प्रस्तुत आगम के प्रणेता स्थविर भगवंत हैं। उन स्थविरों ने जो कुछ कहा है वह जिनेश्वर देवों द्वारा कहा गया ही है, उनके द्वारा अनुमत है, उनके द्वारा प्रणीत है, उनके द्वारा प्ररूपित है, उनके द्वारा आख्यात है, उनके द्वारा आचीर्ण है, उनके द्वारा प्रज्ञप्त है, उनके द्वारा उपदिष्ट है, यह पथ्यान्न की तरह प्रशस्त और हितावह है तथा परम्परा से जिनत्व की प्राप्ति कराने वाला है।[2] यह आगम शब्दरूप से स्थविर भगवंतों द्वारा कथित है किन्तु अर्थरूप से तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट होने से द्वादशांगी की तरह ही प्रमाणभूत है। इस प्रकार प्रस्तुत आगम की प्रामाणिकता प्रकट की गई है। अंगश्रुतों के अनुकूल होने से ही उपांगश्रुतों की प्रामाणिकता है।

श्रुत की पुरुष के रूप में कल्पना की गई। जिस प्रकार पुरुष के अंग-उपांग होते हैं उसी तरह श्रुत-पुरुष के भी बारह अंग और बारह उपांगों को स्वीकार किया गया। पुरुष के दो पांव, दो जंघा, दो उरु, देह का अग्रवर्ती तथा पृष्ठवर्ती भाग (छाती और पीठ), दो बाहु, ग्रीवा और मस्तक—ये बारह अंग माने गये हैं। इसी तरह श्रुत-पुरुष के आचारांग आदि बारह अंग हैं। अंगों के सहायक के रूप में उपांग होते हैं, उसी तरह अंगश्रुत के सहायक—पूरक के रूप में उपांग श्रुत की प्रतिष्ठापना की गई। बारह अंगों के बारह उपांग मान्य किये गये। वैदिक परम्परा में भी वेदों के सहायक या पूरक के रूप में वेदांगों एवं उपांगों को मान्यता दी गई है जो शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष तथा कल्प के नाम से प्रसिद्ध हैं। पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्रों की उपांग के रूप में स्वीकृति हुई। अंगों और उपांगों के विषय-निरूपण में सामंजस्य अपेक्षित है जो स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता है। यह विषय विज्ञों के लिए अवश्य विचारणीय है।

नामकरण एवं परिचय

प्रस्तुत सूत्र का नाम जीवाजीवाभिगम है परन्तु अजीव का संक्षेप दृष्टि से तथा जीव का विस्तृत रूप से प्रतिपादन होने के कारण यह 'जीवाभिगम' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भगवान् महावीर और गणधर गौतम के प्रश्नोत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेद और प्रभेदों की चर्चा है। परम्परा की दृष्टि से प्रस्तुत आगम में २० उद्देसक थे

---

१. अतो यदस्ति स्थाननाम्नो रागविषपरममंत्ररूपं द्वेषानलसलिलपूरोपमं तिमिरादित्यभूतं भवाब्धिपरमसेतुर्महा-प्रयत्नगम्यं निःश्रेयसावाप्त्यवन्ध्यशक्तिकं जीवाजीवाभिगमनामकमुपाङ्गम्। —मलयगिरि वृत्ति

२. इह खलु जिणमयं जिणाणुमयं जिणाणुलोमं जिणप्पणीतं जिणपरूवियं जिणक्खायं जिणाणुचिण्णं जिनपण्णत्तं जिणदेसियं जिणपसत्थं अणुव्वीइय तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोयमाणा थेरा भगवंतो जीवाजीवाभिगम-णामज्झयणं पण्णवइंसु। —जीवा. सूत्र १

और बीसवें उद्देशक की व्याख्या श्री शालिभद्रसूरि के शिष्य श्री चन्द्रसूरि ने की थी। श्री अभयदेव ने इसके तृतीय पद पर संग्रहणी लिखी थी। परन्तु वर्तमान में जो इसका स्वरूप है उसमें केवल नौ प्रतिपत्तियां (प्रकरण) हैं जो २७२ सूत्रों में विभक्त हैं। संभव है इस आगम का महत्त्वपूर्ण भाग लुप्त हो जाने से शेष बचे हुए भाग को नौ प्रतिपत्तियों के रूप में संकलित कर दिया गया हो। उपलब्ध संस्करण में ९ प्रतिपत्तियां, एक अध्ययन, १८ उद्देशक, ४७५० श्लोक प्रमाण पाठ है। २७२ गद्यसूत्र और ८१ पद्य (गाथाएँ) हैं। प्रसिद्ध वृत्तिकार श्री मलयगिरि ने इस पर वृत्ति लिखी है। उन्होंने अपनी वृत्ति में अनेक स्थलों पर वाचनाभेद का उल्लेख किया है।[1] आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित जीवाभिगम के संस्करण में जो मूल पाठ दिया गया है उसकी पाण्डुलिपि से वृत्तिकार के सामने रही हुई पाण्डुलिपि में स्थान-स्थान पर भेद है, जिसका उल्लेख स्वयं वृत्तिकार ने विभिन्न स्थानों पर किया है। प्रस्तुत संस्करण के विवेचन और टिप्पण में ऐसे पाठभेदों का स्थान-स्थान पर उल्लेख करने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि शाब्दिक भेद होते हुए भी प्रायः तात्पर्य में भेद नहीं है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय यह है कि नन्दीसूत्र आदि श्रुतग्रन्थों में श्रुतसाहित्य का जो विवरण दिया गया है तदनुरूप श्रुतसाहित्य वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। उसमें उल्लिखित विशाल श्रुतसाहित्य में से बहुत कुछ तो लुप्त हो गया और बहुत-सा परिवर्तित भी हो गया। भगवान् महावीर के समय जो श्रुत का स्वरूप और परिमाण था वह धीरे धीरे दुर्भिक्ष आदि के कारण तथा कालदोष से एवं प्रज्ञा-प्रतिभा की क्षीणता से घटता चला गया। समय समय पर शेष रहे हुए श्रुत की रक्षा हेतु आगमों की वाचनाएँ हुई हैं। उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाना अप्रासंगिक नहीं होगा।

वाचनाएँ

श्रमण भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् आगम-संकलन हेतु पांच वाचनाएँ हुई हैं।

प्रथम वाचना—वीरनिर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में द्वादशवर्षीय भीषण दुष्काल पड़ने के कारण श्रमणसंघ छिन्न-भिन्न हो गया। अनेक बहुश्रुतधर श्रमण क्रूर काल के गाल में समा गये। अनेक अन्य विघ्न-बाधाओं ने भी यथावस्थित सूत्रपरावर्तन में बाधाएँ उपस्थित कीं। आगम ज्ञान की कड़ियां-लड़ियां विशृंखलित हो गईं। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर विशिष्ट आचार्य, जो उस समय विद्यमान थे, पाटलिपुत्र में एकत्रित हुए। ग्यारह अंगों का व्यवस्थित संकलन किया गया। बारहवें दृष्टिवाद के एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी उस समय नेपाल में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ की प्रार्थना से उन्होंने बारहवें अंग की वाचना देने की स्वीकृति दी। मुनि स्थूलभद्र ने दस पूर्व तक अर्थसहित वाचना ग्रहण की। ग्यारहवें पूर्व की वाचना चल रही थी तभी स्थूलभद्र मुनि ने सिंह का रूप बनाकर बहिनों को चमत्कार दिखलाया[2]। जिसके कारण भद्रबाहु ने आगे वाचना देना बंद कर दिया। तत्पश्चात् संघ एवं स्थूलभद्र के अत्यधिक अनुनय-विनय करने पर भद्रबाहु ने मूलरूप से अन्तिम चार पूर्वों की वाचना दी, अर्थ की दृष्टि से नहीं। शाब्दिक दृष्टि से स्थूलभद्र चौदह पूर्वी हुए किन्तु अर्थ की दृष्टि से दसपूर्वी ही रहे।[3]

---

१. इह भूयान् पुस्तकेषु वाचनाभेदो गलितानि च सूत्राणि बहुषु पुस्तकेषु, यथावस्थितवाचनाभेदप्रतिपत्त्यर्थं गलित-सूत्रोद्धारणार्थं चैवं सुगमत्यपि विव्रियन्ते। जीवा. वृत्ति ३,३७६

२. तेण चिंतियं भगिणीणं इड्ढिं दरिसेमित्ति सीहरूवं विउव्वइ। —आवश्य. वृत्ति

३. तित्थोगालिय पइण्णय ७४२।
आवश्यकचूर्णि पृ. १८७
परिशिष्ट पर्व सर्ग ९.

द्वितीय वाचना—आगम-संकलन का द्वितीय प्रयास ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य में हुआ। सम्राट् खारवेल जैनधर्म के परम उपासक थे। उनके सुप्रसिद्ध 'हाथीगुंफा' अभिलेख से यह सिद्ध हो चुका है कि उन्होंने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर जैनमुनियों का एक संघ बुलाया और मौर्यकाल में जो अंग विस्मृत हो गये थे, उनका पुन: उद्धार कराया था।[1] हिमवंत थेरावली नामक संस्कृत प्राकृत मिश्रित पट्टावली में भी स्पष्ट उल्लेख है कि महाराजा खारवेल ने प्रवचन का उद्धार करवाया था।[2]

तृतीय वाचना—आगमों को संकलित करने का तीसरा प्रयास वीरनिर्वाण ८२७ से ८४० के मध्य हुआ।

उस समय द्वादशवर्षीय भयंकर दुष्काल से श्रमणों को भिक्षा मिलना कठिन हो गया था। श्रमणसंघ की स्थिति गंभीर हो गई थी। विशुद्ध आहार की अन्वेषणा-गवेषणा के लिए युवक मुनि दूर-दूर देशों की ओर चल पड़े। अनेक वृद्ध एवं बहुश्रुत मुनि आहार के अभाव में आयु पूर्ण कर गये। क्षुधा परीषह से संत्रस्त मुनि अध्ययन, अध्यापन, धारण और प्रत्यावर्तन कैसे करते? सब कार्य अवरुद्ध हो गये। शनै: शनै: श्रुत का ह्रास होने लगा। अतिशायी श्रुत नष्ट हुआ। अंग और उपांग साहित्य का भी अर्थ की दृष्टि से बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। दुर्भिक्ष की समाप्ति पर श्रमणसंघ मथुरा में स्कन्दिलाचार्य के नेतृत्व में एकत्रित हुआ। जिन श्रमणों को जितना जितना अंश स्मरण था उसका अनुसंधान कर कालिक श्रुत और पूर्वगत श्रुत के कुछ अंश का संकलन हुआ। यह वाचना मथुरा में सम्पन्न होने के कारण माथुरी वाचना के रूप में विश्रुत हुई। उस संकलित श्रुत के अर्थ की अनुशिष्टि आचार्य स्कन्दिल ने दी थी अत: उस अनुयोग को स्कन्दिली वाचना भी कहा जाने लगा।[3]

नंदीसूत्र की चूर्णि और वृत्ति के अनुसार माना जाता है कि दुर्भिक्ष के कारण किंचिन्मात्र भी श्रुतज्ञान तो नष्ट नहीं हुआ किन्तु केवल आचार्य स्कन्दिल को छोड़कर शेष अनुयोगधर मुनि स्वर्गवासी हो चुके थे। एतदर्थ आचार्य स्कन्दिल ने पुन: अनुयोग का प्रवर्तन किया जिससे प्रस्तुत वाचना को माथुरी वाचना कहा गया और सम्पूर्ण अनुयोग स्कन्दिल संबंधी माना गया।[4]

चतुर्थ वाचना—जिस समय उत्तर, पूर्व और मध्यभारत में विचरण करने वाले श्रमणों का सम्मेलन मथुरा में हुआ था उसी समय दक्षिण और पश्चिम में विचरण करने वाले श्रमणों की एक वाचना (वीर निर्वाण सं. ८२७-८४०) वल्लभी (सोराष्ट्र) में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई। किन्तु वहाँ जो श्रमण एकत्रित हुए थे उन्हें बहुत कुछ श्रुत विस्मृत हो चुका था। जो कुछ उनके स्मरण में था, उसे ही संकलित किया गया। यह वाचना वल्लभी वाचना या नागार्जुनीय वाचना के नाम से अभिहित है।[5]

पंचम वाचना—वीरनिर्वाण की दसवीं शताब्दी (९८० या ९९३ ई. सन् ४५४-४६६) में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुन: श्रमणसंघ वल्लभी में एकत्रित हुआ। देवर्द्धिगणी ११ अंग और एक पूर्व से भी

---

१. जर्नल आफ दि बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसायटी भा. १३ पृ. ३३६
२. जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भा. १ पृ. ८२.
३. आवश्यक चूर्णि।
४. नंदी चूर्णि पृ. ८, नन्दी गाथा ३३, मलयगिरि वृत्ति।
५. कहावली।
जिनवचनं च दुष्षमाकालवशात् उच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भि-र्नागार्जुनस्कन्दिलाचार्यप्रभृतिभि: पुस्तकेषु न्यस्तम्। —योगशास्त्र, प्र ३, पृ. २०७

अधिक सूत्र के ज्ञाता थे। स्मृति की दुर्बलता, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति आदि अनेक कारणों से श्रुतसाहित्य का अधिकांश भाग नष्ट हो गया था। विस्मृत श्रुत को संकलित व संग्रहीत करने का प्रयास किया गया। देवर्द्धिगणी ने अपनी प्रखर प्रतिभा से उसको संकलित कर पुस्तकारूढ किया। पहले जो माथुरी और वल्लभी वाचनाएँ हुई थीं, उन दोनों वाचनाओं का समन्वय कर उनमें एकरूपता लाने का प्रयास किया गया।[1] जिन स्थलों पर मतभेद की अधिकता रही वहाँ माथुरी वाचना को मूल में स्थान देकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दिया। यही कारण है कि आगमों के व्याख्याग्रन्थों में यत्र तत्र 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' इस प्रकार निर्देश मिलता है।

आगमों को पुस्तकारूढ करते समय देवर्द्धिगणी ने कुछ मुख्य बातें ध्यान में रखीं। आगमों में जहाँ-जहाँ समान पाठ आये हैं उनकी वहाँ पुनरावृत्ति न करते हुए उनके लिए विशेष ग्रन्थ या स्थल का निर्देश किया गया जैसे—'जहा उववाइए, जहा पण्णवणाए'। एक ही आगम में एक बात अनेक बार आने पर 'जाव' शब्द का प्रयोग करके उसका अन्तिम शब्द सूचित कर दिया है जैसे 'णागकुमारा जाव विहरंति' तेणं कालेणं जाव परिसा णिग्गया। इसके अतिरिक्त भगवान् महावीर के पश्चात् की कुछ मुख्य-मुख्य घटनाओं को भी आगमों में स्थान दिया। यह वाचना वल्लभी में होने के कारण 'वल्लभी वाचना' कही गई। इसके पश्चात् आगमों की फिर कोई सर्वमान्य वाचना नहीं हुई। वीरनिर्वाण की दसवीं शताब्दी के पश्चात् पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गई।

उक्त रीति से आगम-साहित्य का बहुतसा भाग लुप्त होने पर भी आगमों का कछ मौलिक भाग आज भी सुरक्षित है।

प्रश्न हो सकता है कि वैदिक वाङ्‌मय की तरह जैन आगम साहित्य पूर्णरूप से उपलब्ध क्यों नहीं है? वह विच्छिन्न क्यों हो गया? इसका मूल कारण यह है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पूर्व आगम साहित्य लिखा नहीं गया। वह श्रुतिरूप में ही चलता रहा। प्रतिभासम्पन्न योग्य शिष्य के अभाव में गुरु ने वह ज्ञान शिष्य को नहीं बताया जिसके कारण श्रुत-साहित्य धीरे-धीरे विस्मृत होता गया? यह सब होते हुए भी वर्तमान में उपलब्ध जो श्रुतसाहित्य है वह भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उसमें प्रभु महावीर की वाणी अपने बहुत कुछ अंशों में अब भी प्राप्त होती है। यह कुछ कम गौरव की बात नहीं है।

जीवाभिगम की विषय-वस्तु—

प्रस्तुत आगम में नौ प्रतिपत्तियाँ (प्रकरण) हैं। प्रथम प्रतिपत्ति में जीवाभिगम और अजीवाभिगम का निरूपण किया गया है। अभिगम शब्द का अर्थ परिच्छेद अथवा ज्ञान है।

आत्मतत्त्व—इस अनन्त लोकाकाश में या अखिल ब्रह्माण्ड में जो भी चराचर या दृश्य-अदृश्य पदार्थ या सद्‌रूप वस्तु-विशेष है वह सब जीव या अजीव—इन दो पदों में समाविष्ट है।[2] मूलभूत तत्त्व जीव और अजीव है। शेष पुण्य-पाप आस्रव-संवर निर्जरा बंध और मोक्ष—ये सब इन दो तत्त्वों के सम्मिलन और वियोग की परिणतिमात्र हैं। अन्य आस्तिक दर्शनों ने भी इसी प्रकार दो मूलभूत तत्त्वों को स्वीकार किया है। वेदान्त ने ब्रह्म और माया के रूप में इन्हें माना है। सांख्यों ने पुरुष और प्रकृति के रूप में, बौद्धों ने विज्ञानघन और वासना

---

१. वल्लहिपुरम्मि नयरे देवड्ढिपमुहेण समणसंघेण।
पुत्थइ आगमो लिहिओ नवसयअसीआओ ववीराओ॥

२. जदित्थ णं लोगे तं सव्वं दुपदोआरं, तं जहा—जीवच्चेव अजीवच्चेव। —स्थानांग द्वितीय स्थान

के रूप में, वैदिकदर्शन ने आत्मतत्त्व और भौतिकतत्त्व के रूप में इसी बात को मान्यता प्रदान की है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आस्तिक दर्शनों की भित्ति आत्मवाद है। विशेषकर जैन धर्म ने आत्मतत्त्व का बहुत ही सूक्ष्मता के साथ विस्तृत विवेचन किया है। जैन चिन्तन की धारा का उद्‌गम आत्मा से होता है और अन्त मोक्ष में। आचारांग सूत्र का आरम्भ ही आत्म-जिज्ञासा से हुआ है।[1] उसके आदि वाक्य में ही कहा गया है—'इस संसार मे कई जीवों को यह ज्ञान और भान नहीं होता कि उनकी आत्मा किस दिशा से आई है और कहाँ जाएगी ? वे यह भी नहीं जानते कि उनकी आत्मा जन्मान्तर में संचरण करने वाली है या नहीं ? मैं पूर्व जन्म में कौन था और यहां से मर कर दूसरे जन्म में क्या होऊंगा—यह भी वे नहीं जानते। इस आत्मजिज्ञासा से ही धर्म और दर्शन का उद्‌गम है। वेदान्त दर्शन का आरम्भ भी ब्रह्मसूत्र के 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से हुआ है। यद्यपि वेदों में भौतिक समृद्धि हेतु यज्ञादि के विधान और इन्द्रादि देवों की स्तुति की बहुलता है किन्तु उत्तरवर्ती उपनिषदों और आरण्यकों में आत्मतत्त्व का गहन चिन्तन एवं निरूपण हुआ है। उपनिषद् के ऋषियों का स्वर निकला—'आत्मा हि दर्शनीय, श्रवणीय मननीय और ध्यान किए जाने योग्य है।'[2]

आत्मजिज्ञासा से आरम्भ हुआ यह चिन्तन-प्रवाह क्रमशः विकसित होता हुआ, सहस्रधाराओं में प्रवाहित होता हुआ अन्ततः अमृतत्त्व—मोक्ष के महासागर में विलीन हो जाता है। उपनिषद् में मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है—'जिससे मैं अमृत नहीं बनती उसे लेकर क्या करूं! जो अमृतत्त्व का साधन हो वही मुझे बताइए।'[3] जैन चिन्तकों के अनुसार प्रत्येक आत्मा की अन्तिम मंजिल मुक्ति है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए ही समस्त साधनाएँ और आराधनाएँ हैं। समस्त आत्मसाधकों का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है अतएव वे साधक मुमुक्षु कहलाते हैं। आत्मा की प्रतीति से लगाकर मोक्ष की प्राप्ति पर्यन्त पुरुषार्थ में ही आत्मा की कृतार्थता और सार्थकता है एवं यही सिद्धि है। अतः जैन सिद्धान्त द्वारा मान्य नवतत्त्वों में पहला तत्त्व जीव है और अन्तिम तत्त्व मोक्ष है। बीच के तत्त्व आत्मा की विभाव परिणति से बंधने वाले अजीव कर्मदलिकों की विभिन्न प्रक्रियायों से सम्बन्धित हैं। सुख देने वाला पुद्‌गल-समूह पुण्यतत्त्व है। दुःख देने वाला और ज्ञानादि को रोकने वाला तत्त्व पाप है। आत्मा की मलिन प्रवृत्ति आस्रव है। इस मलिन प्रवृत्ति को रोकना संवर है। कर्म के आवरण का आंशिक क्षीण होना निर्जरा है। कर्मपुद्‌गलों का आत्मा के साथ बंधना बंध तत्त्व है। कर्म के आवरणों का सर्वथा क्षीण हो जाना मोक्ष है।

जीवात्मा जब तक विभाव दशा में रहता है तब तक वह अजीव पुद्‌गलात्मक कर्मवर्गणाओं से आबद्ध हो जाता है। फलस्वरूप उसे शरीर के बन्धन में बंधना पड़ता है। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना पड़ता है। इस प्रकार शरीर धारण करने; और छोड़ने की परम्परा चलती रहती है। यह परम्परा ही जन्म-मरण है। इस जन्म-मरण के चक्र में विभावदशापन्न आत्मा परिभ्रमण करता रहता है। यही संसार है। इस जन्म-मरण की परम्परा को तोड़ने के लिए ही भव्यात्माओं के सारे धार्मिक और आध्यात्मिक प्रयास होते हैं।

स्वसंवेदनप्रत्यक्ष एवं अनुमान—आगम आदि प्रमाणों से आत्मा की सिद्धि होती है। प्राणिमात्र को 'मैं हूं' ऐसा स्वसंवेदन होता है। किसी भी व्यक्ति को अपने अस्तित्व में शंका नहीं होती। 'मैं सुखी हूं' अथवा

---

१. इहमेगेसि नो सण्णा हवइ कम्हाओ दिसाओ वा आगओ अहमंसि अत्थि मे आया उववाइए णत्थि मे आया उववाइए ? के वा अहमंसि ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि। —आचारांग १—१

२. आत्मा वै दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। —बृहदारण्योपनिषद् २—४—५॥

३. येनाहं नामृता स्यां किं तेन कुर्याम्। यदेव भगवानवेद तदेव मे ब्रूहि॥ —बृहदारण्योपनिषद्

'मैं दुःखी हूं' इत्यादि प्रतीति में जो 'मैं' है वही आत्मा की प्रत्यक्षता का प्रमाण है। यह 'अहं प्रत्यय' ही आत्मा के अस्तित्व का सूचक है।

आत्मा प्रत्यक्ष है क्योंकि उसका ज्ञानगुण स्वसंवेदन-सिद्ध है। घटपटादि भी उनके गुण—रूप आदि का प्रत्यक्ष होने से ही प्रत्यक्ष कहे जाते हैं। इसी तरह आत्मा के ज्ञान गुण का प्रत्यक्ष होने से आत्मा भी प्रत्यक्ष-सिद्ध होती है।

आत्मा का अस्तित्व है क्योंकि उसका असाधारण गुण चैतन्य देखा जाता है। जिसका असाधारण गुण देखा जाता है उसका अस्तित्व अवश्य होता है जैसे चक्षु। चक्षु सूक्ष्म होने से साक्षात् दिखाई नहीं देती लेकिन अन्य इन्द्रियों से न होने वाले रूप विज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति से उसका अनुमान होता है। इसी तरह आत्मा का भी भूतों में न पाये जाने वाले चैतन्यगुण को देखकर अनुमान किया जाता है।

भगवती सूत्र में कहा गया है कि—'गौतम ! जीव नहीं होता तो कौन उत्थान करता ? कौन कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम करता ? यह कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम जीव की सत्ता का प्रदर्शन है। कौन ज्ञानपूर्वक क्रिया में प्रवृत्त होता ? ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति और निवृत्ति भी जीव की सत्ता का प्रदर्शन है।[1]

पुद्गल के कार्यों को बताने वाला भगवती सूत्र का पाठ भी बहुत मननीय है।[2] वहां कहा गया है—गौतम ! पुद्गल नहीं होता तो शरीर किससे बनता ? विभूतियों का निमित्त कौन होता ? वैक्रिय शरीर किससे बनता ? कौन तेज, पाचन और दीपन करता ? सुख-दुःख की अनुभूति और व्यामोह का साधन कौन बनता ? शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और इनके द्वार कान, आंख, नाक, जीभ और चर्म कैसे बनते ? मन, वाणी और स्पन्दन का निमित्त कौन बनता ? श्वास और उच्छ्वास किसका होता ? अन्धकार और प्रकाश नहीं होते, आहार और विहार नहीं होते, धूप और छांह नहीं होती। कौन छोटा होता, कौन बड़ा होता ? कौन लम्बा होता, कौन चौड़ा ? त्रिकोण और चतुष्कोण नहीं होते। वर्तुल और परिमंडल भी नहीं होते। संयोग और वियोग नहीं होते ? सुख और दुःख, जीवन और मरण नहीं होते। यह विश्व अदृश्य ही होता ?'

भगवतीसूत्र के उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभावदशापन्न संसारी आत्मा कर्मपुद्गलों के साथ क्षीर-नीर की तरह सम्बद्ध है। आत्मा और शरीर का गाढ़ सम्बन्ध हो रहा है। इस संयोग से ही विविध प्रवृत्तियां होती हैं। आहार, श्वासोच्छ्वास, इन्द्रियां, भाषा और मन—ये न आत्मा के धर्म हैं और न पुद्गल के। ये संयोगज हैं—आत्मा और शरीर दोनों के संयोग से उत्पन्न होते हैं। भूख न आत्मा को लगती है और न आत्मरहित शरीर को। भोगोपभोग की इच्छा न आत्मा में होती है न आत्मरहित शरीर में। आत्मा और शरीर का योग ही सांसारिक जीवन है।

कर्मों के विविध परिणामों के फलस्वरूप संसारापन्न जीव विभिन्न स्वरूपों को प्राप्त करता है। वह कभी स्थावर रूप में जन्म लेता है, कभी त्रसरूप में। कभी वह एकेन्द्रिय बनता है, कभी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कभी पंचेन्द्रिय बनता है। कभी वह स्त्री रूप में जन्म लेता है, कभी पुरुषरूप में तो कभी नपुंसकरूप में। कभी वह नरक में उत्पन्न होता है, कभी पशु-पक्षी के रूप में जन्म लेता है, कभी मनुष्य बनता है तो कभी देवलोक में पैदा होता है। चौरासी लाख जीवयोनियों और कुलकोडियों में वह जन्म-मरण करता है और विविध परिस्थितियों से गुजरता है। जीव की उन विभिन्न स्थितियों का जैनशास्त्रकारों ने बहुत ही सूक्ष्म और विस्तृत

---

१. भगवती शतक १३ उ. ४, सू. २—१०।

२. भगवती शतक १३ उ. ४।

चिन्तन विविध आयामों से किया है। विविध दृष्टिकोणों से विविध प्रकार का वर्गीकरण करके आत्मतत्त्व के विषय में विपुल जानकारी शास्त्रकारों ने प्रदान की है। वही जीवाभिगम की नौ प्रतिपत्तियों में संकलित है।

प्रथम प्रतिपत्ति—इस प्रतिपत्ति की प्रस्तावना में कहा गया है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर परमात्मा के प्रवचन के अनुसार ही स्थविर भगवंतों ने जीवाभिगम और अजीवाभिगम की प्रज्ञापना की है। अल्पवक्तव्यता होने से पहले अजीवाभिगम का कथन करते हुए बताया गया है कि अजीवाभिगम दो प्रकार का है—रूपी अजीवाभिगम और अरूपी अजीवाभिगम। अरूपी अजीवाभिगम के दस भेद बताये हैं—धर्मास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश, अधर्मास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश, आकाशास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश और अद्धासमय (काल)।

धर्मास्तिकायादि का अस्तित्व—

जैन सिद्धान्तानुसार धर्म गति-सहायक तत्त्व है और अधर्म स्थिति-सहायक तत्त्व। आकाश और काल को अन्य दर्शनकारों ने भी माना है परन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को जैनसिद्धान्त के सिवाय किसी ने भी नहीं माना है। जैन सिद्धान्त की यह सर्वथा मौलिक अवधारणा है। इस मौलिक अवधारणा के पीछे प्रमाण और युक्ति का सुदृढ आधार है। जैनाचार्यों ने युक्तियों के आधार से सिद्ध किया है कि लोक और अलोक की व्यवस्था के लिए कोई नियामक तत्त्व होना ही चाहिए। जीव और पुद्गल जो गतिशील हैं उनकी गति लोक में ही होती है, अलोक में नहीं होती। इसका नियामक कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिए। अन्यथा जीव और पुद्गलों की अनन्त अलोकाकाश में भी गति होती तो अनवस्थिति का प्रसंग उपस्थित हो जाता और सारी लोकव्यवस्था छिन्नभिन्न हो जाती। अतएव जैन तार्किक चिन्तकों ने गतिनियामक तत्त्व के रूप में धर्म की और स्थिति-नियामक तत्त्व के रूप में अधर्म की सत्ता को स्वीकार किया है।

आधुनिक विज्ञान ने भी गतिसहायक तत्त्व को (Medium of Motion) स्वीकार किया है। न्यूटन और आइंस्टीन ने गति तत्त्व स्थापित किया है। वैज्ञानिकों द्वारा सम्मत ईथर (Ether) गति तत्त्व का ही दूसरा नाम है। लोक परिमित है। लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का अभाव है जो गति में सहायक होती है। प्रभु महावीर ने कहा है कि जितने भी स्पन्दन हैं वे सब धर्म की सहायता से होते हैं। यदि धर्मतत्त्व न होता तो कौन आता? कौन जाता? शब्द की तरंगे कैसे फैलतीं? आंखें कैसे खुलती? कौन मनन करता? कौन बोलता? कौन हिलता- डुलता? यह विश्व अचल ही होता। जो चल हैं उन सबका निमित्त गति सहायक तत्त्व धर्म ही है। इसी तरह स्थिति का सहायक अधर्म तत्त्व न होता तो कौन चलते-चलते ठहर पाता? कौन बैठता? सोना कैसे होता? कौन निस्पन्द बनता? निमेष कैसे होता? यह विश्व सदा चल ही बना होता जो गतिपूर्वक स्थिर हैं उन सबका आलम्बन स्थिति सहायक तत्त्व अधर्म-अधर्मास्तिकाय है।

उक्त रीति से धर्म-अधर्म के रूप में जैन चिन्तकों ने सर्वथा मौलिक अवधारणा प्रस्तुत की है। आकाश की सत्ता तो सब दार्शनिकों ने मानी है। आकाश नहीं होता तो जीव और पुद्गल कहाँ रहते? धर्मस्तिकाय अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ बरतता? पुद्गल का रंगमंच कहाँ बनता? यह विश्व निराधार ही होता।

काल औपचारिक द्रव्य है। निश्चयनय की दृष्टि से काल जीव और अजीव की पर्याय है। किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से वह द्रव्य है। क्योंकि वर्तना आदि उसके उपकार हैं। जो उपकारक है वह द्रव्य है।

पदार्थों की स्थितिमर्यादा आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है वह आवलिकादि रूप काल जीव-अजीव की पर्याय होने से उनसे भिन्न नहीं है।

रूपी अजीवाभिगम चार प्रकार का है—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु पुद्गल। यह पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है। यह अखण्ड द्रव्य नहीं है। इसका सबसे छोटा रूप एक परमाणु है तो सबसे बड़ा रूप है अचित्त महास्कन्ध। इसमें संयोग-विभाग, छोटा-बड़ा, हल्का भारी, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान पाये जाते हैं। जैन सिद्धान्त ने प्रकाश, अन्धकार, छाया, आतप तथा शब्द को पौद्गलिक माना है। शब्द को पौद्गलिक मानना जैन तत्त्वज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। न्याय-वैशेषिक दर्शन ने शब्द को आकाश का गुण माना है। आज के विज्ञान ने शब्द की पौद्गलिकता को स्पष्ट कर दिया है। जिस युग में आधुनिक वैज्ञानिक उपकरण उपलब्ध नहीं थे तब जैन चिन्तकों ने शब्द को पौद्गलिक कहा और यह भी कहा कि हमारा शब्द क्षण मात्र में लोकव्यापी बन जाता है। तार का सम्बन्ध न होते हुए भी सुघोषा घंटा का स्वर असंख्य योजन दूरी पर रही हुई घण्टाओं में प्रतिध्वनित होता है—यह उस समय का विवेचन है जब रेडियो—वायरलेस आदि का अनुसन्धान नहीं हुआ था।

उक्त रीति से अजीवाभिगम का निरूपण करने के पश्चात् जीवाभिगम का कथन आता है।

आत्मा का शुद्धाशुद्ध स्वरूप—

जीवाभिगम के दो भेद किये गये हैं—संसार समापन्नक जीव और असंसार समापन्नक जीव। जो जीव अपनी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उत्कृष्ट आराधना करके अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं वे जीव असंसार-समापन्नक हैं। वे फिर संसार में नहीं आते। जैनसिद्धान्त की मान्यता है कि—जैसे बीज के दग्ध होने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकते उसी तरह कर्मरूपी बीज के दग्ध होने पर फिर भवरूपी अंकुर प्रस्फुटित नहीं हो सकते। बौद्धदर्शन या वैदिकदर्शन की तरह जैनदर्शन अवतारवाद में विश्वास नहीं करता। वह उत्तारवादी दर्शन है। संसारवर्ती आत्मा ही विकास करता हुआ सिद्धस्वरूप बन जाता है फिर वह संसार में नहीं आता।

संसार-समापन्नक जीव वे हैं जो विभावदशापन्न होकर कर्मबन्ध की विचित्रता को लेकर नानाप्रकार की सांसारिक शरीर, इन्द्रिय, योग, उपयोग, लेश्या, वेद आदि स्थितियों को प्राप्त करते हैं। यह आत्मा की अशुद्ध दशा है। सिद्ध अवस्था आत्मा की शुद्ध अवस्था है और संसारवर्ती सशरीर दशा आत्मा की अशुद्ध अवस्था है।

आत्मा अपने मौलिकरूप में शुद्ध है किन्तु वह कब अशुद्ध बना, यह नहीं कहा जा सकता। जैसे अण्डा और मुर्गी का सन्तति-प्रवाह अनादिकालीन है, यह नहीं कहा जा सकता कि अण्डा पहले था या मुर्गी पहले? वैसे ही संसारवर्ती आत्मा कब अशुद्ध बना यह नहीं कहा जा सकता। अनादिकाल से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध चला आ रहा है अतएव अनादिकाल से आत्मा अशुद्ध दशा को प्राप्त है। इस अशुद्ध दशा से शुद्ध दशा की प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है और उसी के लिए सब साधनाएँ और आराधनाएँ हैं।

सांख्यदर्शन का मन्तव्य है कि आत्मा शुद्ध ही है। वह अशुद्ध नहीं होती। वह न बंधती है और न मुक्त होती है। बंध और मोक्ष प्रकृति का होता है, पुरुष-आत्मा नित्य है, अकर्त्ता है, निर्गुण है। जैसे नर्तकी रंगमंच पर अपना नृत्य बताकर निवृत्त हो जाती है वैसे ही प्रकृति अपना कार्य पूरा कर निवृत्त हो जाती है—यह पुरुष और प्रकृति का वियोग ही मुक्ति है।

सांख्यदर्शन की यह मान्यता एकांगी और अपूर्ण है। यदि आत्मा शुद्ध और शाश्वत है तो फिर साधना और आराधना का क्या प्रयोजन रह जाता है? साधना की आवश्यकता तभी होती है जब आत्मा अशुद्ध हो।

जैन दृष्टि से शरीरमुक्त आत्मा शुद्ध आत्मा है और शरीरयुक्त आत्मा अशुद्ध। शरीरयुक्त आत्मा में आत्मा और कर्मपुद्गल का योग है। इस योग के कारण ही आत्मा की अशुद्ध पर्यायें हैं। इन अशुद्ध पर्यायों के कारण ही जैनसिद्धान्त ने आत्मा को परिणमनशील कहा है। वह न एकान्ततः नित्य है और न एकान्ततः अनित्य है अपितु द्रव्यरूप से नित्य होते हुए भी पर्याय रूप से अनित्य है।

नित्यानित्यत्व—

बौद्धदर्शन आत्मा को एकान्ततः अनित्य कहता है। यह मन्तव्य भी एकांगी और अपूर्ण है। आत्मा को एकान्त क्षणभंगुर मानने पर बन्ध-मोक्ष आदि घटित नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में उसके द्वारा मान्य कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद भी घटित नहीं होते। बौद्धदर्शन आत्मा के विषय में वस्तुतः अस्पष्ट है। एक ओर वह निरात्मवादी है तो दूसरी ओर पुनर्जन्म और कर्मवाद को मानता है। जैनदर्शन आत्मा के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट है। वह आत्मा को अनेकान्तदृष्टि से नित्यानित्य रूप मानता है, उसका बंध और मोक्ष होना मानता है। यहाँ तक कि वह आत्मा को अमूर्त मानता हुआ भी सांसारिक आत्मा को कथंचित् मूर्त भी मानता है। संसारी आत्मा शरीर धारण करती है, इन्द्रियों के माध्यम से वह वस्तु को ग्रहण करती है, आहार, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनयुक्त होती है। ये सब परिणतियां होने के कारण आत्मा को कथंचित् मूर्त भी माना गया है। सांसारिक जीवों की सारी प्रवृत्तियां आत्मा और शरीर के योग से होती हैं अतएव वे यौगिक हैं। अकेली आत्मा में ये क्रियाएँ नहीं हो सकती हैं और अकेले शरीर में भी ये क्रियाएँ सम्भव नहीं है।

नवविध मन्तव्य—

संसारसमापन्नक जीव के भेदों को बताने के लिए नौ प्रकार की मान्यताओं का उल्लेख किया गया है। प्रथम प्रतिपत्ति (मान्यता) के अनुसार संसारी जीव के दो भेद किये गये हैं—त्रस और स्थावर। दूसरी प्रतिपत्ति के अनुसार तीन प्रकार कहे गये हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। तीसरी प्रतिपत्ति के अनुसार संसारी जीव के चार भेद कहे गये हैं—नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। चौथी प्रतिपत्ति के अनुसार पांच भेद कहे गये हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। पंचम प्रतिपत्ति के अनुसार संसारी जीव के छह भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। छठी प्रतिप्रति के अनुसार संसारी जीव के सात भेद कहे गये हैं—नैरयिक, तिर्यंच, तिर्यञ्चिनी, मनुष्य, मानुषी, देव और देवी। सप्तम प्रतिपत्ति में संसारी जीव के आठ भेद प्ररूपित हैं—प्रथम समयवर्त्ती नैरयिक, अप्रथम समयवर्त्ती नैरयिक, एवं प्रथम समय तिर्यञ्च अप्रथम समय तिर्यंच, प्रथम समय मनुष्य, अप्रथम समय मनुष्य, प्रथम समय देव, और अप्रथम समय देव।

अष्टम प्रतिपत्ति में सांसारिक जीव के नौ भेद प्ररूपित हैं—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

नवम प्रतिपत्ति में संसारी जीव के दस प्रकार बताये हैं—प्रथम समय एकेन्द्रिय से प्रथम समय पंचेन्द्रिय तक पांच और अप्रथम समय एकेन्द्रिय से अप्रथम समय पंचेन्द्रिय तक पांच; कुल मिलाकर दस प्रकार के संसारी जीव बताये गये हैं।

उक्त सब प्रतिपत्तियां दिखने में पृथक्-पृथक्-सी प्रतीत होती हैं परन्तु तात्त्विक दृष्टि से उनमें कोई विरोध नहीं है। अलग-अलग दृष्टिकोण से एक ही वस्तु का स्वरूप अलग-अलग प्रतीत होता है किन्तु उनमें विरोध नहीं होता। वर्गीकरण की भिन्नता को लेकर अलग-अलग प्ररूपणा है परन्तु उक्त सब प्रतिपत्तियां अविरोधिनी हैं। अनेकान्त दृष्टि की यही विशेषता है।

त्रसत्व और स्थावरत्व

प्रथम प्रतिपत्ति के अनुसार संसारवर्ती जीव के दो भेद हैं—त्रस और स्थावर। स्थावर के तीन भेद किये गये हैं—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक। त्रस के भी तीन भेद बताये हैं—तेजस्कायिक, वायुकायिक और उदार त्रस।

जैन तीर्थङ्करों ने अपने विमल एवं निर्मल केवलज्ञान के आलोक में जगत् के जीवों का सूक्ष्म निरीक्षण एवं परीक्षण किया है। अतएव वे 'सव्व जगजीवजोणिवियाणक' हैं जगत् के जीवों की सर्वयोनियों के विज्ञाता हैं। उन तीर्थङ्करों ने न केवल चलते-फिरते दिखाई देने वाले जीवों के अस्तित्व को स्वीकार किया है अपितु पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीवों का सद्भाव जाना है और प्ररूपित किया है। जैन सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी ऐसा निरूपण एवं प्रज्ञापन दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन तत्त्व चिन्तकों का स्पष्ट निर्देश है कि पृथ्वी आदि में भी जीव हैं और अहिंसक साधक को इन सूक्ष्म जीवों की भी वैसी ही रक्षा का प्रयास करना चाहिए जैसे स्थूल प्राणियों की रक्षा का। केवल मनुष्य या पशुओं की रक्षा में अहिंसा देवी की आराधना समाप्त नहीं होती परन्तु पृथ्वी, अप्, तेज वायु और वनस्पति के अव्यक्त चेतना वाले जीवों की भी अहिंसा का पूर्ण लक्ष्य रखना चाहिए।

पृथ्वीकायादि में जीवास्तित्व का प्रतिपादन करते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है कि उपयोग, योग, अध्यवसाय, मतिश्रुतज्ञान, अचक्षुदर्शन, अष्ट प्रकार के कर्मों का उदय और बंध लेश्या, संज्ञा, श्वासोच्छ्वास और कषाय—ये जीव में पाये जाने वाले गुण पृथ्वीकाय आदि में भी पाये जाते हैं। अतः मनुष्यादि की तरह पृथ्वीकायादि को भी सचित्त—जीवात्मक समझना चाहिए। यद्यपि पृथ्वीकायादिक में उपर्युक्त लक्षण अव्यक्त हैं तदपि अव्यक्त होने से उनका निषेध नहीं किया जा सकता। इसे स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिया गया है—किसी पुरुष ने अत्यन्त मादक मदिरा का पान अत्यधिक मात्रा में किया हो और ऐसा करने से वह बेजान एवं मूर्छित हो गया हो तब उसकी चेतना अव्यक्त हो जाती है लेकिन इतने मात्र से उसे अचेतन नहीं कहा जा सकता। ठीक इसी तरह पृथ्वीकायादिक में चेतना-शक्ति अव्यक्त है परन्तु उसका निषेध नहीं किया जा सकता है।

पृथ्वीकायादिक एकेन्द्रिय जीवों के कान, नेत्र, नाक, जीभ, वाणी और मन नहीं होते हैं तो वे दुःख का वेदन किस प्रकार करते हैं, यह प्रश्न सहज ही उठाया जा सकता है। इसका समाधान आचारांग सूत्र में एक उदाहरण द्वारा किया गया है। जैसे कोई जन्म के अंधे, बहरे, लूले-लंगड़े तथा अवयवहीन किसी व्यक्ति के भाला आदि शस्त्र से पांव, टकने, पिण्डी, घुटने, जंघा, कमर, नाभि, पेट, पांसली, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कंधा, भुजा, हाथ, अंगुलि, नख, गर्दन, दाढी, होठ, दांत, जीभ, तालु, गाल, कान, नाक, आंख, भौंह, ललाट, मस्तक आदि—अवयवों को छेदे-भेदे तो उसे वेदना होती है किन्तु वह उस वेदना को व्यक्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार एकेन्द्रिय पृथ्वीकायादिक जीवों को अव्यक्त वेदना होती है। जैसे मूर्छित अवस्था में कोई किसी को पीड़ा दे तो उसे पीड़ा होती है वैसे ही पृथ्वीकायादिक जीवों की वेदना को समझना चाहिए।

महामनीषी आचार्यों ने विविध युक्तियों से एकेन्द्रिय जीवों में सचेतनता सिद्ध की है। वनस्पति की सचेतनता तो अधिक स्पष्टरूप में प्रतीत होती है। विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रन्थों में पुष्ट एवं प्रबल आधारों से प्रमाणित किया गया है कि उनमें स्पष्ट चेतना है। नारी शरीर के साथ वनस्पति की समानता प्रतिपादित करते हुए आचारांग सूत्र में कहा गया है कि—नर-नारी के शरीर की तरह वनस्पति जाति (जन्म) स्वभाववाली है, वृद्धिस्वभाववाली है, सचित्त है, काटने पर म्लान होने वाली है। इसे भी आहार की अपेक्षा रहती है, इसमें भी विकार होते हैं। अतः नर-नारी के शरीर की तरह वनस्पति भी सचेतन है।

आधुनिक विज्ञान ने भी वनस्पति की सचेतनता सिद्ध कर दी है। वैज्ञानिक साधनों द्वारा यह प्रत्यक्ष करा दिया गया है कि वनस्पति में क्रोध, प्रसन्नता, हास्य, राग आदि भाव पाये जाते हैं। उनकी प्रशंसा करने से वे हास्य प्रकट करती हुई और निन्दा करने से क्रोध करती हुई दिखाई दी हैं।

प्रस्तुत प्रतिपत्ति में संसारी जीव के त्रस और स्थावर—ये दो भेद किये गये हैं। त्रस की व्युत्पत्ति करते हुए वृत्ति में कहा गया है कि—उष्णादि से अभितप्त होकर जो जीव उस स्थान से अन्य स्थान पर छायादि हेतु जाते हैं, वे त्रस हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार त्रस नामकर्म के उदय वाले जीवों की ही त्रसत्व में परिगणना होती है, शेष की नहीं। परन्तु यहाँ स्थावर नामकर्म के उदय वाले तेजस्काय और वायुकाय को भी त्रस कहा गया है। अतएव यहाँ त्रसत्व की व्युत्पत्ति इस प्रकार करनी चाहिए—जो अभिसंधिपूर्वक या अनभिसंधिपूर्वक भी ऊर्ध्व. अधः, तिर्यक् चलते हैं वे त्रस हैं, जैसे तेजस्काय, वायुकाय, और द्वीन्द्रिय आदि। उष्णादि अभिताप के होने पर भी जो उस स्थान को नहीं छोड़ सकते हैं, वहीं रहते हैं वे स्थावर जीव हैं, जैसे पृथ्वी, जल और वनस्पति।[1]

प्रायः स्थावर के रूप में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये पांचों गिने जाते हैं। आचारांग में यही कथन है। किन्तु यहाँ गति को लक्ष्य में रखकर तेजस् और वायु को त्रस कहा गया है। क्योंकि अग्नि का ऊर्ध्व-गमन और वायु का तिर्यग्गमन प्रसिद्ध है। दोनों कथनों का सामंजस्य स्थापित करते हुए कहा गया है कि त्रस जीव दो प्रकार के हैं—गतित्रस और लब्धित्रस। तेजस् और वायु केवल गतित्रस हैं, लब्धित्रस नहीं है। जिनके त्रस नामकर्म रूपी लब्धि का उदय है वे ही लब्धित्रस हैं—जैसे द्वीन्द्रिय आदि उदार त्रस, तेजस् और वायु में यह लब्धि न होने से वे लब्धित्रस न होकर स्थावर में परिगणित होते हैं। केवल गति की अपेक्षा से ही उन्हें यहाँ त्रस के रूप में परिगणित किया गया है।

पृथ्वीकाय के दो भेद किये गये हैं—सूक्ष्म पृथ्वीकाय और बादर पृथ्वीकाय। सूक्ष्म पृथ्वीकाय के दो भेद बताये हैं—पर्याप्तक और अपर्याप्तक। तदनन्तर सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों की विशेष जानकारी देने के लिए २३ द्वारों के द्वारा उनका निरूपण किया गया है। वे २३ द्वार हैं—शरीर, अवगाहना, संहनन, संस्थान, कषाय, संज्ञा, लेश्या, इन्द्रियां, समुद्‌घात, संज्ञी-असंज्ञी, वेद, पर्याप्ति-अपर्याप्ति, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, योग, उपयोग, आहार, उपपात, स्थिति, समुद्‌घात करके मरण, च्यवन, गति और आगति। प्रश्न के रूप में पूछा गया है कि भगवन्! उन सूक्ष्म पृथ्वीकायिकों के शरीर कितने होते हैं? उत्तर में कहा गया है कि उनके तीन शरीर होते हैं यथा—औदारिक, तेजस और कार्मण। इस तरह शेष द्वारों को लेकर भी प्रश्नोत्तर किये गये हैं।

---

१. तत्र त्रसन्ति—उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ति गच्छन्ति च छायाद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः, अनया च व्युत्पत्त्या त्रसास्त्रसनामकर्मोदयवर्तिनः एव परिगृह्यन्ते, न शेषाः, अथ शेषैरपीह प्रयोजनं, तेषामप्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्, तत एवं व्युत्पत्तिः—त्रसन्ति अभिसन्धिपूर्वकमनभिसन्धिपूर्वकं वा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् चलन्तीति त्रसाः—तेजोवायवो द्वीन्द्रियादयश्च। उष्णाद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्थाः सन्तस्तिष्ठन्ती त्येवं शीलाः स्थावराः—पृथिव्यादयः।

—मलयगिरि वृत्तिः

१. सरीरोगाहण संघयण संठाणकसाय तह य हुंति सन्नाओ।
लेसिंदियसमुग्घाए सन्नी वेए य पज्जत्ती ॥१॥
दिट्‌ठी दंसणनाणे जोगुवओगे तहा किमाहारे।
उववाय ठिई समुग्घाय चवणगइरागई चेव ॥२॥

श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय और खरबादर पृथ्वीकाय।

इसी तरह बादर पृथ्वीकाय के भी दो भेद बताये हैं—श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय के सात भेद और खरबादर पृथ्वीकाय के अनेक भेद बताये हैं। फिर इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद करके पूर्वोक्त २३ द्वार घटाये हैं।

तदनन्तर अप्काय के सूक्ष्म और बादर तथा पर्याप्तक और अपर्याप्त भेद किये गये हैं और पूर्वोक्त २३ द्वारों से उनका निरूपण किया है।

तत्पश्चात् वनस्पतिकाय के सूक्ष्म और बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद करके पूर्वोक्त द्वार घटित किये हैं। तदनन्तर बादर वनस्पति के प्रत्येकशरीर बादर वनस्पति और साधारणशरीर बादर वनस्पति—ये दो भेद करके उनके भेद-प्रभेद बताये हैं। प्रत्येकशरीर बादर वनस्पति के १२ भेद वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पर्वग, तृण, वलय, हरित, औषधि, जलरुह और कुहण बताये गये हैं। तदनन्तर साधारणशरीर बादर वनस्पति के अनेक प्रकार बताये हैं। इन सब भेदों में उक्त २३ द्वार घटाये गये हैं।

त्रस जीवों के तेजस्काय, वायुकाय और उदारत्रस ये तीन भेद किये हैं। तेजस्काय और वायुकाय के सूक्ष्म और बादर फिर बादर के अनेक भेद बताये हैं। उदारत्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय रूप से चार प्रकार बताये हैं। पंचेन्द्रिय के नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये चार भेद किये हैं। नारक के रत्नप्रभादि पृथ्वियों के आधार से सात भेद, तिर्यंच के जलचर, स्थलचर और खेचर—ये तीन करके फिर एक-एक के अनेक भेद किये हैं। मनुष्य के संमूर्छिम और गर्भोत्पन्न भेद किये हैं। देव के भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के रूप में चार प्रकार बताये हैं। उक्त सब जीव के भेद-प्रभेदों में उपर्युक्त तेवीस द्वार घटित किये गये हैं।

उपर्युक्त सब द्वारों की परिभाषा और व्याख्या विद्वान् अनुवादक और विवेचक मुनिश्री ने यथास्थान की है जो जिज्ञासुओं के लिए बहुत उपयोगी है। जिज्ञासु जन वहाँ देखें। यहाँ उनका उल्लेख करना पुनरावृत्ति रूप ही होगा, अतएव विषय का निर्देश मात्र ही किया गया है।

द्वितीय प्रतिपत्ति

प्रस्तुत सूत्र की द्वितीय प्रतिपत्ति में समस्त संसारी जीवों को वेद की अपेक्षा से तीन विभागों में विभक्त किया गया है। वे विभाग हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। स्त्रियों के तीन प्रकार कहे गये हैं—१. तिर्यग्योनिक स्त्रियाँ, मानुषी स्त्रियाँ और देवस्त्रियां। नारक जीव नपुंसक वेद वाले ही होते हैं अतः उनमें स्त्री या पुरुष वेद नहीं होता। तिर्यग्योनिक स्त्रियों के तीन भेद हैं—जलचरी, स्थलचरी और खेचरी। फिर उनके उत्तर भेदों का कथन किया गया है।

मानुषी स्त्रियों के तीन प्रकार कहे गये हैं—कर्मभूमि में उत्पन्न होने वाली, अकर्मभूमि में उत्पन्न होने वाली और अन्तर्द्वीपों में उत्पन्न होने वाली। अन्तर्द्वीपिका स्त्रियों के २८ प्रकार, अकर्मभूमिका स्त्रियों के तीस प्रकार और कर्मभूमिका स्त्रियों के १५ प्रकार कहे गये हैं।

देवस्त्रियों के चार प्रकार कहे हैं—भवनवासी देवस्त्रियाँ, वानव्यन्तर देवस्त्रियां, ज्योतिष्कदेवस्त्रियां और वैमानिक देवस्त्रियां। तदनन्तर इनके उत्तर भेदों का कथन हैं। वैमानिक देवस्त्रियां केवल दो देवलोक—सौधर्म और ईशान में ही हैं। आगे के देवलोकों में स्त्रियां-देवियां नहीं होती हैं।

स्त्रियों के भेद निरूपण के पश्चात् उनकी स्थिति बताई गई है। पहले सामान्यरूप से जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का कथन है फिर उत्तर भेदों को लेकर प्रत्येक की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कही गई है। मूलग्रन्थ और अनुवाद से स्थिति का प्रमाण जानना चाहिए।

स्थितिनिरूपण के पश्चात् स्त्री का संचिट्ठणाकाल बताया गया है। संचिट्ठणाकाल का तात्पर्य यह है कि स्त्री निरन्तररूप से (स्त्रीत्व को छोड़े बिना) कितने काल तक स्त्रीरूप में ही रह सकती है? सामान्य स्त्री की अपेक्षा संचिट्ठणाकाल बताने के पश्चात् प्रत्येक उत्तर भेद की संचिट्ठणा बताई गई है। वह भी मूलपाठ और अनुवाद से जानना चाहिए।

संचिट्ठणाकाल के अनन्तर अन्तर का निरूपण किया गया है। अन्तर से तात्पर्य है कि कोई स्त्री, स्त्रीत्व से छूटने के बाद फिर कितने काल के पश्चात् पुनः स्त्री होती है? सामान्यस्त्री और उत्तरभेद वाली प्रत्येक स्त्री का अन्तरकाल प्रकट किया गया है।

अन्तरद्वार के पश्चात् अल्पबहुत्व द्वार का प्ररूपण है। अल्पबहुत्व का अर्थ है अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक का प्रमाण बताना। यह अल्प बहुत्व कई अपेक्षाओं से बताया गया है। जैसे तिर्यक्स्त्रियों, मनुष्यस्त्रियों और देवस्त्रियों में कौन किससे अल्प है, बहुत है, तुल्य है या विशेषाधिक है? सबसे कम मनुष्यस्त्रियां हैं, तिर्यक्स्त्रियां उनसे असंख्यात गुणी हैं और देवस्त्रियां उनसे भी असंख्यात गुणी हैं। तदनन्तर उत्तर भेदों को लेकर अल्पबहुत्व का निर्देश किया गया है।

इसके पश्चात् स्त्रीवेद नामक कर्म की बंधस्थिति बताते हुए कहा है कि जघन्यतः पल्योपमासंख्येय भाग न्यून एक सागरोपम का सार्ध सप्तभाग और उत्कर्षतः पन्द्रह कोटाकोटि सागरोपम है। पन्द्रह सौ वर्ष का अबाधाकाल है और अबाधाकाल रहित कर्मस्थिति उसका कर्मनिषेक (अनुभवनकाल) काल है। जितने समय तक कर्म बन्धन के पश्चात् उदय में नहीं आता है उस काल को अबाधा काल कहते हैं। कर्मदलिक का उदयावलि में प्रविष्ट होने का काल कर्मनिषेक काल कहलाता है।

तत्पश्चात् स्त्रीवेद की उपमा फुम्फुम अग्नि से दी गई है। फुम्फुम का अर्थ कारीषाग्नि (कंडे की अग्नि) है। जैसे कंडे की अग्नि धीरे धीरे जलती हुई बहुत देर तक बनी रहती है इसी तरह स्त्रीवेद का अनुभव धीरे-धीरे और बहुत देर तक होता रहता है।

स्त्रीवेद के कथन के अनन्तर पुरुषवेद का निरूपण है। पुरुष के भेद-प्रभेदों का वर्णन करके उनकी स्थिति, संचिट्ठणा, अन्तर और अल्पबहुत्व का प्रतिपादन किया गया है। तदनन्तर पुरुषवेद की बंधस्थिति, अबाधाकाल और कर्मनिषेक बताकर पुरुषवेद को दावाग्नि ज्वाला के समान निरूपित किया है।

नपुंसक वेद के निरूपण में कहा गया है कि नपुंसक तीन प्रकार के हैं—नैरयिक नपुंसक, तिर्यक्योनिक नपुंसक और मनुष्ययोनिक नपुंसक। देव नपुंसक नहीं होते हैं। तदनन्तर इनके भेद-प्रभेद निरूपित किये हैं। तत्पश्चात् पूर्ववत् स्थिति, संचिट्ठणा, अन्तर, अल्पबहुत्व, बंधस्थिति अबाधाकाल और कर्मनिषेक प्रतिपादित हैं। नपुंसक वेद को महानगरदाह के समान बताया गया है।

तत्पश्चात् आठ प्रकार से वेदों का अल्पबहुत्व निर्देशित किया गया है। तदनन्तर कहा गया है कि पुरुष सबसे थोड़े हैं, उनसे स्त्रियां संख्येयगुणी हैं, उनसे नपुंसक अनन्त गुण हैं। तिर्यक्योनिक पुरुषों की अपेक्षा तिर्यक्-योनिक स्त्रियां तिगुनी अधिक हैं। मनुष्य पुरुषों की अपेक्षा मनुष्य-स्त्रियां सत्तावीस गुणी हैं और देवों से देवियां बत्तीस गुनी अधिक हैं।[1]

१. तिगुणा तिरूव अहिया तिरियाणं इत्थिया मुणेयव्वा।
सत्तावीसगुणा पुण मणुयाणं तदहिया चेव ॥१॥
बत्तीस गुणा बत्तीसरूव अहिया उ होंति देवाणं।
देवीओ पण्णत्ता जिणेहिं जियरागदोसेहिं ॥२॥ —संग्रहणिगाथा

तृतीय प्रतिपत्ति

नारक-वर्णन

यदि संसारवर्ती जीवों को चार भागों में विभक्त किया जाय तो उनका विभाजन इस प्रकार होता है—नैरयिक, तिर्यक्योनिक मनुष्य और देव। नैरयिक जीव सात प्रकार के नरकों में रहते हैं। ये नरक मध्यलोक के नीचे हैं। ये नरकपृथ्वियाँ कही जाती हैं। उनके नाम घम्मा, वंशा, सेला, अंजना, रिष्टा, मघा और माघवती हैं। इनके रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमतमः प्रभा—ये सात गोत्र हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है, शर्कराप्रभा की मोटाई एक लाख बत्तीस हजार योजन, बालुका प्रभा की एक लाख अट्ठावीस हजार योजन, पंकप्रभा की एक लाख बीस हजार, धूमप्रभा की एक लाख अठारह हजार, तमःप्रभा की एक लाख सोलह हजार और तमस्तमःप्रभा की मोटाई एक लाख आठ हजार योजन की है।

रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन विभाग (काण्ड) हैं—खर काण्ड जिसे रत्न काण्ड भी कहते हैं, पंक काण्ड और अप्बहुल काण्ड। केवल रत्नप्रभा पृथ्वी के ही काण्ड हैं शेष पृथ्वियों के काण्ड नहीं हैं—वे एकाकार हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी के एक लाख अस्सी हजार योजन प्रमाण क्षेत्र में से ऊपर-नीचे के एक एक हजार योजन भाग को छोड़कर शेष क्षेत्र में ऊपर भवनवासी देवों के सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं तथा नीचे नारकियों के तीस लाख नारकावास हैं। दूसरी नरकपृथ्वी के ऊपर-नीचे के एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष भाग में २५ लाख नारकावास हैं। इसी तरह तीसरी पृथ्वी में १५ लाख, चौथी में दस लाख, पांचवीं में तीन लाख, छठी में पांच कम एक लाख और सातवीं में पांच नारकावास हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी से नीचे असंख्यात योजन के अन्तराल के बाद दूसरी शर्करा पृथ्वी है। इसके असंख्यात हजार योजन नीचे बालुका पृथ्वी है। इस तीसरी पृथ्वी का तल भाग मध्यलोक से दो राजु प्रमाण नीचा है। तीसरी पृथ्वी से असंख्यात हजार योजन नीचे जाने पर चौथी पंकप्रभा पृथ्वी है। इस पृथ्वी का तल भाग मध्यलोक से तीन राजु नीचा है। इससे असंख्यात हजार योजन नीचे जाने पर पांचवीं धूमप्रभा पृथ्वी है। इसका तल भाग मध्यलोक से चार राजु नीचे है। पांचवीं पृथ्वी से असंख्यात हजार योजन नीचे जाने पर छठी तमःप्रभा पृथ्वी है। इसका तल भाग मध्यलोक से पांच राजु नीचे है। छठी पृथ्वी से असंख्यात हजार योजन नीचे जाने पर सातवीं तमस्तमःप्रभा पृथ्वी है। इसका तल भाग मध्यलोक से छह राजु नीचा है। सातवीं पृथ्वी के नीचे एक राजु प्रमाण मोटा और सात राजु विस्तृत क्षेत्र हैं जहाँ केवल एकेन्द्रिय जीव ही रहते हैं।

ये रत्नप्रभा आदि पृथ्वियाँ घनोदधि, घनवात और तनुवात पर आधारित हैं। इनके नीचे अवकाशान्तर (पोलार) है। सात नरकों और उनके अवकाशान्तर में पुद्‌गलद्रव्यों की व्यापक स्थिति है। रत्नप्रभा से लेकर समस्त तमस्तमःप्रभा पृथ्वी तक सबका आकार झल्लरि के समान बताया है।

तदनन्तर सात नरकों से चारों दिशाओं में लोकान्त का अन्तर बताया गया है। रत्नप्रभादि सातों नरकों में सब जीव कालक्रम से उत्पन्न हुए हैं और निकले हैं क्योंकि संसार अनादि है। रत्नप्रभादि कथंचित् शाश्वत हैं और कथंचिद् अशाश्वत हैं द्रव्यापेक्षया शाश्वत और पर्यायापेक्षया अशाश्वत हैं।

नरकावासों के संस्थान, आयाम-विष्कंभ, परिधि, वर्ण गंध और स्पर्श का वर्णन करते हुए उनकी अशुभता बताई है। चार गतियों की अपेक्षा गति-आगति, उनके श्वासोच्छ्‌वास के पुद्‌गल, आहार के पुद्‌गल, लेश्याएँ, ज्ञान, अज्ञान, उपयोग, अवधिज्ञान का प्रमाण, समुद्‌घात, सात नरकों क्षुधा-पिपासा आदि की वेदना, शीतोष्ण वेदना,

मानवलोक की उष्णता से नारकीय उष्णता की तुलना, नैरयिकों के अनिष्ट पुद्गलपरिणमन का वर्णन किया गया है।

तदनन्तर नारकों की स्थिति, उद्वर्तना और व्युत्क्रान्ति (उत्पत्ति) का वर्णन है।

नारक उद्देशक का उपसंहार करते हुए कहा गया है—नारक जीव अत्यन्त अनिष्ट एवं अशुभ पुद्गल-परिणाम का अनुभव करते हैं। उनकी वेदना, लेश्या, नाम, गोत्र, अरति, भय, शोक, भूख-प्यास, व्याधि, उच्छ्वास, अनुताप, क्रोध, मान, माया, लोभ, आहार, भय, मैथुन-परिग्रहादि संज्ञा ये सब अशुभ एवं अनिष्ट होते हैं। प्रायः महारम्भ महापरिग्रह वाले वासुदेव, माण्डलिक राजा, चक्रवर्ती तन्दुल मत्स्यादि जलचर कालसौकरिक आदि कौटुम्बिक (महारंभ-महापरिग्रह एवं क्रूर परिणामों से) नरक गति में जाते हैं। नरक में नारकियों को अक्षि-निमीलन मात्र के लिए भी सुख नहीं है। वहाँ दुःख ही दुःख है। वहाँ अति शीत, अति उष्ण, अति तृष्णा, अति क्षुधा और अति भय है। नारक जीवों को निरन्तर असाता का ही अनुभव करना पड़ता है।

तिर्यञ्चाधिकार

तिर्यग्योनिक जीवों के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियादि पांच प्रकार बताये हैं। एकेन्द्रिय के पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु वनस्पति रूप से पांच प्रकार कहे हैं। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के भेद-प्रभेद बताये गये हैं। पंचेन्द्रिय जलचर, स्थलचर और खेचर के दो-दो भेद सम्मूर्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक के रूप में कहे हैं। खेचर आदि पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक के तीन प्रकार का योनिसंग्रह कहा है—अंडज, पोतज और संमूर्छिम। अंडज और पोतज तीनों वेद वाले होते हैं। संमूर्छिम नपुंसक ही होते हैं। इन जीवों का लेश्या, दृष्टि, ज्ञान-अज्ञान, योग, उपयोग, आगति, गति, स्थति समुद्घात आदि द्वारों से वर्णन किया गया है। तदनन्तर जाति, कुलकोडी का कथन किया गया है।

द्वितीय उद्देशक में छह प्रकार के संसारवर्ती जीव कहे हैं—पृथ्वीकाय यावत् त्रसकाय। इनके भेद-प्रभेद किये हैं। इनकी स्थिति, संचिट्ठणा और निर्लेपना का कथन है।

प्रसंगोपात्त विशुद्ध अविशुद्ध लेश्या वाले अनगार के विशुद्ध-अविशुद्ध लेश्या वाले देव-देवी को जानने संबंधी प्रश्नोत्तर हैं।

मनुष्य दो प्रकार के हैं—संमूर्छिम मनुष्य और गर्भव्युत्क्रांतिक मनुष्य। सम्मूर्छिम मनुष्य क्षेत्र के चौदह अशुचि स्थानों में उत्पन्न होते हैं। उनकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है। गर्भज मनुष्य तीन प्रकार के हैं—कर्म-भूमक, अकर्मभूमक और अन्तर्द्वीपक।

मनुष्याधिकार

अन्तर्द्वीपक—हिमवान पर्वत की चारों विदिशाओं में तीन-तीन सौ योजन लवणसमुद्र के भीतर जाने पर चार अन्तर्द्वीप हैं। इसी प्रकार लवण समुद्र के भीतर चार सौ, पांच सौ, छह सौ, सात सौ, आठ सौ और नौ सौ योजन आगे जाने पर भी चारों विदिशाओं में चार-चार अन्तर्द्वीप हैं। इस प्रकार चुल्ल हिमवान के ७×४=२८ अन्तर्द्वीप हैं। इन अन्तर्द्वीपों में रहने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपक कहलाते हैं। इन अन्तर्द्वीपकों के २८ नाम हैं—१. एकोरुक, २. आभाषिक, ३. वैषाणिक, ४. नांगोलिक, ५. हयकर्ण, ६. गजकर्ण, ७. गोकर्ण, ८. शष्कुलीकर्ण, ९. आदर्शमुख, १०. मेण्ढमुख, ११. अयोमुख, १२. गोमुख, १३. अश्वमुख, १४. हस्तिमुख, १५. सिंहमुख, १६. व्याघ्रमुख, १७. अश्वकर्ण, १८. सिंहकर्ण, १९. अकर्ण, २०. कर्णप्रावरण, २१. उल्कामुख, २२. मेघमुख, २३. विद्युद्दन्त, २४.

विद्युज्जिह्वा, २५. घनदन्त, २६. लष्टदन्त, २७. गूढदन्त और २८. शुद्धदन्त। इसी प्रकार शिखरी पर्वत की लवणसमुद्रगत दाढाओं पर भी २८ अन्तर्द्वीप हैं। दोनों ओर के मिलाकर ५६ अन्तर्द्वीप हो जाते हैं।

एकोरुक द्वीप का आयाम-विष्कंभ तीन सौ योजन और परिधि नौ सौ उनपचास योजन है। वह एक पद्मवरवेदिका और एक वनखण्ड से चारों ओर से घिरा हुआ है। इस द्वीप का भूमिभाग बहुत समतल और रमणीय है। वहाँ बहुत सारे द्रुम, वृक्ष, वन, लता, गुल्म आदि हैं जो नित्य कुसुमित रहते हैं। वहाँ बहुत सी हरी भरी वनराजियां हैं। वहाँ दस प्रकार के कल्पवृक्ष हैं जिनसे वहाँ के निवासियों का जीवन-निर्वाह होता है। (१) मत्तांग नामक कल्पवृक्ष से उन्हें विविध पेयपदार्थों की प्राप्ति होती है। (२) भृतांग नामक कल्पवृक्ष से बर्तनों की पूर्ति होती है। (३) त्रुटितांग कल्पवृक्ष से वाद्यों की पूर्ति (४) दीपशिखा नामक कल्पवृक्ष से प्रकाश की पूर्ति होती है। (५) ज्योति-अंग नामक कल्पवृक्ष से सूर्य की तरह प्रकाश और सुहावनी धूप प्राप्त होती है। (६) चित्रांग नामक कल्पवृक्ष विविध प्रकार के चित्र एवं विविध मालाएँ प्रदान करते हैं। (७) चित्तरसा नामक कल्पवृक्ष विविध रसयुक्त भोजन प्रदान करते हैं। (८) मण्यंग नामक कल्पवृक्ष विविध प्रकार के मणिमय आभूषण प्रदान करते हैं। (९) गेहागार नाम के कल्पवृक्ष विविध प्रकार के आवास प्रदान करते हैं और (१०) अणिगण नाम के कल्पवृक्ष उन्हें विविध प्रकार के वस्त्र प्रदान करते हैं।

एकोरुक द्वीप के मनुष्य और स्त्रियां सुन्दर अंगोपांग युक्त, प्रमाणोपेत अवयव वाले, चन्द्र के समान सौम्य और अत्यन्त भोग-श्री से सम्पन्न होते हैं। नख से लेकर शिख तक के उनके अंगोपांगों का साहित्यिक और सरस वर्णन किया गया है। ये प्रकृति से भद्रिक होते हैं। चतुर्थ भक्त अन्तर से आहार की इच्छा होती है। ये मनुष्य आठ सौ धनुष ऊंचे होते हैं, ६४ पृष्ठकरंडक (पांसलियां) होते हैं। उनपचास दिन तक अपत्य-पालना करते हैं। उनकी स्थिति जघन्य देशोन पल्योपम का असंख्येय भाग और उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्येय भाग प्रमाण है। जब उनकी छह मास आयु शेष रहती है तब युगलिक-स्त्री सन्तान को जन्म देती है। ये युगलिक स्त्री-पुरुष सुखपूर्वक आयुष्य पूर्ण करके अन्यतर देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

एकोरुक द्वीप में गृह, ग्राम, नगर, असि, मसि, कृषि आदि कर्म, हिरण्य-सुवर्ण आदि धातु, राजा और सामाजिक व्यवस्था, दास्यकर्म वैरभाव, मित्रादि, नटादि के नृत्य, वाहन, धान्य, डांस-मच्छर, युद्ध, रोग, अतिवृष्टि, लोहे आदि धातु की खान, क्रय विक्रय आदि का अभाव होता है। वह भोगभूमि है। इसी तरह सब अन्तर्द्वीपों का वर्णन समझना चाहिए।

कर्मभूमिज मनुष्य कर्मभूमियों में और अकर्मभूमिज मनुष्य अकर्मभूमि में पैदा होते हैं। कर्मभूमि वह है जहाँ मोक्षमार्ग के उपदेष्टा तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं, जहाँ असि (शस्त्र) मषि (लेखन-व्यापार आदि) और कृषि कर्म करके मनुष्य अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। ऐसी कर्मभूमियां पन्द्रह हैं—५ भरत, ५ एरवत और ५ महाविदेह। (ये भरत आदि एक एक जम्बूद्वीप में, दो-दो धातकीखण्ड में और दो-दो-पुष्करार्ध द्वीप में हैं।) यहाँ के मनुष्य अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर्मो का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। ये अपने-अपने पुण्य-पाप के अनुसार चारों गतियों में उत्पन्न हो सकते हैं।

जहाँ असि-मसि-कृषि नहीं है किन्तु प्रकृति प्रदत्त कल्पवृक्षों द्वारा जीवननिर्वाह है वह अकर्मभूमि है। अकर्मभूमियां ३० हैं—पांच हैमवत, पांच हैरण्यवत, पांच हरिवास, पांच रम्यकवास, पांच देवकुरु और पांच उत्तर-कुरु। इनमें से एक-एक जम्बूद्वीप में, दो-दो धातकीखण्ड में और दो-दो पुष्करार्धद्वीप में हैं। ३० अकर्मभूमि और ५६ अन्तर्द्वीप भोगभूमियां हैं। यहाँ युगलिक धर्म है—चारित्र धर्म यहाँ नहीं है।

मनुष्यों का वर्णन करने के पश्चात् चार प्रकार के देवों का कथन है—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। भवनपति और वानव्यन्तर देवों का आवास रत्नप्रभा पृथ्वी में—मध्यलोक में है। ज्योतिष्क देव भी मध्यलोक में हैं। वैमानिक देवों का निवास ऊर्ध्वलोक में है। भवनवासी देवों के ७ करोड़ ७२ लाख भवनावास रत्नप्रभा पृथ्वी में कहे गये हैं। उनमें असुरकुमार आदि दस प्रकार के भवनपति देव रहते हैं। असुरकुमारों के भवनों का वर्णन, असुरेन्द्र की ३ पर्षद्, उनमें देव-देवियों की संख्या, उनकी स्थिति, तीन पर्षदों की भिन्नता का कारण, उत्तर के असुरकुमारों का वर्णन तथा उनकी पर्षदाओं का वर्णन है। दक्षिण-उत्तर के नागकुमारेन्द्र और दक्षिण-उत्तर के धरणेन्द्र व उनकी तीन पर्षदों का भी वर्णन है। व्यन्तर देवों के भवन, इन्द्र और परिषदों का भी वर्णन है। ज्योतिष्क देवों के विमानों का संस्थान, और सूर्य चन्द्र देवों की तीन-तीन परिषदों का उल्लेख है। इसके पश्चात् द्वीप-समुद्रों का वर्णन किया गया है।

जम्बूद्वीप—जम्बूद्वीप के वृत्ताकार की उपमाएँ, उसके संस्थान की उपमाएँ, आयाम-विष्कंभ, परिधि, जगती की ऊँचाई, उसके मूल मध्य और ऊपर का विष्कंभ, उसका संस्थान, जगती की जाली की ऊँचाई, विष्कंभ, पद्मवरवेदिका की ऊँचाई एवं विष्कंभ, उसकी जालिकाएँ, घोड़े आदि के चित्र, वनलता आदि लताएँ, अक्षत, स्वस्तिक, विविध प्रकार के कमल, शाश्वत या अशाश्वत आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप के वनखंड का चक्रवाल, विष्कंभ, विविध वापिकाएं, उनके सोपान, तोरण, समीपवर्ती पर्वत, लतागृह, मंडप, शिलापट्ट और उन पर देव देवियों की क्रीडाओं आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप के विजयद्वार का स्थान, उसकी ऊंचाई, विष्कंभ तथा कपाट की रचना का विस्तृत वर्णन है। विजयदेव सामानिक देव, अग्रमहिषियों, तीन पर्षदों, आत्मरक्षक देवों आदि के भद्रासनों का वर्णन है। विजयद्वार के ऊपरी भाग का, उसके नाम के हेतु का तथा उसकी शाश्वतता का उल्लेख किया गया है।

जम्बूद्वीप की विजया राजधानी का स्थान, उसका आयाम-विष्कंभ, परिधि, प्राकार की ऊंचाई, प्राकार के मूल, मध्य और ऊपरी भाग का विष्कंभ, उसका संस्थान, कपिशीर्षक का आयाम-विष्कंभ, उसके द्वारों की ऊंचाई और विष्कंभ, चार वनखण्ड, उनका आयाम-विष्कंभ, दिव्य प्रासाद, उनमें चार महर्द्धिक देव, परिधि, पद्मवर-वेदिका वनखंड सोपान व तोरण प्रासादावतंसक, मणिपीठिका, सिंहासन, आठ मंगल, समीपवर्ती प्रासादों की ऊंचाई, आयाम-विष्कंभ, अन्य पार्श्ववर्ती प्रासादों की ऊंचाई, आयाम, विष्कंभ आदि का वर्णन है।

विजयदेव की सुधर्मा सभा, ऊंचाई, आयाम-विष्कंभ, उसके तीन द्वारों की ऊंचाई व विष्कंभ, मुखमंडपों का आयाम विष्कंभ और ऊंचाई, प्रेक्षागृह-मंडपों का आयाम-विष्कंभ व ऊंचाई, मणिपीठिकाओं, चैत्य वृक्षों, महेन्द्र ध्वजाओं और सिद्धायतन के आयाम-विष्कंभ तथा ऊंचाई का वर्णन किया गया है।

तदनन्तर उपपात सभा, विजयदेव की उत्पत्ति, पर्याप्ति, मानसिक संकल्प आदि का वर्णन है। विजयदेव और उसके सामानिक देवों की स्थिति बताई गई है। जम्बूद्वीप के विजय, वैजयन्त, जयंत और अपराजित द्वारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। जम्बूद्वीप के एक द्वार से दूसरे द्वार का अन्तर, जम्बूद्वीप से लवणसमुद्र का और लवणसमुद्र का जम्बूद्वीप से स्पर्श का तथा परस्पर में इनमें जीवों की उत्पत्ति का कथन है।

जम्बूद्वीप में उत्तरकुरु का स्थान, संस्थान और विष्कंभ, जीवा और वक्षस्कार पर्वत का स्पर्श, धनुपृष्ठ की परिधि उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यों की ऊंचाई, पसलियां, आहारेच्छा, काल, स्थिति, अपत्यपालन-काल, आदि का वर्णन है। उत्तरकुरु के दो यमक पर्वत हैं। उनकी ऊंचाई, उद्वेध, मूल, मध्य और ऊपरी भाग का आयाम-विष्कंभ,

परिधि, उन पर्वतों पर प्रासाद और उनकी ऊंचाई, यमक नाम का कारण, यमक पर्वत की नित्यता, यमक देवों की राजधानी के स्थान आदि का वर्णन है।

उत्तरकुरु में नीलवंत द्रह का स्थान, आयाम-विष्कंभ, और उद्वेध, पद्मकमल का आयाम, विष्कंभ, परिधि, बाहल्य, ऊंचाई और सर्वोपरिभाग, इसी तरह कणिका, भवन, द्वार, मणिपीठिका १०८ कमल, कर्णिकाएँ, पद्म परिवार के आयाम-विष्कंभ और परिधि वर्णित हैं।

कंचनग पर्वतों का स्थान, प्रासाद, नाम का कारण, कंचनगदेव और उसकी राजधानी, उत्तरकुरु द्रह का स्थान, चन्द्रद्रह ऐरावण द्रह, माल्यवंत द्रह, जम्बूपीठ का स्थान, मणिपीठिका, जम्बू सुदर्शन वृक्ष की ऊंचाई-आयाम-विष्कंभ आदि का वर्णन है। जम्बूसुदर्शन की शाखाएँ, उन पर भवन द्वार, उपरिभाग में सिद्धायतन के द्वारों की ऊंचाई, विष्कंभ आदि वर्णित हैं। पार्श्ववर्ती अन्य जम्बूसुदर्शनों की ऊंचाई, अनाहृत देव और उसका परिवार, चारों ओर के वनखण्ड, प्रत्येक वनखण्ड में भवन, नन्दापुष्करिणियां, उनके मध्य प्रासाद, उनके नाम, एक महान् कूट, उसकी ऊंचाई और आयाम- विष्कंभ आदि का वर्णन है। जम्बूसुदर्शन पर अष्ट मंगल, उसके १२ नाम, नाम का कारण, अनाहत देव की स्थिति, राजधानी का स्थान जम्बूद्वीप नाम की नित्यता और उसमें चन्द्र-सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और गरागण की संख्या आदि का वर्णन किया गया है।

लवण समुद्र—लवण समुद्र का संस्थान, उसका चक्रवाल विष्कंभ, परिधि, पद्मवरवेदिका की ऊंचाई और वनखंड, लवण समुद्र के द्वारों का अन्तर, लवण समुद्र और धातकीखंड का परस्पर स्पर्श, परस्पर में जीवों की उत्पत्ति, नामकरण का कारण, लवणाधिपति सुस्थित देव की स्थिति, लवण समुद्र की नित्यता, उसमें चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और ताराओं की संख्या, लवण समुद्र की भरती और घटती और उसमे रहे हुए चार पाताल कलशों का वर्णन है। लवणाधिपति सुस्थित देव, गौतम द्वीप का स्थान, वनखंड, क्रीडास्थल, मणिपीठिका और नाम के कारण का उल्लेख है।

जंबूद्वीप के चन्द्रद्वीप का स्थान, ऊंचाई, आयाम-विष्कंभ, क्रीडास्थल, प्रासादावतंसक, मणिपीठिका का परिमाण, नाम का हेतु आदि वर्णित हैं। इसी प्रकार जंबूद्वीप के सूर्य और उनके द्वीपों का वर्णन है। लवणसमुद्र के बाहर चन्द्र-सूर्य और उनके द्वीप, धातकीखण्ड के चन्द्र-सूर्य और उनके द्वीप, कालोदधि समुद्र के चन्द्र-सूर्य और उनके द्वीप, पुष्करवरद्वीप के चन्द्र सूर्य और उनके द्वीप, लवण समुद्र में वेलंधर मच्छ कच्छप, बाह्य समुद्रों में वेलंधरों का अभाव, लवण समुद्र के उदक का वर्णन, उसमें वर्षा आदि का सद्भाव किन्तु बाह्य समुद्रों में अभाव आदि का वर्णन है।

धातकीखण्ड—धातकीखण्ड का संस्थान, चक्रवाल विष्कंभ, परिधि, पद्मवरवेदिका, वनखण्ड, द्वार, द्वारों का अन्तर, धातकीखंड और कालोदधि का परस्पर संस्पर्श और जीवोत्पत्ति, नाम का हेतु, धातकीखण्ड के वृक्ष और देव-देवियों की स्तुति, उसकी नित्यता तथा चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र-तारागण आदि का वर्णन है।

कालोद समुद्र—कालोद समुद्र का संस्थान, चक्रवाल विष्कंभ परिधि, पद्मवरवेदिका, वनखंड, चार द्वार, उनका अन्तर, कालोद समुद्र और पुष्करवर द्वीप का परस्पर स्पर्श एवं जीवोत्पत्ति, नाम का कारण, काल महाकाल देव की स्थिति, कालोद समुद्र की नित्यता और उसके चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र और तारों आदि का वर्णन किया गया है।

पुष्करवर द्वीप—पुष्करवर द्वीप का संस्थान, चक्रवाल विष्कंभ, परिधि, पद्मवरवेदिका, वनखंड, चार द्वार, उनका अन्तर, द्वीप और समुद्र के प्रदेशों का स्पर्श और परस्पर में जीवोत्पत्ति, नाम का हेतु, पद्म और महापद्म वृक्ष,

पद्म और पुंडरीक देवों की स्थिति तथा इस द्वीप के चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र और तारागणों की संख्या आदि का वर्णन है।

मानुषोत्तर पर्वत बीच में आ जाने से इस द्वीप के दो विभाग हो गये हैं। जंबूद्वीप, धातकीखण्ड और अर्ध पुष्करवर द्वीप को अढाई द्वीप, मनुष्यक्षेत्र अथवा समयक्षेत्र कहते हैं। समयक्षेत्र का आयाम विष्कंभ, परिधि, मनुष्य क्षेत्र के नाम का कारण तथा चन्द्र सूर्यादि का वर्णन है।

मनुष्य लोक और उसके बाहर ताराओं की गति आदि, मानुषोत्तर पर्वत की ऊंचाई, पर्वत के नाम का कारण, लोकसीमा के अनेक विकल्प, मनुष्यक्षेत्र में चन्द्रादि ज्योतिष्क देवों की मण्डलाकार गति, इन्द्र के अभाव में सामानिक देवों द्वारा शासन, इन्द्र का विरह काल, पुष्करोदधि का संस्थान, चक्रवाल विष्कंभ परिधि, चार द्वार, उनका अन्तर, द्वीप समुद्र में जीवों की परस्पर उत्पत्ति आदि का कथन किया गया है।

इसके पश्चात् वरुणवर द्वीप, वरुणवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरोदसागर, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, क्षोदवर द्वीप-क्षोदवर समुद्र, नन्दीश्वर द्वीप-नन्दीश्वर समुद्र आदि असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं और अन्त में असंख्यात योजन विस्तृत स्वयंभूरमण समुद्र, हैं, ऐसा कथन किया गया है। लवणसमुद्र से लगाकर कालोद, पुष्करोद वरुणोद, क्षीरोद, घृतोद, क्षोदोद तथा शेष समुद्रों के जल का आस्वाद बताया गया है। प्रकृति-रसवाले चार समुद्र, उदगरसवाले तीन समुद्र, बहुत कच्छ मच्छ वाले तीन समुद्र, शेष समुद्र अल्पमच्छ वाले कहे गये हैं। समुद्र के मत्स्यों की कुलकोटि, अवगाहना आदि का वर्णन है।

देवों की दिव्य गति, बाह्य पुद्गलों के ग्रहण से ही विकुर्वणा, देव के वैक्रिय शरीर को छद्मस्थ नहीं देख सकता, बालक का छेदन-भेदन किये बिना बालक को छोटा-बड़ा करने का सामर्थ्य देव में होता है, यह वर्णन किया गया है।

चन्द्र और सूर्यों के नीचे, बीच में और ऊपर रहने वाले ताराओं का वर्णन, प्रत्येक चन्द्र सूर्य के परिवार का प्रमाण, जंबूद्वीप के मेरु से ज्योतिष्क देवों की गति का अन्तर, लोकान्त में ज्योतिष्क देवों की गति-क्षेत्र का अन्तर, रत्नप्रभा के ऊपरी भाग से ताराओं का, सूर्यविमान का चन्द्रविमान का और सब से ऊपर के तारे के विमान का अन्तर भी बताया गया है।

इसी प्रकार अधोवर्ती तारे से सूर्य चन्द्र और सर्वोपरि तारे का अन्तर, जंबूद्वीप में सर्वाभ्यन्तर, सर्व बाह्य, सर्वोपरि सर्व अधो गति करने वाले नक्षत्रों का वर्णन, चन्द्र विमान यावत् तारा विमान का विष्कंभ, परिधि, चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्रों के विमानों को परिवहन करने वाले देवों की संख्या, चन्द्रादि की गति, अग्रमहिषियाँ, उनकी विकुर्वणा आदि का वर्णन भी किया गया है।

वैमानिक देवों का वर्णन—वैमानिक देवों का वर्णन करते हुए शक्रेन्द्र की तीन परिषद्, उनके देवों की संख्या, स्थिति, यावत् अच्युतेन्द्र की तीन परिषद् आदि का वर्णन है। अहमिन्द्र ग्रैवेयक व अनुत्तर विमान के देवों का वर्णन है। सौधर्म-ईशान से लेकर अनुत्तर विमानों का आधार, बाहल्य, संस्थान, ऊंचाई, आयाम, विष्कंभ, परिधि, वर्ण, प्रभा, गंध और स्पर्श का उल्लेख किया गया है।

सर्व विमानों की पौद्गलिक रचना, जीवों और पुद्गलों का चयोपचय, जीवों की उत्पत्ति का भिन्न-भिन्न क्रम, सर्व जीवों से सर्वथा रिक्त न होना, देवों की भिन्न भिन्न अवगाहना का वर्णन है। ग्रैवेयक और अनुत्तर देवों में विक्रिया करने की शक्ति होने पर भी वे विक्रिया नहीं करते, देवों में संहनन का अभाव है, केवल शुभ पुद्गलों का परिणमन होता है। देवों में समचतुरस्र संस्थान है। वैमानिक देवों के अवधि ज्ञान की भिन्न भिन्न अवधि,

भिन्न भिन्न समुद्घात और भिन्न भिन्न वर्ण-गंध, रस और स्पर्श होते हैं। इन देवों में क्षुधा-पिपासा के वेदन का अभाव, भिन्न भिन्न प्रकार की वैक्रिय शक्ति, सातावेदनीय, वेशभूषा, कामभोग, भिन्न भिन्न गति का वर्णन किया गया है।

तदनन्तर नैरयिक-तिर्यंच-मनुष्य और देवों को जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति तथा जघन्य और उत्कृष्ट संचिट्ठणा काल, जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल एवं उनका अल्प-बहुत्व बताया गया है।

इस प्रकार इस तृतीय प्रतिपत्ति में चार प्रकार के संसारी जीवों को लेकर विस्तृत विवेचन किया गया है।

चतुर्थ प्रतिपत्ति—इस प्रतिपत्ति में सांसारिक जीवों के पांच प्रकार बताये गये हैं—एकेन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय। इनके भेद-प्रभेद, जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति संस्थितिकाल और अल्पबहुत्व बताये गये हैं।

पंचम प्रतिपत्ति—इस प्रतिपत्ति में सांसारिक जीवों को छह विभागों में विभक्त किया गया है—पृथ्वीकाय यावत् त्रसकाय। इसके भेद-प्रभेद, स्थिति, संचिट्ठणा, अन्तर और अल्पबहुत्व बताये गये हैं। इसमें निगोद का वर्णन, स्थिति, संचिट्ठणा, अन्तर और अल्प-बहुत्व प्रतिपादित हैं।

षष्ठ प्रतिपत्ति—इस प्रतिपत्ति में सांसारिक जीव सात प्रकार के कहे गये हैं—नैरयिक, तिर्यंच, तिर्यंचनी, मनुष्य, मानुषी, देव और देवी। इनकी स्थिति, संस्थिति, अन्तर और अल्पबहुत्व बताये गये हैं।

सप्तम प्रतिपत्ति—इसमें आठ प्रकार के संसारी जीव बताये गये हैं। प्रथम समय नैरयिक, अप्रथम समय नैरयिक, प्रथम समय तिर्यंच, अप्रथम समय तिर्यंच, प्रथम समय मनुष्य, अप्रथम समय मनुष्य, प्रथम समय देव और अप्रथम समय देव। इन आठों प्रकार के संसारी जीवों की स्थिति, संस्थिति, अन्तर और अल्प-बहुत्व प्रतिपादित किया है।

अष्टम प्रतिपत्ति—इस प्रतिपत्ति में संसारवर्ती जीवों के नौ प्रकार बताये हैं—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक द्वीन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय। इन नौ की स्थिति, संस्थिति, अन्तर और अल्पबहुत्व का विवेचन है।

नौवीं प्रतिपत्ति—इस प्रतिपत्ति में संसारवर्ती जीवों के दस भेद प्रतिपादित किये हैं—प्रथम समय एकेन्द्रिय से लेकर प्रथम समय पंचेन्द्रिय तक ५ और अप्रथम समय एकेन्द्रिय से लेकर अप्रथम समय पंचेन्द्रिय तक पांच। दोनों मिलकर दस प्रकार हुए। इन जीवों की स्थिति, संस्थिति, अन्तर और अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है।

तदनन्तर इस प्रतिपत्ति में जीवों के सिद्ध-असिद्ध सेन्द्रिय-अनिन्द्रिय, ज्ञानी-अज्ञानी, आहारक-अनाहारक, भाषक-अभाषक, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि, परित्त-अपरित्त, पर्याप्तक-अपर्याप्तक, सूक्ष्म-बादर, संज्ञी-असंज्ञी, भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक रूप से भेदों का विधान किया गया है तथा योग, वेद, दर्शन, संयत, असंयत, कषाय, ज्ञान, शरीर, काय, लेश्या, योनि इन्द्रिय आदि की अपेक्षा से वर्णन किया गया है।

उपसंहार—इस प्रकार प्रस्तुत आगम में जीव और अजीव का अभिगम है। दो विभागों में इनका निरूपण किया गया है। प्रथम विभाग में अजीव का और संसारी जीवों का निरूपण है तो दूसरे विभाग में संसारी और सिद्ध दोनों का समावेश हो जाय, इस प्रकार भेद निरूपण है।

प्रस्तुत आगम में द्वीप और सागरों का विस्तार से वर्णन है।

प्रसंगोपात्त, इसमें विविध लौकिक और सामाजिक, भौगोलिक और खगोल संबंधी जानकारियां भी उपलब्ध होती हैं। सोलह प्रकार के रत्न, अस्त्र-शस्त्रों के नाम, धातुओं के नाम, विविध प्रकार के पात्र, विविध

आभूषण भवन, वस्त्र, ग्राम, नगर ग्रादि का वर्णन है। त्यौहार, उत्सव, नृत्य, यान ग्रादि के विविध नाम भी इसमें वर्णित हैं। कला, युद्ध व रोग ग्रादि के नाम भी उल्लिखित हैं। इसमें उद्यान, वापी, पुष्करिणी, कदलीघर, प्रसाधनघर ग्रौर स्त्री-पुरुष के अंगों का सरस एवं साहित्यिक वर्णन भी है। प्राचीन सांस्कृतिक सामग्री की इसमें प्रचुरता है। प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों के ग्रध्ययन की दृष्टि से इस ग्रागम का बहुत महत्त्व है।

व्याख्या-साहित्य

जीवाभिगम का व्याख्या-साहित्य वर्तमान में इस प्रकार उपलब्ध है। जीवाभिगम पर न निर्युक्ति लिखी गई ग्रौर न कोई भाष्य ही लिखा गया। हाँ इस पर सर्वप्रथम व्याख्या के रूप में चूर्णि प्राप्त होती है, पर वह चूर्णि ग्रप्रकाशित है, इसलिए उस चूर्णि के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वह चूर्णि जिनदास गणि महत्तर की है या संघदास गणि की है।

जीवाभिगम पर संस्कृत भाषा में ग्राचार्य मलयगिरि की वृत्ति मिलती है। यह वृत्ति जीवाभिगम के पदों के विवेचन के रूप में है।

जीवाभिगमवृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति जीवाभिगम के पदों के विवेचन के रूप में है। इस वृत्ति में ग्रनेक ग्रन्थों ग्रौर ग्रन्थकारों का नामोल्लेख किया गया है—जैसे कि धर्मसंग्रहणीटीका, प्रज्ञापनाटीका, प्रज्ञापना-मूल-टीका, तत्त्वार्थ मूल-टीका, सिद्धप्राभृत, विशेषणवती, जीवाभिगममूल-टीका, पंचसंग्रह, कर्मप्रकृति संग्रहणी, क्षेत्र-समास टीका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका, कर्मप्रकृतिसंग्रहणीचूर्णि, वसुदेवचरित, जीवाभिगमचूर्णि, चन्द्रप्रज्ञप्तिटीका, सूर्यप्रज्ञप्तिटीका, देशीनाममाला, सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति, पंचवस्तुक, ग्राचार्य हरिभद्ररचित तत्त्वार्थटीका, तत्त्वार्थ भाष्य, विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञवृत्ति, पंचसंग्रहटीका प्रभृति।

इन ग्रन्थों में से ग्रनेक ग्रन्थों के उद्धरण भी टीका में प्रयुक्त हुए हैं।

वृत्ति के प्रारम्भ में मंगल के प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए ग्रागे के सूत्रों में तन्तु ग्रौर पट के सम्बन्ध में भी विचार-चर्चा की गई है ग्रौर माण्डलिक, महामाण्डलिक, ग्राम, निगम, खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, ग्राकर, ग्राश्रम, सम्बाध, राजधानी प्रभृति मानव-बस्तियों के स्वरूप पर चिन्तन किया गया है। वृत्ति में ज्ञानियों के भेदों पर चिन्तन करते हुए यह बताया है कि सिद्धप्राभृत में ग्रनेक ज्ञानियों का उल्लेख है। नरकावासों के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार से प्रकाश डाला है ग्रौर क्षेत्रसमासटीका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका के ग्रवलोकन का संकेत किया है। नारकीय जीवों की शीत ग्रौर उष्ण वेदना पर विचार करते हुए प्रावृट्, वर्षारात्र, शरद्, हेमन्त, वसन्त ग्रौर ग्रीष्म—इन छः ऋतुग्रों का वर्णन किया है। प्रथम शरद् कार्तिक मास को बताया गया है। ज्योतिष्क देवों के विमानों पर चिन्तन करते हुए विशेष जिज्ञासुग्रों को चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति एवं संग्रहणी टीकाएँ देखने का निर्देश किया गया है। एकादश ग्रलंकारों का भी इसमें वर्णन है ग्रौर राजप्रश्नीय में उल्लिखित ३२ प्रकार की नाट्यविधि का भी सरस वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत वृत्ति को ग्राचार्य ने 'विवरण' शब्द से व्यवहृत किया है ग्रौर इस विवरण का ग्रन्थमान १६००० श्लोक प्रमाण है।

जीवाभिगम पर आचार्य श्री अमोलक ऋषि जी म० ने आगम-बत्तीसी के साथ हिन्दी अनुवाद किया वह अनुवाद भावानुवाद के रूप में है।

इसके पश्चात् स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्री घासीलाल जी म० ने जीवाभिगम पर संस्कृत में अपनी विस्तृत टीका लिखी। इस टीका का हिन्दी और गुजराती में भी अनुवाद प्रकाशित हुआ।

इसके अतिरिक्त जीवाभिगम को सन् १८८३ में मलयगिरि वृत्ति सहित गुजराती विवेचन के साथ रायबहादुर धनपतसिंह ने अहमदाबाद से प्रकाशित किया। देवचन्द लालभाईपुस्तकोद्धारक फण्ड, बम्बई से सन् १९१९ में जीवाभिगम का मलयगिरि वृत्ति सहित प्रकाशन हुआ है। पर हिन्दी में ऐसे प्रकाशन की आवश्यकता चिरकाल से अनुभव की जा रही थी जो अनुवाद सरल-सुगम और मूल विषय को स्पष्ट करने वाला हो। स्वर्गीय युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी ने जैन आगम प्रकाशन समिति का निर्माण किया। उस समिति के द्वारा अनेक मूर्धन्य मनीषियों के द्वारा आगमों का अनुवाद और विवेचन प्रकाशित हुआ। उसी क्रम में प्रस्तुत जीवाभिगम का भी प्रकाशन हो रहा है। यह अत्यन्त आह्लाद का विषय है कि बहुत ही स्वल्प समय में अनेक मनीषियों के सहयोग के कारण आगम-बत्तीसी का कार्य प्रायः पूर्ण होने जा रहा है।

प्रस्तुत आगम का सम्पादन मेरे सुशिष्य श्री राजेन्द्र मुनि के द्वारा हो रहा है। राजेन्द्र मुनि एक युवा मुनि हैं। इसके पूर्व उन्होंने उत्तराध्ययन सूत्र का भी सुन्दर सम्पादन किया था और अब द्रव्यानुयोग का यह अपूर्व आगम सम्पादन कर अपनी आगमरुचि का परिचय दिया है। अनुवाद और विवेचन मूल आगम के भावों को सुस्पष्ट करने में सक्षम हैं। प्रस्तुत सम्पादन जन-जन के मन को भाएगा और वे इस आगम का स्वाध्याय कर अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करेंगे, ऐसी आशा है।

मैं प्रस्तुत आगम पर पूर्व आगमों की प्रस्तावनाओं की तरह विस्तृत प्रस्तावना लिखना चाहता था पर सामाजिक कार्यों में और भीड़-भरे वातावरण में चाहते हुए भी नहीं लिख सका। संक्षिप्त में जो प्रस्तावना दी जा रही है, उससे भी पाठकों को आगम की महत्ता का सहज परिज्ञान हो सकेगा। परम श्रद्धेय महामहिम राष्ट्रसन्त आचार्यसम्राट् श्री आनन्द ऋषिजी म. की असीम कृपा मुझ पर रही है और परमादरणीय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी म. का हार्दिक आशीर्वाद मेरे साथ है। इन महान् पुरुषों की कृपा के कारण ही मैं आज कुछ भी प्रगति कर सका हूँ। इनकी सदा-सर्वदा कृपा बनी रहे, इनकी निर्मल छत्र-छाया में हम अपना आध्यात्मिक समुत्कर्ष करते रहें, यही मंगल-मनीषा।

मन्दसौर, दिनांक 10-3-89 — उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

विषयानुक्रम

जीवाजीवाभिगमसुत्तं

जीवाजीवाभिगमसूत्र

प्राथमिक उपोद्घात

जगत् हितंकर, विश्ववंद्य देवाधिदेव तीर्थंकर परमात्मा ने जगज्जीवों को संसार-सागर से पार करने, उन्हें सांसारिक आधि-व्याधि-उपाधियों से उबारने के लिए एवं अनादिकालीन कर्मबन्धनों से छुटकारा दिलाकर मुक्ति के अनिर्वचनीय सुख-सुधा का पान कराने हेतु प्रवचन का प्ररूपण किया है।[1] यह प्रवचन[2] संसार के प्राणियों को भवोदधि से तारने वाला होने से 'तीर्थ' कहलाता है। प्रवचन तीर्थ है और तीर्थ प्रवचन है। प्रवचनरूप तीर्थ की रचना करने के कारण भगवान् अरिहंत तीर्थंकर कहलाते हैं। प्रवचन द्वादशांग गणिपिटक रूप है। प्रवाह की अपेक्षा से प्रवचन अनादि अनन्त होने पर भी विवक्षित तीर्थंकर की अपेक्षा वह आदिमान् है। अतः 'नमस्तीर्थाय' कहकर तीर्थंकर परमात्मा भी अनादि अनन्त तीर्थ को नमस्कार करते हैं। द्वादशांग गणिपिटक में उपयोगयुक्त रहने के कारण चतुर्विध श्रमणसंघ भी तीर्थ या प्रवचन कहा जाता है।[3]

तीर्थंकर प्ररूपित यह प्रवचन द्वादशांगरूप है। तीर्थंकर परमात्मा अर्थरूप से इसका निरूपण करते हैं और विशिष्ट मति वाले गणधर सूत्ररूप में उसे ग्रथित करते हैं।[4]

सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर परमात्मा द्वारा उपदिष्ट और विशिष्टमतिसम्पन्न चार ज्ञान, चौदह पूर्वों के धारक गणधरों द्वारा गुम्फित यह द्वादशांगी श्रुत-पुरुष के अंगरूप है। जो इस द्वादशांगी से अविरुद्ध और श्रुतस्थविरों द्वारा रचित हो वह श्रुत-पुरुष के उपांगरूप है। इस अपेक्षा से श्रुत-साहित्य अंगप्रविष्ट और अनंगप्रविष्ट के रूप से दो प्रकार का हो जाता है।

जो गणधरों द्वारा रचित हो, जो प्रश्न किये जाने पर उत्तररूप हो, जो सर्व तीर्थंकरों के तीर्थ में नियत हो वह श्रुत अंगप्रविष्टश्रुत है। आचारांग से लगाकर दृष्टिवाद पर्यन्त बारह अंग, अंग-प्रविष्टश्रुत हैं।

जो श्रुतस्थविरों द्वारा रचित हो, जो अप्रश्नपूर्वक मुक्तव्याकरण रूप हो तथा जो सर्व तीर्थंकरों के तीर्थ में अनियत रूप हो वह अनंगप्रविष्टश्रत है। जैसे औपपातिक आदि बारह उपांग और मूल, छेदसूत्र आदि।[5]

---

१. जगजीवरक्खणदयट्ठयाए भगवया पावयणं कहियं। —प्रश्नव्याकरण

२. प्रगतं जीवादिपदार्थव्यापकं, प्रधानं, प्रशस्तं, आदौ वा वचनं प्रवचनम् द्वादशांगं गणिपिटकम्।

—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १ टीका

३. गणिपिटकोपयोगानन्यत्वाद् वा चतुर्विधश्रीश्रमणसंघोऽपि प्रवचनमुच्यते।

—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १ टीका

४. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।

५. गणधर थेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा।
धुव-चलविसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं॥ —विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ५५०

प्रस्तुत जीवाजीवाभिगमसूत्र तृतीय उपांग है। स्थानांग नामक तीसरे अंग का यह उपांग है। यह श्रुतस्थविरों द्वारा संदृब्ध (रचित) है। अंगबाह्यश्रुत कालिक और उत्कालिक के भेद से दो प्रकार के हैं। जो श्रुत अस्वाध्याय को टालकर दिन-रात के चारों प्रहर में पढ़े जा सकते हैं वे उत्कालिक हैं, यथा दशवैकालिक आदि और जो दिन और रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में ही पढ़े जाते हैं वे कालिकश्रुत हैं, यथा उत्तराध्ययन आदि। प्रस्तुत जीवाजीवाभिगमसूत्र उत्कालिकसूत्र है।[1]

जीवाजीवाभिगम-अध्ययन एक प्रवृत्ति है और कण्टकशाखा मर्दन की तरह निरर्थक प्रवृत्ति बुद्धिमानों की नहीं होती। अतएव ग्रन्थ के आरम्भ में प्रयोजन, अभिधेय और सम्बन्ध के साथ मंगल अवश्य ही बताया जाना चाहिए।[2]

१. प्रयोजन—प्रयोजन दो प्रकार का है—(१) अनन्तरप्रयोजन और (२) परम्परप्रयोजन। पुनः प्रयोजन दो प्रकार का है—(१) कर्तृगतप्रयोजन और (२) श्रोतृगतप्रयोजन।

कर्तृगतप्रयोजन—प्रस्तुत जीवाजीवाभिगम अध्ययन द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से कर्तृरहित है, क्योंकि वह शाश्वत है, नित्य है। आगम में कहा है—'यह द्वादशांग गणिपिटक पूर्वकाल में नहीं था, ऐसा नहीं; वर्तमान में नहीं है, ऐसा भी नहीं; भविष्य में नहीं होगा, ऐसा भी नहीं। यह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है।[3] नित्य वस्तु का कोई कर्त्ता नहीं होता।

पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा इसके कर्त्ता अर्थापेक्षया अर्हन्त हैं और सूत्रापेक्षया गणधर हैं। अर्थरूप आगम तो नित्य है किन्तु सूत्ररूप आगम अनित्य है। अतः सूत्रकार का अनन्तर प्रयोजन जीवों पर अनुग्रह करना है और परम्पर प्रयोजन अपवर्गप्राप्ति है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि अर्थरूप आगम के प्रणेता श्री अर्हन्त भगवान् का अर्थ-प्रतिपादन का क्या प्रयोजन है? वे तो कृतकृत्य हो चुके हैं; उनमें प्रयोजनवत्ता कैसे घटित हो सकती है?

इसका समाधान यह है कि यद्यपि तीर्थंकर परमात्मा कृतकृत्य हो चुके हैं, अतएव उनमें प्रयोजनवत्ता घटित नहीं होती तदपि वे तीर्थंकर नामकर्म के उदय से अर्थ प्रतिपादन में प्रवृत्त होते हैं। जैसा कि कहा गया है—'तीर्थंकर नामकर्म का वेदन कैसे होता है? अग्लान भाव से धर्मदेशना देने से तीर्थंकर नामकर्म का वेदन होता है।'[4]

---

१. उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं तंजहा—दसवेयालियं, कप्पिया, कप्पियं, चुल्लकप्पसुयं महाकप्पसुयं, उववाइयं रायपसेणियं जीवाभिगमो....। —नंदीसूत्र

२. प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थं फलादि त्रितयं स्फुटम्।
मंगलञ्चैव शास्त्रादौ वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ॥ —जीवा. मलयगिरि टीका

३. एयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कया वि नासी, न कयाइ वि न भवइ, न कया वि न भविस्सइ। धुवं णिच्चं सासयं। —नन्दीसूत्र

४. तं च कहं वेइज्जइ? अगिलाए धम्मदेसणाए। —आवश्यकनिर्युक्ति

श्रोतृगतप्रयोजन—श्रोता का अनन्तर प्रयोजन विवक्षित अध्ययन के अर्थ को जानना है और उसका परम्पर-प्रयोजन निःश्रेयस् पद की प्राप्ति है। विवक्षित अर्थ को समझने के पश्चात् संयम में श्रोता की प्रवृत्ति होगी और संयम-प्रवृत्ति से सकल कर्मों का क्षय करके वह मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन को प्रारम्भ करने का प्रयास प्रयोजनयुक्त है, निष्प्रयोजन नहीं।

२. अभिधेय—प्रस्तुत शास्त्र का अभिधेय (विषय) जीव और अजीव के स्वरूप को प्रतिपादित करना है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। जीवों और अजीवों का अभिगम अर्थात् परिच्छेद-ज्ञान जिसमें हो या जिसके द्वारा हो वह जीवाजीवाभिगम[1] अध्ययन है। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र को सार्थक नाम से विभूषित किया है।

३. सम्बन्ध—प्रस्तुत शास्त्र में दो प्रकार का सम्बन्ध है—(१) उपायोपेयभावसम्बन्ध और (२) गुरुपर्वक्रमरूप सम्बन्ध। तर्क का अनुसरण करने वालों की अपेक्षा से उपायोपेयभावसम्बन्ध है। नय तथा वचनरूप प्रकरण उपाय है और उसका परिज्ञान उपेय है।

गुरुपर्वक्रमरूप सम्बन्ध केवल श्रद्धानुसारियों की अपेक्षा से है। अर्थ की अपेक्षा यह जीवाजीवाभिगम तीर्थंकर परमात्मा ने कहा है और सूत्र की अपेक्षा द्वादशांगों में गणधरों ने कहा है। इसके पश्चात् मन्दमतिजनों के हित के लिए अतिशय ज्ञान वाले चतुर्दश-पूर्वधरों ने स्थानांग नाम तृतीय अंग से लेकर पृथक् अध्ययन के रूप में इस जीवाजीवाभिगम का कथन किया और उसे व्यवस्थापित किया है। अतः यह तृतीय उपांगरूप में कहा गया है। ऐसे ही सम्बन्धों का विचार कर सूत्रकार ने 'थेरा भगवंतो पण्णवइंसु' कहा है।

४. मंगल—प्रस्तुत अध्ययन सम्यग्ज्ञान का हेतु होने से तथा परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला होने से स्वयमेव मंगलरूप है, तथापि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' के अनुसार विघ्नों की उपशान्ति के लिए तथा शिष्य की बुद्धि में मांगलिकता का ग्रहण कराने के लिए शास्त्र में मंगल करने की परिपाटी है। इस शिष्टाचार के पालन में ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में मंगलाचरण किया जाता है। आदिमंगल का उद्देश्य ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति और शास्त्रार्थ में होने वाले विघ्नों से पार होना है। मध्यमंगल उसकी स्थिरता के लिए है तथा शिष्य-प्रशिष्य परम्परा तक ग्रन्थ का विच्छेद न हो, इसलिए अन्तिम मंगल किया जाता है।[2]

प्रस्तुत अध्ययन में 'इह खलु जिणमयं' आदि मंगल है। जिन नाम का उत्कीर्तन मंगल रूप है।

---

१. जीवानामजीवानामभिगमः परिच्छेदो यस्मिन् तज्जीवाजीवाभिगमं नाम्ना।

२. तं मंगलमाईए मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स।
पढमं सत्थत्थाविग्घपारगमणाय निद्दिट्ठं॥
तस्सेव य थेज्जत्थं मज्झिमयं अंतिमंपि तस्सेव।
अव्वोच्छित्ति निमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स॥ विशेषा. भाष्य

द्वीप-समुद्र आदि के स्वरूप का कथन मध्यमंगल है। क्योंकि निमित्तशास्त्र में द्वीपादि को परम मंगलरूप में माना गया है। जैसा कि कहा है—'जो जं पसत्थं अत्थं पुच्छइ तस्स अत्थसंपत्ती।'

'दसविहा सव्वे जीवा' यह अन्तिम मंगल है। सब जीवों के परिज्ञान का हेतु होने से इसमें मांगलिकता है।

अथवा सम्पूर्ण शास्त्र ही मंगलरूप है। क्योंकि वह निर्जरा का हेतुभूत है। जैसे तप निर्जरा का कारण होने से मंगलरूप है। शास्त्र सम्यग्ज्ञानरूप होने से निर्जरा का कारण होता है। क्योंकि कहा गया है कि 'अज्ञानी जिन कर्मों को बहुत से करोड़ों वर्षों में खपाता है, उन्हें मन-वचन-काया से गुप्त ज्ञानी उच्छ्‌वासमात्र काल में खपा डालता है।'[1]

इस प्रकार प्रयोजनादि तीन तथा मंगल का कथन करने के पश्चात् अध्ययन का प्रारम्भ किया जाता है।

□□

---

१. जं अण्णाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं॥

प्रथम प्रतिपत्ति

मंगलमय प्रस्तावना

१. इह खलु जिणमयं, जिणाणुमयं, जिणाणुलोमं, जिणप्पणीअं, जिणपरूवियं, जिणक्खायं, जिणाणुचिन्नं, जिणपण्णत्तं, जिणदेसियं, जिणपसत्थं, अणुव्वीइय तं सद्दहमाणा, तं पत्तियमाणा, तं रोयमाणा थेरा भगवंतो जीवाजीवाभिगमणाममज्झयणं पण्णवइंसु।

[१] इस मनुष्य लोक में अथवा जैन प्रवचन में तीर्थंकर परमात्मा के सिद्धान्तरूप द्वादशांग गणिपिटक का, जो अन्य सब तीर्थंकरों द्वारा अनुमत है, जिनानुकूल है, जिन-प्रणीत है, जिनप्ररूपित है, जिनाख्यात है, जिनानुचीर्ण है, जिनप्रज्ञप्त है, जिनदेशित है, जिन प्रशस्त है, पर्यालोचन कर उस पर श्रद्धा करते हुए, उस पर प्रतीति करते हुए, उस पर रुचि रखते हुए स्थविर भगवंतों ने जीवाजीवाभिगम नामक अध्ययन प्ररूपित किया।

विवेचन—इस प्रथम सूत्र में मंगलाचरण की शिष्टपरिपाटी का निर्वाह करते हुए ग्रन्थ की प्रस्तावना बताई गई है। विशिष्ट मतिसम्पन्न चतुर्दशपूर्वधर श्रुतस्थविर भगवंतों ने तीर्थंकर परमात्मा के द्वादशांगीरूप गणिपिटक का भलीभाँति पर्यालोचन एवं अनुशीलन कर, परम सत्य के रूप में उस पर श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि करके जीवाजीवाभिगम नामक अध्ययन का प्ररूपण किया। सूत्र में आया हुआ 'जिणमयं'— जैनसिद्धान्त पद विशेष्य है और 'जिणाणुमयं' से लगाकर 'जिणपसत्थं' तक के पद 'जिणमयं' के विशेषण हैं। इन विशेषणों के द्वारा सूत्रकार नेजैन सिद्धान्त की महिमा एवं गरिमा का वर्णन किया है। ये सब विशेषण 'जैनमत' की अलग-अलग विशेषताओं का प्रतिपादन करते हैं। प्रत्येक विशेषण की सार्थकता इस प्रकार है—

जिणाणुमयं— यह जैनसिद्धान्त जिनानुमत है। वर्तमानकालीन जैनसिद्धान्त चरम तीर्थंकर जिनशासननायक वर्तमान तीर्थाधिपति श्री वर्धमान स्वामी के आधिपत्य में गतिमान् हो रहा है। राग-द्वेषादि अन्तरंग अरियों को जीतकर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करने के पश्चात् जिनेश्वर श्री वर्धमान (महावीर) स्वामी ने आचारांग से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त द्वादशांग का प्ररूपण किया। यह द्वादशांगी ही 'जिनमत' है। प्रभु महावीर का यह 'जिनमत' सार्वभौम सत्य होने के कारण भूत-वर्तमान-भविष्य के सब तीर्थंकरों के द्वारा अनुमत है। भूतकाल में जितने ऋषभादि तीर्थंकर हुए हैं और भविष्य में जो पद्मनाभ आदि तीर्थंकर होंगे तथा वर्तमान में जो सीमंधर स्वामी आदि तीर्थंकर हैं, उन सबके द्वारा यह अनुमोदित और मान्य है। शाश्वत सत्य सदा एकरूप होता है। उसमें कोई विसंगति या भिन्नता नहीं होती। इस कथन द्वारा यह प्रवेदित किया गया है—सब तीर्थंकरों के वचनों में अविसंवादिता होने के कारण एकरूपता होती है।

जिणाणुलोमं—यह जैनमत जिनानुलोम है अर्थात् जिनों के लिए अनुकूल है। यहाँ 'जिन' से तात्पर्य अवधिजिन, मनःपर्यायजिन और केवलजिन से है।[1] यह जैनमत अवधिजिन आदि के लिए

---

१. तओ जिणा पण्णत्ता तं जहा—ओहिणाणजिणे, मणपज्जवणाणजिणे, केवलणाणजिणे।

—स्थानांग, ३ स्थान, ४ उद्दे.

अनुकूल है। तात्पर्य यह है कि इस सिद्धान्त के द्वारा जिनत्व की प्राप्ति होती है। यथोक्त जिनमत
का आसेवन करने से साधुवर्ग अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। अतएव
जिनमत को जिनानुलोम विशेषण से अलंकृत किया गया है।

जिणप्पणीयं—यह जैनसिद्धान्त जिनप्रणीत है। अर्थात् वर्तमान तीर्थाधिपति श्री वर्धमान
स्वामी द्वारा कथित है। केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर श्री वर्धमान स्वामी ने बीजबुद्धि आदि परम
गुण कलित गौतमादि गणधरों को समस्तार्थ-संग्राहक मातृकापदत्रय 'उप्पन्ने इ वा, विगमे इ वा, धुवे-
इ वा' का कथन किया। इन तीन मातृका पदों का अवलम्बन लेकर गौतमादि गणधरों ने द्वादशांगी
की रचना की। अतएव यह जिनमत जिनप्रणीत है। इस कथन से यह बताया गया है कि आगम सूत्र
की अपेक्षा पौरुषेय ही है, अपौरुषेय नहीं। आगम शब्दरूप है और पुरुष-व्यापार के बिना वचनों का
उच्चारण नहीं हो सकता। पुरुष-व्यापार के बिना शब्द आकाश में ध्वनित नहीं होते। मीमांसक मत
वाले आगम को अपौरुषेय मानते हैं। उनकी यह मान्यता इस विशेषण द्वारा खण्डित हो जाती है।

जिणपरूवियं—यह जिनमत जिनेश्वरों द्वारा प्ररूपित किया गया है। इस विशेषण द्वारा यह
बताया गया है कि भगवान् वर्धमान स्वामी ने इस सिद्धान्त का इस प्रकार प्ररूपण किया कि श्रोता-
जन उसके तत्त्वार्थ को भलीभाँति समझ सकें।

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि यह अध्ययन या प्रकरण अविज्ञात अर्थ वाला ही रहने
वाला है चाहे वह सर्वज्ञ से ही क्यों न सुना जाय। क्योंकि सर्वज्ञ की विवक्षा का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण
नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में उस विवक्षा के विषयभूत शब्द के अर्थ में प्रत्यय या विश्वास कैसे
जमेगा? जैसे म्लेच्छ व्यक्ति आर्य व्यक्ति के भाषण की नकल मात्र कर सकता है, उसके अर्थ को
नहीं समझ सकता, इसी तरह श्रोता भी सर्वज्ञ के वचनों के अर्थ को नहीं समझ सकता है।[1]

उक्त शंका का समाधान यह है कि—यद्यपि वक्ता की विवक्षा अप्रत्यक्ष होती है फिर भी वह
अनुमानादि के द्वारा जान ली जाती है। विवक्षा को जानकर संकेत की सहायता से श्रोता को शब्द के
अर्थ का ज्ञान हो ही जाता है। यदि ऐसा न हो तो अनादि शब्द-व्यवहार ही ध्वस्त हो जायेगा। शब्द-
व्यवहार की कोई उपयोगिता नहीं रहेगी। बालक भी शब्द से अर्थ की प्रतीति कर ही लेता है।
अनेक अर्थ वाले सैन्धव आदि शब्द भी भगवान् के द्वारा संकेतित होकर प्रसंग और औचित्य आदि के
द्वारा नियत अर्थ को बताते ही हैं। अतः अनेकार्थ वाले शब्दों से भी यथास्थित अर्थ का बोध
होता है।

भगवान् इस प्रकार से तत्त्व प्ररूपित करते हैं जिससे श्रोता को सम्यग् बोध हो जाय।
भगवान् सबके हितैषी हैं, वे अविप्रतारक हैं अतएव अन्यथा समझने वाले को उसकी गलती समझाकर
सत्य अर्थ की प्रतीति कराते हैं। वे अन्यथा समझने वाले के प्रति उपेक्षा भी नहीं करते, क्योंकि वे तीर्थ-
प्रवर्तन में प्रवृत्त होते हैं। अतएव भगवान् के वचनों से गणधरों को साक्षात् और शेष श्रोताओं को
परम्परा से यथावस्थित अर्थ की प्रतीति होती है। अतः आगम अविज्ञात अर्थवाला नहीं है।

---

१. आर्याभिप्रायमज्ञात्वा म्लेच्छ वाग्योगतुल्यता।
सर्वज्ञादपि हि श्रोतुस्तदन्यस्यार्थदर्शने॥

जिणक्खायं—यह जिनमत जिनेश्वर द्वारा साक्षात् वचनयोग द्वारा कहा गया है। कतिपय मनीषियों का कहना है कि तीर्थंकर भगवान् प्रवचन के लिए प्रयास नहीं करते हैं किन्तु उनके प्रकृष्ट पुण्य प्राग्भार से श्रोताजनों को वैसा आभास होता है।[1] जैसे चिन्तामणि में स्वयं कोई रंग नहीं होता किन्तु उपाधि-संसर्ग के कारण वह रंगवाला दिखाई देता है। वैसे ही तीर्थंकर प्रवचन का प्रयास नहीं करते फिर भी उनके पुण्यप्रभाव से श्रोताओं को ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् तीर्थंकर ऐसा-ऐसा प्ररूपण कर रहे हैं।

यह कथन उचित नहीं है। इस मत का खण्डन करने के लिए 'जिनाख्यात' विशेषण दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर भगवान् तीर्थंकर नामकर्म के उदय से साक्षात् वचन-व्यापार द्वारा प्रवचन करते हैं। साक्षात् वचन-व्यापार के उपलब्ध होने पर भी यदि आधिपत्यमात्र से श्रोताओं को वैसा प्रतीत होना माना जाय तो अतिप्रसंग होगा। अन्यत्र भी ऐसी कल्पना की जा सकेगी। वैसी स्थिति में प्रत्यक्षविरोध होगा। अतः उक्त मान्यता तर्क और प्रमाण से सम्मत नहीं है।

जिणाणुचिण्णं—यह जिनमत गणधरों द्वारा समाधि रूप से परिणमित हुआ है। यहाँ 'जिन' शब्द से गणधरों का अभिप्राय समझना चाहिए। गणधर ऐसी शक्ति से सम्पन्न होते हैं कि उन्हें हित की प्राप्ति से कोई रोक नहीं सकता। वे इस जिनमत का अर्थ हृदयंगम करके अनासक्ति द्वारा समभाव की प्राप्ति करके समाधिदशा का अनुभव करते हैं। गणधरों द्वारा आसेवित होने से जिनमत को 'जिणाणुचिण्णं' कहा गया है। अथवा अतीतकाल में सामान्यकेवली आदि जिन इसका आसेवन कर जिनत्व को प्राप्त हुए हैं। इस अपेक्षा से भी जिणाणुचिण्णं की संगति समझनी चाहिए।

जिणपण्णत्तं—यह जिनमत गणधरों द्वारा प्रज्ञप्त है। पूर्वोक्त समाधिभाव से सम्प्राप्त अतिशय-विशेष के कारण गणधरों में ऐसी विशिष्ट शक्ति आ जाती है जिसके प्रभाव से वे सूत्र के रूप में आचारादि अंगोपांगादि भेद वाले श्रुत की रचना कर देते हैं। इसलिए यह जिनमत सूत्ररूप से जिनप्रज्ञप्त अर्थात् गणधरों द्वारा रचित है। आगम में कहा गया है—'तीर्थंकर अर्थरूप से कथन करते हैं और गणधर उसे सूत्ररूप से गुम्फित करते हैं। इस तरह जिनशासन के हित के लिए सूत्र प्रवर्तित होता है'।[2]

जिणदेसियं—यह जिनमत गणधरों द्वारा भी हितमार्ग में प्रवृत्ति करने वाले योग्य जनों को ही दिया गया है। इससे यह ध्वनित होता है कि योग्यजनों को ही सूत्र-सिद्धान्त का ज्ञान दिया जाना चाहिए। यहाँ 'जिन' शब्द का अर्थ हितमार्ग में प्रवृत्ति करने वाले विनेयादि के लिए प्रयुक्त हुआ है।[3] जो श्रोताजन हितमार्ग से अभिमुख हों और अहितमार्ग से विमुख हों, उन्हीं को यह श्रुत दिया जाना चाहिए। सुधर्मा गणधर ने ऐसे ही योग्य विनेय श्री जम्बूस्वामी को यह श्रुत प्रदान किया।

---

१. तदाधिपत्यादाभासः सत्वानामुपजायते।
स्वयं तु यत्नरहितश्चिन्तामणिरिव स्थितः॥

२. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ॥

३. जिना इह हितप्रवृत्तगोत्रविशुद्धोपायाभिमुखापायविमुखादयः परिगृह्यन्ते। —मलयगिरि वृत्ति।

शंका की जा सकती है कि श्रुत—सिद्धान्त प्रकृति-सुन्दर है तो क्यों नहीं सभी को दिया जाता है ? इसका समाधान है कि अयोग्य व्यक्तियों के प्रकृति से ही असुन्दर होने से अनर्थों की संभावना रहती है। प्रायः देखा जाता है कि पात्र की असुन्दरता के कारण प्रकृति से सुन्दर सूर्य की किरणें उलूकादि के लिए अनर्थकारी ही होती हैं। कहा है कि जो जिसके लिए हित के रूप में परिणत हो उसी का प्रयोग किया जाना चाहिए। मछली के लिए कांटे में लगा गल आहार होने पर भी अनर्थ के लिए ही होता है।[1]

जिणपसत्थं—यह जिनमत योग्य एवं पात्र व्यक्तियों के लिए कल्याणकारी है। यहाँ भी 'जिन' शब्द का अर्थ हितमार्ग में प्रवृत्ति करने वाले और अहितमार्ग से विमुख रहने वाले जनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। जैसे नीरोग के लिए पथ्याहार भविष्य में होने वाले रोगों को रोकने वाला होने से हितावह होता है, इसी तरह यह जिनमत हितमार्ग में प्रवृत्त और अहितमार्ग से निवृत्त जनों के लिए हितावह है। इसका सम्यग् रूप से आसेवन करने से यह जिनमत कल्याणकारी और हितावह सिद्ध होता है।

उक्त विशेषणों से विशिष्ट 'जिनमत' को औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों द्वारा सम्यक् पर्यालोचन करके, उस पर श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि रखने वाले स्थविर भगवंतों ने 'जीवाजीवाभिगम' इस सार्थक नाम वाले अध्ययन का प्ररूपण किया। यद्यपि काल-दोष से बुद्धि आदि गुणों का ह्रास हो रहा है, फिर भी यह समझना चाहिए कि जिनमत का थोड़ा भी ज्ञान एवं आसेवन भव का छेदन करने वाला है। ऐसा मानकर कोमल चित्त से जिनमत पर श्रद्धा रखनी चाहिए।

स्थविर भगवंतों से अभिप्राय उन आचार्यों से है जिनका ज्ञान और चारित्र परिपक्व हो चुका है। धर्मपरिणति से जिनकी मति का असमंजस दूर हो गया है और श्रुतरूपी ऐश्वर्य के योग से जिन्होंने कषायों को भग्न कर दिया है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में गुरुपर्वक्रमलक्षण सम्बन्ध और अभिधेय आदि का कथन किया गया है।

स्वरूप और प्रकार

२. से किं तं जीवाजीवाभिगमे ?
जीवाजीवाभिगमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—
जीवाभिगमे य अजीवाभिगमे य।

[२] जीवाजीवाभिगम क्या है ?
जीवाजीवाभिगम दो प्रकार का कहा गया है,
वह इस प्रकार—१. जीवाभिगम और २. अजीवाभिगम।

---

१. पउंजियव्वं धीरेण हियं जं जस्स सव्वहा।
आहारो वि हु मच्छस्स न पसत्थो गलो भुवि॥

३. से किं तं अजीवाभिगमे ?

अजीवाभिगमे दुविहे पण्णत्ते—

तं जहा—१ रूवि-अजीवाभिगमे य २ अरूवि-अजीवाभिगमे य।

[३] अजीवाभिगम क्या है ?
अजीवाभिगम दो प्रकार का कहा गया है—
वह इस प्रकार—१ रूपी-अजीवाभिगम और २ अरूपी-अजीवाभिगम।

४. से किं तं अरूवि-अजीवाभिगमे ?

अरूवि-अजीवाभिगमे दसविहे पण्णत्ते—

तं जहा—धम्मत्थिकाए एवं जहा पण्णवणाए[1] जाव (अद्धासमए), से तं अरूवि-अजीवाभिगमे।

[४] अरूपी-अजीवाभिगम क्या है ?
अरूपी-अजीवाभिगम दस प्रकार का कहा गया है—
जैसे कि—१ धर्मास्तिकाय से लेकर १० अद्धासमय पर्यन्त जैसा कि प्रज्ञापनासूत्र में कहा गया है। यह अरूपी-अजीवाभिगम का वर्णन हुआ।

५. से किं तं रूवि-अजीवाभिगमे ?

रूवि-अजीवाभिगमे चउव्विहे पण्णत्ते—

तं जहा—खंधा, खंधदेसा, खंधप्पएसा, परमाणुपोग्गला।

ते समासतो पंचविहा पण्णत्ता,

तं जहा—वण्णपरिणया, गंधपरिणया, रसपरिणया, फासपरिणया, संठाणपरिणया एवं जहा पण्णवणाए[2] (जाव लुक्ख फास-परिणया वि)। से तं रूवि-अजीवाभिगमे; से तं अजीवाभिगमे।

[५] रूपी-अजीवाभिगम क्या है ?
रूपी-अजीवाभिगम चार प्रकार का कहा गया है—
वह इस प्रकार—स्कंध, स्कंध का देश, स्कंध का प्रदेश और परमाणुपुद्गल।

वे संक्षेप से पांच प्रकार के कहे गये हैं—
जैसा कि—१ वर्णपरिणत, २ गंधपरिणत, ३ रसपरिणत, ४ स्पर्शपरिणत और ५ संस्थान-परिणत। इस प्रकार जैसा प्रज्ञापना में कहा गया है वैसा कथन यहाँ भी समझना चाहिए। यह रूपी-अजीव का कथन हुआ। इसके साथ ही अजीवाभिगम का कथन भी पूर्ण हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में जिज्ञासु प्रश्नकार ने प्रश्न किये हैं और गुरु—आचार्य ने उनके उत्तर दिये हैं। इससे यह ज्ञापित किया गया है कि यदि मध्यस्थ, बुद्धिमान् और तत्त्वजिज्ञासु प्रश्नकर्त्ता प्रश्न करे तो ही उसके समाधान हेतु भगवान् तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट तत्त्व की प्ररूपणा करनी चाहिए, अन्य अजिज्ञासुओं के समक्ष नहीं।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र ५
२. प्रज्ञापनासूत्र ५

इन सूत्रों में सामान्य रूप से प्रश्न और उत्तर दिये गये हैं। इनके मूलपाठ में किसी गौतमादि विशिष्ट प्रश्नकर्त्ता का उल्लेख नहीं और न ही उत्तर में गौतम आदि संबोधन है। इसका तात्पर्य यह है कि सूत्र-साहित्य का अधिकांश भाग गणधरों के प्रश्न और भगवान् वर्धमान स्वामी के उत्तर रूप में रचा गया है और थोड़ा भाग ऐसा है जो अन्य जिज्ञासुओं द्वारा पूछा गया है और स्थविरों द्वारा उसका उत्तर दिया गया है। पूरा का पूरा श्रुत-साहित्य गणधर-पृष्ट और भगवान् द्वारा उत्तरित ही नहीं है। प्रस्तुत सूत्र भी सामान्य तथा अन्य जिज्ञासुओं द्वारा पृष्ट और स्थविरों द्वारा उत्तरित है।

प्रथम प्रश्न में जीवाजीवाभिगम का स्वरूप पूछा गया है। उत्तर के रूप में उसके भेद बताकर स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। जीवाजीवाभिगम जीवाभिगम और अजीवाभिगम स्वरूप वाला है। अभिगम का अर्थ परिच्छेद, बोध या ज्ञान है। जीवद्रव्य का ज्ञान जीवाभिगम है और अजीव द्रव्यों का ज्ञान अजीवाभिगम है। इस विश्व में मूलतः दो ही तत्त्व हैं—जीव तत्त्व और अजीव तत्त्व। अन्य सब इन दो ही तत्त्वों का विस्तार है। ये दोनों मूल तत्त्व द्रव्य की अपेक्षा तुल्य बल वाले हैं, यह ध्वनित करने के लिए दोनों पदों में 'च' का प्रयोग किया गया है। जीव और अजीव दोनों भिन्न जातीय हैं और स्वतन्त्र अस्तित्व वाले हैं। जीव और अजीव तत्त्व का सही-सही भेद-विज्ञान करना अध्यात्मशास्त्र का मुख्य विषय है। इसीलिए शास्त्रों में जीव और अजीव के स्वरूप के विषय में विस्तार से चर्चा की गई है। जीव और अजीव के भेद-ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन होता है और फिर सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से मुक्ति होती है। अतएव जीवाभिगम और अजीवाभिगम परम्परा से मुक्ति का कारण है।

सूत्रकार ने पहले जीवाभिगम कहा और बाद में अजीवाभिगम कहा है। 'यथोद्देशस्तथा निर्देशः' अर्थात् उद्देश के अनुसार ही निर्देश-कथन करना चाहिए—इस न्याय से पहले जीवाभिगम के विषय में प्रश्नोत्तर किये जाने चाहिए थे, परन्तु ऐसा न करते हुए पहले अजीवाभिगम के विषय में प्रश्नोत्तर किये गये हैं। इसका कारण यह है कि जीवाभिगम में वक्तव्य-विषय बहुत है और अजीवाभिगम में अल्पवक्तव्यता है। अतः 'सूचिकटाह' न्याय से पहले अजीवाभिगम के विषय में प्रश्नोत्तर हैं।

अजीवाभिगम दो प्रकार का है—१. रूपी-अजीवाभिगम और अरूपी-अजीवाभिगम। सामान्यतया जिसमें रूप पाया जाय उसे रूपी कहते हैं। परन्तु यहाँ रूपी से तात्पर्य रूप, रस, गंध, स्पर्श, चारों से है। उपलक्षण से रूप के साथ रसादि का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि ये चारों एक दूसरे को छोड़कर नहीं रहते। प्रत्येक परमाणु में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाये जाते हैं।[1] इससे इस बात का खण्डन हो जाता है कि रूप के परमाणु अलग ही हैं और रसादि के परमाणु सर्वथा अलग ही हैं। रूप-रसादि के परमाणुओं को सर्वथा अलग मानना प्रत्यक्षबाधित है। हम देखते हैं कि हार आदि के रूपपरमाणुओं में स्पर्श की उपलब्धि भी साथ-साथ होती है और घृतादि रस के परमाणुओं में रूप और गन्ध की भी उपलब्धि होती है। कपूर आदि के गन्ध परमाणुओं में रूप की उपलब्धि भी निरन्तर रूप से होती है। इसलिए रूप, रस, गन्ध और स्पर्श परस्पर अभिन्न हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाले रूपी अजीव हैं और जिनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं हैं वे अरूपी अजीव हैं।

---

१. कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसगंधवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिंगश्च ॥

अरूपी अजीव इन्द्रियप्रत्यक्ष से नहीं जाने जाते हैं। वे आगमप्रमाण से जाने जाते हैं। अरूपी अजीव के दस भेद कहे गये हैं—१. धर्मास्तिकाय, २. धर्मास्तिकाय का देश, ३. धर्मास्तिकाय के प्रदेश, ४. अधर्मास्तिकाय, ५. अधर्मास्तिकाय का देश, ६. अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, ७. आकाशास्तिकाय, ८. आकाशास्तिकाय का देश, ९. आकाशास्तिकाय के प्रदेश और १०. अद्धासमय। उक्त भेद प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार समझने हेतु सूत्रकार ने सूचना की है।

१. धर्मास्तिकाय—स्वतः गतिपरिणत जीवों और पुद्गलों को गति करने में जो सहायक होता है, निमित्तकारण होता है वह धर्मास्तिकाय है। जिस प्रकार मछली को तैरने में जल सहायक होता है, वृद्ध को चलने में दण्ड सहायक होता है, नेत्र वाले व्यक्ति के ज्ञान में दीपक सहायक होता है, उसी तरह जीव और पुद्गलों की गति में निमित्तकारण के रूप में धर्मास्तिकाय सहायक होता है।[1] यह ध्यान देने योग्य है कि धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलों को गति करने में प्रेरक नहीं होता है अपितु सहायक मात्र होता है। जैसे जल मछली को चलाता नहीं, दण्ड वृद्ध को चलाता नहीं, दीपक नेत्रवान् को दिखाता नहीं अपितु सहायक मात्र होता है। वैसे ही धर्मास्तिकाय गति में प्रेरक न होकर सहायक होता है।

धर्मास्तिकाय की सिद्धि

धर्मास्तिकाय का अस्तित्व जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी दार्शनिकों ने स्वीकार नहीं किया है। अतएव सहज जिज्ञासा होती है कि धर्मास्तिकाय के अस्तित्व में क्या प्रमाण है?

इसका समाधान करते हुए जैन दार्शनिकों और शास्त्रकारों ने कहा है कि—गतिशील जीवों और पुद्गलों की गति को नियमित करने वाले नियामक तत्त्व के रूप में धर्मास्तिकाय को मानना आवश्यक है। यदि ऐसे किसी नियामक तत्त्व को न माना जाय तो इस विश्व का नियत संस्थान घटित नहीं हो सकता।

जड़ और चेतन द्रव्य की गतिशीलता अनुभवसिद्ध है। यदि वे अनन्त आकाश में बेरोकटोक चलते ही जावें तो इस लोक का नियत संस्थान बन ही नहीं सकेगा। अनन्त पुद्गल और अनन्त जीव अनन्त आकाश में बेरोकटोक संचार करते रहेंगे तो वे इस तरह से अलग-थलग हो जावेंगे कि उनका मिलना और नियत सृष्टि के रूप में दिखाई देना असम्भव हो जावेगा। इसलिए जीव और पुद्गलों की सहज गतिशीलता को नियमित करने वाला नियामक तत्त्व धर्मास्तिकाय स्वीकार किया गया है। धर्मास्तिकाय का अस्तित्व मानने पर ही लोक-अलोक का विभाग संगत हो सकता है।

सहज गतिस्वभाव वाले होने पर भी जीव और पुद्गल लोक से बाहर अलोक में नहीं जा सकते। परमाणु जघन्य से परमाणुमात्र क्षेत्र से लगाकर उत्कृष्टतः चौदह राजुलोक प्रमाण क्षेत्र में गति कर सकता है। इससे एक प्रदेशमात्र अधिक क्षेत्र में उसकी गति नहीं हो सकती। इसका नियामक कौन है? आकाश तो इस गति का नियामक नहीं हो सकता क्योंकि आकाश तो अलोक में भी समान रूप से है। अतएव जो इस गतिपरिणाम का नियामक है वह धर्मास्तिकाय है। जहाँ धर्मास्तिकाय है वहीं जीव-पुद्गलों की गति है और जहाँ धर्मास्तिकाय नहीं है वहाँ जीव-पुद्गलों की

---

१. परिणामी गतेर्धर्मो भवेत्पुद्गलजीवयोः।
अपेक्षाकारणाल्लोके मीनस्येव जलं सदा॥

गति नहीं होती। धर्मास्तिकाय लोकाकाश में ही है इसीलिए जीवों और पुद्गलों की गति लोकाकाश तक ही सीमित है। इस प्रकार धर्मास्तिकाय के गतिसहायक रूप कार्य से उसके अस्तित्व की सिद्धि होती है।

सकल धर्मास्तिकाय एक अखण्ड अवयवी द्रव्य है, वह स्कन्धरूप है। उसके असंख्यात प्रदेश अवयव रूप हैं। अवयवों का तथारूप संघात, परिणाम विशेष ही अवयवी है। जैसे तन्तुओं का आतान-वितान रूप संघातपरिणाम ही पट है।[1] उनसे भिन्न पट और कुछ नहीं है। अवयव और अवयवी कथंचित् भिन्नाभिन्न हैं।

२. धर्मास्तिकाय का देश—धर्मास्तिकाय के बुद्धिकल्पित द्विप्रदेशात्मक, त्रिप्रदेशात्मक आदि विभाग को धर्मास्तिकाय का देश कहते हैं। वास्तव में तो धर्मास्तिकाय एक अखण्ड द्रव्य है। उसके देश-प्रदेश आदि विभाग बुद्धिकल्पित ही हैं।

३. धर्मास्तिकाय के प्रदेश—स्कन्ध के ऐसे सूक्ष्म भाग को, जिसका फिर अंश न हो सके, प्रदेश कहते हैं। 'प्रदेशा निर्विभागा भागाः' अर्थात् स्कन्धादि के अविभाज्य निरंश अंश को प्रदेश कहते हैं। ये प्रदेश असंख्यात हैं अर्थात् लोकाकाशप्रमाण हैं। ये प्रदेश केवल बुद्धि से कल्पित किये जा सकते हैं। वस्तुतः ये स्कन्ध से अलग नहीं हो सकते।

इस प्रकार धर्मास्तिकाय के तीन भेद बताये गये हैं—स्कन्ध, देश और प्रदेश।

प्रश्न हो सकता है कि धर्मद्रव्य को अस्तिकाय क्यों कहा गया है? इसका समाधान है कि—यहाँ 'अस्ति' का अर्थ प्रदेश है और 'काय' का अर्थ संघात या समुदाय है। प्रदेशों के समुदाय को अस्तिकाय कहा जाता है। धर्मद्रव्य असंख्यात प्रदेशों का समूहरूप है अतएव उसे अस्तिकाय कहा जाता है।[2]

४. अधर्मास्तिकाय—जीव और अजीव की स्थिति में सहायक होने वाला तत्त्व अधर्मास्तिकाय है।[3] जैसे वृक्ष की छाया पथिक के लिए ठहरने में निमित्तकारण बनती है, इसी तरह अधर्मास्तिकाय जीव-पुद्गलों की स्थिति में सहायक होता है।। यह भी स्थिति में सहायक है, प्रेरक नहीं। जो भी स्थितिरूप भाव हैं वे सब अधर्मास्तिकाय के होने पर ही होते हैं। धर्मास्तिकाय की तरह यह भी एक अखण्ड अविभाज्य इकाई है। यह असंख्यातप्रदेशी और सर्वलोकव्यापी है।

५-६. अधर्मास्तिकाय का देश और प्रदेश—अधर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं—स्कन्ध, देश और प्रदेश। सम्पूर्ण वस्तु को स्कन्ध कहते हैं। द्विप्रदेशी आदि बुद्धिकल्पित विभाग को देश कहते हैं और वस्तु से मिले हुए सबसे छोटे अंश को—जिनका फिर भाग न हो सके—प्रदेश कहते हैं।

---

१. तन्त्वाद्व्यतिरेकेण, न पटाद्युपलम्भनम्।
   तन्त्वाद्यवयोऽविशिष्टा हि, पटादिव्यपदेशिनः॥

२. अस्तयः प्रदेशास्तेषां कायः संघातः। 'गण काए य निकाए खंधे वग्गे य रासी य' इति वचनात् अस्तिकायः प्रदेशसंघातः। —मलयगिरिवृत्ति

३. अहम्मो ठिइलक्खणो।

७-८-९. आकाशास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश—आकाश सर्वसम्मत अरूपी द्रव्य है। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार जिसमें अन्य सब द्रव्य अपने स्वरूप को छोड़े बिना प्रकाशित—प्रतिभासित होते हैं, वह आकाश है अथवा जो सब पदार्थों में अभिव्याप्त होकर प्रकाशित होता रहता है, वह आकाश है।[1] अवगाह प्रदान करना—स्थान देना आकाश का लक्षण है।[2] जैसे दूध शक्कर को अवगाह देता है, भींत खूंटी को स्थान देती है।

आकाश द्रव्य सब द्रव्यों का आधार है। अन्य सब द्रव्य इसके आधेय हैं। यद्यपि निश्चयनय की दृष्टि से सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठा हैं—अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से आकाश सब द्रव्यों का आधार है। प्रश्न हो सकता है कि जब आकाश सब द्रव्यों का आधार है तो आकाश का आधार क्या है ? इसका उत्तर यह है कि आकाश स्वप्रतिष्ठित है। वह किसी दूसरे द्रव्य के आधार पर नहीं है। आकाश से बड़ा या उसके सदृश और कोई द्रव्य है ही नहीं।

आकाश अनन्त है। वह सर्वव्यापक—लोकालोक व्यापी है। स्थूल दृष्टि से आकाश के दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। जिस आकाश-खण्ड में धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गल और जीवरूप पंचास्तिकाय विद्यमान हैं वह लोकाकाश है। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। जहाँ आकाश ही आकाश है और कुछ नहीं, वह अलोकाकाश है। वह अनन्त प्रदेशात्मक है। असीम और अनन्त है। अलोकाकाश के महासिन्धु में लोकाकाश बिन्दुमात्र है।

सम्पूर्ण आकाश आकाशास्तिकाय का स्कन्ध है। बुद्धिकल्पित उसका अंश आकाशास्तिकाय का देश है। आकाशद्रव्य के अविभाज्य निरंश अंश आकाशास्तिकाय के प्रदेश हैं।

१०. अद्धा-समय—अद्धा का अर्थ होता है—काल। वह समयादि रूप होने से अद्धा-समय कहा जाता है। अथवा काल का जो सूक्ष्मतम निर्विभाग भाग है वह अद्धासमय है।[3] यह एक समय ही, जो वर्त रहा है, तात्त्विक रूप से सत् है। जो बीत चुका है वह नष्ट हो गया और जो आगे आने वाला है वह अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। अतएव भूत और भविष्य असत् हैं, केवल वर्तमान क्षण ही सत् है। एक समय रूप होने से इसका कोई समूह नहीं बनता, इसलिए इसके देश-प्रदेश की कल्पना नहीं होती।

यह काल समयक्षेत्र और असमयक्षेत्र का विभाग करने वाला है। अढ़ाई द्वीप पर्यन्त ज्योतिष् चक्र गतिशील है और उसके कारण अढ़ाई द्वीप में काल का व्यवहार होता है अतएव अढ़ाई द्वीप को समयक्षेत्र कहते हैं। उसके आगे काल-विभाग न होने से असमयक्षेत्र कहा जाता है। यह कथन भी व्यवहारनय की अपेक्षा से समझना चाहिए।

काल द्रव्य का कार्य वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्वापरत्व है।[4] अपने अपने पर्याय की

---

१. आ-समन्तात् सर्वाण्यपि द्रव्याणि काशन्ते-दीप्यन्तेऽत्र व्यवस्थितानीत्याकाशम्।

२. आकाशस्यावगाहः। —तत्त्वार्थसूत्र अ. ५ सू. १८

३. अद्धेति कालस्याख्या, अद्धा चासौ समय अद्धासमयः, अथवा अद्धाया समयो निर्विभागो भागोऽद्धासमयः।

४. वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य। —तत्त्वार्थसूत्र अ. ५ सू. २२

उत्पत्ति में निमित्त होना वर्तना है। पूर्व पर्याय का त्याग और उत्तर पर्याय का धारण करना परिणाम है। परिस्पन्दन होना क्रिया है और ज्येष्ठत्व कनिष्ठत्व परत्वापरत्व है।

काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के सम्बन्ध में सर्व आचार्य एकमत नहीं हैं। कोई आचार्य उसे स्वतन्त्र द्रव्य कहते हैं और कोई कहते हैं कि काल स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है अपितु जीवाजीवादि द्रव्यों की पर्यायों का प्रवाह ही काल है। काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाले आचार्यों की युक्ति है कि जिस प्रकार जीव और पुद्गल में गति-स्थिति करने का स्वभाव होने पर भी उस कार्य के लिए निमित्त-कारण के रूप में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय माने जाते हैं, इसी प्रकार जीव-अजीव में पर्याय-परिणमन का स्वभाव होने पर भी उसके लिए निमित्तकारण रूप में कालद्रव्य मानना चाहिए। अन्यथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय मानने में भी कोई युक्ति नहीं। दिगम्बर परम्परा में यही पक्ष स्वीकार किया गया है।

काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानने वाले पक्ष की युक्ति है कि पर्याय-परिणमन जीव-अजीव की क्रिया है, जो किसी तत्त्वान्तर की प्रेरणा के बिना ही हुआ करती है। इसलिए वस्तुतः जीव-अजीव के पर्याय-पुंज को ही काल कहना चाहिए। काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा में दोनों ही पक्षों का उल्लेख है।

इस प्रकार धर्मास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश; अधर्मास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश और आकाशास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश और अद्धासमय—ये दस अरूपी अजीव के भेद समझने चाहिए।

रूपी अजीव—रूपी अजीव के चार भेद बताये हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणुपुद्गल। पुद्गल स्कन्धों की अनन्तता के कारण मूलपाठ में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। जैसा कि कहा गया है—'द्रव्य से पुद्गलास्तिकाय अनन्त है।'[1] स्कन्धों के बुद्धिकल्पित द्वि-प्रदेशी आदि विभाग स्कन्ध-देश हैं। स्कन्धों में मिले हुए निर्विभाग भाग स्कन्ध-प्रदेश हैं। स्कन्धपरिणाम से रहित स्वतन्त्र निर्विभाग पुद्गल परमाणु है, आशय यह कि स्कन्ध या देश से जुड़े हुए परमाणु प्रदेश हैं और स्कन्ध या देश से अलग स्वतन्त्र परमाणु, परमाणु पुद्गल हैं।

एकमात्र पुद्गल द्रव्य ही रूपी अजीव है। ये पुद्गल पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस, आठ स्पर्श और पांच संस्थान के रूप में परिणत होते हैं। प्रज्ञापनासूत्र में इन वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानों के पारस्परिक सम्बन्ध की अपेक्षा बनने वाले विकल्पों का कथन किया गया है। संक्षेप से उनका यहाँ उल्लेख करना प्रासंगिक है। वह इस प्रकार है—

काला, हरा, लाल, पीला और सफेद—इन पांच वर्ण वाले पदार्थों में २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, ये बीस बोल पाये जाते हैं अतः २० × ५ = १०० भेद वर्णाश्रित हुए।

सुरभिगन्ध दुरभिगन्ध में ५ वर्ण, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, ये २३ बोल पाये जाते हैं अतः २३ × २ = ४६ भेद गन्धाश्रित हुए।

---

१. 'दव्वओ णं पुग्गलत्थिकाए णं अणंते।'

मधुर, कटु, तिक्त, आम्ल और कसैला—इन पांच रसों में ५ वर्ण, २ गन्ध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, ये २० बोल पाये जाते हैं अतः २०×५=१०० भेद रसाश्रित हुए।

गुरु और लघु स्पर्श में ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ६ स्पर्श (गुरु और लघु छोड़कर) और पांच संस्थान, ये २३ बोल पाये जाते हैं अतः २३×२=४६ भेद गुरु-लघुस्पर्शाश्रित हुए।

शीत और उष्ण स्पर्श में भी इसी प्रकार ४६ भेद पाये जाते हैं। अन्तर यह है कि आठ स्पर्शों में से शीत, उष्ण को छोड़कर छह स्पर्श लेने चाहिए।

स्निग्ध, रूक्ष, कोमल तथा कठोर इन में भी पूर्वोक्त छह-छह स्पर्श लेकर २३-२३ बोल पाये जाते हैं, अतः २३×४=९२ भेद हुए। ४६+४६+९२=१८४ भेद स्पर्शाश्रित हुए।

वृत्त, त्र्यस्र, चतुरस्र, परिमंडल और आयत इन पांच संस्थानों में ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ९ स्पर्श ये बीस-बीस बोल पाये जाते हैं अतः २०×५=१०० भेद संस्थान-आश्रित हुए।

इस तरह वर्णाश्रित १००, गन्धाश्रित ४६, रसाश्रित १००, स्पर्शाश्रित १८४ और संस्थान-आश्रित १००, ये सब मिलकर ५३० विकल्प रूपी अजीव के होते हैं।

अरूपी अजीव के धर्मास्तिकाय आदि के स्कंध, देश, प्रदेश आदि १० भेद पूर्व में बताये हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—इन चार के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा से २० भेद भी होते हैं। अतः १०+२० मिलाकर ३० अरूपी अजीव के बन जाते हैं।

इस प्रकार रूपी अजीव के ५३० तथा अरूपी अजीव के ३० भेद मिलाकर ५६० भेद अजीवाभिगम के हो जाते हैं।

वर्णादि के परिणाम का अवस्थान-काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल है।

इस प्रकार अजीवाभिगम का निरूपण पूरा हुआ।

जीवाभिगम का स्वरूप और प्रकार

६. से किं तं जीवाभिगमे ?
जीवाभिगमे दुविहे पण्णत्ते,
तंजहा—संसारसमावण्णग-जीवाभिगमे य असंसारसमावण्णग-जीवाभिगमे य।

[६] जीवाभिगम क्या है ?
जीवाभिगम दो प्रकार का कहा गया है,
जैसे—संसारसमापन्नक जीवाभिगम और असंसारसमापन्नक जीवाभिगम।

७. से किं तं असंसारसमावण्णग-जीवाभिगमे ?
असंसारसमावण्णग-जीवाभिगमे दुविहे पण्णत्ते,

तंजहा—अणंतरसिद्धासंसारसमावण्णग जीवाभिगमे य परंपरसिद्धासंसारसमावण्णग जीवाभिगमे य।

से किं तं अणंतरसिद्धासंसारसमावण्णग-जीवाभिगमे ?

अणंतरसिद्धासंसारसमावण्णग जीवाभिगमे पण्णरसविहे पण्णत्ते, तंजहा—तित्थसिद्धा जाव अणेगसिद्धा।

से तं अणंतरसिद्धा०।

से किं तं परंपरसिद्धासंसारसमावण्णग-जीवाभिगमे ?

परंपरसिद्धासंसारसमावण्णग-जीवाभिगमे अणेगविहे पण्णत्ते तंजहा—पढमसमयसिद्धा, दुसमयसिद्धा जाव अणंतसमयसिद्धा।

से तं परंपरसिद्धासंसारसमावण्णग-जीवाभिगमे।

से तं असंसारसमावण्णग-जीवाभिगमे।

[७] असंसार-प्राप्त जीवाभिगम क्या है ?
असंसारप्राप्त जीवाभिगम दो प्रकार का है,
यथा—अनन्तरसिद्ध असंसारप्राप्त जीवाभिगम और परंपरसिद्ध असंसारप्राप्त जीवाभिगम।
अनन्तरसिद्ध असंसारप्राप्त जीवाभिगम कितने प्रकार का कहा गया है ?

अनन्तरसिद्ध असंसारप्राप्त जीवाभिगम पन्द्रह प्रकार का कहा गया है, यथा तीर्थसिद्ध यावत् अनेकसिद्ध।

यह अनन्तरसिद्ध असंसारप्राप्त जीवाभिगम का कथन हुआ।
परम्परसिद्ध असंसारप्राप्त जीवाभिगम क्या है ?

परम्परसिद्ध असंसारप्राप्त जीवाभिगम अनेक प्रकार का कहा गया है। यथा—प्रथमसमय-सिद्ध, द्वितीयसमयसिद्ध यावत् अनन्तसमयसिद्ध।

यह परम्परसिद्ध असंसारप्राप्त जीवाभिगम का कथन हुआ।
यह असंसारप्राप्त जीवाभिगम का कथन पूर्ण हुआ।

विवेचन—अजीवाभिगम का कथन करने के पश्चात् प्रस्तुत सूत्रों में जीवाभिगम का कथन किया गया है। वैसे तो यह सब जीव-अजीव का ही कथन है, किन्तु इन दोनों के साथ जो 'अभिगम' पद लगा हुआ है वह यह बताने के लिए है कि इन जीवों और अजीवों में अभिगमगम्यता धर्म पाया जाता है। अर्थात् ये जीव और अजीव ज्ञान के विषय (ज्ञेय) होते हैं। अद्वैतवादी मानते हैं कि जीव ज्ञान का विषय नहीं होता है। इसका खण्डन करने के लिए 'अभिगम' पद जीव-अजीव के साथ जोड़ा गया है। यदि जीव ज्ञान का विषय न हो तो उसका बोध ही नहीं होगा और स्वरूप को जाने बिना संसार से निवृत्ति एवं मोक्ष में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ? इस तरह शास्त्ररचना का प्रयोजन ही निरर्थक हो जावेगा।

जीवाभिगम क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में जीव के भेद बताकर उसका स्वरूप कथन किया गया है। जीवाभिगम दो प्रकार का है—संसारसमापन्नक अर्थात् संसारवर्ती जीवों का ज्ञान और असंसारसमापन्नक अर्थात् संसार-मुक्त जीवों का ज्ञान। संसार का अर्थ नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव भवों में भ्रमण करना है। जो जीव उक्त चार प्रकार के भवों में भ्रमण कर रहे हैं वे संसार-समापन्नक जीव हैं और जो जीव इस भवभ्रमण से छूटकर मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं, वे असंसार-समापन्नक जीव हैं।

संसारवर्ती जीव हों या मुक्तजीव हों, जीवत्व की अपेक्षा उनमें तुल्यता है। इससे यह ध्वनित होता है कि मुक्त अवस्था में भी जीवत्व बना रहता है। कतिपय दार्शनिक मानते हैं कि जैसे दीपक का निर्वाण हो जाने पर वह लुप्त हो जाता है, उसका अस्तित्व नहीं रहता, इसी तरह मुक्त होने पर जीव का अस्तित्व नहीं रहता। इसी तरह वैशेषिकदर्शन की मान्यता है कि बुद्धि आदि नव आत्म-गुणों का उच्छेद होने पर मुक्ति होती है। इन मान्यताओं का इससे खण्डन होता है। मुक्त होने पर यदि जीव का अस्तित्व ही मिट जाता हो, अथवा उसके बुद्धि, सुख आदि आत्मगुण नष्ट हो जाते हों तो ऐसे मोक्ष के लिए कौन विवेकशील व्यक्ति प्रयत्न करेगा? कौन अपने आपको मिटाने का प्रयास करेगा? कौन स्वयं को सुखहीन बनाना चाहेगा? ऐसी स्थिति में मोक्ष का ही उच्छेद हो जावेगा।

अल्पवक्तव्यता होने से प्रथम असंसारप्राप्त जीवों का कथन किया गया है। असंसारप्राप्त, मुक्त जीव दो प्रकार के हैं—अनन्तरसिद्ध और परम्परसिद्ध।

अनन्तरसिद्ध—सिद्धत्व के प्रथम समय में विद्यमान सिद्ध अनन्तरसिद्ध हैं। अर्थात् उनके सिद्धत्व में समय का अन्तर नहीं है।

परम्परसिद्ध—परम्परसिद्ध वे हैं जिन्हें सिद्ध हुए दो तीन यावत् अनन्त समय हो चुका हो।

अनन्तर सिद्धों के १५ प्रकार कहे गये हैं—१. तीर्थसिद्ध, २. अतीर्थसिद्ध, ३. तीर्थंकरसिद्ध, ४. अतीर्थंकरसिद्ध, ५. स्वयंबुद्धसिद्ध, ६. प्रत्येकबुद्धसिद्ध, ७. बुद्धबोधितसिद्ध, ८. स्त्रीलिंगसिद्ध, ९. पुरुषलिंगसिद्ध, १०. नपुंसकलिंगसिद्ध, ११. स्वलिंगसिद्ध, १२. अन्यलिंगसिद्ध, १३. गृहस्थलिंग-सिद्ध, १४. एकसिद्ध और १५. अनेकसिद्ध।

१. तीर्थसिद्ध—जिसके अवलम्बन से संसार-सागर तिरा जाय, वह तीर्थ है। इस अर्थ में तीर्थंकर परमात्मा के द्वारा प्ररूपित प्रवचन और उनके द्वारा स्थापित चतुर्विध श्रमणसंघ तीर्थ है। प्रथम गणधर भी तीर्थ है।[1] तीर्थंकर द्वारा प्रवचनरूप एवं चतुर्विध श्रमणसंघरूप तीर्थ की स्थापना किये जाने के पश्चात् जो सिद्ध होते हैं, वे तीर्थसिद्ध कहलाते हैं। यथा गौतम, सुधर्मा, जम्बू आदि।

२. अतीर्थसिद्ध—तीर्थ की स्थापना से पूर्व अथवा तीर्थ के विच्छेद हो जाने के बाद जो जीव सिद्ध होते हैं, वे अतीर्थसिद्ध हैं। जैसे मरुदेवी माता भगवान् ऋषभदेव द्वारा तीर्थस्थापना के पूर्व ही सिद्ध हुईं। सुविधिनाथ आदि तीर्थंकरों के बीच के समय में तीर्थ का विच्छेद हो गया था। उस समय जातिस्मरणादि ज्ञान से मोक्षमार्ग को प्राप्त कर जो जीव सिद्धगति को प्राप्त हुए, वे अतीर्थसिद्ध हैं।

---

१. तित्थं पुण चाउव्वण्णो समणसंघो पढमगणहरो वा।

३. **तीर्थंकरसिद्ध**—जो तीर्थ की स्थापना करके सिद्ध हुए वे तीर्थंकरसिद्ध हैं। जैसे इस अवसर्पिणी काल में ऋषभदेव से लगाकर महावीर स्वामी तक चौबीस तीर्थंकर, तीर्थंकरसिद्ध हैं।

४. **अतीर्थंकरसिद्ध**—जो सामान्य केवली होकर सिद्ध होते हैं, वे अतीर्थंकरसिद्ध हैं। जैसे सामान्य केवली।

५. **स्वयंबुद्धसिद्ध**—जो दूसरे के उपदेश के बिना स्वयं ही जातिस्मरणादि ज्ञान से बोध पाकर सिद्ध होते हैं। यथा नमिराजर्षि।

६. **प्रत्येकबुद्धसिद्ध**—जो किसी भी बाह्य निमित्त को देखकर स्वयमेव प्रतिबोध पाकर सिद्ध होते हैं, वे प्रत्येकबुद्धसिद्ध हैं। यथा करकण्डु आदि।

यद्यपि स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध दोनों ही परोपदेश के बिना ही प्रतिबोध पाते हैं, तथापि इनमें बाह्यनिमित्त को लेकर अन्तर है। स्वयंबुद्ध किसी बाह्य निमित्त के बिना ही प्रतिबोध पाते हैं, जबकि प्रत्येकबुद्ध वृषभ, मेघ, वृक्ष आदि बाह्य निमित्त को देखकर प्रतिबुद्ध होते हैं।[1]

स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध में उपधि, श्रुत और लिंग की अपेक्षा से भी भेद है।[2] वैसे स्वयं-बुद्ध दो प्रकार के होते हैं—तीर्थंकर और तीर्थंकर से भिन्न। तीर्थंकर तो तीर्थंकरसिद्ध में आ जाते हैं अतः यहाँ तीर्थंकरभिन्न स्वयंबुद्धों का अधिकार समझना चाहिए।

स्वयंबुद्धों के पात्रादि बारह प्रकार की उपधि होती है, जबकि प्रत्येकबुद्धों के जघन्यतः दो और उत्कृष्टतः वस्त्र को छोड़कर नौ प्रकार की उपाधि होती है।

स्वयंबुद्धों के पूर्वाधीत श्रुत होता भी है और नहीं भी होता है। अगर होता है तो देवता उन्हें वेष (लिंग) प्रदान करता है अथवा वे गुरु के पास जाकर मुनिवेष धारण कर लेते हैं। यदि वे एकाकी विचरण करने में समर्थ हों और एकाकी विचरण की इच्छा हो तो एकाकी विचरण करते हैं, नहीं तो गच्छवासी होकर रहते हैं। यदि उनके पूर्वाधीत श्रुत न हो तो नियम से गुरु के सान्निध्य में मुनिवेष लेकर गच्छवासी होकर रहते हैं।

प्रत्येकबुद्धों के नियम से पूर्वाधीत श्रुत होता है। जघन्यतः ग्यारह अंग और उत्कृष्टतः दस पूर्व से कुछ कम श्रुत पूर्वाधीत होता है। उन्हें देवता मुनिलिंग देते हैं अथवा कदाचित् वे लिंगरहित भी रहते हैं।

७. **बुद्धबोधितसिद्ध**—आचार्यादि से प्रतिबोध पाकर जो सिद्ध होते हैं वे बुद्धबोधितसिद्ध हैं। यथा जम्बू आदि।

---

१. पत्तेयं—बाह्यवृषभादिकं कारणमभिसमीक्ष्य बुद्धाः; बहिष्प्रत्ययं प्रतिबुद्धानां च पत्तेयं नियमा विहारो जम्हा तम्हा ते पत्तेय बुद्धा।

२. पत्तेयबुद्धाणं जहन्नेण दुविहो उक्कोसेण नवविहो नियमा उवही पाउरणवज्जो भवइ।
सयंबुद्धस्स पुव्वाहीयं सुयं से हवइ न वा, जइ से णत्थि तो लिंगं नियमा गुरुसन्निहे पडिवज्जइ, जइ य एगविहार-विहरणसमत्थो इच्छा वा से तो एक्को चेव विहरइ, अन्नहा गच्छे विहरइ।
पत्तेयबुद्धाणं पुव्वाहीयं सुयं नियमा होइ, जहन्नेण इक्कारस अंगा उक्कोसेण भिन्नदसपुव्वा। लिंगं च से देवया पयच्छइ, लिंगवज्जिओ वा हवइ।

८. **स्त्रीलिंगसिद्ध**—स्त्री शरीर से जो सिद्ध हुए हों वे स्त्रीलिंगसिद्ध हैं। यथा मल्लि तीर्थंकर, मरुदेवी आदि।

लिंग[1] तीन तरह का है—वेद, शरीरनिष्पत्ति और वेष। यहाँ शरीर-रचना रूप लिंग का अधिकार है। वेद और नेपथ्य का नहीं। वेद मोहकर्म के उदय से होता है। मोहकर्म के रहते सिद्धत्व नहीं आता। जहाँ तक वेष का सवाल है वह भी मुक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अतः यहाँ स्त्री-शरीर से प्रयोजन है।

दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि स्त्री-शरीर से मुक्ति नहीं होती जबकि यहाँ 'स्त्रीलिंग-सिद्ध' कह कर स्त्रीमुक्ति को मान्यता दी गई है। 'स्त्री की मुक्ति नहीं होती' इस मान्यता का कोई तार्किक या आगमिक आधार नहीं है। मुक्ति का सम्बन्ध शरीर-रचना के साथ न होकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रकर्ष के साथ है। स्त्री-शरीर में ज्ञान-दर्शन-चारित्र का प्रकर्ष क्यों नहीं हो सकता ? पुरुष की तरह स्त्रियाँ भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र का प्रकर्ष कर सकती हैं।

दिगम्बर परम्परा में वस्त्र को चारित्र का प्रतिबन्धक माना गया है और स्त्रियाँ वस्त्र का त्याग नहीं कर सकतीं, इस तर्क से उन्होंने स्त्री की मुक्ति का निषेध कर दिया है। परन्तु तटस्थ दृष्टि से सोचने पर स्पष्ट हो जाता है कि वस्त्र का रखना मात्र चारित्र का प्रतिबंधक नहीं होता। वस्त्रादि पर ममत्व होना चारित्र का प्रतिबंधक है। वस्त्रादि के अभाव में भी शरीर पर ममत्व हो सकता है तो शरीर का त्याग भी चारित्र के लिए आवश्यक मानना होगा। शरीर का त्याग तो नहीं किया जा सकता, ऐसी स्थिति में क्या चारित्र का पालन नहीं हो सकता ? निष्कर्ष यह है कि वस्त्रादि के रखने मात्र से चारित्र का अभाव नहीं हो जाता, आगम में तो मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है। वस्तुओं को नहीं। अतः वस्त्रों का त्याग न करने के कारण स्त्रियों में चारित्र का प्रकर्ष न मानना और फलतः उन्हें मुक्ति की अधिकारिणी न मानना तर्क एवं आगमसम्मत नहीं है।

९. **पुरुषलिंगसिद्ध**—पुरुष-शरीर में स्थित होकर जो सिद्ध हुए हों वे पुरुषलिंगसिद्ध हैं।

१०. **नपुंसकलिंगसिद्ध**—स्त्री-पुरुष से भिन्न नपुंसक शरीर के रहते जो सिद्ध हों वे नपुंसकलिंगसिद्ध हैं। कृत्रिम नपुंसक सिद्ध हो सकते हैं, जन्मजात नपुंसक सिद्ध नहीं होते।

११. **स्वलिंगसिद्ध**—जो जैनमुनि के वेष रजोहरणादि के रहते हुए सिद्ध हुए हों, वे स्वलिंग-सिद्ध हैं।

१२. **अन्यलिंगसिद्ध**—जो परिव्राजक, संन्यासी, गेरुआ वस्त्रधारी आदि अन्य मतों के वेष के रहते सिद्ध हुए हों, वे अन्यलिंग सिद्ध हैं।

१३. **गृहिलिंगसिद्ध**—जो गृहस्थ के वेष में रहते हुए सिद्ध हुए हों, वे गृहिलिंगसिद्ध हैं। जैसे मरुदेवी माता।

१४. **एकसिद्ध**—जो एक समय में अकेले ही सिद्ध हुए हो, वे एकसिद्ध हैं।

---

१. लिंगं च तिविहं—वेदो सरीरनिव्वित्ती नेवत्थं च। इह सरीरनिव्वत्तीए अहिगारो न वेय-नेवत्थेहिं।—नन्दी

१५. अनेकसिद्ध—जो एक समय में एक साथ अनेक सिद्ध हुए हों वे अनेकसिद्ध हैं। सिद्धान्त में एक समय में अधिक से अधिक १०८ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

इस सम्बन्ध में सिद्धान्त की एक संग्रहणी[1] गाथा में कहा गया है—

आठ समय तक जब निरन्तर सिद्ध होते हैं तब एक से लगाकर बत्तीस पर्यन्त सिद्ध होते हैं। अर्थात् प्रथम समय में जघन्यत: एक, दो और उत्कृष्ट से बत्तीस होते हैं, दूसरे समय में भी इसी तरह एक से लेकर बत्तीस सिद्ध होते हैं। इस प्रकार आठवें समय में भी एक से लेकर बत्तीस सिद्ध होते हैं। इसके बाद अवश्य अन्तर पड़ेगा।

जब तेतीस से लगाकर अड़तालीस पर्यन्त सिद्ध होते हैं तब सात समय पर्यन्त ऐसा होता है। इसके बाद अवश्य अन्तर पड़ता है।

जब उनपचास से लेकर साठ पर्यन्त निरन्तर सिद्ध होते हैं तब छह समय तक ऐसा होता है। बाद में अन्तर पड़ता है।

जब इकसठ से लगाकर बहत्तर पर्यन्त निरन्तर सिद्ध होते हैं तब पाँच समय तक ऐसा होता है। बाद में अन्तर पड़ता है।

जब तिहत्तर से लगाकर चौरासी पर्यन्त निरन्तर सिद्ध होते हैं तब चार समय तक ऐसा होता है। बाद में अवश्य अन्तर पड़ता है।

जब पचासी से लगाकर छियानवै पर्यन्त निरन्तर सिद्ध होते हैं तब तीन समय तक ऐसा होता है। बाद में अवश्य अन्तर पड़ता है।

जब सत्तानवै से लगाकर एक सौ दो पर्यन्त निरन्तर सिद्ध होते हैं तब दो समय तक ऐसा होता है। बाद में अन्तर पड़ता है।

जब एक सौ तीन से लेकर एक सौ आठ निरन्तर सिद्ध होते हैं तब एक समय तक ही ऐसा होता है। बाद में अन्तर पड़ता ही है।

इस प्रकार एक समय में उत्कृष्टत: एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं। यह अनेकसिद्धों का कथन हुआ। इसके साथ ही अनन्तरसिद्धों का कथन सम्पूर्ण हुआ।

परम्परसिद्ध—परम्परसिद्ध अनेक प्रकार के कहे गये हैं। यथा प्रथमसमयसिद्ध, द्वितीयसमयसिद्ध, तृतीयसमयसिद्ध यावत् असंख्यातसमयसिद्ध और अनन्तसमयसिद्ध।

जिनको सिद्ध हुए एक समय हुआ वे तो अनन्तरसिद्ध होते हैं अर्थात् सिद्धत्व के प्रथम समय में वर्तमानसिद्ध अनन्तरसिद्ध कहलाते हैं। अत: सिद्धत्व के द्वितीय आदि समय में स्थित परम्परसिद्ध होते हैं। मूल पाठ में जो 'पढमसमयसिद्ध' पाठ है वह परम्परसिद्धत्व का प्रथम समय अर्थात् सिद्धत्व का द्वितीय समय जानना चाहिए। अर्थात् जिन्हें सिद्ध हुए दो समय हुए वे प्रथमसमय परम्परसिद्ध

---

१. बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा।
चुलसीइ छन्नउइ उ दुरहियमट्ठुत्तरसयं च॥

हैं। जिन्हें सिद्ध हुए तीन समय हुए वे द्वितीयसमयसिद्ध परम्परसिद्ध जानने चाहिए। इसी तरह आगे भी जान लेना चाहिए।

यह परम्परसिद्ध असंसारसमापन्नक जीवाभिगम का कथन हुआ।

संसारसमापन्नक जीवाभिगम

८. से किं तं संसारसमापन्नकजीवाभिगमे ?

संसारसमावण्णएसु णं जीवेसु इमाओ णव पडिवत्तीओ एवमाहिज्जंति, तंजहा—

१. एगे एवमाहंसु—दुविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता।

२. एगे एवमाहंसु—तिविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता।

३. एगे एवमाहंसु—चउव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता।

४. एगे एवमाहंसु—पंचविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता।

५-१०. एतेणं अभिलावेणं जाव दसविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता।

[८] संसारप्राप्त जीवाभिगम क्या है ?

संसारप्राप्त जीवों के सम्बन्ध में ये नौ प्रतिपत्तियाँ (कथन) इस प्रकार कही गई हैं—

१. कोई ऐसा कहते हैं कि संसारप्राप्त जीव दो प्रकार के कहे गये हैं।

२. कोई ऐसा कहते हैं कि संसारवर्ती जीव तीन प्रकार के कहे गये हैं।

३. कोई ऐसा कहते हैं कि संसारप्राप्त जीव चार प्रकार के कहे गये हैं।

४. कोई ऐसा कहते हैं कि संसारप्राप्त जीव पाँच प्रकार के कहे गये हैं।

५-१०. ऐसा ही कथन तब तक कहना चाहिए यावत् कोई ऐसा कहते हैं कि संसारप्राप्त जीव दस प्रकार के कहे गये हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में संसारवर्ती जीवों के विषय में प्रश्नोत्तर किये गये हैं। प्रश्न किया गया है कि संसारवर्ती जीव का स्वरूप क्या है ? संसारवर्ती जीव के भेदों को बताकर उक्त प्रश्न का उत्तर दिया गया है। भेदों के कथन से वस्तु का स्वरूप ज्ञात हो ही जाता है। संसारवर्त्ती जीवों के प्रकार के सम्बन्ध में यहाँ नौ प्रतिपत्तियाँ बताई गई हैं। प्रत्तिपत्ति का अर्थ है—प्रतिपादन, कथन।[1] इस सम्बन्ध में नौ प्रकार के प्रतिपादन हैं। जैसे कि कोई आचार्य संसारवर्ती जीवों के दो प्रकार कहते हैं, कोई आचार्य उनके तीन प्रकार कहते हैं; इसी क्रम से कोई आचार्य संसारवर्ती जीवों के दस प्रकार कहते हैं। दो से लगाकर दस प्रकार के संसारी जीव हैं—यह नौ प्रकार के कथन या प्रतिपादन हुए। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि ये नौ ही प्रकार के कथन परस्पर भिन्न होते हुए भी विरोधी नहीं हैं। जो आचार्य संसारवर्त्ती जीवों को दो प्रकार का कहते हैं, वे ही आचार्य अन्य विवक्षा से संसारवर्त्ती जीव के तीन प्रकार भी कहते हैं, अन्य विवक्षा से चार प्रकार भी कहते हैं यावत् अन्य विवक्षा से

---

१. प्रतिपत्तय: प्रतिपादनानि संवित्तय: इति यावत्। —मलय. वृत्ति

२. प्रतिपत्तय इति परमार्थतोऽनुयोगद्वाराणि, इति प्रतिपत्तव्यम्।

दस प्रकार भी कहते हैं। विवक्षा के भेद से कथनों में भेद होता है परन्तु उनमें विरोध नहीं होता। जो जीवा दो प्रकार के हैं वे ही दूसरी अपेक्षा से तीन प्रकार के हैं, अन्य अपेक्षा से चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ और दस प्रकार के हैं। अतएव इन नौ प्रकार की प्रतिपत्तियों में कोई विरोध नहीं है। अपेक्षा के भेद से सभी सम्यग् और सही हैं।

वृत्तिकार ने 'प्रतिपत्ति' शब्द के सन्दर्भ में यह भी कहा है कि प्रतिपत्ति केवल शब्दरूप ही नहीं है अपितु शब्द के माध्यम से अर्थ में प्रवृत्ति कराने वाली है। शब्दाद्वैतवादी मानते हैं कि 'शब्द-मात्रं विश्वम्'। सब संसार शब्दरूप ही है, ऐसा मानने से केवल शब्द ही सिद्ध होगा, विश्व नहीं। अतः उक्त मान्यता सत्य से परे है। सही बात यह है कि शब्द के माध्यम से अर्थ का कथन किया जाता है, तभी प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो सकती है।

स्याद्वाद या अपेक्षावाद जैन सिद्धान्त का प्राण है। अतएव नय-निक्षेप की अपेक्षाओं को ध्यान में रख कर वस्तुतत्त्व को समझना चाहिए।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। वह एकान्त एकरूप नहीं है। यदि वस्तु को सर्वथा एकरूप ही माना जायगा तो विश्व की विचित्रता संगत नहीं होगी।

प्रथम प्रतिपत्ति का कथन

९. तत्थ णं जे एवमाहंसु 'दुविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता' ते एवमाहंसु तं जहा—तसा चेव थावरा चेव ॥

[९] जो दो प्रकार के संसारसमापन्नक जीवों का कथन करते हैं, वे कहते हैं कि त्रस और स्थावर के भेद से वे दो प्रकार के हैं।

१०. से किं तं थावरा ?

थावरा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. पुढविकाइया २. आउक्काइया ३. वणस्सइकाइया।

[१०] स्थावर किसे कहते हैं ?

स्थावर तीन प्रकार के कहे गये हैं—

यथा—१. पृथ्वीकायिक २. अप्कायिक और ३. वनस्पतिकायिक।

विवेचन—संसारसमापन्न जीवों के भेद बताने वाली नौ प्रतिपत्तियों में से प्रथम प्रतिपत्ति का निरूपण करते हुए इस सूत्र में कहा गया है कि संसारवर्त्ती जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर। इन दो भेदों में समस्त संसारी जीवों का अन्तर्भाव हो जाता है।

त्रस—'त्रसन्तीति त्रसाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ-जा सकते हैं, वे जीव त्रस कहलाते हैं। गर्मी से तप्त होने पर जो जीव उस स्थान से चल कर छाया वाले स्थान पर आते हैं अथवा शीत से घबरा कर धूप में जाते हैं, वे चल-फिर सकने वाले जीव त्रस हैं। त्रसनामकर्म के उदय वाले जीव त्रस कहलाते हैं, इस अपेक्षा से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस के अन्तर्गत आते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आगम में तेजस्काय और वायुकाय को भी त्रस के अन्तर्गत माना गया है। इसी जीवाभिगमसूत्र में आगे कहा गया है कि—त्रस तीन प्रकार के हैं—तेजस्काय, वायुकाय और औदारिक त्रस प्राणी।[1] तत्त्वार्थसूत्र में भी 'तेजोवायुद्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः' कहा गया है।[2] अन्यत्र उन्हें स्थावर कहा गया है। इन दोनों प्रकार के कथनों की संगति इस प्रकार जाननी चाहिए—

त्रस जीवों के सम्बन्ध में दो प्रकार की विवक्षाएँ हैं। प्रथम विवक्षा में जो जीव अभिसन्धिपूर्वक-समझपूर्वक इधर से उधर गमनागमन कर सकते हैं और जिनके त्रसनामकर्म का उदय है वे त्रस जीव लब्धित्रस कहे जाते हैं और इस विवक्षा से द्वीन्द्रियादि जीव त्रस की कोटि में आते हैं, तेज और वायु नहीं।

दूसरी विवक्षा में जो जीव अभिसन्धिपूर्वक अथवा अनभिसन्धिपूर्वक भी ऊर्ध्व या तिर्यक् गति करते हैं, वे त्रस कहलाते हैं। इस व्याख्या और विवक्षा के अनुसार तेजस् और वायु ऊर्ध्व या तिर्यक् गति करते हैं, इसलिए वे त्रस हैं। ऐसे त्रस जीवों को गतित्रस कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जब केवल गति की विवक्षा है तब तेजस् और वायु को त्रस में गिना गया है। परन्तु जब स्थावर नामकर्म के उदय की विवक्षा है तब उन्हें स्थावर में गिना गया है। तेज और वायु के त्रसनामकर्म का उदय नहीं, स्थावरनामकर्म का उदय है। अतएव विवक्षाभेद से दोनों प्रकार के कथनों की संगति समझना चाहिए।

स्थावर—'तिष्ठन्तीत्येवंशीलाः स्थावराः'। उष्णादि से अभितप्त होने पर भी जो उस स्थान को छोड़ने में असमर्थ हैं, वहीं स्थित रहते हैं; ऐसे जीव स्थावर कहलाते हैं। यहाँ स्थावर जीवों के तीन भेद बताये गये हैं—१. पृथ्वीकाय २. अप्काय और ३. वनस्पतिकाय।

सामान्यतया स्थावर के पांच भेद गिने जाते हैं। तेजस् और वायु को भी स्थावरनामकर्म के उदय से स्थावर माना जाता है। परन्तु यहाँ गतित्रस की विवक्षा होने से तेजस्, वायु की गणना त्रस में करने से स्थावर जीवों के तीन ही भेद बताये हैं। तत्त्वार्थसूत्र में भी ऐसा ही कहा गया है—'पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः।[3]

१. पृथ्वीकाय—पृथ्वी ही जिन जीवों का काया—शरीर है, वे पृथ्वीकायिक हैं। जो लोग पृथ्वी को एक देवता रूप मानते हैं, इस कथन से उनका निरसन हो जाता है। पृथ्वी एकजीवरूप न होकर—असंख्य जीवों का समुदाय रूप है। जैसा कि आगम में कहा है—पृथ्वी सचित्त कही गई है, उसमें पृथक् पृथक् अनेक जीव हैं।

२. अप्काय—जल ही जिन जीवों का शरीर है, वे अप्कायिक जीव हैं।

३. वनस्पतिकाय—वनस्पति जिनका शरीर है, वे वनस्पतिकायिक जीव हैं।

---

१. तसा तिविहा पण्णत्ता तं जहा—तेउकाइया, वाउकाइया ओराला तसा पाणा। —जीवाभि. सूत्र १६

२. तत्त्वार्थ. अ. २, सू. १४

३. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २, सूत्र १३

पृथ्वी सबका आधार होने से उसे प्रथम ग्रहण किया है। पृथ्वी के आधार पर पानी रहा हुआ है अतएव पृथ्वी के बाद जल का ग्रहण किया गया है।

'जत्थ जलं तत्थ वणं'[1] के अनुसार जहाँ जहाँ जल है वहाँ वहाँ वनस्पति है, इस सैद्धान्तिक तत्त्व के प्रतिपादन हेतु जल के बाद वनस्पति का ग्रहण हुआ है। इस प्रकार पृथ्वी, पानी और वनस्पतिकायिकों के क्रम का निरूपण किया गया है।

पृथ्वीकाय का वर्णन

११. से किं पुढविकाइया ?

पुढविकाइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—

सुहुमपुढविकाइया य बायरपुढविकाइया य।

[११] पृथ्वीकायिक का स्वरूप क्या है ?

पृथ्वीकायिक दो प्रकार के कहे गये हैं—जैसे कि सूक्ष्मपृथ्वीकायिक और बादर-पृथ्वीकायिक।

१२. से किं सुहुमपुढविकाइया ?

सुहुमपुढविकाइया दुविहा पण्णत्ता—

तं जहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य।

[१२] सूक्ष्मपृथ्वीकायिक क्या हैं ?

सूक्ष्मपृथ्वीकायिक दो प्रकार के कहे गये हैं—

जैसे कि—पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

विवेचन—पृथ्वीकायिक जीव दो प्रकार के कहे गये हैं—१. सूक्ष्म पृथ्वीकायिक और २. बादर पृथ्वीकायिक। सूक्ष्म पृथ्वीकाय से तात्पर्य सूक्ष्मनामकर्म के उदय से है, न कि बेर और आँवले की तरह आपेक्षिक सूक्ष्मता या स्थूलता से। सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता है, वे सूक्ष्म जीव हैं। ये सूक्ष्म जीव चतुर्दश रज्जुप्रमाण सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं। इस लोक में कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ सूक्ष्म जीव न हों। जैसे काजल की कुप्पी में काजल ठसाठस भरा रहता है अथवा जैसे गंधी की पेटी में सुगंध सर्वत्र व्याप्त रहती है इसी तरह सूक्ष्म जीव सारे लोक में ठसाठस भरे हुए हैं—सर्वत्र व्याप्त हैं। ये सूक्ष्म जीव किसी से प्रतिघात नहीं पाते। पर्वत की कठोर चट्टान से भी आर-पार हो जाते हैं। ये सूक्ष्म जीव किसी के मारने से मरते नहीं, छेदने से छिदते नहीं, भेदने से भिदते नहीं। विश्व की किसी भी वस्तु से उनका घात-प्रतिघात नहीं होता। ऐसे सूक्ष्मनामकर्म के उदय वाले ये सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव सारे लोक में व्याप्त हैं।[2]

बादर पृथ्वीकाय—बादरनामकर्म के उदय से जिन पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर (अनेकों के मिलने पर) चर्मचक्षुओं से ग्राह्य हो सकता है, जिसमें घात-प्रतिघात होता हो, जो मारने से मरते

१. पुढवी चित्तमंतमक्खाया, अणेग जीवा, पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। —दशवै०

२. 'सुहुमा सव्वलोगम्मि'। —उत्तराध्ययन

हों, छेदने से छिदते हों, भेदने से भिदते हों, वे बादर पृथ्वीकायिक जीव हैं। ये लोक के प्रतिनियत क्षेत्र में ही होते हैं, सर्वत्र नहीं।

मूल में आये हुए 'दोनों चकार सूक्ष्म और बादर के स्वगत अनेक भेद-प्रभेद के सूचक हैं।'

सूक्ष्म पृथिवीकायिक के भेद—सूक्ष्म पृथ्विकायिक जीवों के सम्बन्ध में बताया गया है कि वे दो प्रकार के हैं—यथा १. पर्याप्तक और २ अपर्याप्तक।

पर्याप्तक—जिन जीवों ने अपनी पर्याप्तियाँ पूरी कर ली हों वे पर्याप्तक हैं।

अपर्याप्तक—जिन जीवों ने अपनी पर्याप्तियाँ पूरी नहीं की हैं या पूरी करने वाले नहीं हैं वे अपर्याप्तक हैं।

पर्याप्तक और अपर्याप्तक के स्वरूप को समझने के लिए पर्याप्तियों को समझना आवश्यक है। पर्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार है—

पर्याप्ति का स्वरूप

आहारादि के पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें शरीरादि रूप में परिणत करने की आत्मा की शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं।[1] यह शक्ति पुद्गलों के उपचय से प्राप्त होती है। जीव अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुंचकर प्रथम समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है और इसके बाद भी जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है—उनको शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के रूप में परिवर्तित करता है। पुद्गलों को इन रूपों में परिणत करने की शक्ति को ही पर्याप्ति कहा जाता है।

पर्याप्तियाँ छह प्रकार की हैं—१. आहारपर्याप्ति, २. शरीरपर्याप्ति, ३. इन्द्रियपर्याप्ति, ४. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, ५. भाषापर्याप्ति और ६. मनःपर्याप्ति।

१. **आहारपर्याप्ति**—जिस शक्ति से जीव आहार को ग्रहण कर उसे रस और खल (असार भाग) में परिणत करता है, उसे आहारपर्याप्ति कहते हैं।

२. **शरीरपर्याप्ति**—जिस शक्ति से जीव रस रूप में परिणत आहार को रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य रूप सात धातुओं में परिणत करता है, वह शरीरपर्याप्ति है।

३. **इन्द्रियपर्याप्ति**—जिस शक्ति से जीव सप्त धातुओं से इन्द्रिय योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें इन्द्रिय रूप में परिणत करता है, वह इन्द्रियपर्याप्ति है।

४. **श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति**—जिस शक्ति से जीव श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके श्वास और उच्छ्वास में परिणत करता है, वह श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति है।

५. **भाषापर्याप्ति**—जिस शक्ति से जीव भाषावर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषा रूप में बदलता है, वह भाषापर्याप्ति है।

६. **मनःपर्याप्ति**—जिस शक्ति से जीव मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें मन के रूप में बदलता है, वह मनःपर्याप्ति है।

---

१. पर्याप्तिर्नामाहारादिपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः। —मलयगिरि वृत्ति।

पर्याप्तियों का क्रम और काल—सब पर्याप्तियों का प्रारंभ एक साथ होता है किन्तु उनकी पूर्णता अलग-अलग समय में होती है। पहले आहारपर्याप्ति पूर्ण होती है, फिर क्रमशः शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति पूर्ण होती है। पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर की पर्याप्ति सूक्ष्म, सूक्ष्मतर होती है। जैसे छह व्यक्ति एक साथ सूत कातने बैठे हों तो जो बारीक कातेगा उसे उसकी अपेक्षा अधिक समय लगेगा जो मोटा कातता है। आहारपर्याप्ति सबसे स्थूल है और मनःपर्याप्ति सबसे सूक्ष्म है।

आहारपर्याप्ति का काल एक समय है। वह एक समय में पूर्ण हो जाती है। इसका प्रमाण यह है कि प्रज्ञापना के आहार पद में यह पाठ है कि 'आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त जीव आहारक है या अनाहारक? उत्तर में कहा गया है कि आहारक नहीं है, अनाहारक है। आहारपर्याप्ति से अपर्याप्तजीव विग्रहगति में ही होता है, उपपातक्षेत्र में आया हुआ नहीं। उपपातक्षेत्र समागत जीव प्रथम समय में ही आहारक होता है। इससे आहारपर्याप्ति की समाप्ति का काल एक समय का सिद्ध होता है। यदि उपपातक्षेत्र में आने के बाद भी आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त होता तो प्रज्ञापना में 'कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक' ऐसा उत्तर दिया गया होता। जैसा कि शरीरादि पर्याप्तियों में दिया गया है। इसके बाद शरीर आदि पर्याप्तियाँ अलग-अलग एक-एक अन्तर्मुहूर्त में पूरी होती हैं। सब पर्याप्तियों का समाप्तिकाल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है क्योंकि अन्तर्मुहूर्त भी अनेक प्रकार का है।

किसके कितनी पर्याप्तियाँ ?

एकेन्द्रिय जीवों के चार पर्याप्तियाँ होती हैं—१. आहार, २. शरीर, ३. इन्द्रिय और ४. श्वासोच्छ्वास।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पांच पर्याप्तियाँ होती हैं—पूर्वोक्त चार और भाषापर्याप्ति।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

आहार, शरीर और इन्द्रिय—ये तीन पर्याप्तियाँ प्रत्येक जीव पूर्ण करता है। इनको पूर्ण करके ही जीव अगले भव की आयु का बंध कर सकता है। अगले भव की आयु का बंध किये बिना कोई जीव नहीं मर सकता। इन तीन पर्याप्तियों की अपेक्षा से तो प्रत्येक जीव पर्याप्त ही होता है परन्तु पर्याप्त-अपर्याप्त का विभाग इन तीन पर्याप्तियों की अपेक्षा से नहीं है, अपितु जिन जीवों के जितनी पर्याप्तियाँ कही गई हैं, उनकी पूर्णता-अपूर्णता को लेकर है।

स्वयोग्य पर्याप्तियों को जो पूर्ण करे वह पर्याप्त जीव हैं और स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करे वह अपर्याप्त जीव हैं। जैसे एकेन्द्रिय जीव के स्वयोग्य पर्याप्तियाँ ४ कही गई हैं। इन चार पर्याप्तियों को पूर्ण करनेवाला एकेन्द्रिय जीव पर्याप्त है और इन चार को पूर्ण न करने वाला अपर्याप्त है।

पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद

पर्याप्त जीव दो प्रकार के हैं—१. लब्धिपर्याप्त और २. करणपर्याप्त। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को अभी पूर्ण नहीं किया किन्तु आगे अवश्य पूरी करेगा, वह लब्धि की अपेक्षा से लब्धि-पर्याप्तक कहा जाता है। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियां पूरी कर ली हैं वह करणपर्याप्त है।

अपर्याप्त जीव भी दो प्रकार के हैं—१. लब्धि-अपर्याप्त और २. करण-अपर्याप्त। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियां पूरी नहीं की और आगे करेगा भी नहीं अर्थात् अपर्याप्त ही मरेगा वह लब्धि-अपर्याप्त है। जिसने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा नहीं किया किन्तु आगे पूरा करेगा वह करण से अपर्याप्त है।

इस प्रकार सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो प्रकार हुए।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के सम्बन्ध में शेष वक्तव्यता कहने के लिए दो संग्रहणी गाथाएँ यहाँ दी गई हैं, वे इस प्रकार हैं—

सरीरोगाहण संघयण संठाण कसाय तह य हुंति सन्नाओ।
लेसिंदिय समुग्घाए सन्नी वेए य पज्जत्ती॥१॥

दिट्ठी दंसण नाणे जोगुवओगे तहा किमाहारे।
उववाय ठिई समुग्घाय चवण गइरागई चेव॥२॥

इसके आगे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों का २३ द्वारों द्वारा निरूपण किया जायेगा। वे तेवीस द्वार इस प्रकार हैं—

१. शरीर, २. अवगाहना, ३. संहनन, ४. संस्थान, ५. कषाय, ६. संज्ञा, ७. लेश्या, ८. इन्द्रिय, ९. समुद्घात, १०. संज्ञी-असंज्ञी, ११. वेद. १२. पर्याप्ति, १३. दृष्टि, १४. दर्शन, १५. ज्ञान, १६. योग, १७. उपयोग, १८. आहार, १९. उपपात, २०. स्थिति, २१. समवहत-असमवहत मरण २२. च्यवन और १३. गति-आगति।

आगे के सूत्रों में क्रमशः इन २३ द्वारों को लेकर प्रश्नोत्तर किये गये हैं। 'यथोद्देशः तथा निर्देशः' के अनुसार प्रथम क्रमशः शरीर आदि द्वारों का कथन किया जाता है—

१३. [१] तेसि णं भंते! जीवाणं कति सरीरया पण्णत्ता?
गोयमा! तओ सरीरगा पण्णत्ता, तंजहा—ओरालिए, तेयए, कम्मए।

[१] हे भगवन्! उन सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के कितने शरीर कहे गये हैं?
गौतम! तीन शरीर कहे गये हैं, जैसे कि १. औदारिक २. तैजस और ३. कार्मण।

[२] तेसि णं भंते! जीवाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता?
गोयमा! जहन्नेणं अंगुलासंखेज्जइभागं उक्कोसेणवि अंगुलासंखेज्जइभागं।

[२] भगवन्! उन जीवों के शरीर की अवगाहना कितनी बड़ी कही गई है?

गौतम! जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से भी अंगुल का असंख्यातवां भाग प्रमाण है।

[३] तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरा किंसंघयणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! छेवट्ठसंघयणा पण्णत्ता ।

[३] भगवन् ! उन जीवों के शरीर किस संहनन वाले कहे गये हैं ?
गौतम ! सेवार्तसंहनन वाले कहे गये हैं ।

[४] तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरा किंसंठिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! मसूरचंदसंठिया पण्णत्ता ।

[४] भगवन् ! उन जीवों के शरीर का संस्थान क्या है ?
गौतम ! चन्द्राकार मसूर की दाल के समान है ।

[५] तेसि णं भंते ! जीवाणं कति कसाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि कसाया पण्णत्ता, तं जहा—कोहकसाए, माणकसाए, मायाकसाए, लोहकसाए ।

[५] भगवन् ! उन जीवों के कषाय कितने कहे गये हैं ?
गौतम ! चार कषाय कहे गये हैं । जैसे कि क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और लोभकषाय ।

[६] तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सण्णा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारिसण्णा पण्णत्ता, तंजहा—आहारसण्णा जाव परिग्गहसण्णा ।

[६] भगवन् ! उन जीवों के कितनी संज्ञाएँ कही गई हैं ?
गौतम ! चार संज्ञाएँ कही गई हैं, यथा—आहारसंज्ञा यावत् परिग्रहसंज्ञा ।

[७] तेसि णं भंते ! जीवाणं कति लेसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! तिन्नि लेस्साओ पण्णत्ताओ, तंजहा—किण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काउलेस्सा ।

[७] भगवन् ! उन जीवों के लेश्याएँ कितनी कही गई हैं ?
गौतम ! तीन लेश्याएँ कही गई हैं । यथा—कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या ।

[८] तेसि णं भंते ! जीवाणं कति इंदियाइं पण्णत्ताइं ?

गोयमा ! एगे फासिंदिए पण्णत्ते ।

[८] भगवन् ! उन जीवों के कितनी इन्द्रियाँ कही गई हैं ?
गौतम ! एक स्पर्शनेन्द्रिय कही गई है ।

[९] तेसि णं भंते ! जीवाणं कति समुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ समुग्घाया पण्णत्ता, तंजहा—१. वेयणासमुग्घाए, २. कसायसमुग्घाए, ३. मारणंतियसमुग्घाए ।

[९] भगवन् ! उन जीवों के कितने समुद्घात कहे गये हैं ?
गौतम ! तीन समुद्घात कहे गये है; जैसे कि—१. वेदना-समुद्घात, २. कषाय-समुद्घात और ३. मारणांतिक-समुद्घात ।

[१०] ते णं भंते ! जीवा किं सन्नी असन्नी ?

गोयमा ! नो सन्नी, असन्नी ।

[१०] भगवन् ! वे जीव संज्ञी हैं या असंज्ञी ?

गौतम ! संज्ञी नहीं हैं, असंज्ञी हैं ।

[११] ते णं भंते ! जीवा किं इत्थिवेया, पुरिसवेया, णपुंसगवेया ?

गोयमा ! णो इत्थिवेया, णो पुरिसवेया, णपुंसगवेया ।

[११] भगवन् ! वे जीव स्त्रीवेद वाले हैं, पुरुषवेद वाले हैं या नपुंसकवेद वाले हैं ?

गौतम ! वे स्त्रीवेद वाले नहीं हैं, पुरुषवेद वाले नहीं हैं, नपुंसकवेद वाले हैं ।

[१२] तेसि णं भंते ! जीवाणं कति पज्जत्तीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! चत्तारि पज्जत्तीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—आहारपज्जत्ती, सरीरपज्जत्ती, इंदिय-पज्जत्ती, आणपाणुपज्जत्ती ।

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति अपज्जत्तीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! चत्तारि अपज्जत्तीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—आहार-अपज्जत्ती जाव आणपाणु-अपज्जत्ती ।

[१२] भगवन् ! उन जीवों के कितनी पर्याप्तियां कही गई हैं ?

गौतम ! चार पर्याप्तियां कही गई हैं । जैसे १. आहारपर्याप्ति, २. शरीरपर्याप्ति, ३. इन्द्रियपर्याप्ति और ४. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति ।

हे भगवन् ! उन जीवों के कितनी अपर्याप्तियां कही गई हैं ?

गौतम ! चार अपर्याप्तियां कही गई हैं । यथा—आहार-अपर्याप्ति यावत् श्वासोच्छ्वास-अपर्याप्ति ।

[१३] ते णं भंते ! जीवा किं सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्ममिच्छादिट्ठी ।

गोयमा ! णो सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, णो सम्ममिच्छादिट्ठी ।

[१३] भगवन् ! वे जीव सम्यग्दृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि हैं या सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) हैं ?

गौतम ! वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) भी नहीं हैं ।

[१४] ते णं भंते ! जीवा किं चक्खुदंसणी, अचक्खुदंसणी, ओहिदंसणी, केवलदंसणी ।

गोयमा ! नो चक्खुदंसणी, अचक्खुदंसणी, नो ओहिदंसणी, नो केवलदंसणी ।

[१४] भगवन् ! वे जीव चक्षुदर्शनी हैं, अचक्षुदर्शनी हैं, अवधिदर्शनी हैं या केवलदर्शनी हैं ?

गौतम ! वे जीव चक्षुदर्शनी नहीं हैं, अचक्षुदर्शनी हैं, अवधिदर्शनी नहीं हैं, केवलदर्शनी नहीं हैं ।

[१५] ते णं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! नो णाणी, अण्णाणी । नियमा दुअण्णाणि, तंजहा—मति-अण्णाणी, सुय-अण्णाणी य ।

[१५] भगवन् ! वे जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

गौतम ! वे ज्ञानी नहीं, अज्ञानी हैं । वे नियम से (निश्चित रूप से) दो अज्ञानवाले होते हैं—मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी ।

[१६] ते णं भंते ! जीवा किं मणजोगी, वयजोगी, कायजोगी ?

गोयमा ! नो मणजोगी, नो वयजोगी, कायजोगी ।

[१६] भगवन् ! वे जीव क्या मनोयोग वाले, वचनयोग वाले और काययोग वाले हैं ?
गौतम ? वे मनोयोग वाले नहीं, वचनयोग वाले नहीं, काययोग वाले हैं ।

[१७] ते णं भंते ! जीवा किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ?

गोयमा ! सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि ।

[१७] भगवन् ! वे जीव क्या साकारोपयोग वाले हैं या अनाकारोपयोग वाले ?
गौतम ! साकार-उपयोग वाले भी हैं और अनाकार-उपयोग वाले भी हैं ।

[१८] ते णं भंते ! जीवा किमाहारमाहारेंति ?

गोयमा ! दव्वओ अणंतपएसियाइं, खेत्तओ असंखेज्जपएसोवगाढाइं, कालओ अन्नयर समयट्ठिइयाइं, भावओ वण्णमंताइं, गंधमंताइं, रसमंताइं फासमंताइं जाइं भावओ वण्णमंताइं आहारेंति ताइं किं एगवण्णाइं आ०, दुवण्णाइं आ०, तिवण्णाइं आ०, चउवण्णाइं आ०, पंचवण्णाइं आहारेंति ?

गोयमा ! ठाणमग्गणं पडुच्च एगवण्णाइं पि दुवण्णाइं पि तिवण्णाइं पि चउवण्णाइं पि पंचवण्णाइं पि आहारेंति । विहाणमग्गणं पडुच्च कालाइं पि आ० जाव सुक्किलाइं पि आहारेंति ।

जाइं वण्णओ कालाइं आहारेंति ताइं किं एगगुण कालाइं आ० जाव अणंतगुणकालाइं आहारेंति ?

गोयमा ! एगगुणकालाइं पि आ० जाव अणंतगुणकालाइं पि आ० एवं जाव सुक्किलाइं ।।

जाइं भावओ गंधमंताइं आ० ताइं किं एगगंधाइं आ० दुगंधाइं आहारेंति ?

गोयमा ! ठाणमग्गणं पडुच्च एगगंधाइं पि आ० दुगंधाइं पि आ० । विहाणमग्गणं पडुच्च सुब्भिगंधाइं पि आ० दुब्भिगंधाइं पि आ० ।

जाइं गंधओ सुब्भिगंधाइं आ० ताइं किं एगगुणसुब्भिगंधाइं आ० जाव अणंतगुणसुब्भिगंधाइं आहारेंति ?

गोयमा ! एगगुणसुब्भिगंधाइं पि आ० जाव अणंतगुणसुब्भिगंधाइं पि आहारेंति । एवं दुब्भिगंधाइं पि ।

रसा जहा वण्णा ।

जाइं भावओ फासमंताइं आहारेंति ताइं किं एगफासाइं आ० जाव अट्ठफासाइं आहारेंति ?

गोयमा ! ठाणं मग्गणं पडुच्च नो एगफासाइं आ० नो दुफासाइं आ० नो तिफासाइं आ० चउफासाइं आ० पंचफासाइं पि जाव अट्ठफासाइं पि आहारेंति। विहाणमग्गणं पडुच्च कक्खडाइं पि आ० जाव लुक्खाइं पि आहारेंति।

जाइं फासओ कक्खडाइं आ० ताइं किं एगगुणकक्खडाइं आ० जाव अणंतगुणकक्खडाइं आहारेंति ?

गोयमा ! एगगुणकक्खडाइं पि आहारेंति जाव अणंतगुणकक्खडाइं पि आहारेंति एवं जाव लुक्खा णेयव्वा।

ताइं भंते किं पुट्ठाइं आहारेंति अपुट्ठाइं आ० ?

गोयमा ! पुट्ठाइं आ० नो अपुट्ठाइं आ०।

ताइं भंते ! ओगाढाइं आ० अणोगाढाइं आ० ?

गोयमा ! ओगाढाइं आ० नो अणोगाढाइं आ०।

ताइं भंते ! किं अणंतरोवगाढाइं आ० परंपरोवगाढाइं आ० ?

गोयमा ! अणंतरोवगाढाइं आ०, नो परंपरोवगाढाइं आ०।

ताइं भंते ! किं अणूइं आ०, बायराइं आ० ?

गोयमा ! अणूइं पि आ०, बायराइं पि आहारेंति।

ताइं भंते ! उड्ढं आ०, अहे आ०, तिरियं आहारेंति ?

गोयमा ! उड्ढं पि आ०, अहे वि आ०, तिरियं पि आ०।

ताइं भंते ! किं आइं आ०, मज्झे आ०, पज्जवसाणे आहारेंति ?

गोयमा ! आइं पि आ०, मज्झे वि आ०, पज्जवसाणे पि आ०।

ताइं भंते ! किं सविसए आ०, अविसए आ०।

गोयमा ! सविसए आ०, नो अविसए आ० ?

ताइं भंते किं आणुपुव्वि आ०, अणाणुपुव्वि आ० ?

गोयमा ! आणुपुव्वि आ० नो अणाणुपुव्वि आहारेंति।

ताइं भंते ! किं तिदिसिं आहारेंति, चउदिसिं आ०, पंचदिसिं आ०, छदिसिं आ० ?

गोयमा ! निव्वाघाएणं छदिसिं। वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं।

उस्सन्नकारणं पडुच्च वण्णओ कालाइं नीलाइं जाव सुक्किलाइं, गंधओ सुब्भिगंधाइं दुब्भिगंधाइं रसओ तित्तजावमहुराइं, फासओ कक्खडमउय जाव निद्धलुक्खाइं, तेसिं पोराणे वण्णगुणे विप्परिणामइत्ता परिपालइत्ता, परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता अण्णे अपुव्वे वण्णगुणे गंधगुणे जाव फासगुणे उप्पाइत्ता आयसरीरोगाढा पोग्गले सव्वप्पणयाए आहारमाहरेंति।

[१८] भगवन् ! वे जीव क्या आहार करते हैं ?

गौतम ! वे द्रव्य से अनन्तप्रदेशी पुद्गलों का आहार करते हैं, क्षेत्र से असंख्यप्रदेशावगाढ पुद्गलों का आहार करते हैं, काल से किसी भी समय की स्थिति वाले पुद्गलों का आहार करते हैं, भाव से वर्ण वाले, गंध वाले, रस वाले और स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करते हैं।

प्र.—भगवन् ! भाव से जिन वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं, वे एक वर्ण वाले, दो वर्ण वाले, तीन वर्ण वाले, चार वर्ण वाले या पंच वर्ण वाले हैं ?

उ.—गौतम ! स्थानमार्गणा की अपेक्षा से एक वर्ण वाले, दो वर्ण वाले, तीन वर्ण वाले, चार वर्ण वाले, पांच वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं। भेदमार्गणा की अपेक्षा काले पुद्गलों का भी आहार करते हैं यावत् सफेद पुद्गलों का भी आहार करते हैं।

प्र.—भंते ! वर्ण से जिन काले पुद्गलों का आहार करते हैं वे क्या एकगुण काले हैं यावत् अनन्तगुण काले हैं ?

उ.—गौतम ! एकगुण काले पुत्गलों का भी आहार करते हैं यावत् अनन्तगुण काले पुद्गलों का भी आहार करते हैं। इस प्रकार यावत् शुक्लवर्ण तक जान लेना चाहिए।

प्र.—भंते ! भाव से जिन गंध वाले पुद्गलों का आहार करते हैं वे एक गंध वाले या दो गंध वाले पुद्गलों का आहार करते हैं ?

उ.—गौतम ! स्थानमार्गणा की अपेक्षा एक गन्ध वाले पुद्गलों का भी आहार करते हैं और दो गन्ध वालों का भी। भेदमार्गणा की अपेक्षा से सुरभिगन्ध वाले और दुरभिगन्ध वाले दोनों का आहार करते हैं।

प्र.—भंते ! जिन सुरभिगन्ध वाले पुद्गलों का आहार करते हैं वे क्या एकगुण सुरभिगन्ध वाले हैं यावत् अनन्तगुण सुरभिगन्ध वाले होते हैं ?

उ.—गौतम ! एकगुण सुरभिगन्ध वाले यावत् अनन्तगुण सुरभिगन्ध वाले पुद्गलों का आहार करते हैं।

इसी प्रकार दुरभिगन्ध के विषय में भी कहना चाहिए। रसों का वर्णन भी वर्ण की तरह जान लेना चाहिए।

प्र.—भंते ! भाव की अपेक्षा से वे जीव जिन स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करते हैं वे एक स्पर्श वालों का आहार करते हैं यावत् आठ स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करते हैं ?

उ.—गौतम ! स्थानमार्गणा की अपेक्षा एक स्पर्श वालों का आहार नहीं करते, दो स्पर्श वालों का आहार नहीं करते हैं, तीन स्पर्श वालों का आहार नहीं करते, चार स्पर्श वाले, पाँच स्पर्श वाले यावत् आठ स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करते हैं। भेदमार्गणा की अपेक्षा कर्कश स्पर्श वाले पुद्गलों का भी यावत् रूक्ष स्पर्श वाले पुद्गलों का भी आहार करते हैं।

प्र.—भंते ! स्पर्श की अपेक्षा जिन कर्कश पुद्गलों का आहार करते हैं वे क्या एकगुण कर्कश हैं या अनन्तगुण कर्कश हैं ?

उ.—गौतम ! एकगुण कर्कश का भी आहार करते हैं और अनन्तगुण कर्कश का भी आहार करते हैं। इस प्रकार यावत् रूक्षस्पर्श तक जान लेना चाहिए।

प्र.—भंते ! वे आत्म-प्रदेशों से स्पृष्ट का आहार करते हैं या अस्पृष्ट का आहार करते हैं ?

उ.—गौतम ! स्पृष्ट का आहार करते हैं, अस्पृष्ट का नहीं।

प्र.—भंते ! वे आत्म-प्रदेशों में अवगाढ पुद्गलों का आहार करते हैं या अनवगाढ का ?

उ.—गौतम ! आत्म-प्रदेशों में अवगाढ पुद्गलों का आहार करते हैं, अनवगाढ का नहीं।

प्र.—भंते ! वे अनन्तर-अवगाढ पुद्गलों का आहार करते हैं या परम्परा से अवगाढ पुद्गलों का आहार करते हैं ?

उ.—गौतम ! अनन्तर-अवगाढ पुद्गलों का आहार करते हैं, परम्परावगाढ का नहीं।

प्र.—भंते ! वे अणु—थोड़े प्रमाण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं या बादर—अधिक प्रमाण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं ?

उ.—गौतम ! वे थोड़े प्रमाण वाले पुद्गलों का भी आहार करते हैं और अधिक प्रमाण वाले वाले पुद्गलों का भी आहार करते हैं।

प्र.—भंते ! क्या वे ऊपर, नीचे या तिर्यक् स्थित पुद्गलों का आहार करते हैं ?

उ.—गौतम ! वे ऊपर स्थित पुद्गलों का भी आहार करते हैं, नीचे स्थित पुद्गलों का भी आहार करते हैं और तिरछे स्थित पुद्गलों का भी आहार करते हैं।

प्र.—भंते ! क्या वे आदि, मध्य और अन्त में स्थित पुद्गलों का आहार करते हैं ?

उ.—गौतम ! वे आदि में स्थित पुद्गलों का भी आहार करते हैं, मध्य में स्थित पुद्गलों का भी आहार करते हैं और अन्त में स्थित पुद्गलों का भी आहार करते हैं।

प्र.—भंते ! क्या वे अपने योग्य पुद्गलों का आहार करते हैं या अपने अयोग्य पुद्गलों का आहार करते हैं ?

उ.—गौतम ! वे अपने योग्य पुद्गलों का आहार करते हैं, अयोग्य पुद्गलों का नहीं।

प्र.—भंते ! क्या वे आनुपूर्वी—समीपस्थ पुद्गलों का आहार करते हैं या अनानुपूर्वी—दूरस्थ पुद्गलों का आहार करते हैं ?

उ.—गौतम ! वे समीपस्थ पुद्गलों का आहार करते हैं, दूरस्थ पुद्गलों का आहार नहीं करते।

प्र.—भंते ! क्या वे तीन दिशाओं, चार दिशाओं, पाँच दिशाओं और छह दिशाओं में स्थित पुद्गलों का आहार करते हैं ?

उ.—गौतम ! व्याघात न हो तो छहों दिशाओं के पुद्गलों का आहार करते हैं। व्याघात हो तो तीन दिशाओं, कभी चार दिशाओं और कभी पाँच दिशाओं में स्थित पुद्गलों का आहार करते हैं।

प्रायः विशेष करके वे जीव कृष्ण, नील यावत् शुक्ल वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं। गन्ध से सुरभिगंध दुरभिगंध वाले, रस से तिक्त यावत् मधुररस वाले, स्पर्श से कर्कश-मृदु यावत् स्निग्धरूक्ष पुद्गलों का आहार करते हैं।

वे उन आहार्यमाण पुद्गलों के पुराने (पहले के) वर्णगुणों को यावत् स्पर्शगुणों को बदलकर, हटाकर, झटककर, विध्वंसकर उनमें दूसरे अपूर्व वर्णगुण, गन्धगुण, रसगुण और स्पर्शगुणों को उत्पन्न करके आत्मशरीरावगाढ पुद्गलों को सब आत्मप्रदेशों से ग्रहण करते हैं।

१६. ते णं भंते ! जीवा कओहिंतो उववज्जंति ?
किं नेरइयतिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो उववज्जंति ?
गोयमा ! नो नेरइएहिंतो उववज्जंति,
तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति,
मणुस्सेहिंतो उववज्जंति,
नो देवेहिंतो उववज्जंति,
तिरिक्खजोणियपज्जत्तापज्जत्तेहिंतो असंखेज्जवासाउयवज्जेहिंतो उववज्जंति,
मणुस्सेहिंतो अकम्मभूमिग-असंखेज्जवासाउयवज्जेहिंतो उववज्जंति । वक्कंति-उववाओ भाणियव्वो ।

[१९] भगवन् ! वे जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?
क्या वे नरक से, तिर्यञ्च से, मनुष्य से या देव से आकर उत्पन्न होते हैं ?

गौतम ! वे नरक से आकर उत्पन्न नहीं होते, तिर्यञ्च से आकर उत्पन्न होते हैं, मनुष्य से आकर उत्पन्न होते हैं, देव से आकर उत्पन्न नहीं होते हैं।

तिर्यञ्च से उत्पन्न होते हैं तो असंख्यातवर्षायु वाले भोगभूमि के तिर्यञ्चों को छोड़कर शेष पर्याप्त-अपर्याप्त तिर्यंचों से आकर उत्पन्न होते हैं।

मनुष्यों से उत्पन्न होते हैं तो अकर्मभूमि वाले और असंख्यात वर्षों की आयु वालों को छोड़कर शेष मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार (प्रज्ञापना के अनुसार) व्युत्क्रान्ति-उपपात कहना चाहिए।

[२०] तेसि णं भंते ! जीवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?
गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

[२०] उन जीवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?
गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से भी अन्तर्मुहूर्त उनकी स्थिति है।

[२१] ते णं भंते ! जीवा मारणंतियसमुग्घाएणं किं समोहया मरंति असमोहया मरंति ?
गोयमा ! समोहयावि मरंति असमोहया वि मरंति ।

[२१] वे जीव मारणान्तिक समुद्घात से समवहत होकर मरते हैं या असमवहत होकर ?
गौतम ! वे मारणान्तिक समुद्घात से समवहत होकर भी मरते हैं और असमवहत होकर भी मरते हैं।

[२२] ते णं भंते ! जीवा अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति ? कहिं उववज्जंति ? किं नेरइएसु उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, मणुस्सेसु उववज्जंति, देवेसु उववज्जंति ?

गोयमा ! नो नेरइएसु उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, मणुस्सेसु उववज्जंति, नो देवेसु उववज्जंति ।

किं एगिंदिएसु उववज्जंति जाव पंचिदिएसु उववज्जंति ?

गोयमा ! एगिंदिएसु उववज्जंति जाव पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, असंखेज्ज-वासाउयवज्जेसु पज्जत्तापज्जत्तएसु उववज्जंति ।

मणुस्सेसु अकम्मभूमग-अंतरदीवग-असंखेज्जवासाउयवज्जेसु पज्जत्तापज्जत्तेसु उववज्जंति ।

[२२] भगवन् ! वे जीव वहाँ से निकलकर अगले भव में कहाँ जाते हैं ? कहाँ उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों में, तिर्यञ्चों में, मनुष्यों में और देवों में उत्पन्न होते हैं ?

गौतम ! नैरयिकों में उत्पन्न नहीं होते, तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं, मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, देवों में उत्पन्न नहीं होते ।

भंते ! क्या वे एकेन्द्रियों में यावत् पंचेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं ?

गौतम ! वे एकेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं, यावत् पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों में उत्पन्न होते हैं, लेकिन असंख्यात वर्षायु वाले तिर्यंचों को छोड़कर शेष पर्याप्त-अपर्याप्त तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं ।

अकर्मभूमि वाले, अन्तरद्वीप वाले तथा असंख्यात-वर्षायु वाले मनुष्यों को छोड़कर शेष पर्याप्त-अपर्याप्त मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं ।

[२३] ते णं भंते ! जीवा कतिगतिका कतिआगतिका पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुगतिका दुआगतिका परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता समणाउसो !

से तं सुहुमपुढविक्काइया ।।

[२३] भगवन् ! वे जीव कितनी गति में जाने वाले और कितनी गति से आने वाले हैं ?

गौतम ! वे जीव दो गति वाले और दो आगति वाले हैं । हे आयुष्मन् श्रमण ! वे जीव प्रत्येक शरीर वाले और असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कहे गये हैं ।

यह सूक्ष्म पृथ्वीकायिक का वर्णन हुआ ।।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के सम्बन्ध में २३ द्वारों के द्वारा विशेष जानकारी भगवान् श्री गौतम के प्रश्नों और देवाधिदेव प्रभु श्री महावीर के उत्तर के रूप में दी गई है ।

यहाँ मूल सूत्र में 'भंते !' पद के द्वारा श्री गौतमस्वामी ने प्रभु महावीर को सम्बोधन किया है । 'भंते !' का अर्थ सामान्यतया 'भगवन्' होता है । टीकाकार ने भदन्त अर्थात् परम कल्याण-योगिन् ! अर्थ किया है । सचमुच भगवान् महावीर परम सत्यार्थ का प्रकाश करने के कारण परम कल्याणयोगी हैं ।

यहाँ सहज जिज्ञासा होती है कि भगवान् गौतम भी मातृकापद श्रवण करते ही प्रकृष्ट श्रुत-ज्ञानावरण के क्षयोपशम से चौदह पूर्वों के ज्ञाता हो गये थे । चौदह पूर्वधारियों से कोई भी प्रज्ञापनीय

भाव अविदित नहीं होता। विशेषत: गणधर गौतम तो सर्वाक्षरसन्निपाती और संभिन्नश्रोतो-लब्धि जैसी सर्वोत्कृष्ट लब्धियों से सम्पन्न थे। वे प्रश्न किये जाने पर संख्यातीत भवों को बता सकते थे।[1] ऐसे विशिष्ट ज्ञानी भगवान् गौतम साधारण साधारण प्रश्न क्यों पूछते हैं?

इस जिज्ञासा को लेकर तीन प्रकार के समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम समाधान यह है कि—श्री गौतम गणधर सब कुछ जानते थे और वे अपने विनेयजनों को सब प्रतिपादन भी करते थे। परन्तु उसकी यथार्थता का शिष्यों के मन में विश्वास पैदा करने के लिए वे भगवान् से प्रश्न करके उनके श्रीमुख से उत्तर दिलवाते थे।

दूसरा समाधान यह है कि द्वादशांगी में तथा अन्य श्रुतसाहित्य में गणधरों के प्रश्न तथा भगवान् के उत्तर रूप बहुत सारा भाग है, अतएव सूत्रकार ने इसी रूप में सूत्र की रचना की है।

तीसरा समाधान यह है कि चौदह पूर्वधर होने पर भी आखिर तो श्री गौतम छद्मस्थ थे और छद्मस्थ में स्वल्प भी अनाभोग (अनुपयोग) हो सकता है।[2] इसलिए भगवान् से पूछकर उस पर यथार्थता की छाप लगाने के लिए भी उनका प्रश्न करना संगत ही है।

भगवान् गौतम ने प्रश्न पूछा कि हे परमकल्याणयोगिन्! सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के कितने शरीर होते हैं?

प्रभु महावीर ने लोकप्रसिद्ध महागोत्र 'गौतम' सम्बोधन से सम्बोधित कर गौतम स्वामी के मन में प्रमोद और आह्लाद भाव पैदा करते हुए उत्तर दिया। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जिज्ञासु के असाधारण गुणों का कथन करने से उस व्यक्ति में विशिष्ट प्रेरणा जागृत होती है, जिससे वह विषय को भलीभांति समझ सकता है।

१. **शरीरद्वार**—भगवान् ने कहा कि—सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के तीन शरीर होते हैं—औदारिक, तैजस् और कार्मण।

सामान्यरूप से शरीर पांच हैं—१. औदारिक, २. वैक्रिय, ३. आहारक, ४. तैजस् और ५. कार्मण।

औदारिक—उदार अर्थात् प्रधान—श्रेष्ठ पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक है। यह तीर्थंकर और गणधरों के शरीर की अपेक्षा समझना चाहिए। तीर्थंकर एवं गणधरों के शरीर की तुलना में अनुत्तर विमानवासी देवों के शरीर अनन्तगुणहीन हैं।

अथवा उदार का अर्थ बृहत् (बड़ा) है। शेष शरीरों की अपेक्षा बड़ा होने से औदारिक है। औदारिक शरीर का प्रमाण कुछ अधिक हजार योजन है। यह बृहत्तर (जन्मजात) भवधारणीय वैक्रिय शरीर की अपेक्षा से है। अन्यथा उत्तरवैक्रिय तो लाखयोजन प्रमाण भी होता है।

---

१. संखातीते वि भवे साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा।
न य णं अणाइसेसी वियाणइ एस छउमत्थो॥

२. नहि नामानाभोगश्छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति।
ज्ञानावरणीयं हि ज्ञानावरणप्रकृति कर्म॥

अथवा उदार अर्थात् स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक है। जो शरीर सड़न-गलन स्वभाव वाला है, जिसका छेदन-भेदन किया जा सकता है, जिसमें त्वचा, रक्त, मांस, अस्थि आदि हों, वह औदारिक शरीर है।

वैक्रियशरीर—जो शरीर विविध या विशिष्ट रूपों में परिवर्तित किया जा सकता है, वह वैक्रिय शरीर है। जो एक होकर अनेक हो जाता हो, अनेक होकर एक हो जाता हो, छोटे से बड़ा, बड़े से छोटा हो जाता हो, खेचर से भूचर और भूचर से खेचर, दृश्य से अदृश्य और अदृश्य से दृश्य हो सकता हो, वह वैक्रिय शरीर है। यह शरीर दो प्रकार का है—औपपातिक और लब्धिप्रत्ययिक।

देवों और नारकों को जन्म से जो शरीर प्राप्त होता है वह औपपातिक वैक्रिय शरीर है। तथा किन्हीं विशिष्ट मनुष्य-तिर्यञ्चों को लब्धि के प्रभाव से विविध रूप बनाने की शक्ति प्राप्त होती है वह लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर है। बादर वायुकायिक जीवों में भी कृत्रिम लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर माना गया है। इस शरीर की रचना में रक्त,मांस, अस्थि आदि नहीं होते। सड़न-गलन धर्म भी नहीं होते। औदारिक की अपेक्षा इसके प्रदेश प्रमाण में असंख्यातगुण अधिक होते हैं किन्तु सूक्ष्म होते हैं।

आहारकशरीर—चौदह पूर्वधारी मुनि तीर्थंकर की ऋद्धि-महिमा दर्शन के लिए तथा अन्य इसी प्रकार के प्रयोजन होने पर विशिष्ट लब्धि द्वारा जिस शरीर की रचना करते हैं, वह आहारक[1] है। विशिष्ट प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि—[2] प्राणिदया, ऋद्धिदर्शन, सूक्ष्मपदार्थों की जानकारी के लिए और संशय के निवारण के लिए चतुर्दशपूर्वधारी मुनि अपनी लब्धिविशेष से एक हस्तप्रमाण सूक्ष्मशरीर बनाकर तीर्थंकर भगवान् के पास भेजते हैं। यह सूक्ष्मशरीर अत्यन्त शुभ स्वच्छ स्फटिकशिला की तरह शुभ्र पुद्गलों से रचा जाता है। इस शरीर की रचना कर चौदह पूर्वधारी मुनि महाविदेह आदि क्षेत्र में विचरते हुए तीर्थंकर भगवान् के पास भेजते हैं। यदि तीर्थंकर भगवान् वहाँ से अन्यत्र विचरण कर गये हों तो उस एक हस्तप्रमाण से मुंड हस्तप्रमाण पुतला निकलता है जो तीर्थंकर भगवान् जहाँ होते हैं वहाँ पहुँच जाता है। वहाँ से प्रश्नादि का समाधान लेकर एक हस्तप्रमाण शरीर में प्रवेश करता है और वह एक हस्तप्रमाण शरीर चौदह पूर्वधारी मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। इससे चौदह पूर्वधारी का प्रयोजन पूरा हो जाता है। एक अन्तर्मुहूर्त काल में यह सब प्रक्रिया हो जाती है। इस प्रकार को शरीर-रचना आहारक शरीर है। यह आहारक शरीर लोक में कदाचित् सर्वथा नहीं भी होता है। इसके अभाव का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास है।

तैजसशरीर—जो शरीर तेजोमय होने से खाये हुए आहार आदि के परिपाक का हेतु और दीप्ति का कारण हो वह तैजसशरीर है। जैसे कृषक खेत के क्यारों में अलग-अलग पानी पहुँचाता है इसी तरह यह शरीर ग्रहण किये हुए आहार को रसादि में परिणत कर अवयव-अवयव में पहुँचाता है। विशिष्ट तप से प्राप्त लब्धिविशेष से किसी किसी पुरुष को तेजोलेश्या निकालने की लब्धि

---

१. आह्रियते-निर्वर्त्यते इत्याहारकम्।

२ कज्जम्मि समुप्पन्ने सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए।
जं एत्थ आहारिज्जइ भणंति आहारगं तं तु॥

प्राप्त हो जाती है, उसका हेतु भी तैजस्शरीर है ।[1] यह सभी संसारी जीवों के होता है ।

कार्मणशरीर—आत्मप्रदेशों के साथ क्षीर-नीर की तरह मिले हुए कर्मपरमाणु ही शरीर रूप से परिणत होकर[2] कार्मणशरीर कहलाते हैं । कर्म-समूह ही कार्मणशरीर है । यह अन्य सब शरीरों का मूल है । कार्मण के होने पर ही शेष शरीर होते हैं । कार्मण के उच्छेद होते ही सब शरीरों का उच्छेद हो जाता है ।

जीव जब अन्य गति में जाता है तब तैजस् सहित कार्मण शरीर ही उसके साथ होता है । सूक्ष्म होने के कारण यह तैजस-कार्मण शरीर गत्यन्तर में जाता-आता दृष्टिगोचर नहीं होता । इस विषय में अन्यतीर्थिक भी सहमत हैं । उन्होंने कहा है कि—गत्यन्तर[3] में जाता-आता हुआ यह शरीर सूक्ष्म होने से दृष्टिगोचर नहीं होता । दृष्टिगोचर न होने से उसका अभाव नहीं मानना चाहिए ।

उक्त पांच शरीरों में से सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के तीन शरीर होते हैं—औदारिक, तैजस और कार्मण । वैक्रिय और आहारक उनके नहीं होते । क्योंकि ये दोनों लब्धियां हैं और भवस्वभाव से ही वे जीव इन लब्धियों से वंचित होते हैं ।

२. **अवगाहनाद्वार**—शरीर की ऊँचाई को अवगाहना कहते हैं । यह दो प्रकार की होती है—जघन्य और उत्कृष्ट । सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीवों की अवगाहना जघन्य अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है और उत्कृष्ट भी अंगुल का असंख्यातवाँ भाग ही है, परन्तु जघन्य पद से उत्कृष्ट पद में अपेक्षाकृत अधिक अवगाहना जाननी चाहिए ।

३. **संहननद्वार**—हड्डियों की रचनाविशेष को संहनन कहते हैं । वे छह हैं—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त ।

वज्रऋषभनाराच—वज्र का अर्थ कीलिका है । ऋषभ का अर्थ परिवेष्टनपट्ट है और नाराच का अर्थ दोनों तरफ मर्कटबन्ध होना है । तात्पर्य यह हुआ कि दो हड्डियाँ दोनों ओर से मर्कटबन्ध से जुड़ी हों, ऊपर से तीसरी हड्डीरूप पट्टे से वेष्टित हों और ऊपर से तीनों अस्थियों को भेदता हुआ कीलक हो । इस प्रकार की मजबूत हड्डियों की रचना को वज्रऋषभनाराचसंहनन कहते हैं ।

ऋषभनाराच—जिसमें मर्कटबन्ध हो, पट्ट हो लेकिन कीलक न हो, ऐसी अस्थिरचना को ऋषभनाराच कहते हैं ।

नाराच—जिसमें मर्कटबन्ध से ही हड्डियाँ जुड़ी हों वह नाराचसंहनन है ।

---

१. सव्वस्स उम्हासिद्धं रसाइ आहारपाकजण गं च ।
तेजगलद्धिनिमित्तं च तेयगं होइ नायव्वं ।

२. कम्मविकारो कम्मट्ठविह विचित्तकम्मनिप्फन्नं ।
सव्वेसिं सरीराणां कारणभूयं मुणेयव्वं ।।

३. अन्तरा भवदेहोऽपि सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते ।
निष्क्रामन् प्रविशन् वाऽपि नाभावोऽनीक्षणादपि ।।

अर्ध-नाराच—जिसमें एक तरफ मर्कटबन्ध हो और दूसरी ओर कीलिका हो, वह अर्ध-नाराच है।

कीलिका—जिसमें हड्डियाँ कील से जुड़ी हों।

सेवार्त (छेदवर्ति)—जिसमें हड्डियाँ केवल आपस में जुड़ी हुई हों (कीलक आदि का बन्ध भी न हो) वह सेवार्त या छेदवर्ति संहनन है। प्रायः मनुष्यादि के यह संहनन होने पर तेलमालिश आदि की अपेक्षा रहती है।

उक्त प्रकार के छह संहननों में से सूक्ष्म पृथ्वीकायिक के अन्तिम छेदवर्ति या सेवार्त संहनन कहा गया है। यद्यपि सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के औदारिक शरीर में हड्डियाँ नहीं होती हैं फिर भी हड्डी होने की स्थिति में जो शक्ति-विशेष होती है वह उनमें है, अतः उनको उपचार से संहनन माना है। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के औदारिक शरीर तो है, उस शरीर के कारण से सूक्ष्म शक्ति-विशेष तो होती ही है।

४. **संस्थानद्वार**—संस्थान का अर्थ है—आकृति। ये संस्थान छह बताये गये हैं। १ समचतुरस्रसंस्थान, २ न्यग्रोध-परिमंडलसंस्थान, ३ सादिसंस्थान, ४ कुब्जसंस्थान, ५ वामन-संस्थान, ५ हुंडसंस्थान।

१. **समचतुरस्र**—पालथी मार कर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों। दोनों जानुओं, दोनों स्कन्धों का अन्तर समान हो, वाम जानु और दक्षिण स्कन्ध, वाम स्कन्ध और दक्षिण जानु का अन्तर समान हो, आसन से कपाल तक का अन्तर समान हो, ऐसी शरीराकृति को समचतुरस्र-संस्थान कहते हैं। अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव ठीक प्रमाण वाले हों, वह समचतुरस्र है।

२. **न्यग्रोधपरिमंडल**—न्यग्रोध का अर्थ वटवृक्ष है। वटवृक्ष की तरह जिस शरीर का नाभि से ऊपर का हिस्सा पूर्ण हो और नीचे का भाग हीन हो वह न्यग्रोधपरिमंडल है।

३. **सादि**—यहाँ सादि से अर्थ नाभि से नीचे के भाग से है। जिस शरीर में नाभि से नीचे का भाग पूर्ण हो और ऊपर का भाग हीन हो वह सादिसंस्थान है।

४. **कुब्ज**—जिस शरीर में हाथ, पैर, सिर आदि अवयव ठीक हों परन्तु छाती, पीठ, पेट हीन और टेढ़े हों, वह कुब्जसंस्थान है।

५. **वामन**—जिस शरीर में छाती, पीठ, पेट आदि अवयव पूर्ण हों परन्तु हाथ, पैर आदि अवयव छोटे हों वह वामनसंस्थान है।

६. **हुंड**—जिस शरीर के सब अवयव हीन, अशुभ और विकृत हों, वह हुंडसंस्थान है।

उक्त छह संस्थानों से सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के कौनसा संस्थान है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि उनका संस्थान मसूर की दाल जैसा चन्द्राकार संस्थान है। चन्द्राकार मसूर की दाल जैसा संस्थान हुंडकसंस्थान ही है। अन्य पाँच संस्थानों में यह आकार नहीं हो सकता। अतः हुंड-संस्थान में ही यह समाविष्ट होता है। जीवों के छह संस्थानों के अतिरिक्त तो और कोई संस्थान नहीं

होता। हुंडकसंस्थान का कोई एक विशिष्ट रूप नहीं है। वह असंस्थित स्वरूप वाला है। अतएव सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के मसूर की दाल जैसी आकृति वाला हुंडसंस्थान जानना चाहिए।

५. कषायद्वार—जिसमें प्राणी कसे जाते हैं, पीड़ित होते हैं वह है कष अर्थात् संसार। जिनके कारण प्राणी संसार में आवागमन करते हैं—भवभ्रमण करते हैं वे कषाय हैं। कषाय ४ हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों में चारों कषाय पाये जाते हैं। यद्यपि इन जीवों में ये कषाय और इनके बाह्य चिह्न दिखाई नहीं देते किन्तु मन्द परिणाम से उनमें होते अवश्य हैं। अनाभोग से मन्द परिणामों की विचित्रता से वे अवश्य उनमें होते हैं। भले ही दिखाई न दें।

६. संज्ञाद्वार—संज्ञा दो प्रकार की हैं—१ ज्ञानरूप संज्ञा और २ अनुभवरूप संज्ञा। ज्ञानरूप संज्ञा मतिज्ञानादि पाँच ज्ञानरूप है। स्वकृत असातावेदनीय कर्मफल का अनुभव करने रूप अनुभवसंज्ञा है। यहाँ अनुभवसंज्ञा का अधिकार है, क्योंकि ज्ञानरूप संज्ञा की ज्ञानद्वार में परिगणना की गई है। अनुभवसंज्ञा चार प्रकार की है—१. आहारसंज्ञा, २. भयसंज्ञा, ३. मैथुनसंज्ञा और ४. परिग्रहसंज्ञा।

आहारसंज्ञा—क्षुधा वेदनीयकर्म से होने वाली आहार की अभिलाषा रूप आत्म-परिणाम आहारसंज्ञा है।

भयसंज्ञा—भय वेदनीय से होने वाला त्रासरूप परिणाम भयसंज्ञा है।

मैथुनसंज्ञा—वेदोदय जनित मैथुन की अभिलाषा मैथुनसंज्ञा है।

परिग्रहसंज्ञा—लोभ से होने वाला मूर्छा परिणाम परिग्रहसंज्ञा है।

आहारादि संज्ञा इच्छारूप होने से मोहनीय कर्म के उदय से होती है। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों में ये चारों संज्ञाएँ अव्यक्त रूप में होती हैं।

७. लेश्याद्वार—जिसके कारण आत्मा कर्मों के साथ चिपकती है वह लेश्या है।[1] कृष्णादि द्रव्यों के सान्निध्य से आत्मा में होने वाले शुभाशुभ परिणाम लेश्या हैं। जैसे स्फटिक रत्न में अपना कोई काला-पीला-नीला आदि रंग नहीं होता है, वह तो स्वच्छ होता है, परन्तु उसके सान्निध्य में जैसे रंग की वस्तु आती है, वह उसी रंग का हो जाता है। वैसे ही कृष्णादि पदार्थों के सान्निध्य से आत्मा में जो शुभाशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं, वह लेश्या है।

शास्त्रकारों ने लेश्याओं के छह भेद बताये हैं—१. कृष्णलेश्या, २. नीललेश्या, ३. कापोतलेश्या, ४. तेजोलेश्या, ५. पद्मलेश्या और ६. शुक्ललेश्या।

जम्बूफलखादक छह पुरुषों के दृष्टान्त से शास्त्रकारों ने इन लेश्याओं का स्वरूप उदाहरण द्वारा समझाया है। वह इस प्रकार है:—

छह पुरुष रास्ता भूल कर जंगल में एक जामुन के वृक्ष के नीचे बैठकर इस प्रकार विचारने लगे—एक पुरुष बोला कि इस पेड़ को जड़मूल से उखाड़ देना चाहिए। दूसरा पुरुष बोला कि जड़मूल से तो नहीं स्कन्ध भाग काट देना चाहिए। तीसरे ने कहा कि बड़ी-बड़ी डालियाँ काट

---

१. कृष्णादि द्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्तते॥

लेनी चाहिए। चौथा बोला—जामुन के गुच्छों को ही तोड़ना चाहिए। पाँचवां बोला—सब गुच्छे नहीं केवल पके-पके जामुन तोड़ लेने चाहिए। छठा बोला—वृक्षादि को काटने की क्या जरूरत है, हमें जामुन खाने से मतलब है तो सहजरूप से नीचे पड़े हुए जामुन ही खा लेने चाहिए।

जैसे उक्त पुरुषों की छह तरह की विचारधाराएँ हुईं, इसी तरह लेश्याओं में भी अलग-अलग परिणामों की धारा होती है।[1]

प्रारम्भ की कृष्ण, नील, कापोत—ये तीन लेश्याएँ अशुभ हैं और पिछली तेज, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्याएँ शुभ हैं।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों में तीन अशुभ लेश्याएँ ही पायी जाती हैं। सूक्ष्मों में देवों की उत्पत्ति नहीं होती है। अतएव आदि की तीन लेश्याएँ ही इनमें होती हैं।

८. **इन्द्रियद्वार**—'इन्दनाद् इन्द्रः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सम्पूर्ण ज्ञानरूप परम ऐश्वर्य का अधिपति होने से आत्मा इन्द्र है। उसका अविनाभावी चिह्न इन्द्रियाँ हैं। वे इन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय।

ये पाँचों इन्द्रियाँ दो-दो प्रकार की हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय भी दो प्रकार की हैं— १ निर्वृत्तिद्रव्येन्द्रिय और २ उपकरणद्रव्येन्द्रिय।

निर्वृत्ति का अर्थ है अलग-अलग आकृति की पौद्गलिक रचना। यह निर्वृत्तिइन्द्रिय भी बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार की है। कान की पपड़ी आदि बाह्य निर्वृत्ति है और इसका कोई एक प्रतिनियत आकार नहीं है। मनुष्य के कान नेत्र के आजु-बाजु और भौहों के बराबरी में होते हैं जबकि घोड़े के कान नेत्रों के ऊपर होते हैं और उनके अग्रभाग तीखे होते हैं।

आभ्यन्तर निर्वृत्तिइन्द्रिय सब जीवों के एकरूप होती है। इसको लेकर ही आगम में कहा गया है कि—श्रोत्रेन्द्रिय का आकार कदम्ब के फल के समान, चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की चन्द्राकार दाल के समान, घ्राणेन्द्रिय का आकार अतिमुक्तक के समान, जिह्वेन्द्रिय का खुरपे जैसा और स्पर्शनेन्द्रिय का नाना प्रकार का है। स्पर्शनेन्द्रिय में प्रायः बाह्य-आभ्यन्तर का भेद नहीं, तत्वार्थ की मूल टीका में यह भेद नहीं माना गया है।

उपकरण का अर्थ है आभ्यन्तर निर्वृत्ति की शक्ति-विशेष। बाह्य निर्वृत्ति तलवार के समान है और आभ्यन्तर निर्वृत्ति तलवार की धार के समान स्वच्छतर पुद्गल समूह रूप है। उपकरण इन्द्रिय और आभ्यन्तर निर्वृत्ति इन्द्रिय में थोड़ा भेद है, जो शक्ति और शक्तिमान में है। आभ्यन्तर निर्वृत्ति इन्द्रिय के होने पर भी उपकरणेन्द्रिय का उपघात होने पर विषय ग्रहण नहीं होता। जैसे कदम्बाकृति रूप आभ्यन्तर निर्वृत्ति इन्द्रिय के होने पर भी महाकठोर घनगर्जना आदि से शक्ति का उपघात होने पर शब्द सुनाई नहीं पड़ता।

---

१. पंथाओ परिभट्ठा छप्पुरिसा अडविमज्झयारंमि।
जम्बूतरुस्स हेट्ठा परोप्परं ते विचिंतेंति ॥१॥
निम्मूल खंधसाला गोच्छे पक्के य पडियसडियाइं।
जह एएसिं भावा, तह लेसाओ वि णायव्वा ॥२॥

भावेन्द्रिय दो प्रकार की हैं—१. लब्धि और २. उपयोग। आवरण का क्षयोपशय होना लब्धिइन्द्रिय है और अपने-अपने विषय में लब्धि के अनुसार प्रवृत्त होना—जानना उपयोग-भावेन्द्रिय है।

द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय आदि अनेक प्रकार की इन्द्रियाँ होने पर भी यहाँ बाह्य निर्वृत्ति रूप इन्द्रिय को लेकर प्रश्नोत्तर समझने चाहिए। इसको लेकर ही एकेन्द्रियादि का व्यवहार होता है।[1] बकुल आदि वनस्पतियाँ भावरूप से पाँचों इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करती हैं किन्तु वे पंचेन्द्रिय नहीं कही जातीं, क्योंकि उनके बाह्येन्द्रियाँ पाँच नहीं हैं। स्पर्शनरूप बाह्य इन्द्रिय एक होने से वे एकेन्द्रिय ही हैं।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों में केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है।

९. **समुद्घातद्वार**—वेदना आदि के साथ एकरूप होकर वेदनीयादि कर्मदलिकों का प्रबलता के साथ घात करना समुद्घात[2] कहलाता है।

समुद्घात सात हैं—१. वेदनासमुद्घात, २. कषायसमुद्घात, ३. मारणान्तिकसमुद्घात, ४. वैक्रियसमुद्घात, ५. तैजससमुद्घात, ६. आहारकसमुद्घात और ७. केवलिसमुद्घात।

१. **वेदनासमुद्घात**—असातावेदनीय कर्म को लेकर वेदनासमुद्घात होता है। तीव्रवेदना से अभिभूत जीव बहुत-से वेदनीयादि कर्मपुद्गलों को, कालान्तर में अनुभवयोग्य दलिकों को भी उदीरणाकरण से उदयावलिका में लाकर वेदता-भोग भोग कर उन्हें निर्जरित कर देता है—आत्मप्रदेशों से अलग कर देता है। वेदना से पीड़ित जीव अनन्तानन्त कर्मपुद्गलों से वेष्टित आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर फेंकता है। उन प्रदेशों से वदन-जघनादि छिद्रों को और कर्ण-स्कन्धादि अन्तरालों की पूर्ति करके आयाम-विस्तार से शरीरमात्र क्षेत्र में व्याप्त होकर अन्तर्मुहूर्त तक स्थित होता है। उस अन्तर्मुहूर्त में बहुत सारे असातावेदनीय के कर्मपुद्गलों की परिशातना, निर्जरा होती है। यह वेदना-समुद्घात है।

२. **कषायसमुद्घात**—यह समुद्घात कषायोदय से होता है। कषायोदय से समाकुल जीव स्वप्रदेशों को बाहर निकालकर उनसे वदनोदरादि रन्ध्रों और अन्तरालों की पूर्ति कर आयाम-विस्तार से देहमात्र क्षेत्र में व्याप्त होकर रहता है। इस स्थिति में वह जीव बहुत से कषायकर्म-पुद्गलों का परिशातन (निर्जरा) करता है, यह कषायसमुद्घात है।

३. **मारणांतिकसमुद्घात**—आयुकर्म को लेकर यह समुद्घात होता है। इस समुद्घात वाला जीव पूर्वविधि से बहुत सारे आयुकर्म के दलिकों की परिशातना करता है, यह मारणांतिकसमुद्घात है।

४. **वैक्रियसमुद्घात**—वैक्रियशरीर का प्रारम्भ करते समय वैक्रियशरीर नामकर्म को लेकर यह होता है। वैक्रियसमुद्घातगत जीव स्वप्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर शरीर की

---

१. पंचिदिओ उ बउलो नरोव्व सव्वविसओवलंभाओ।
तहवि न भण्णइ पंचिदिउ त्ति बज्झिंदियाभावा॥

२. समिति—एकीभावे उत्—प्राबल्ये; एकीभावेन प्राबल्येन घातः समुद्घातः।

चौड़ाई प्रमाण तथा संख्यातयोजन प्रमाण लम्बा दण्ड निकालता है और पहले बंधे हुए वैक्रिय नामकर्म के स्थूल पुद्गलों की परिशातना करता है। यह वैक्रियसमुद्घात है।

५. **तैजससमुद्घात**—तैजसशरीर नामकर्म को लेकर यह होता है। वैक्रिय समुद्घात की तरह यह भी जानना चाहिए। इसमें तैजसशरीर नामकर्म की बहुत निर्जरा होती है।

६. **आहारकसमुद्घात**—आहारकशरीर की रचना करते समय यह समुद्घात होता है। इसमें आहारकशरीर नामकर्म के बहुत से पुद्गलों की निर्जरा होती है। विधि वैक्रियशरीर की तरह जानना चाहिए।

७. **केवलिसमुद्घात**—जब केवली के आयुकर्म के दलिक कम रह जाते हैं और वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म के दलिक विशेष शेष होते हैं, तब निर्वाण के अन्तर्मुहूर्त पहले केवली समुद्घात करते हैं। इसमें वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म के बहुत सारे दलिकों की निर्जरा हो जाती है। इसमें आठ समय लगते हैं। प्रथम समय में दण्डरचना, द्वितीय समय में कपाटरचना, तीसरे समय में मन्थान, चौथे समय में सम्पूर्ण लोक में व्याप्ति, पांचवें समय में अन्तराल के प्रदेशों का संहरण, छठे समय में मन्थान का संहरण, सातवें समय में कपाट का संहरण और आठवें समय में दण्ड का संहरण कर केवली पुनः स्वशरीरस्थ हो जाते हैं। इस प्रक्रिया से वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म के दलिकों का प्रभूत शातन हो जाता है और वे आयुकर्म के दलिकों के तुल्य हो जाते हैं। वेदनादि छह समुद्घातों का समय अन्तर्मुहूर्त और केवलिसमुद्घात का काल आठ समय मात्र है।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों में पूर्वोक्त सात समुद्घातों में से तीन समुद्घात होते हैं—वेदना, कषाय और मारणांतिक, शेष ४ समुद्घात नहीं होते। क्योंकि उनमें वैक्रिय, तैजस, आहारक और केवल लब्धि का अभाव है।

१०. **संज्ञीद्वार**—संज्ञा जिसके हो, वह संज्ञी है। यहाँ संज्ञा से तात्पर्य भूत, वर्तमान और भविष्यकाल का पर्यालोचन करने की शक्ति से है। विशिष्ट स्मरणादि रूप मनोविज्ञान वाले जीव संज्ञी हैं। उक्त मनोविज्ञान से विकल जीव असंज्ञी हैं।

संज्ञा तीन प्रकार की कही गई हैं—१. दीर्घकालिकी संज्ञा, २. हेतुवादोपदेशिकी और ३. दृष्टिवादोपदेशिकी।

दीर्घकालिकी संज्ञा—भूतकाल का स्मरण, भविष्यकाल का चिन्तन और वर्तमान का प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यापार, जिस संज्ञा द्वारा होता है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा है। इसी संज्ञा को लेकर संज्ञी-असंज्ञी का विभाग आगम में किया गया है। यह संज्ञा देव, नारक और गर्भज तिर्यंच मनुष्यों को होती है।

हेतुवादोपदेशिकी—देहनिर्वाह हेतु इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति के लिए उपयोगी केवल वर्तमानकालिक विचार ही जिस संज्ञा से हो, वह हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा है। यह संज्ञा द्वीन्द्रियादि में भी पाई जाती है। केवल एकेन्द्रियों में नहीं पाई जाती।

दृष्टिवादोपदेशिकी—यहाँ दृष्टि से मतलब सम्यग्दर्शन से है। इसकी अपेक्षा से क्षायोपशमिक आदि सम्यक्त्व वाले जीव ही संज्ञी हैं। मिथ्यात्वी असंज्ञी हैं।

उक्त तीन प्रकार की संज्ञाओं में से दीर्घकालिक संज्ञा की अपेक्षा से ही संज्ञी-असंज्ञी का व्यवहार समझना चाहिए।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि एकेन्द्रिय जीवों में भी आहारादि दस प्रकार की संज्ञाएँ आगम में कही गई हैं तो उन्हें संज्ञी क्यों न माना जाय ?

उसका समाधान दिया गया है कि एकेन्द्रियों में यद्यपि उक्त दस प्रकार की संज्ञाएँ अवश्य होती हैं तथापि वे अति अल्पमात्रा में होने से तथा मोहादिजन्य होने से अशोभन होती हैं अतएव उनकी गणना संज्ञी में नहीं की जाती है। जैसे किसी व्यक्ति के पास दो चार पैसे हों तो उसे पैसेवाला नहीं कहा जाता। इसी तरह कुरूप व्यक्ति में रूप होने पर भी उसे रूपवान नहीं कहा जाता। यही बात यहाँ भी समझ लेनी चाहिए।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों में दीर्घकालिक संज्ञा नहीं होती है, अतएव वे संज्ञी नहीं हैं। असंज्ञी ही हैं।

११. वेदद्वार—स्त्री की पुरुष में, पुरुष की स्त्री में, नपुंसक की दोनों में अभिलाषा होना वेद है। वेद तीन हैं—१. स्त्रीवेद, २. पुरुषवेद और ३. नपुंसकवेद।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव नपुंसकवेद वाले हैं। इनका सम्मूर्छिम जन्म होता है। नारक और सम्मूर्छिम नपुंसकवेदी ही होते हैं।[1]

१२. पर्याप्तिद्वार—सूत्रक्रमांक १२ के विवेचन में पर्याप्ति-अपर्याप्ति का विवेचन कर दिया है। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों में आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ और ये चार ही अपर्याप्तियाँ पाई जाती हैं।

ये चारों अपर्याप्तियाँ करण की अपेक्षा से समझना चाहिए। लब्धि की अपेक्षा से तो एक ही प्राणापान अपर्याप्ति समझनी चाहिए। क्योंकि लब्धि अपर्याप्तक भी नियम से आहार, शरीर, इन्द्रिय पर्याप्ति तो पूर्ण करते ही हैं। अगले भव की आयु बांधे बिना कोई जीव मरता नहीं और अगले भव की आयु उक्त तीन पर्याप्तियों के पूर्ण होने पर ही बंधती है।

१३. दृष्टिद्वार—दृष्टि का अर्थ है जिनप्रणीत वस्तुतत्त्व की प्रतिपत्ति (स्वीकृति)। दृष्टि तीन प्रकार की है—१. सम्यग्दृष्टि, २. मिथ्यादृष्टि और ३. सम्यग्मिथ्या (मिश्र) दृष्टि। जिनप्रणीत वस्तुतत्त्व की सही-सही प्रतिपत्ति सम्यग्दृष्टि है। जिनप्रणीत वस्तुतत्त्व की विपरीत प्रतिपत्ति मिथ्यादृष्टि है। जैसे जिस व्यक्ति ने धतूरा खाया हो उसे सफेद वस्तु पीली प्रतीत होती है, इसी तरह जिसे जिनप्रणीत तत्त्व मिथ्या लगता हो और जो उस पर अरुचि करता हो वह मिथ्यादृष्टि है। जो दृष्टि न तो सम्यग् हो और न मिथ्या ही हो, ऐसी दृष्टि मिश्रदृष्टि है।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव उक्त तीन दृष्टियों में से मिथ्यादृष्टि वाले हैं। उनमें सम्यग्दृष्टि नहीं होती। सास्वादनसम्यक्त्व भी उनमें नहीं पाया जाता। सास्वादनसम्यक्त्व वाले भी उनमें

---

१. नारकसंमूर्छिमा नपुंसका—इति भगवद्वचनम्।

उत्पन्न नहीं होते । सदा अतिसंक्लिष्ट परिणाम वाले होने से मिश्रदृष्टि भी उनमें नहीं पाई जाती । न मिश्रदृष्टि वाला ही उनमें उत्पन्न होता है । क्योंकि मिश्रदृष्टि में कोई काल नहीं करता ।[1]

१४. दर्शनद्वार—सामान्यविशेषात्मक वस्तु के सामान्यधर्म को ग्रहण करने वाला अवबोध दर्शन कहलाता है । यह चार प्रकार का है—१. चक्षुदर्शन, २. अचक्षुदर्शन, ३. अवधिदर्शन और ४. केवलदर्शन ।

चक्षुर्दर्शन—सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के रूप सामान्य को चक्षु द्वारा ग्रहण करना चक्षुर्दर्शन है ।

अचक्षुर्दर्शन—चक्षु को छोड़कर शेष इन्द्रियों और मन द्वारा सामान्यधर्म को जानना अचक्षुर्दर्शन है ।

अवधिदर्शन—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना रूपी सामान्य को जानना अवधिदर्शन है ।

केवलदर्शन—सकल संसार के पदार्थों के सामान्य धर्मों को जानने वाला केवलदर्शन है ।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के इन चार दर्शनों में से एक अचक्षुर्दर्शन पाया जाता है । स्पर्शनेन्द्रिय की अपेक्षा अचक्षुर्दर्शन है, अन्य कोई दर्शन उनमें नहीं होता ।

१५. ज्ञानद्वार—वैसे तो वस्तु-स्वरूप को जानना ही ज्ञान कहलाता है परन्तु शास्त्रकारों ने वही ज्ञान ज्ञान माना है जो सम्यक्त्वपूर्वक हो । सम्यक्त्वरहित ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि के तो ज्ञानरूप हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि के मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान हो जाते हैं ।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव मिथ्यादृष्टि हैं, अतएव उनमें ज्ञान नहीं माना गया है और निश्चित रूप से मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान माना गया है । यह मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान भी अन्य बादर आदि जीवों की अपेक्षा अत्यन्त अल्प मात्रा में होता है ।[2]

१६. योगद्वार—मन, वचन और काया के व्यापार (प्रवृत्ति) को योग कहते हैं । ये योग तीन प्रकार के हैं—मनयोग, वचनयोग और काययोग । उन तीन योगों में से सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के केवल काययोग ही होता है । वचन और मन उनके नहीं होता ।

१७. उपयोगद्वार—आत्मा की बोधरूप प्रवृत्ति को उपयोग कहते हैं । उपयोग दो प्रकार का है—साकार-उपयोग और अनाकार-उपयोग ।

---

१. न सम्ममिच्छो कुणइ कालं—इति वचनात् ।

२. सर्वनिकृष्टो जीवस्य दृष्टः उपयोग एष वीरेण ।
सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तानां स च भवति विज्ञेयः ॥१॥
तस्मात् प्रभृति ज्ञानविवृद्धिर्दृष्टा जिनेन जीवानाम् ।
लब्धिनिमित्तैः करणैः कायेन्द्रियवाग्मनोदृग्भिः ॥२॥

साकार-उपयोग—किसी भी वस्तु के प्रतिनियत धर्म को (विशेष धर्म को) ग्रहण करने का परिणाम साकार उपयोग है ।'ग्रागारो उ विसेसो' कहा गया है । इसलिए पांच ज्ञान और तीन अज्ञान रूप आठ प्रकार का उपयोग साकार उपयोग है ।

अनाकार-उपयोग—वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करने का परिणाम अनाकार उपयोग है । चार दर्शनरूप उपयोग अनाकार उपयोग है ।

साकार उपयोग के ८ और अनाकार उपयोग के ४, कुल मिलाकर बारह प्रकार का उपयोग कहा गया है ।

ये सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान वाले होने से इन दोनों उपयोगों की अपेक्षा साकार उपयोग वाले हैं । अचक्षुर्दर्शन उपयोग की अपेक्षा अनाकार उपयोग वाले हैं ।

१८. आहारद्वार—आहार से तात्पर्य बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करना है । सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव **द्रव्य से** अनन्तप्रदेशी स्कन्ध का आहार करते हैं । संख्यातप्रदेशी और असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध जीव के द्वारा ग्रहणप्रायोग्य नहीं होते हैं ।

क्षेत्र से—असंख्यात प्रदेशों में रहे हुए स्कन्धों का वे आहार करते हैं ।

काल से—किसी भी स्थिति वाले पुद्गलस्कंधों का वे ग्रहण करते हैं । जघन्य स्थिति, मध्यम स्थिति या उत्कृष्ट स्थिति किसी भी प्रकार की स्थिति वाले आहार योग्य स्कंधों को ग्रहण करते हैं ।

भाव से—वे जीव वर्ण वाले, गंध वाले, रस वाले और स्पर्श वाले पुद्गलों को ग्रहण करते हैं । क्योंकि प्रत्येक परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श तो होते ही हैं ।

वर्ण की अपेक्षा से—स्थानमार्गणा (सामान्य चिन्ता) को लेकर एक वर्ण वाले, दो वर्ण वाले, तीन वर्ण वाले, चार वर्ण वाले और पांच वर्ण वाले पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और भेदमार्गणा की अपेक्षा से काले, नीले, लाल, पीले और सफेद वर्ण वाले पुद्गलों का ग्रहण करते हैं । यह कथन व्यवहारनय की अपेक्षा से जानना चाहिए । व्यवहारदृष्टि से ही एक वर्ण वाले, दो वर्ण वाले आदि व्यवहार होता है । अन्यथा निश्चयनय की अपेक्षा से तो छोटे से छोटे अनन्तप्रदेशी स्कन्ध में पांचों वर्ण पाये जाते हैं । कृष्ण आदि प्रतिनियत वर्ण में भी तरतमता पाई जाती है अतएव प्रश्न किया गया कि सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव जिन काले वर्ण वाले पुद्गलों को ग्रहण करते हैं वे एकगुण काले होते हैं यावत् दस गुण काले होते हैं, संख्यातगुण काले होते हैं, असंख्यातगुण काले होते हैं या अनन्तगुण काले होते हैं? उत्तर दिया गया है कि एकगुण काले यावत् अनन्तगुण काले पुद्गलस्कंधों का ग्रहण करते हैं ।

इसी प्रकार दो गंध और पांच रस के विषय में भी समझ लेना चाहिए ।

स्पर्श की अपेक्षा से एक स्पर्श वाले, दो स्पर्श वाले, तीन स्पर्श वाले पुद्गलों का ग्रहण नहीं करते किन्तु चार स्पर्श वाले, पांच स्पर्श वाले, यावत् आठ स्पर्श वाले पुद्गलों को ग्रहण करते हैं । भेदमार्गणा को लेकर कर्कश यावत् रूक्ष का आहार करते हैं । कर्कश आदि स्पर्शों में एकगुण कर्कश यावत अनन्तगुण कर्कश का ग्रहण करते हैं । इसी तरह आठों स्पर्श के विषय में समझ लेना चाहिए ।

वे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव जिन वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले पुद्गलस्कन्धों को ग्रहण करते हैं वे आत्मप्रदेशों के साथ **स्पृष्ट** (छुए हुए) होते हैं। **अस्पृष्ट** पुद्गलस्कंधों का ग्रहण नहीं होता।

जो पुद्गलस्कन्ध आत्मप्रदेशों में **अवगाढ** होते हैं, उन्हें ही वे ग्रहण करते हैं, **अनवगाढ** को नहीं।

स्पर्श अवगाहक्षेत्र के बाहर भी हो सकता है जबकि अवगाहन उसी क्षेत्र में होता है। अतः अलग-अलग प्रश्न और उत्तर किये गये हैं।

अवगाढ पुद्गलस्कन्ध दो प्रकार के हैं—अनन्तरावगाढ और परम्परावगाढ। जिन आत्मप्रदेशों में जो व्यवधानरहित होकर रहे हुए हैं वे **अनन्तरावगाढ** हैं और जो एक-दो-तीन आदि प्रदेशों के व्यवधान से रहे हुए हैं वे **परम्परावगाढ** हैं। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव **अनन्तरावगाढ** पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, **परंपरावगाढ** को नहीं।

ये अनन्तरावगाढ पुद्गल **अणुरूप** (थोड़े प्रदेश वाले) भी होते हैं और **बादर** (**विपुल प्रदेश वाले**) रूप भी होते हैं। ये सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव दोनों प्रकार के पुद्गलों को ग्रहण करते हैं।

वह पृथ्वीकायिक जीव जितने क्षेत्र में अवगाढ है उस क्षेत्र में ही वह ऊर्ध्व या तिर्यक् स्थित प्रदेशों को ग्रहण करता है। जिस अन्तर्मूहूर्त प्रमाणकाल में वह जीव उपभोगयोग्य द्रव्यों को ग्रहण करता है वह उस अन्तर्मुहूर्त काल के आदि में, मध्य में और अन्त में भी ग्रहण करता है।

ये सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव अपने लिए उचित आहारयोग्य पुद्गलस्कंधों को ग्रहण करते हैं, अपने लिए अनुचित का ग्रहण नहीं करते।

ये सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव स्वविषय पुद्गलों को भी आनुपूर्वी से ग्रहण करते हैं, अनानुपूर्वी से नहीं। अर्थात् ये यथासामीप्य वाले पुद्गलों को ग्रहण करते हैं—दूरस्थ को नहीं।

ये सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव जिन यथा-आसन्न पुद्गलों को ग्रहण करते हैं उन्हें व्याघात न होने पर छहों दिशाओं से ग्रहण करते हैं। व्याघात होने पर कभी तीन दिशाओं, कभी चार दिशाओं, कभी पांच दिशाओं के पुद्गलों को ग्रहण करते हैं। व्याघात का अर्थ है—अलोकाकाश से प्रतिस्खलन (रुकावट)। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जब कोई सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव लोकनिष्कुट में (आखरी किनारे पर) नीचे के प्रतर के आग्नेयकोण में रहा हुआ हो तो उसके नीचे अलोक होने से अधोदिशा में पुद्गलों का अभाव होता है, आग्नेयकोण में स्थित होने से पूर्वदिशा के पुद्गलों का और दक्षिणदिशा के पुद्गलों का अभाव होता है। इस तरह अधोदिक् पूर्वदिक् और दक्षिणदिक्—ये तीन दिशाएँ अलोक से व्याप्त होने से इनमें पुद्गलों का अभाव है, अतः शेष तीन दिशाओं के पुद्गलों का ही ग्रहण संभव है। इसलिए कहा गया है कि वे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव व्याघात को लेकर कभी तीन दिशाओं के पुद्गलों का आहार करते हैं।

जब वही जीव पश्चिमदिशा में वर्तमान होता है तब उसके पूर्वदिशा अधिक हो जाती है। दक्षिणदिशा और अधोदिशा—ये दो दिशाएँ ही अलोक से व्याप्त होती हैं इसलिए वह जीव चार दिशाओं से—ऊर्ध्व, पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा से पुद्गलों को ग्रहण करता है।

जब वह जीव ऊपर के द्वितीयादि प्रतरगत पश्चिमदिशा में होता है तब उसके अधोदिशा भी अधिक हो जाती है। केवल एकपर्यन्तवर्तिनी दक्षिण दिशा ही अलोक से व्याहत रहती है। ऐसी स्थिति में वह जीव पूर्वोक्त चार और अधोदिशा मिलाकर पांच दिशाओं में स्थित पुद्गलों को ग्रहण करता है।

आहारद्वार का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि—वे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव प्रायः-बहुलता से पांचों वर्णों के, दोनों गंधवाले, पांचों रसवाले और आठों स्पर्शवाले पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और उनके पूर्ववर्ती वर्ण, रस, गंध और स्पर्श गुणों को परिवर्तित कर अपूर्व वर्ण, गंध, रस और स्पर्श गुणों को पैदा कर अपने शरीरक्षेत्र में अवगाढ पुद्गलों को आत्मप्रदेशों से आहार के रूप में ग्रहण करते हैं।

१९. **उपपातद्वार**—जहां से आकर उत्पत्ति होती है वह उपपात है। ये सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव नरक से आकर उत्पन्न नहीं होते, देवों से आकर भी उत्पन्न नहीं होते। ऐसा ही भवस्वभाव है कि देव और नारक सूक्ष्म पृथ्वीकाय के रूप में उत्पन्न नहीं होते। ये जीव असंख्यात वर्षों की आयुवाले तिर्यंचों को छोड़कर शेष पर्याप्त-अपर्याप्त तिर्यंचों से आकर उत्पन्न होते हैं। असंख्यात वर्षायु तिर्यंच इनमें उत्पन्न नहीं होते। अकर्मभूमि के, अन्तरद्वीपों के और असंख्यात वर्ष की आयुवाले कर्मभूमि में उत्पन्न मनुष्यों को छोड़कर शेष पर्याप्त-अपर्याप्त मनुष्यों से आकर उत्पन्न हो सकते हैं।

२०. **स्थितिद्वार**—स्थिति से मतलब उसी जन्म की आयु से है। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव की स्थिति जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त है और अधिक से अधिक भी अन्तर्मुहूर्त ही है। लेकिन जघन्य अन्तर्मुहूर्त से उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त अधिक समझना चाहिए।

२१. **समवहत-असमवहत द्वार**—मारणान्तिकसमुद्घात करके जो मरण होता है, वह समवहत है और मारणान्तिकसमुद्घात किये बिना जो मरण होता है, वह असमवहत है। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों में दोनों प्रकार का मरण है।

२२. **च्यवनद्वार**—वर्तमान भव पूरा होने पर उस भव का अन्त होना च्यवन है। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव मर कर न तो नारकों में उत्पन्न होते हैं और न देवों में उत्पन्न होते हैं। वे तिर्यंचों और मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं तो असंख्यात वर्षों की आयु वाले भोगभूमि के तिर्यंचों को छोड़ कर शेष एकेन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त सब तिर्यंचों में उत्पन्न हो सकते हैं। यदि वे मनुष्यों में उत्पन्न हों तो अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज और असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों को छोड़ कर शेष पर्याप्त या अपर्याप्त मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं।

इस कथन द्वारा यह भी सिद्ध किया गया है कि आत्मा सर्वव्यापक नहीं है और वह भवान्तर में जाकर उत्पन्न होती है।

२३. **गति-आगति द्वार**—जीव मर कर जहां जाते हैं वह उनकी गति है और जीव जहां से आकर उत्पन्न होते हैं वह उनकी आगति है। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव दो गति वाले और दो आगति वाले हैं। ये सूक्ष्म पृथ्वीकायिक मर कर तिर्यंच और मनुष्य गति में उत्पन्न होते हैं, नारकों और देवों में नहीं। अतः तिर्यंचगति और मनुष्यगति ही इनकी दो गतियां हैं।

ये सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव देवों और नारकों से आकर उत्पन्न नहीं होते। केवल तिर्यंचों और मनुष्यों से ही आकर उत्पन्न होते हैं, अतः ये जीव दो आगति वाले हैं।

परीत—ये सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव प्रत्येकशरीरी हैं, असंख्येय लोकाकाश प्रमाण हैं। इस प्रकार सब तीर्थंकरों ने प्रतिपादित किया है।

समणाउसो—हे श्रमण! हे आयुष्मान्! इस प्रकार सम्बोधन कर जिज्ञासुओं के समक्ष प्रभु महावीर ने सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के स्वरूप का प्रतिपादन किया।

बादर पृथ्वीकाय का वर्णन

१४. से किं तं बायरपुढविकाइया ?

बायरपुढविकाइया दुविहा पण्णत्ता—

तं जहा—सण्ह बायरपुढविकाइयाय खर बायरपुढविकाइया य।

[१४] बादर पृथ्वीकायिक क्या हैं ?

बादर पृथ्वीकायिक दो प्रकार के हैं—

यथा—श्लक्ष्ण (मृदु) बादर पृथ्वीकाय और खर बादर पृथ्वीकाय।

१५. से किं तं सण्ह बायरपुढवीकाइया ?

सण्ह बायरपुढवीकाइया सत्तविहा पण्णत्ता—

तं जहा—कण्हमत्तिया, भेदो जहा पण्णवणाए जाव ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य।

तेसि णं भंते! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?

गोयमा! तओ सरीरगा, पण्णत्ता, तं जहा—ओरालिए, तेयए, कम्मए। तं चेव सव्वं नवरं चत्तारि लेसाओ अवसेसं जहा सुहुमपुढविक्काइयाणं आहारो जाव णियमा छद्दिसिं।

उववाओ तिरिक्खजोणिय मणुस्स देवेहिंतो, देवेहिं जाव सोहम्मेसाणेहिंतो।

ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण बावीसं वाससहस्साइं।

ते णं भंते! जीवा मारणंतियसमुग्घाएणं किं समोहया मरंति असमोहया मरंति ?

गोयमा! समोहया वि मरंति असमोहया वि मरंति।

ते णं भंते! जीवा अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति, कहिं उववज्जंति ? किं नेरइएसु उववज्जंति ? पुच्छा।

नो नेरइएसु उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, मणुस्सेसु उववज्जंति, नो देवेसु उववज्जंति, तं चेव जाव असंखेज्जवासा उवज्जेहिं।

ते णं भंते! जीवा कतिगतिया कतिआगतिया पण्णत्ता ?

गोयमा! दुगतिया, तिआगतिया परित्ता असंखेज्जा य समणाउसो! से तं बायरपुढविक्काइया। से तं पुढविक्काइया।

[१५] श्लक्ष्ण (मृदु) बादर पृथ्वीकाय क्या हैं ?

श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय सात प्रकार के कहे गये हैं—काली मिट्टी आदि भेद प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार जानने चाहिए यावत् वे संक्षेप से दो प्रकार के कहे गये हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

हे भगवन् ! उन जीवों के कितने शरीर कहे गये हैं ?

गौतम ! तीन शरीर कहे गये हैं—जैसे कि, औदारिक, तैजस और कार्मण। इस प्रकार सब कथन पूर्ववत् जानना चाहिए। विशेषता यह है कि इनके चार लेश्याएँ होती हैं। शेष वक्तव्यता सूक्ष्म पृथ्वीकायिकों की तरह जानना चाहिए यावत् नियम से छहों दिशा का आहार ग्रहण करते हैं। ये बादर पृथ्वीकायिक जीव तिर्यंच, मनुष्य और देवों से आकर उत्पन्न होते हैं। देवों से आते हैं तो सौधर्म और ईशान (पहले दूसरे) देवलोक से आते हैं। इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बावीस हजार वर्ष की है।

हे भगवन् ! ये जीव मारणांतिकसमुद्घात से समवहत होकर मरते हैं या असमवहत होकर मरते हैं ?

गौतम ! समवहत होकर भी मरते हैं और असमवहत होकर भी मरते हैं।

भगवन् ! ये जीव वहाँ से मर कर कहाँ जाते हैं ? कहाँ उत्पन्न होते हैं ? क्या नारकों में उत्पन्न होते हैं आदि प्रश्न करने चाहिए ?

गौतम ! ये नारकों में उत्पन्न नहीं होते हैं, तिर्यञ्चों में उत्पन्न होते हैं, मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, देवों में उत्पन्न नहीं होते। तिर्यंचों और मनुष्यों में भी असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंचों और मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होते, इत्यादि।

भगवन् ! वे जीव कितनी गति वाले और कितनी आगति वाले कहे गये हैं ?

गौतम ! दो गति वाले और तीन आगति वाले कहे गये हैं।

हे आयुष्मन् श्रमण ! वे बादर पृथ्वीकाय के जीव प्रत्येकशरीरी हैं और असंख्यात लोकाकाश प्रमाण हैं।

इस प्रकार बादर पृथ्वीकाय का वर्णन हुआ।

इसके साथ ही पृथ्वीकाय का वर्णन पूरा हुआ।

विवेचन—बादर नामकर्म के उदय से जिन पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर बादर हो—समूहरूप में चर्मचक्षुओं से ग्राह्य हों वे बादर पृथ्वीकायिक जीव हैं। बादर पृथ्वीकायिक जीवों के दो भेद हैं—श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकायिक और खर बादर पृथ्वीकायिक। पीसे हुए आटे के समान जो मिट्टी मृदु हो वह श्लक्ष्ण पृथ्वी है और तदात्मक जो जीव हैं वे भी उपचार से श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकायिक कहलाते हैं। कर्कशता वाली पृथ्वी खर बादर पृथ्वी है। तदात्मक जीव उपचार से खर बादर पृथ्वीकायिक कहलाते हैं।

श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय—श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय के सात प्रकार हैं—काली मिट्टी आदि भेद प्रज्ञापना के अनुसार जानने की सूचना सूत्रकार ने दी है। प्रज्ञापना के उस पाठ का अर्थ इस प्रकार है—

१ काली मिट्टी, २ नीली मिट्टी, ३ लाल मिट्टी, ४ पीली मिट्टी ५ सफेद मिट्टी ६ पांडु मिट्टी और ७ पणग मिट्टी—ये सात प्रकार की मिट्टियां श्लक्ष्ण बादर पृथ्वी हैं। इनमें रहे हुए जीव श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकायिक जीव हैं। वर्ण के भेद से पूर्व के ५ भेद स्पष्ट ही हैं। पांडु मिट्टी वह है जो देशविशेष में मिट्टीरूप होकर पांडु नाम से प्रसिद्ध है। पनकमृत्तिका का अर्थ टीकाकार ने इस प्रकार किया है—नदी आदि में पूर आने और उसके उतरने के बाद भूमि में जो मृदु पंक शेष रह जाता है, जिसे 'जलमल' भी कहते हैं वह पनकमृत्तिका है। उसमें रहे हुए जीव भी उपचार से पनकमृत्तिका श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकायिक कहलाते हैं।

खरबादर पृथ्वीकायिक:—खर बादर पृथ्वीकायिक अनेक प्रकार के कहे गये हैं। मुख्यतया चार गाथाओं में चालीस प्रकार बताये गये हैं।[1] वे इस प्रकार—१ शुद्धपृथ्वी—नदीतट भित्ति २ शर्करा—छोटे कंकर आदि ३ बालुका—रेत ४ उपल—टांकी आदि उपकरण तेज करने का (सान बढ़ाने का) पाषाण ५ शिला—घड़ने योग्य बड़ा पाषाण ६ लवण—नमक आदि ७ ऊस—खारवाली मिट्टी जिससे जमीन ऊसर हो जाती है ८ लोहा ९ तांबा १० रांगा ११ सीसा १२ चाँदी १३ सोना १४ वज्र—हीरा १५ हरताल १६ हिंगलु १७ मनःशिला १८ सासग-पारा १९ अंजन २० प्रवाल—विद्रुम २१ अभ्रपटल—अभ्रक-भोडल २२ अभ्रबालुका—अभ्रक मिली हुई रेत और (नाना प्रकार की मणियों के १८ प्रकार जैसे कि) २३ गोमेज्जक २४ रुचक २५ अंक २६ स्फटिक २७ लोहिताक्ष २८ मरकत २९ भुजमोचक ३० मसारगल ३१ इन्द्रनील ३२ चन्दन ३३ गैरिक ३४ हंसगर्भ ३५ पुलक ३६ सौगंधिक ३७ चन्द्रप्रभ ३८ वैडूर्य ३९ जलकान्त और ४० सूर्यकान्त।

उक्त रीति से मुख्यतया खर बादर पृथ्वीकाय के ४० भेद बताने के पश्चात् 'जे यावण्णे तहप्पगारा' कहकर अन्य भी पद्मराग आदि का सूचन कर दिया गया है।

ये बादर पृथ्वीकायिक संक्षेप से दो प्रकार के कहे गये हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। जिन जीवों ने स्वयोग्य पर्याप्तियां पूरी नहीं की हैं उनके वर्णादि विशेष स्पष्ट नहीं होते हैं अतएव उनका काले आदि विशेष वर्णों से कथन नहीं हो सकता। शरीर आदि पर्याप्तियां पूर्ण होने पर ही बादर जीवों में वर्णादि प्रकट होते हैं। ये अपर्याप्त जीवन उच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण करने के पूर्व ही मर जाते हैं अतः इन अपर्याप्तों के विशेष वर्णादि का कथन नहीं किया जा सकता। सामान्य विवक्षा में तो शरीरपर्याप्ति पूर्ण होते ही वर्णादि होते ही हैं। अतएव अपर्याप्तों में विशेष वर्णादि न होने का कथन किया गया है। सामान्य वर्णादि तो होते ही हैं।

---

१. पुढवी य सक्करा बालुया य उवले सिला य लोणूसे।
तंबा य तउय सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥१॥
हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजणपवाले।
अब्भ पडलब्भवालुय बायरकाये मणिविहाणा ॥२॥
गोमेज्जए य रुयए अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगय मसारगल्ले भुयमोयग इंदनीले य ॥३॥
चंदण गेरुय हंसे पुलए सोगंधिए य बोद्धव्वे।
चंदप्पभ वेरुलिए जलकंते सूरकंते य ॥४॥
—प्रज्ञापना, सूत्र-१५

इन बादर पृथ्वीकायिकों में जो पर्याप्त जीव हैं, उनमें वर्णभेद से, गंधभेद से, रसभेद से और स्पर्शभेद से हजारों प्रकार हो जाते हैं। जैसे कि— वर्ण के ५, गंध के २, रस के ५ और स्पर्श के ८। एक-एक काले आदि वर्ण के तारतम्य से अनेक अवान्तर भेद भी हो जाते हैं। जैसे भंवरा, कोयला, कज्जल आदि काले हैं किन्तु इन सबकी कालिमा में न्यूनाधिकता है, इसी तरह नील आदि वर्णों में भी समझना चाहिए। इसी तरह गन्ध, रस और स्पर्श को लेकर भी भेद समझ लेने चाहिए। इसी तरह वर्णों के परस्पर संयोग से भी धूसर, कर्बुर आदि अनेक भेद हो जाते हैं। इसी तरह गन्धादि के संयोग से भी कई भेद हो जाते हैं। इसलिए कहा गया है कि वर्णादि की अपेक्षा हजारों भेद हो जाते हैं।

इन बादर पृथ्वीकायिकों की संख्यात लाख योनियां हैं। एक-एक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में पृथ्वीकायिकों की संवृतयोनि तीन प्रकार की हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। इनमें से प्रत्येक के शीत, उष्ण, शीतोष्ण के भेद से तीन-तीन प्रकार हैं। शीतादि के भी तारतम्य से अनेक भेद हैं। केवल एक विशिष्ट वर्ण वाले संख्यात होते हुए भी स्वस्थान में व्यक्तिभेद होते हुए भी योनि-जाति को लेकर एक ही योनि गिनी जाती है। ऐसी संख्यात लाख योनियां पृथ्वीकाय में हैं। सूक्ष्म और बादर सब पृथ्वीकायों की सात लाख योनियां कही गई हैं।

ये बादर पृथ्वीकायिक जीव एक पर्याप्तक की निश्रा में असंख्यात अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं। जहाँ एक पर्याप्त है वहाँ उसकी निश्रा में नियम से असंख्येय अपर्याप्त होते हैं।

इन बादर पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर, अवगाहना आदि द्वारों का विचार पूर्ववर्णित सूक्ष्म पृथ्वीकायिकों के समान कहना चाहिए। जो विशेषता और अन्तर है उसी का उल्लेख यहाँ किया गया है। निम्न द्वारों में विशेषता जाननी चाहिए—

लेश्याद्वार—सूक्ष्म पृथ्वीकायिकों में तीन लेश्याएँ कही गई थीं। बादर पृथ्वीकायिकों में चार लेश्याएँ जाननी चाहिए। उनमें तेजोलेश्या भी होती है। व्यन्तरदेवों से लेकर ईशान देवलोक तक के देव अपने भवन और विमानों में अति मूर्छा होने के कारण अपने रत्न कुण्डलादि में उत्पन्न होते हैं, वे तेजोलेश्या वाले भी होते हैं। आगम का वाक्य है कि 'जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ' जिस लेश्या में मरण होता है, उसी लेश्या में जन्म होता है। इसलिए थोड़े समय के लिए अपर्याप्त अवस्था में तेजोलेश्या भी उनमें पाई जाती है।

आहारद्वार—बादर पृथ्वीकायिक जीव नियम से छहों दिशाओं से आहार ग्रहण करते हैं। क्योंकि बादर जीव नियम से लोकमध्य में ही उत्पन्न होते हैं, किनारे नहीं। इसलिए व्याघात का प्रश्न ही नहीं रहता।

उपपातद्वार—देवों से आकर भी बादर पृथ्वीकायिक में जन्म होता है। इसलिए तिर्यंच, मनुष्य और देवों से आकर बादर पृथ्वीकाय में जन्म हो सकता है।

स्थिति—इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बावीस हजार वर्ष की है।

गति-आगतिद्वार—देवों से भी इनमें आना होता है इसलिए इनकी तीन गतियों से आगति है और दो गतियों में गति है।

इस प्रकार हे आयुष्मन् ! हे श्रमणो ! ये बादर पृथ्वीकायिक जीव प्रत्येकशरीरी हैं और असंख्येय लोकाकाशप्रमाण कहे गये हैं। यह बादर पृथ्वीकाय का वर्णन हुआ और इसके साथ ही पृथ्वीकाय का अधिकार पूर्ण हुआ।

अप्काय का अधिकार

१६. से किं तं आउक्काइया ?
आउक्काइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—
सुहुमआउक्काइया य बायरआउक्काइया य।
सुहुमआउक्काइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—
पज्जत्ता य अपज्जत्ता य।
तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीरया पण्णत्ता ?
गोयमा ! तओ सरीरया पण्णत्ता, तंजहा—
ओरालिए, तेयए, कम्मए, जहेव सुहुम पुढविक्काइयाणं, णवरं थिबुगसंठिता पण्णत्ता,
सेसं तं चेव जाव दुगतिया दुआगतिया
परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता।
से तं सुहुमआउक्काइया।

[१६] अप्कायिक क्या हैं ?
अप्कायिक जीव दो प्रकार के कहे गये हैं, जैसे कि सूक्ष्म अप्कायिक और बादर अप्कायिक।
सूक्ष्म अप्कायिक जीव दो प्रकार के हैं, जैसे कि पर्याप्त और अपर्याप्त।
भगवन् ! उन जीवों के कितने शरीर कहे गये हैं ?
गौतम ! उनके तीन शरीर कहे गये हैं, जैसे कि

औदारिक, तैजस और कार्मण। इस प्रकार सब द्वारों की वक्तव्यता सूक्ष्म पृथ्वीकायिकों की तरह कहना चाहिए। विशेषता यह है कि संस्थान द्वार में उनका स्तिबुक (बुद्‌बुद रूप) संस्थान कहा गया है। शेष सब उसी तरह कहना यावत् वे दो गति वाले, दो आगति वाले हैं, प्रत्येकशरीरी हैं और असंख्यात कहे गये हैं। यह सूक्ष्म अप्काय का अधिकार हुआ।

बादर अप्कायिक

१७. से किं तं बायरआउक्काइया ?

बायरआउक्काइया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा—ओसा, हिमे, जाव जे यावन्ने तहप्पगारा, ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य।

तं चेव सव्वं णवरं थिबुगसंठिता, चत्तारि लेसाओ, आहारो नियमा छद्दिसिं, उववाओ तिरिक्ख जोणिय मणुस्स देवेहिं, ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसं सत्तवाससहस्साइं;

सेसं तं चेव जहा बायरपुढविकाइया जाव
दुगतिया तिआगतिया परित्ता असंखेज्जा पन्नत्ता समणाउसो !
से तं बायरआउक्काइया, से तं आउक्काइया ।

[१७] बादर अप्कायिक का स्वरूप क्या है ?

बादर अप्कायिक अनेक प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—ओस, हिम यावत् अन्य भी इसी प्रकार के जल रूप ।

वे संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त । इस प्रकार पूर्ववत् कहना चाहिए । विशेषता यह है कि उनका संस्थान स्तिबुक (बुद्बुद) है । उनमें लेश्याएँ चार पाई जाती हैं, आहार नियम से छहों दिशाओं का, तिर्यंचयोनिक, मनुष्य और देवों से उपपात, स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष जानना चाहिए । शेष बादर पृथ्वीकाय की तरह जानना चाहिए यावत् वे दो गति वाले, तीन आगति वाले हैं, प्रत्येकशरीरी हैं और असंख्यात कहे गये हैं । हे आयुष्मन् ! हे श्रमण ! यह बादर अप्कायिकों का कथन हुआ । इसके साथ ही अप्कायिकों का अधिकार पूरा हुआ ।

विवेचन—पृथ्वीकायिक जीवों के वर्णन के पश्चात् इन दो सूत्रों में अप्कायिक जीवों के संबंध में जानकारी दी गई है । अप्कायिक जीव दो प्रकार के कहे गये हैं—सूक्ष्म अप्कायिक और बादर अप्कायिक । सूक्ष्म अप्कायिक जीव सारे लोक में व्याप्त हैं और बादर अप्कायिक जीव घनोदधि आदि स्थानों में हैं ।

सूक्ष्म अप्कायिक जीवों के सम्बन्ध में पूर्वोक्त २३ द्वार सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के समान ही समझना चाहिए । केवल संस्थानद्वार में अन्तर है । सूक्ष्म पृथ्वीकायिकों का संस्थान मसूर की चक्राकार दाल के समान बताया गया है जबकि सूक्ष्म अप्कायिक जीवों का संस्थान बुद्बुद के समान है ।

बादर अप्कायिक जीव—बादर अप्कायिक जीव अनेक प्रकार के कहे गये हैं, जैसे कि ओस, बर्फ आदि । इनका विशेष वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के अनुसार जानना चाहिए । वह अधिकार इस प्रकार है—

'बादर अप्कायिक जीव अनेक प्रकार के कहे गये हैं,[1] जैसे कि ओस, हिम (जमा हुआ पानी—बर्फ) महिका (गर्भमास में सूक्ष्म वर्षा—धूंअर) करक (ओला) हरतनु (भूमि को फोड़कर अंकुरित होने वाला तृणादि पर रहा हुआ जलबिन्दु), शुद्धोदक (आकाश से गिरा हुआ या नदी आदि का पानी) शीतोदक (ठंडा कुए आदि का पानी) उष्णोदक (गरम सोता का पानी) क्षारोदक (खारा पानी) खट्टोदक (कुछ खट्टा पानी) आम्लोदक (अधिक कांजी-सा खट्टा पानी) लवणोदक (लवणसमुद्र का पानी) वारुणोदक (वरुणसमुद्र का मदिरा जैसे स्वाद वाला पानी) क्षीरोदक (क्षीरसमुद्र का पानी) घृतोदक (घृतवरसमुद्र का पानी) क्षोदोदक (इक्षुरससमुद्र का पानी) और रसोदक (पुष्करवरसमुद्र का पानी) इत्यादि, और भी इसी प्रकार के पानी हैं । वे सब बादर अप्कायिक समझने चाहिए । वे बादर अप्कायिक दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त । इनमें

---

१. आचारांगनिर्युक्ति तथा उत्तराध्ययन अ. ३६ गाथा २६ में बादर अप्काय के पांच भेद ही बताये हैं—
१. शुद्धोदक, २. ओस, ३. हिम, ४. महिका और ५. हरतनु ।

जो अपर्याप्त जीव हैं, उनके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि अप्रकट होने से काले आदि विशेष वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाले नहीं कहे जाते हैं किन्तु सामान्यतया शरीर होने से वर्णादि अप्रकट रूप से होते ही हैं। जो जीव पर्याप्त हैं उनमें वर्ण से, गंध से, रस से और स्पर्श से नाना प्रकार हैं। वर्णादि के भेद से और तरतमता से उनके हजारों प्रकार हो जाते हैं। उनकी सब मिलाकर सात लाख योनियाँ हैं। एक पर्याप्त जीव की निश्रा में असंख्यात अपर्याप्त जीव उत्पन्न होते हैं। जहाँ एक पर्याप्त है वहाँ नियम से असंख्यात अपर्याप्त जीव हैं।

बादर अप्कायिक जीवों के सम्बन्ध में २३ द्वारों को लेकर विचारणा बादर पृथ्वीकायिकों के समान जानना चाहिए। जो अन्तर है वह इस प्रकार है—

संस्थानद्वार में अप्कायिक जीवों का संस्थान बुद्‌बुद के आकार का जानना चाहिए।

स्थितिद्वार में जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट सात हजार वर्ष जानना चाहिए।

शेष सब वक्तव्यता बादर पृथ्वीकायिकों की तरह ही समझना चाहिए यावत् हे आयुष्मन् श्रमण! वे अप्कायिक जीव प्रत्येकशरीरी और असंख्यात लोकाकाश प्रमाण कहे गये हैं। यह अप्कायिकों का अधिकार हुआ।

वनस्पतिकायिक जीवों का अधिकार

१८. से किं तं वणस्सइकाइया?

वणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा सुहुमवणस्सइकाइया य बायरवणस्सइकाइया य।

[१८] वनस्पतिकायिक जीवों का क्या स्वरूप है?

वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—सूक्ष्म वनस्पतिकायिक और बादर वनस्पतिकायिक।

१९. से किं तं सुहुमवणस्सइकाइया?

सुहुमवणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य। तहेव णवरं अणित्थंत्थसंठाणसंठिया, दुगतिया दुआगतिया अपरित्ता अणंता अवसेसं जहा पुढविकाइयाणं, से तं सुहुमवणस्सइकाइया।

[१९] सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव क्या हैं—कैसे हैं?

सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त, इत्यादि वर्णन सूक्ष्म पृथ्वीकायियों के समान जानना चाहिए। विशेषता यह है कि सूक्ष्म वनस्पतिकायिकों का संस्थान अनियत है। वे जीव दो गति में जाने वाले और दो गतियों से आने वाले हैं। वे अप्रत्येकशरीरी (अनन्तकायिक) हैं और अनन्त है। हे आयुष्मन्! हे श्रमण! यह सूक्ष्म वनस्पतिकाय का वर्णन हुआ।

बादर वनस्पतिकायिक

१९. से किं तं बायरवणस्सइकाइया?

बायरवणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पत्तेयसरीरबायरवणस्सइकाइया य साधारण-सरीर बायरवणस्सइकाइया य।

[१९] बादर वनस्पतिकायिक क्या हैं—कैसे हैं ?

बादर वनस्पतिकायिक दो प्रकार के कहे गये हैं—

जैसे—प्रत्येकशरीर बादर वनस्पतिकायिक और साधारणशरीर बादर वनस्पतिकायिक।

२०. से किं तं पत्तेयसरीर बायरवणस्सइकाइया ?

पत्तेयसरीर बायरवणस्सइकाइया दुवालसविहा पण्णत्ता, तंजहा—

रुक्खा गुच्छा गुम्मा लता य वल्ली य पव्वगा चेव।

तण-वलय-हरिल-ओसहि-जलरुह-कुहणा य बोद्धव्वा ॥१॥

से किं तं रुक्खा ?

रुक्खा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—एगट्ठिया य बहुबीया य।

से किं तं एगट्ठिया ?

एगट्ठिया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा—

निबंब जंबू जाव पुण्णागणागरुक्खे सीवण्णो तहा असोगे य।

जे यावण्णे तहप्पगारा। एतेसिं णं मूला वि असंखेज्जजीविया एवं कंदा, खंधा, तया, साला, पवाला, पत्ता पत्तेयजीवा, पुप्फाइं अणेगजीवाइं फला एगट्ठिया, से तं एगट्ठिया।

से किं तं बहुबीया ?

बहुबीया अणेगविधा पण्णत्ता, तं जहा—

अत्थिय-तेंदुय-उंबर-कविट्ठे-आमलक-फणस-दाडिम णग्गोध-काउंबरी य तिलय-लउय-लोद्धे धवे, जे यावण्णे तहप्पगारा, एतेसिं णं मूला वि असंखेज्जजीविया जाव फला बहुबीयगा, से तं बहुबीयगा। से तं रुक्खा।

एवं जहा पण्णवणाए तहा भाणियव्वं, जाव जे यावन्ने तहप्पगारा, से तं कुहणा।

नाणाविधसंठाणा रुक्खाणं एगजीविया पत्ता।

खंधो वि एगजीवो ताल-सरल-नालिएरीणं ॥१॥

'जह सगलसरिसवाणं पत्तेयसरीराणं' गाहा ॥२॥

'जह वा तिलसक्कुलिया' गाहा ॥३॥

से तं पत्तेयसरीरबायरवणस्सइकाइया।

[२०] प्रत्येकशरीर बादर वनस्पतिकायिक जीवों का स्वरूप क्या है ?

प्रत्येकशरीर बादर वनस्पतिकायिक बारह प्रकार के हैं—

जैसे—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पर्वग, तृण, वलय, हरित, औषधि, जलरुह और कुहण।

वृक्ष किसे कहते हैं ?

वृक्ष दो प्रकार के हैं—एक बीज वाले और बहुत बीज वाले।

एक बीज वाले कौन हैं ?

एक बीज वाले अनेक प्रकार के हैं, जैसे कि—नीम, आम, जामुन यावत् पुन्नाग नागवृक्ष, श्रीपर्णी तथा अशोक तथा और भी इसी प्रकार के अन्य वृक्ष। इनके मूल असंख्यात जीव वाले हैं,

कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्ते ये प्रत्येक—एक-एक जीव वाले हैं, इनके फूल अनेक जीव वाले हैं, फल एक बीज वाले हैं। यह एक बीज वाले वृक्षों का वर्णन हुआ।

बहुबीज वृक्ष कौन से हैं ?

बहुबीज वृक्ष अनेक प्रकार के हैं, जैसे—अस्तिक, तेंदुक, अम्बर, कबीठ, आंवला, पनस, दाडिम, न्यग्रोध, कादुम्बर, तिलक, लकुच (लवक), लोध्र, धव और अन्य भी इस प्रकार के वृक्ष। इनके मूल असंख्यात जीव वाले यावत् फल बहुबीज वाले हैं। यह बहुबीजक का वर्णन हुआ। इसके साथ ही वृक्ष का वर्णन हुआ। इस प्रकार जैसा प्रज्ञापना में कहा वैसा यहाँ कहना चाहिए, यावत्—'इस प्रकार के अन्य भी' से लेकर 'कुहण' तक।

गाथार्थ—वृक्षों के संस्थान नाना प्रकार के हैं। ताल, सरल और नारीकेल वृक्षों के पत्ते और स्कंध एक-एक जीव वाले होते हैं।

जैसे श्लेष (चिकने) द्रव्य से मिश्रित किये हुए अखण्ड सरसों की बनाई हुई बट्टी एकरूप होती है किन्तु उसमें वे दाने अलग-अलग होते हैं। इसी तरह प्रत्येकशरीरियों के शरीरसंघात होते हैं।

जैसे तिलपपड़ी में बहुत सारे अलग-अलग तिल मिले हुए होते हैं उसी तरह प्रत्येकशरीरियों के शरीरसंघात अलग-अलग होते हुए भी समुदाय रूप होते हैं। यह प्रत्येकशरीर बादरवनस्पतिकायिकों का वर्णन हुआ।

विवेचन—बादर नामकर्म का उदय जिनके है वे वनस्पतिकायिक जीव बादर वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। इनके दो भेद हैं—प्रत्येकशरीरी और साधारणशरीरी। जिन जीवों का अलग-अलग शरीर है वे प्रत्येकशरीरी हैं और जिन जीवों का सम्मिलित रूप से शरीर है, वे साधारणशरीरी हैं। इन दो सूत्रों में बादर वनस्पतिकायिक जीवों का वर्णन किया गया है।

बादर प्रत्येकशरीरी वनस्पतिकायिक के १२ प्रकार कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) वृक्ष—नीम, आम आदि
(२) गुच्छ—पौधे रूप बेंगन आदि
(३) गुल्म—पुष्पजाति के पौधे नवमालिका आदि
(४) लता—वृक्षादि पर चढ़ने वाली लता, चम्पकलता आदि
(५) वल्ली—जमीन पर फैलने वाली वेलें, कूष्माण्डी, त्रपुषी आदि
(६) पर्वग—पोर-गांठ वाली वनस्पति, इक्षु आदि
(७) तृण—दूब, कास, कुश आदि हरी घास
(८) वलय—जिनकी छाल गोल होती है, केतकी, कदली आदि
(९) हरित—बथुआ आदि हरी भाजी
(१०) औषधि—गेहूं आदि धान्य जो पकने पर सूख जाते हैं
(११) जलरुह—जल में उगने वाली वनस्पति, कमल, सिंघाड़ा आदि
(१२) कुहण—भूमि को फोड़कर उगने वाली वनस्पति, जैसे कुकुरमुत्ता (छत्राक)

वृक्ष दो प्रकार के हैं—एक बीज वाले और बहुत बीज वाले। जिसके प्रत्येक फल में एक गुठली या बीज हो वह एकास्थिक है और जिनके फल में बहुत बीज हों वे बहुबीजक हैं।

एकास्थिक वृक्षों में से नीम, ग्राम आदि कुछ वृक्षों के नाम सूत्र में गिनाए हैं और शेष प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार जानने की सूचना दी गई है। प्रज्ञापनासूत्र में एकास्थिक वृक्षों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं—[1] 'नीम, ग्राम, जामुन, कोशम्ब (जंगली ग्राम), शाल, अंकोल्ल, (अखरोट या पिश्ते का पेड़), पीलु, शेलु (लसोड़ा), सल्लकी (हाथ को प्रिय) मोनकी, मालुक, बकुल (मौलसरी), पलाश (ढाक), करंज (नकमाल);

पुत्रजीवक, अरिष्ट (अरीठा), विभीतक (बहेड़ा), हरड, भल्लातक (भिलावा), उम्बेभरिया, खिरनी, धातकी (धावडा) और प्रियाल;

पूतिक (निम्ब), करंज, श्लक्ष्ण, शिंशपा, अशन, पुन्नाग (नागकेसर) नागवृक्ष, श्रीपर्णी और अशोक, ये सब एकास्थिक वृक्ष हैं। इसी प्रकार के अन्य जितने भी वृक्ष हैं जो विभिन्न देशों में उत्पन्न होते हैं तथा जिनके फल में एक ही गुठली हो वे सब एकास्थिक वृक्ष समझने चाहिए।

इन एकास्थिक वृक्षों के मूल असंख्यात जीवों वाले होते हैं। इनके कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा और कोंपल भी असंख्यात जीवों वाले होते हैं। किन्तु इनके पत्ते प्रत्येकजीव (एक पत्ते में एक जीव) वाले होते हैं। इनके फूलों में अनेक जीव होते हैं, इनके फलों में एक गुठली होती है।

बहुबीजक वृक्षों के नाम पन्नवणासूत्र में इस प्रकार कहे गये हैं—

अस्थिक, तिंदुक, कबीठ, अम्बाडग, मातुलिंग (बिजौरा), बिल्व, आमलक (आंवला), पनस (अनन्नास), दाडिम, अश्वत्थ (पीपल), उदुम्बर, (गूलर), वट (बड), न्यग्रोध (बड़ा बड़);

नन्दिवृक्ष, पिप्पली, शतरी, प्लक्ष, कादुम्बरी, कस्तुम्भरी, देवदाली,

तिलक, लवक (लकुच—लीची), छत्रोपक, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण लोध्र, धव, चन्दन, अर्जुन, नीप, कुरज, (कुटक) और कदम्ब; इसी प्रकार के और भी जितने वृक्ष हैं जिनके फल में बहुत बीज हैं, वे सब बहुबीजक जानने चाहिए।

ऊपर जो वृक्षों के नाम गिनाये गये हैं उनमें कतिपय नाम ऐसे हैं जो प्रसिद्ध हैं और कतिपय नाम ऐसे हैं जो देशविशेष में ही होते हैं। कई नाम ऐसे हैं जो एक ही वृक्ष के सूचक हैं किन्तु उनमें प्रकार भेद समझना चाहिए। भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नाम से कहे जाने के कारण भी अलग से निर्देश समझना चाहिए।

बहुबीजकों में 'आमलक' (आंवला) नाम आया है। वह प्रसिद्ध आंवले का वाचक न होकर अन्य वृक्षविशेष का वाचक समझना चाहिए। क्योंकि बहु-प्रसिद्ध आंवला तो एक बीज वाला है, बहुबीजवाला नहीं।

इन बहुबीजक वृक्षों के मूल असंख्यात जीवों वाले होते हैं। इनके कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा और प्रवाल (कोंपल) असंख्य जीवात्मक होते हैं। इनके पत्ते प्रत्येकजीवात्मक होते हैं, अर्थात् प्रत्येक पत्ते में एक-एक जीव होता है। इनके पुष्प अनेक जीवोंवाले हैं और फल बहुत बीज वाले हैं।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, प्रथमपद, गाथा १३-१४-१५

वृक्षों की तरह ही गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पर्वग, तृण, वलय, हरित, ओषधि, जलरुह और कुहण के विभिन्न प्रकार प्रज्ञापनासूत्र में विस्तार से बताये गये हैं।

यहाँ यह शंका उठ सकती है कि यदि वृक्षों के मूल आदि अनेक प्रत्येकशरीरी जीवों से अधिष्ठित हैं तो वे एक शरीराकार में कैसे दिखाई देते हैं? इस शंका का समाधान सूत्रकार ने दो दृष्टान्तों द्वारा किया है—

सरसों की बट्टी का दृष्टान्त—जैसे सम्पूर्ण अखण्ड सरसों के दानों को किसी श्लेष द्रव्य के द्वारा मिश्रित कर देने पर एक बट्टी बन जाती है परन्तु उसमें वे सरसों के दाने अलग-अलग अपनी अवगाहना में रहते हैं। यद्यपि परस्पर चिपके होने के कारण बट्टी के रूप में वे एकाकार प्रतीत होते हैं फिर भी वे सरसों के दाने अलग-अलग होते हैं। इसी तरह प्रत्येकशरीरी जीवों के शरीरसंघात भी पृथक्-पृथक् अपनी अवगाहना में रहते हैं, परन्तु विशिष्ट कर्मरूपी श्लेष के द्वारा परस्पर मिश्रित होने से एक शरीराकार प्रतीत होते हैं।

तिलपपड़ी का दृष्टान्त—जिस प्रकार तिलपपड़ी में प्रत्येक तिल अपनी-अपनी अवगाहना में अलग-अलग होता है किन्तु तिलपपड़ी एक है। इसी तरह प्रत्येकशरीरी जीव अपनी-अपनी अवगाहना में स्थित होकर भी एक शरीराकार प्रतीत होते हैं।

यह प्रत्येकशरीरी बादर वनस्पति का वर्णन हुआ।

साधारण वनस्पति का स्वरूप

२१. से किं तं साहारणसरीरबायरवणस्सइकाइया?

साहारणसरीरबायरवणस्सइकाइया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा—आलुए, मूलए, सिंगबेरे, हिरिलि, सिरिलि, सिस्सिरिलि, किट्टिया, छिरिया, छिरियविरालिया, कण्हकंदे, वज्जकंदे, सूरणकंदे, खल्लूडे, किमिरासि, भद्दे, मोत्थापिंडे, हलिद्दा, लोहारी, णीहु [ठिहु], थिभु, अस्सकण्णी, सीहकण्णी, सीउंढी, मूसंढी—जे यावण्णे तहप्पगारा;

ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य।

तेसि णं भंते! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता?

गोयमा! तओ सरीरगा पण्णत्ता, तंजहा—

ओरालिए, तेयए, कम्मए। तहेव जहा बायरपुढविकाइयाणं। णवरं सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं। सरीरगा अणित्थंत्थसंठिया, ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दसवाससहस्साइं। जाव दुगतिया, तिआगतिया, परित्ता अणंता पण्णत्ता। से तं बायरवणस्सइकाइया, से तं थावरा।

[२१] साधारणशरीर बादर वनस्पतिकायिक कैसे हैं?

साधारण शरीर बादर वनस्पतिकायिक जीव अनेक प्रकार के हैं, जैसे—आलू, मूला, अदरख, हिरिलि, सिरिलि, सिस्सिरिली, किट्टिका, क्षीरिका, क्षीरविडालिका, कृष्णकन्द, वज्रकन्द, सूरण-

कन्द, खल्लूट, कृमिराशि, भद्र, मुस्तापिंड, हरिद्रा, लोहारी, स्निहु, स्तिभु, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, सिकुण्डी, मुषण्डी और अन्य भी इस प्रकार के साधारण वनस्पतिकायिक—अंवक, पलक, सेवाल आदि जानने चाहिए।

ये संक्षेप से दो प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—पर्याप्त और अपर्याप्त।

भगवन्! इन जीवों के कितने शरीर कहे गये हैं?

गौतम! तीन शरीर कहे गये हैं—औदारिक, तैजस और कार्मण। इस प्रकार सब कथन बादर पृथ्वीकायिकों की तरह जानना चाहिए। विशेषता यह है कि इनके शरीर की अवगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट से एक हजार योजन से कुछ अधिक है। इनके शरीर के संस्थान अनियत हैं, स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष की जाननी चाहिए। यावत् ये दो गति में जाते हैं और तीन गति से आते हैं। प्रत्येकवनस्पति जीव असंख्यात हैं और साधारणवनस्पति के जीव अनन्त कहे गये हैं।

यह बादर वनस्पति का वर्णन हुआ और इसके साथ ही स्थावर का वर्णन पूरा हुआ।

विवेचन—एक ही शरीर में आश्रित अनन्त साधारणवनस्पतिकायिक जीव एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, एक साथ ही उनका शरीर बनता है, एक साथ ही वे प्राणापान के पुद्‌गलों को ग्रहण करते हैं और एक साथ ही श्वासोच्छ्‌वास लेते हैं। एक शरीर में आश्रित साधारण जीवों का आहार, श्वासोच्छ्‌वास आदि एक साथ ही होता है। एक जीव द्वारा आहारादि का ग्रहण सब जीवों के द्वारा आहारादि का ग्रहण करना है और सबके द्वारा आहारादि का ग्रहण किया जाना ही एक जीव के द्वारा आहारादि ग्रहण करना है। यही साधारण जीवों की साधारणता का लक्षण है।

जैसे अग्नि में प्रतप्त लोहे का गोला सारा का सारा लाल अग्निमय हो जाता है वैसे ही निगोदरूप एक शरीर में अनन्त जीवों का परिणमन जान लेना चाहिए। एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात निगोद जीवों का शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता। अनन्त निगोदों के शरीर ही दृष्टि-गोचर हो सकते हैं। इस विषय में तीर्थंकर देव के वचन ही प्रमाणभूत हैं। भगवान् का कथन है कि सूई की नोंक के बराबर निगोदकाय में असंख्यात गोले होते हैं, एक-एक गोले में असंख्यात निगोद होते हैं और एक-एक निगोद में अनन्त-अनन्त जीव होते हैं।[1]

प्रस्तुत सूत्र में साधारण वनस्पतिकाय के अनेक प्रकार बताये गये हैं। कतिपय साधारण वनस्पतियों के नाम बताकर विशेष जानकारी के लिए प्रज्ञापनासूत्र का निर्देश कर दिया है। वहाँ इस सम्बन्ध में विस्तार के साथ निरूपण है।

प्रासंगिक और उपयोगी होने से प्रज्ञापनासूत्र में निर्दिष्ट बादर वनस्पति और साधारण वनस्पति के लक्षणों का यहाँ उल्लेख किया जाता है—

---

१. गोला य असंखेज्जा होंति निगोया असंखया गोले।
एक्केक्को य निगोओ अणंतजीवो मुणेयव्वो॥

साधारणशरीरी वनस्पति की पहचान—१. जिस मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पुष्प, फल, बीज, आदि को तोड़े जाने पर समान भंग हो अर्थात् चक्राकार भंग हो, समभंग हो अर्थात् जो आडी-टेढ़ी न टूटकर समरूप में टूटती हो वह वनस्पति साधारणशरीरी है।

२. जिस मूल, कंद, स्कंध और शाखा के काष्ठ (मध्यवर्ती सारभाग) की अपेक्षा छाल अधिक मोटी हो वह अनन्तजीव वाली समझनी चाहिए।

३. जिस मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, पत्र, पुष्प आदि के तोड़े जाने पर उसका भंगस्थान चक्र के आकार का सम हो।

४. जिसकी गांठ या पर्व को तोड़ने पर चूर्ण निकलता हो।

५. जिसका पृथ्वी के समान प्रतरभेद (समान दरार) होती हो वह अनन्तकायिक जानना चाहिए।

६. दूध वाले या बिना दूध वाले जिस पत्र की शिराएँ दिखती न हों, अथवा जिस पत्र की संधि सर्वथा दिखाई न दे, उसे भी अनन्त जीवों वाला समझना चाहिए।

पुष्पों के सम्बन्ध में आगम निर्देशानुसार समझना चाहिए। उनमें कोई संख्यात जीव वाले, कोई असंख्यात जीव वाले और कोई अनन्त जीव वाले होते हैं।

प्रत्येकशरीरी वनस्पति के लक्षण—१. जिस मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज को तोड़ने पर उसमें हीर दिखाई दे अर्थात् जिसका भंग समरूप न होकर विषम हो—दँतीला हो।

२. जिसका भंगस्थान चक्राकार न होकर विषम हो।

३. जिस मूल, कन्द, स्कन्ध या शाखा के काष्ठ (मध्यवर्ती सारभाग) की अपेक्षा उसकी छाल अधिक पतली हो, वे वनस्पतियां प्रत्येकशरीरी जाननी चाहिए। पूर्वोक्त साधारण वनस्पति के लक्षण जिनमें न पाये जावें वे सब प्रत्येकवनस्पति जाननी चाहिए।

प्रत्येक किशलय (कोंपल) उगते समय अनन्तकायिक होता है, चाहे वह प्रत्येकशरीरी हो या साधारणशरीरी ![1] किन्तु वही किशलय बढ़ता-बढ़ता बाद में पत्र रूप धारण कर लेता है तब साधारणशरीरी से प्रत्येकशरीरी हो जाता है।

ये बादर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। जो अपर्याप्त हैं उनके वर्णादि विशेषरूप से स्पष्ट नहीं होते हैं। जो पर्याप्त हैं उनके वर्णादेश से, गंधादेश से, रसादेश से और स्पर्शादेश से हजारों प्रकार हो जाते हैं। इनकी संख्यात लाख योनियां हैं। प्रत्येक वनस्पतिकाय की १० लाख और साधारण वनस्पति की १४ लाख योनियां हैं। पर्याप्त जीवों की निश्रा में अपर्याप्त जीव उत्पन्न होते हैं। जहां एक बादर पर्याप्त है वहां कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त अपर्याप्त पैदा होते हैं। प्रत्येक वनस्पति की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात और साधारण वनस्पति की अपेक्षा अनन्त अपर्याप्त समझने चाहिए।

---

१. 'उग्गेमाणा अणंता'।

उन बादर वनस्पतिकायिकों के विषय में २३ द्वारों की विचारणा में सब कथन बादर पृथ्वीकायिकों के समान जानना चाहिए। जो अन्तर है वह इस प्रकार है—

इन बादर वनस्पतिकायिक जीवों का संस्थान नाना रूप है—अनियत है। इसकी उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन से अधिक की बताई है। वह बाह्य द्वीपों में वल्ली आदि की अपेक्षा तथा समुद्र एवं गोतीर्थों में पद्मनाल की अपेक्षा से समझना चाहिए। इससे अधिक पद्मों की अवगाहना को पृथ्वीकाय का परिणाम समझना चाहिए। ऐसी वृद्ध आचार्यों की धारणा है। स्थितिद्वार में उत्कृष्ट दस हजार वर्ष कहने चाहिए। गति-आगति द्वार के बाद 'अपरित्ता अणंता' पाठ है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येकशरीरी वनस्पति जीव असंख्यात हैं और साधारणशरीरी वनस्पति जीव अनन्त हैं। इस प्रकार हे आयुष्मन् श्रमण! यह बादर वनस्पति का कथन हुआ और इसके साथ ही स्थावर जीवों का कथन पूर्ण हुआ।

त्रसों का प्रतिपादन

२२. **से किं तसा?**

तसा तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—

तेउक्काइया, वाउक्काइया, ओराला तसा पाणा।

[२२] त्रसों का स्वरूप क्या है?

त्रस तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

तेजस्काय, वायुकाय और उदारत्रस।

२३. **से किं तं तेउक्काइया?**

तेउक्काइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

सुहुमतेउक्काइया य बादरतेउक्काइया य?

[२३] तेजस्काय क्या है?

तेजस्काय दो प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—

सूक्ष्मतेजस्काय और बादरतेजस्काय।

२४. **से किं तं सुहुमतेउक्काइया?**

सुहुमतेउक्काइया जहा—सुहुमपुढविक्काइया नवरं सरीरगा सूइकलावसंठिया, एगगइआ, दुआगइआ, परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता, सेसं तं चेव, से तं सुहुमतेउक्काइया।

[२४] सूक्ष्म तेजस्काय क्या हैं?

सूक्ष्म तेजस्काय सूक्ष्म पृथ्वीकायिकों की तरह समझना। विशेषता यह है कि इनके शरीर का संस्थान सूइयों के समुदाय के आकार का जानना चाहिए।

ये जीव एक गति (तिर्यंचगति) में ही जाते हैं और दो गतियों से (तिर्यंच और मनुष्यों) से आते हैं।

ये जीव प्रत्येकशरीर वाले हैं और असंख्यात हैं।
यह सूक्ष्म तेजस्काय का कथन हुआ।

२५. से किं तं बादरतेउक्काइया ?
बादरतेउक्काइया अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—
इंगाले जाले मुम्मुरे जाव सूरकंतमणिनिस्सिए;
जे यावन्ने तहप्पगारा,
ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—
पज्जत्ता य अपज्जत्ता य।
तेसिं णं भंते ! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?
गोयमा ! तओ सरीरगा पण्णत्ता, तंजहा—
ओरालिए, तेयए, कम्मए। सेसं तं चेव, सरीरगा सूइकलावसंठिया, तिन्नि लेस्सा, ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि राइंदियाइं, तिरियमणुस्सेहिंतो उववाओ, सेसं तं चेव एगगतिया दुआगतिआ, परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता, से तं तेउक्काइया।

[२५] बादर तेजस्कायिकों का स्वरूप क्या है ?

बादर तेजस्कायिक अनेक प्रकार के कहे गये हैं, यथा—कोयले की अग्नि, ज्वाला की अग्नि, मुर्मुर (भूभुर) की अग्नि यावत् सूर्यकान्त मणि से निकली हुई अग्नि और भी अन्य इसी प्रकार की अग्नि। ये बादर तेजस्कायिक जीव संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

भगवन् ! उन जीवों के कितने शरीर कहे गये हैं ?

गौतम ! उनके तीन शरीर कहे गये है— १. औदारिक २. तैजस और ३. कार्मण। शेष बादर पृथ्वीकाय की तरह समझना चाहिए। अन्तर यह है कि उनके शरीर सूइयों के समुदाय के आकार के हैं, उनमें तीन लेश्याएँ हैं, जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन रात-दिन की है। तिर्यंच और मनुष्यों से वे आते हैं और केवल एक तिर्यंचगति में ही जाते हैं। वे प्रत्येकशरीर वाले हैं और असंख्यात कहे गये हैं। यह तेजस्काय का वर्णन हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में त्रसजीव तीन प्रकार के कहे गये हैं—तेजस्कायिक, वायुकायिक और उदार त्रस। पूर्व में कहा जा चुका है कि त्रस जीव दो प्रकार के बताये गये हैं—गतित्रस और लब्धित्रस। यहाँ जो तेजस्कायिकों और वायुकायिकों को त्रस कहा गया है सो गतित्रस की अपेक्षा से समझना चाहिए। तेजस्काय और वायुकाय में अनभिसंधि पूर्वक गति पाई जाती है, अभिसंधिपूर्वक गति नहीं। जो अभिसंधिपूर्वक गति कर सकते हैं वे तो स्पष्ट रूप से उदार त्रस कहे गये हैं, जैसे—द्वीन्द्रियादि त्रस जीव। ये ही लब्धित्रस कहे जाते हैं।

तेजस् अर्थात् अग्नि। अग्नि ही जिनका शरीर है वे जीव तेजस्कायिक कहे जाते हैं। ये तेजस्कायिक जीव दो प्रकार के कहे गये हैं—सूक्ष्म तेजस्कायिक और बादर तेजस्कायिक। सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव वे हैं जो सूक्ष्मनामकर्म के उदय वाले हैं और सारे लोक में व्याप्त हैं तथा जो

मारने से मरते नहीं आदि कथन सूक्ष्म पृथ्वीकायिकों की तरह जानना चाहिए। तेवीस द्वारों की विचारणा में सब कथन सूक्ष्म पृथ्वीकाय की तरह समझना चाहिए। विशेषता यह कि सूक्ष्म तेजस्कायिकों का शरीर-संस्थान सूइयों के समुदाय के समान है। च्यवनद्वार में ये सूक्ष्म तेजस्कायिक वहाँ से निकल कर तिर्यंचगति में ही उत्पन्न होते हैं, मनुष्यगति में उत्पन्न नहीं होते। आगम में कहा गया है कि 'सप्तम पृथ्वी के नैरयिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक तथा असंख्यात वर्षों की आयु वाले अनन्तर मर कर मनुष्य गति में नहीं जाते।'[1] गति-आगति द्वार में—तेजस्कायिक तिर्यंचगति में ही जाते हैं और तिर्यंचगति, मनुष्यगति से आकर उनमें उत्पन्न होते हैं। इसलिए ये एक गति वाले और दो आगति वाले हैं।

बादर तेजस्कायिक—बादर तेजस्कायिक जीव वे हैं जो बादरनामकर्म के उदय वाले हैं। उनके अनेक प्रकार हैं, जैसे—इंगाल, ज्वाला, मुर्मुर यावत् सूर्यकांतमणिनिश्रित। यावत् शब्द से अर्चि, अलात, शुद्धाग्नि, उल्का, विद्युत्, अशनि, निर्घात, संघर्षसमुत्थित का ग्रहण करना चाहिए।

इंगाल का अर्थ है—धूम से रहित जाज्वल्यमान खैर आदि की अग्नि।

ज्वाला का अर्थ है—अग्नि से संबद्ध लपटें या दीपशिखा।

मुर्मुर का अर्थ है—भस्ममिश्रित अग्निकण-भोभर।

अर्चि का अर्थ है—मूल अग्नि से असंबद्ध ज्वाला।

अलात का अर्थ है—किसी काष्ठखण्ड में अग्नि लगाकर उसे चारों तरफ फिराने पर जो गोल चक्कर-सा प्रतीत होता है, वह उल्मुक या अलात है।

शुद्धाग्नि—लोहपिण्ड आदि में प्रविष्ट अग्नि, शुद्धाग्नि है।

उल्का—एक दिशा से दूसरी तरफ जाती हुई तेजोमाला, चिनगारी।

विद्युत्—आकाश में चमकने वाली बिजली।

अशनि—आकाश से गिरते हुए अग्निमय कण।

निर्घात—वैक्रिय सम्बन्धित वज्रपात या विद्युत्पात।

संघर्ष-समुत्थित—अरणि काष्ठ की रगड़ से या अन्य रगड़ से उत्पन्न हुई अग्नि।

सूर्यकान्तमणि-निसृत—प्रखर सूर्य किरणों के स्पर्श से सूर्यकांतमणि से निकली हुई अग्नि।

और भी इसी प्रकार की अग्नियां बादर तेजस्कायिक हैं। ये बादर तेजस्कायिक दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। अपर्याप्त जीवों के वर्णादि स्पष्टरूप से प्रकट नहीं होते हैं। पर्याप्त जीवों के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की अपेक्षा से हजारों प्रकार और संख्यात योनियां हो जाती हैं। इनकी सात लाख योनियां हैं। एक पर्याप्त की निश्रा में असंख्यात अपर्याप्त जीव उत्पन्न होते हैं।

शरीर आदि २३ द्वारों की विचारणा सूक्ष्म तेजस्कायिकों की तरह जानना चाहिए। विशेषता यह है कि इनकी स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से तीन रात-दिन की है। आहार बादर पृथ्वीकायिकों के समान समझना चाहिए।

---

१. सत्तमी महिनेरइया तेऊ वाऊ अणंतरुव्वट्टा।
नवि पावे माणुस्सं तहेवऽसंखाउया सव्वे॥

वायुकाय

२६. से किं तं वाउक्काइया ?

वाउक्काइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

सुहुमवाउक्काइया य बादरवाउक्काइया य।

सुहुमवाउक्काइया जहा तेउक्काइया णवरं सरीरा पडागसंठिया एगगतिआ दुआगतिया परित्ता असंखिज्जा से त्तं सुहुमवाउक्काइया।

से किं तं बादरवाउक्काइया ?

बादरवाउक्काइया अणेगविधा पण्णत्ता, तंजहा—

पाईणवाए, पडीणवाए, एवं जे यावण्णे तहप्पगारा, ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा— पज्जत्ता य अपज्जत्ता य।

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि सरीरगा पण्णत्ता, तंजहा—

ओरालिए, वेउव्विए, तेयए, कम्मए।

सरीरगा पडागसंठिया, चत्तारि समुग्घाया—

वेयणासमुग्घाए, कसायसमुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए, वेउव्वियसमुग्घाए।

आहारो णिव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं।

उववाओ देवमणुयनेरइएसु णत्थि। ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि वाससहस्साइं, सेसं तं चेव एगगतिया, दुआगतिया, परित्ता, असंखेज्जा पण्णत्ता समणाउसो ! से त्तं बायर-वाउक्काइआ, से त्तं वाउक्काइया।

[२६] वायुकायिकों का स्वरूप क्या है ?

वायुकायिक दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

सूक्ष्म वायुकायिक और बादर वायुकायिक।

सूक्ष्म वायुकायिक तेजस्कायिक की तरह जानने चाहिए।

विशेषता यह है कि उनके शरीर पताका (ध्वजा) के आकार के हैं। ये एक गति में जाने वाले और दो गतियों से आने वाले हैं। ये प्रत्येकशरीरी और असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं। यह सूक्ष्म वायुकायिक का कथन हुआ।

बादर वायुकायिकों का स्वरूप क्या है ?

बादर वायुकायिक जीव अनेक प्रकार के कहे गये हैं, यथा—पूर्वी वायु, पश्चिमी वायु और इस प्रकार के अन्य वायुकाय। वे संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

भगवन् ! उन जीवों के कितने शरीर कहे गये हैं ?

गौतम ! चार शरीर कहे गये हैं—औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण। उनके शरीर ध्वजा के आकार के हैं। उनके चार समुद्घात होते हैं—वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, मारणांतिक-

समुद्घात और वैक्रियसमुद्घात। उनका आहार व्याघात न हो तो छहों दिशाओं के पुद्गलों का होता है और व्याघात होने पर कभी तीन दिशा, कभी चार दिशा और कभी पांच दिशाओं के पुद्गलों के ग्रहण का होता है। वे जीव देवगति, मनुष्यगति और नरकगति में उत्पन्न नहीं होते। उनकी स्थिति जघन्य से अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से तीन हजार वर्ष की है। शेष पूर्ववत्। हे आयुष्मन् श्रमण! एक गति वाले, दो आगति वाले, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात कहे गये हैं।

यह बादर वायुकाय और वायुकाय का कथन हुआ।

विवेचन—वायु ही जिनका शरीर है वे जीव वायुकायिक कहे जाते हैं। ये दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म वायुकायिकों का वर्णन पूर्वोक्त सूक्ष्म तेजस्कायिकों की तरह जानना चाहिए। अन्तर यह है कि वायुकायिकों के शरीर का संस्थान पताका (ध्वजा) के आकार का है।

बादर वायुकायिक जीव अनेक प्रकार के कहे गये हैं। प्रज्ञापनासूत्र में कहे गये प्रकारों का यहाँ उल्लेख करना चाहिए। वहाँ इनके प्रकार इस तरह बताये गये हैं—

पूर्वीवात—पूर्व दिशा से आने वाली हवा।
पश्चिमीवात—पश्चिम दिशा से आने वाली हवा।
दक्षिणवात—दक्षिण दिशा से आने वाली हवा।
उदीचीनवात—उत्तर दिशा से आने वाली हवा।
ऊर्ध्ववात—ऊर्ध्व दिशा में बहने वाली हवा।
अधोवात—नीची दिशा में बहने वाली हवा।
तिर्यग्वात—तिरछी दिशा में बहने वाली हवा।
विदिशावात—विदिशाओं से आने वाली हवा।
वातोद्भ्रम—अनियत दिशाओं में बहने वाली हवा।
वातोत्कलिका—समुद्र के समान तेज बहने वाली तूफानी हवा।
वातमंडलिका—वातौली, चक्करदार हवा।
उत्कालिकावात—तेज आंधियों से मिश्रित हवा।
मण्डलिकावात—चक्करदार हवाओं से आरंभ होकर तेज आंधियों से मिश्रित हवा।
गुंजावात—सनसनाती हुई हवा।
झंझावात—वर्षा के साथ चलने वाला अंधड़ अथवा अशुभ एवं कठोर हवा।
संवर्तकवात—तिनके आदि उड़ा ले जाने वाली हवा अथवा प्रलयकाल में चलने वाली हवा।
घनवात—रत्नप्रभापृथ्वी आदि के नीचे रही हुई सघन—ठोस वायु।
तनुवात—घनवात के नीचे रही हुई पतली वायु।
शुद्धवात—मन्दवायु अथवा मशकादि में भरी हुई वायु।
इसके अतिरिक्त भी अन्य इसी प्रकार की हवाएँ बादर वायुकाय हैं।

ये बादर वायुकायिक जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। अपर्याप्त जीवों के शरीर के वर्णादि पूरी तरह संप्रकट नहीं होते हैं, अतएव विशिष्ट वर्णादि की अपेक्षा उनके भेद नहीं किये गये हैं। जो पर्याप्त जीव हैं उनके वर्णादि संप्रकट होते हैं, अतएव विशिष्ट वर्णादि की अपेक्षा

उनके हजारों प्रकार हो जाते हैं। इनकी सात लाख योनियां हैं। एक पर्याप्त वायुकाय जीव की निश्रा में नियम से असंख्यात अपर्याप्त वायुकाय के जीव उत्पन्न होते हैं।

शरीर आदि २३ द्वारों की विचारणा में इन बादर वायुकायिक जीवों के चार शरीर होते हैं—औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण। समुद्घात चार होते हैं—वैक्रियसमुद्घात, वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात और मारणांतिकसमुद्घात। स्थितिद्वार में जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से तीन हजार वर्ष की स्थिति जाननी चाहिए। आहार निर्व्याघात हो तो छहों दिशा के पुद्गलों का होता है और व्याघात की स्थिति में कभी तीन, कभी चार और कभी पाँच दिशाओं के पुद्गलों का होता है। लोकनिष्कुट (लोक के किनारे) में भी बादर वायुकाय की संभावना है, अतएव व्याघात की स्थिति बन सकती है। शेष द्वार सूक्ष्म वायुकाय की तरह जानने चाहिए।

उपसंहार करते हुए कहा गया है कि हे आयुष्मन् श्रमण ! ये जीव एक तिर्यंचगति में ही जाने वाले और तिर्यंच, मनुष्य इन दो गतियों से आने वाले हैं। ये प्रत्येकशरीरी हैं और असंख्यात-लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण हैं। यह वायुकाय का कथन पूरा हुआ।

औदारिक त्रसों का वर्णन

२७. से किं तं ओराला तसा पाणा ?

ओराला तसा पाणा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—

बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचेंदिया।

[२७] औदारिक त्रस प्राणी किसे कहते हैं ?

औदारिक त्रस प्राणी चार प्रकार के कहे गये हैं,

यथा—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

विवेचन—'औदारिक त्रस' पद में दिया गया 'औदारिक' पद गतित्रस का व्यवच्छेदक है। तेजस्काय और वायुकाय रूप गतित्रस से भिन्नता बताने के लिए 'ओरा ला तसा' कहा गया है। औदारिक का अर्थ है—स्थूल, प्रधान। मुख्यतया द्वीन्द्रियादि जीव ही त्रस रूप से विवक्षित हैं, अतएव ये औदारिक त्रस कहलाते हैं। ये चार प्रकार के हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

द्वीन्द्रिय—जिन जीवों के स्पर्शन और रसना रूप दो इन्द्रियां हों, वे द्वीन्द्रिय हैं।

त्रीन्द्रिय—जिन जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण रूप तीन इन्द्रियाँ हों, वे त्रीन्द्रिय हैं।

चतुरिन्द्रिय—जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु रूप चार इन्द्रियाँ हों, वे चतुरिन्द्रिय हैं।

पंचेन्द्रिय—जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र रूप पाँच इन्द्रियाँ हों, वे पंचेन्द्रिय जीव हैं।

पूर्व में कहा जा चुका है कि इन्द्रियों का यह विभाग द्रव्येन्द्रियों को लेकर है, भावेन्द्रियों की अपेक्षा से नहीं।

द्वीन्द्रिय-वर्णन

२८. से किं तं बेइंदिया ?
बेइंदिया अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—
पुलाकिमिआ जाव समुद्दलिक्खा।
जे यावण्णे तहप्पगारा;
ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—
पज्जत्ता य अपज्जत्ता य।
तेसि णं भंते! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?
गोयमा! तओ सरीरगा पण्णत्ता—
ओरालिए, तेयए, कम्मए।
तेसि णं भंते! जीवाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?
जहन्नेणं अंगुलासंखेज्जभागं उक्कोसेणं बारसजोयणाइं।

छेवट्ठसंघयणा, हुंडसंठिया, चत्तारि कसाया, चत्तारि सण्णाओ, तिण्णि लेसाओ, दो इंदिया, तओ समुग्घाया—वेयणा, कसाय, मारणंतिया, नो सन्नी, असन्नी, णपुंसकवेदगा, पंच पज्जत्तीओ, पंच-अपज्जत्तीओ, सम्मदिट्ठी वि, मिच्छादिट्ठी वि, णो सम्ममिच्छादिट्ठी; णो ओहिदंसणी, णो चक्खुदंसणी, अचक्खुदंसणी, णो केवलदंसणी।

ते णं भंते! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ?

गोयमा! णाणी वि अण्णाणी वि। जे णाणी ते णियमा दुण्णाणी, तंजहा—आभिणिबोहिय-णाणी सुयणाणी य। जे अण्णाणी ते नियमा दुअण्णाणी मतिअण्णाणी य सुयअण्णाणी य।

नो मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी। सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि। आहारो णियमा छद्दिसिं। उववाओ तिरिय-मणुस्सेसु नेरइय देव असंखेज्जवासाउय वज्जेसु। ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बारससंवच्छराणि। समोहया वि मरंति, असमोहया वि मरंति।

कहिं गच्छंति ?
नेरइय-देव-असंखेज्जवासाउयवज्जेसु गच्छंति,
दुगतिया, दुआगतिया, परित्ता असंखेज्जा,
से तं बेइंदिया।

[२८] द्वीन्द्रिय जीव क्या हैं ?

द्वीन्द्रिय जीव अनेक प्रकार के कहे गये हैं, यथा—पुलाकृमिक यावत् समुद्रलिक्षा। और भी अन्य इसी प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव।

ये संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

हे भगवन् ! उन जीवों के कितने शरीर कहे गये हैं ?

गौतम ! तीन शरीर कहे गये हैं, यथा—औदारिक, तैजस और कार्मण ।

हे भगवन् ! उन जीवों के शरीर की अवगाहना कितनी कही गई है ?

गौतम ! जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से बारह योजन की अवगाहना है। उन जीवों के सेवार्तसंहनन और हुंडसंस्थान होता है। उनके चार कषाय, चार संज्ञाएँ, तीन लेश्याएँ और दो इन्द्रियाँ होती हैं। उनके तीन समुद्घात होते हैं—वेदना, कषाय और मारणांतिक।

ये जीव संज्ञी नहीं हैं, असंज्ञी हैं। नपुंसकवेद वाले हैं। इनके पांच पर्याप्तियां और पांच अपर्याप्तियां होती हैं। ये सम्यग्दृष्टि भी होते हैं और मिथ्यादृष्टि भी होते हैं, लेकिन सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) नहीं होते हैं।

ये अवधिदर्शन वाले नहीं होते हैं, चक्षुदर्शन वाले नहीं होते हैं, अचक्षुदर्शन वाले होते हैं, केवलदर्शन वाले नहीं होते ।

हे भगवन् ! वे जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

गौतम ! ज्ञानी भी हैं, अज्ञानी भी हैं। जो ज्ञानी हैं वे नियम से दो ज्ञान वाले हैं—मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी। जो अज्ञानी हैं वे नियम से दो अज्ञान वाले हैं—मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी।

ये जीव मनोयोग वाले नहीं हैं, वचनयोग और काययोग वाले हैं। ये जीव साकार-उपयोग वाले भी हैं और अनाकार-उपयोग वाले भी हैं।

इन जीवों का आहार नियम से छह दिशाओं के पुद्गलों का है। इनका उपपात (अन्य जन्म से आकर उत्पत्ति) नैरयिक, देव और असंख्यात वर्ष की आयुवालों को छोड़कर शेष तिर्यंच और मनुष्यों से होता है। इनकी स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से बारह वर्ष की है।

ये मारणांतिक समुद्घात से समवहत होकर भी मरते हैं और असमवहत होकर भी मरते हैं।

हे भगवन् ! ये मरकर कहां जाते हैं ?

गौतम ! नैरयिक, देव और असंख्यात वर्ष की आयुवाले तिर्यंचों मनुष्यों को छोड़कर शेष तिर्यंचों मनुष्यों में जाते हैं। अतएव ये जीव दो गति में जाते हैं, दो गति से आते हैं, प्रत्येकशरीरी हैं और असंख्यात हैं।

यह द्वीन्द्रिय जीवों का वर्णन हुआ।

विवेचन—द्वीन्द्रिय जीवों के प्रकार बताते हुए सूत्रकार ने पुलाकृमि यावत् समुद्रलिक्षा कहा है। यावत् शब्द से यहाँ वे सब जीव-प्रकार ग्रहण करने चाहिए जो प्रज्ञापनासूत्र के द्वीन्द्रियाधिकार में बताये गये हैं।

परिपूर्ण प्रकार इस प्रकार हैं—

पुलाकृमि—मल द्वार में पैदा होने वाले कृमि।

कुक्षिकृमि—कुक्षि (उदर) में उत्पन्न होने वाले कृमि।

गण्डोयलक—गिंडोला।

गोलोम, नुपूर, सौमंगलक, वंशीमुख, सूचिमुख, गोजलौका, जलौका (जोंक), जालायुष्क, ये सब लोकपरम्परानुसार जानने चाहिए।

शंख—समुद्र में उत्पन्न होने वाले शंख।
शंखनक—समुद्र में उत्पन्न होने वाले छोटे-छोटे शंख।
घुल्ला—घोंघा। खुल्ला—समुद्री शंख के आकार के छोटे शंख।

वराटा—कौडियां। सौत्रिक, मौलिक, कल्लुयावास, एकावर्त, द्वि-आवर्त, नन्दिकावर्त, शम्बूक, मातृवाह, ये सब विविध प्रकार के शंख समझने चाहिए।

सिप्पिसंपुट—सीपडियाँ। चन्दनक—अक्ष (पांसा)।

समुद्रलिक्षा—कृमिविशेष। ये सब तथा अन्य इसी प्रकार के मृतकलेवर में उत्पन्न होने वाले कृमि आदि द्वीन्द्रिय समझने चाहिए। ये द्वीन्द्रिय जीव पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं।

शरीरादि २३ द्वारों की विचारणा इस प्रकार जाननी चाहिए—
शरीरद्वार—इनके तीन शरीर होते हैं—औदारिक, तैजस एवं कार्मण।

अवगाहनाद्वार—इन जीवों की शरीर-अवगाहना जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण और उत्कृष्ट से बारह योजन की होती है।

संहननद्वार—इन जीवों के छेदवर्ति—सेवार्त संहनन होता है। यहाँ मुख्य संहनन ग्रहण करना चाहिए, औपचारिक नहीं। क्योंकि इन जीवों के अस्थियाँ होती हैं।

संस्थानद्वार—इन जीवों के हुंडसंस्थान होता है।
कषायद्वार—इनमें चारों कषाय पाये जाते हैं।
संज्ञाद्वार—इनमें चारों आहारादि संज्ञाएँ होती हैं।
लेश्याद्वार—इन जीवों में आरम्भ की कृष्ण, नील, कापोत, ये तीन लेश्याएँ पायी जाती हैं।
इन्द्रियद्वार—इनके स्पर्शन और रसन रूप दो इन्द्रियाँ हैं।

समुद्घातद्वार—इनमें तीन समुद्घात पाये जाते हैं—वेदना, कषाय और मारणांतिक समुद्घात।

संज्ञाद्वार—ये जीव संज्ञी नहीं होते। असंज्ञी होते हैं।

वेदद्वार—ये जीव नपुंसकवेद वाले होते हैं। ये सम्मूर्छिम होते हैं और जो संमूर्छिम होते हैं वे नपुंसक ही होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—नारक और संमूर्छिम नपुंसकवेदी होते हैं।[1]

पर्याप्तिद्वार—इन जीवों के पांच पर्याप्तियाँ पर्याप्त जीवों की अपेक्षा होती हैं और पांच अपर्याप्तियाँ अपर्याप्त जीवों की अपेक्षा होती हैं।

दृष्टिद्वार—ये जीव सम्यग्दृष्टि भी होते हैं और मिथ्यादृष्टि भी होते हैं, लेकिन मिश्रदृष्टि वाले नहीं होते। इसकी स्पष्टता इस प्रकार है—

---

१. नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि। —तत्त्वार्थ सू. अ. २ सू. ५०

जिस प्रकार घण्टा को बजाये जाने पर महान् शब्द होता है और वह शब्द क्रमशः हीयमान होता हुआ लटकन तक ही रह जाता है, इसी तरह सम्यक्त्व से गिरता हुआ जीव क्रमशः गिरता-गिरता सास्वादन सम्यक्त्व की स्थिति में आ जाता है और ऐसे सास्वादन सम्यक्त्व वाले कतिपय जीव मरकर द्वीन्द्रियों में भी उत्पन्न होते हैं। अतः अपर्याप्त अवस्था में थोड़े समय के लिए सास्वादन सम्यक्त्व का सम्भव होने से उनमें सम्यग्दृष्टित्व पाया जाता है। शेषकाल में मिथ्यादृष्टिता है तथा भव-स्वभाव से तथारूप परिणाम न होने से उनमें मिश्रदृष्टिता नहीं पाई जाती तथा कोई मिश्रदृष्टि वाला उनमें उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि 'मिश्रदृष्टि वाला जीव उस स्थिति में नहीं मरता' यह आगम वाक्य है।[1]

दर्शनद्वार—इनमें अचक्षुदर्शन ही पाया जाता है, चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन नहीं।

ज्ञानद्वार—ये ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। सास्वादन सम्यक्त्व की अपेक्षा ज्ञानी हैं। ये ज्ञानी मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी हैं। मिथ्यादृष्टित्व की अपेक्षा अज्ञानी हैं। ये अज्ञानी मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी हैं।

योगद्वार—ये मनोयोगी नहीं हैं। वचनयोगी और काययोगी हैं।

उपयोगद्वार—ये जीव साकार-उपयोग वाले भी हैं और अनाकार-उपयोग वाले भी हैं।

आहारद्वार—नियम से छहों दिशाओं के पुद्गलों का आहार ये जीव करते हैं। द्वीन्द्रियादि जीव त्रसनाडी में ही होते हैं अतएव व्याघात का प्रश्न नहीं उठता।

उपपात—ये जीव देव, नारक और असंख्यात वर्षायु वाले तिर्यंचों-मनुष्यों को छोड़कर शेष तिर्यंच-मनुष्यगति से आकर पैदा होते हैं।

स्थिति—उन जीवों की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष की है।

समवहतद्वार—ये समवहत होकर भी मरते हैं और असमवहत होकर भी मरते हैं।

च्यवनद्वार—ये जीव मरकर देव, नारक और असंख्यात वर्षों की आयुवाले तिर्यंचों-मनुष्यों को छोड़कर शेष तिर्यंच मनुष्य में उत्पन्न होते हैं।

गति-आगतिद्वार—ये जीव पूर्ववत् दो गति में जाते हैं और दो गति से आते हैं।

ये जीव प्रत्येकशरीरी हैं और असंख्यात हैं। घनीकृत लोक के ऊपर-नीचे तक दीर्घ एक प्रदेश वाली श्रेणी में जितने आकाशप्रदेश हैं, उतने ये द्वीन्द्रियजीव हैं। असंख्यात का यह प्रमाण बताया गया है। क्योंकि असंख्यात भी असंख्यात प्रकार का है।

इन द्वीन्द्रिय-पर्याप्त अपर्याप्त की सात लाख जाति कुलकोडी, योनिप्रमुख होते हैं। पूर्वाचार्यों के अनुसार जातिपद से तिर्यंचगति समझनी चाहिए। उसके कुल हैं—कृमि, कीट, वृश्चिक आदि। ये कुल योनि-प्रमुख होते हैं अर्थात् एक ही योनि में अनेक कुल होते हैं। जैसे एक ही गोबर या कण्डे की योनि में कृमिकुल, कीट और वृश्चिककुल आदि होते हैं। इसी प्रकार एक ही योनि में

---

१. 'न सम्ममिच्छो कुणइ कालं' इति वचनात्।

अवान्तर जातिभेद होने से अनेक जातिकुल के योनि प्रवाह होते हैं। द्वीन्द्रियों के सात लाख जातिकुल कोटिरूप योनियां हैं।

यह द्वीन्द्रियों का वर्णन हुआ।

त्रीन्द्रियों का वर्णन

२९. से किं तं तेइंदिया ?

तेइंदिया अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—

ओवइया, रोहिणीया, हत्थिसोंडा, जे यावण्णे तहप्पगारा।

ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

पज्जत्ता य अपज्जत्ता य।

तहेव जहा बेइंदियाणं णवरं सरीरोगाहणा उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं, तिन्नि इंदिया, ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं एगूणपण्णराइंदिया, सेसं तहेव दुगतिआ, दुआगतिया, परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता, से त्तं तेइंदिया।

[२९] त्रीन्द्रिय जीव कौन हैं ?

त्रीन्द्रिय जीव अनेक प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

औपयिक, रोहिणीक, यावत् हस्तिशौण्ड और

अन्य भी इसी प्रकार के त्रीन्द्रिय जीव।

ये संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। इसी तरह वह सब कथन करना चाहिए जो द्वीन्द्रियों के लिए कहा गया है। विशेषता यह है कि त्रीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट, शरीरावगाहना तीन कोस की है, उनके तीन इन्द्रियां हैं, जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट उनपचास रात-दिन की स्थिति है। और सब वैसे ही कहना चाहिए यावत् वे दो गतिवाले, दो आगतिवाले, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात कहे गये हैं। यह त्रीन्द्रियों का कथन हुआ।

विवेचन—स्पर्शन, रसन और घ्राण—ये तीन इन्द्रियां जिन जीवों को होती हैं वे त्रीन्द्रिय जीव हैं। उनके कई प्रकार हैं। प्रज्ञापनासूत्र में उनके भेद इस प्रकार गिनाये गये हैं—

औपयिक, रोहिणीक, कंथु (कुंथुआ), पिपीलिका (चींटी), उद्देशक, उद्देहिका, (उदई-दीमक), उत्कलिक, उत्पाद, उत्कट, तृणाहार, काष्ठाहार (घुन), मालुक, पत्राहार, तृणवृन्तिक, पत्रवृन्तिक, पुष्पवृन्तिक, फलवृन्तिक, बीजवृन्तिक, तेंदुरणमज्जिक, त्रपुषभिंजिक, कार्पासस्थिभिंजक, हिल्लिक, झिल्लिक, झिंगिर (झींगुर), किंगिरिट, बाहुक, लघुक, सुभग, सौवस्तिक, शुकवृन्त, इन्द्रकायिक, इन्द्रगोपक (इन्द्रगोप—रेशमी कीड़ा), उरुलुंचक, कुस्थलवाहक, यूका (जूँ), हालाहल, पिशुक (पिस्सू या खटमल), शतपादिका (गजाई), गोम्ही (कानखजूरा) और हस्तिशौण्ड।

उक्त त्रीन्द्रिय जीवों के प्रकारों में कुछ तो प्रसिद्ध हैं ही। शेष देशविशेष या सम्प्रदाय से जानने चाहिए।

ये त्रीन्द्रिय जीव पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं इत्यादि सब कथन पूर्वोक्त

द्वीन्द्रिय जीवों के समान जानना चाहिए। तेवीस द्वारों में भी वही कथन करना चाहिए केवल जो अन्तर है वह इस प्रकार है—

शरीर की अवगाहना—त्रीन्द्रियों की शरीर की अवगाहना उत्कृष्ट तीन कोस की है।

इन्द्रियद्वार—इन जीवों के तीन इन्द्रियां होती हैं।

स्थितिद्वार—इनकी स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट उनपचास रात-दिन की है।

शेष वही कथन करना चाहिए यावत् वे दो गति और दो आगति वाले हैं, प्रत्येकशरीरी हैं और असंख्यात हैं। इनकी आठ लाख कुलकोडी हैं।

यह त्रीन्द्रियों का कथन हुआ।

चतुरिन्द्रियों का कथन

३०. से किं तं चउरिंदिआ ?

चउरिंदिआ अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—

अंधिया, पुत्तिया जाव गोमयकीडा,

जे यावण्णे तहप्पगारा, ते समासओ दुविहा पण्णत्ता,

तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य।

तेसि णं भंते ! जीवाणं कतिसरीरगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ सरीरगा पण्णत्ता—तं चेव,

णवरं सरीरोगाहणा उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं, इंदिआ चत्तारि, चक्खुदंसणी, अचक्खुदंसणी, ठिई उक्कोसेण छम्मासा। सेसं जहा तेइंदियाणं जाव असंखेज्जा पण्णत्ता।

से त्तं चउरिंदिया।

[३०] चतुरिन्द्रिय जीव कौन हैं ?

चतुरिन्द्रिय जीव अनेक प्रकार के कहे गये हैं—यथा अंधिक, पुत्रिक यावत् गोमयकीट, और इसी प्रकार के अन्य जीव।

ये संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

हे भगवन् ! उन जीवों के कितने शरीर कहे गये हैं ?

गौतम ! तीन शरीर कहे गये हैं। इस प्रकार पूर्ववत् कथन करना चाहिए। विशेषता यह है कि उनकी उत्कृष्ट शरीर-अवगाहना चार कोस की है, उनके चार इन्द्रियां हैं, वे चक्षुदर्शनी और अचक्षुदर्शनी हैं, उनकी स्थिति उत्कृष्ट छह मास की है। शेष कथन त्रीन्द्रिय जीवों की तरह जानना चाहिए यावत् वे असंख्यात कहे गये हैं। यह चतुरिन्द्रियों का कथन हुआ।

विवेचन—प्रज्ञापनासूत्र में चतुरिन्द्रिय जीवों के भेद इस प्रकार बताये गये हैं—

अंधिक, पौत्रिक (नेत्रिक), मक्खी, मशक (मच्छर), कीट (टिड्डी), पतंग, ढिंकुण, कुक्कुड, कुक्कुह, नंदावर्त, शृंगिरिट, कृष्णपत्र, नीलपत्र, लोहितपत्र, हरितपत्र, शुक्लपत्र, चित्रपक्ष, विचित्रपक्ष,

ओमंजलिका, जलचारिक, गंभीर, नीनिक, तंतव, अक्षिरोट, अक्षिवेध, सारंग, नेवल, दोला, भ्रमर, भरिली, जरुला, तोट्ट, बिच्छू, पत्रवृश्चिक, छाणवृश्चिक, जलवृश्चिक, प्रियंगाल, कनक और गोमयकीट।

इसी प्रकार के अन्य प्राणियों को चतुरिन्द्रिय जानना चाहिए।

इनके पर्याप्त और अपर्याप्त—दो भेद हैं इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए। तेवीस द्वारों की विचारणा भी त्रीन्द्रिय जीवों की तरह समझना चाहिए। जो अन्तर है वह इस प्रकार है—

अवगाहनाद्वार—इनकी अवगाहना उत्कृष्ट चार कोस की है।

इन्द्रियद्वार—इनके चार इन्द्रियाँ होती हैं।

दर्शनद्वार—ये चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन वाले हैं।

स्थितिद्वार—इनकी उत्कृष्ट स्थिति छह मास की है।

शेष सब कथन त्रीन्द्रियों की तरह जानना चाहिए यावत् ये चतुरिन्द्रिय जीव असंख्यात कहे गये हैं।

पंचेन्द्रियों का कथन

३१. से किं तं पंचेंदिया ?

पंचेंदिया चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—

णेरइया, तिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा।

[३१] पंचेन्द्रिय का स्वरूप क्या है ?

पंचेन्द्रिय चार प्रकार के कहे गये हैं, यथा—नैरयिक, तिर्यंचयोनिक, मनुष्य और देव।

विवेचन—निकल गया है इष्टफल जिनमें से वे निरय[1] हैं अर्थात् नरकावास हैं। उनमें उत्पन्न होने वाले जीव नैरयिक हैं। प्रायः तिर्यक्लोक की योनियों में उत्पन्न होने वाले तिर्यक्योनिक या तिर्यक्योनिज हैं।[2]

'मनु' यह मनुष्य की संज्ञा है। मनु की सन्तान मनुष्य[3] हैं। जो सदा सुखोपभोग करते हैं, सुख में रमण करते हैं, वे देव[4] हैं।

नैरयिक-वर्णन

३२. से किं तं नेरइया।

नेरइया सत्तविहा पण्णत्ता, तंजहा—रयणप्पभापुढविनेरइया जाव अहेसत्तमपुढविनेरइया। ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य।

---

१. तत्र अयम्—इष्टफलं कर्म, निर्गतं अयं येभ्यस्तेनिरया नरकावासाः। —वृत्ति।

२. प्रायः तिर्यग्लोके योनयः उत्पत्तिस्थानानि येषां ते तिर्यग्योनिकाः।

३. मनुरिति मनुष्यस्य संज्ञा। मनोरपत्यानि मनुष्याः।

४. दीव्यन्तीति देवाः। —मलयवृत्ति

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?

गोयमा! तओ सरीरया पण्णत्ता, तंजहा—वेउव्विए, तेयए, कम्मए।

तेसि णं भंते ! जीवाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा सरीरोगाहणा पण्णत्ता, तंजहा—

भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य।

तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जो भागो, उक्कोसेणं पंचधणुसयाइं।

तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं धणुसहस्सं।

तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरा किंसंघयणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असंघयणी; णेवट्ठी, णेव छिरा, णेव ण्हारु, णेव संघयणमत्थि, जे पोग्गला अणिट्ठा अकंता, अप्पिया, असुभा, अमणुण्णा अमणामा ते तेसिं संघातत्ताए परिणमंति ?

तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरा किंसंठिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य।

तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया।

तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पण्णत्ता।

चत्तारि कसाया, चत्तारि सण्णाओ, तिण्णि लेसाओ, पंचिंदिया, चत्तारि समुग्घाता आइल्ला, सण्णी वि, असण्णी वि। नपुंसकवेदा, छ पज्जत्तीओ, छ अपज्जत्तीओ, तिविहा दिट्ठी, तिण्णि दंसणा, णाणी वि अण्णाणी वि, जे णाणी ते णियमा तिन्नाणी, तंजहा—आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिनाणी। जे अण्णाणी ते अत्थेगइया दु-अण्णाणी, अत्थेगइया ति-अण्णाणी। जे य दुअण्णाणी ते णियमा मइअण्णाणी सुयअण्णाणी य। जे ति अण्णाणी ते नियमा मतिअण्णाणी य सुयअण्णाणी य विभंगणाणी य। तिविहे जोगे, दुविहे उवओगे, छद्दिसिं आहारो, ओसन्नं कारणं पडुच्च वण्णओ कालाइं जाव आहारमाहरेंति; उववाओ तिरिय-मणुस्सेहिंतो, ठिती जहन्नेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेण तित्तीसं सागरोवमाइं। दुविहा मरंति, उवट्टणा भाणियव्वा जतो आगता, णवरि संमुच्छिमेसु पडिसिद्धो, दुगतिया, दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता समणाउसो ! से तं नेरइया।

[३२] नैरयिक जीवों का स्वरूप कैसा है ?

नैरयिक जीव सात प्रकार के हैं, यथा रत्नप्रभापृथ्वी-नैरयिक यावत् अधःसप्तमपृथ्वी-नैरयिक। ये नारक जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

भगवन् ! उन जीवों के कितने शरीर कहे गये हैं ?

गौतम ! तीन शरीर कहे गये हैं—वैक्रिय, तेजस और कार्मण।

भगवन् ! उन जीवों के शरीर की अवगाहना कितनी है ?

गौतम ! उनकी शरीरावगाहना दो प्रकार की है, यथा भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय।

इसमें से जो भवधारणीय अवगाहना है वह जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से पांच सौ धनुष। जो उत्तरवैक्रिय शरीरावगाहना है वह जघन्य से अंगुल का संख्यातवां भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजन की है।

भगवन्! उन जीवों के शरीर का संहनन कैसा है?

गौतम! छह प्रकार के संहननों में से एक भी संहनन उनके नहीं है क्योंकि उनके शरीर में न तो हड्डी है, न नाडी है, न स्नायु है। जो पुद्गल अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमनाम होते हैं, वे उनके शरीररूप में इकट्ठे हो जाते हैं।

भगवन्! उन जीवों के शरीर का संस्थान कौनसा है?

गौतम! उनके शरीर दो प्रकार के हैं—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। जो भवधारणीय शरीर हैं वे हुंड संस्थान के हैं और जो उत्तरवैक्रिय शरीर हैं वे भी हुंड संस्थान वाले हैं।

उन नैरयिक जीवों के चार कषाय, चार संज्ञाएँ, तीन लेश्याएँ, पांच इन्द्रियां, आरम्भ के चार समुद्घात होते हैं। वे जीव संज्ञी भी हैं, असंज्ञी भी हैं। वे नपुंसक वेद वाले हैं। उनके छह पर्याप्तियां और छह अपर्याप्तियां होती हैं। वे तीन दृष्टि वाले और तीन दर्शन वाले हैं। वे ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। जो ज्ञानी हैं वे नियम से तीन ज्ञान वाले हैं—मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी। जो अज्ञानी हैं उनमें से कोई दो अज्ञान वाले और कोई तीन अज्ञान वाले हैं। जो दो अज्ञान वाले हैं वे नियम से मतिअज्ञानी और श्रुतअज्ञानी हैं और जो तीन अज्ञान वाले हैं वे नियम से मतिअज्ञानी, श्रुतअज्ञानी और विभंगज्ञानी हैं।

उनमें तीन योग, दो उपयोग एवं छह दिशाओं का आहार ग्रहण पाया जाता है। प्रायः करके वे वर्ण से काले आदि पुद्गलों का आहार ग्रहण करते हैं। तिर्यंच और मनुष्यों से आकर वे नैरयिक रूप में उत्पन्न होते हैं। उनकी स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है। वे दोनों प्रकार से (समवहत और असमवहत) मरते हैं। वे मरकर गर्भज तिर्यंच एवं मनुष्य में जाते हैं—संमूर्छिमों में वे नहीं जाते, अतः हे आयुष्मन् श्रमण! वे दो गति वाले, दो आगति वाले, प्रत्येक शरीरी और असंख्यात कहे गये हैं। यह नैरयिकों का कथन हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नैरयिकों के प्रकार बताकर तेवीस द्वारों के द्वारा उनका निरूपण किया गया है। नैरयिक जीव सात प्रकार के हैं—१. रत्नप्रभापृथ्वी-नैरयिक, २. शर्कराप्रभापृथ्वी-नैरयिक, ३. वालुकाप्रभा-नैरयिक, ४. पंकप्रभापृथ्वी-नैरयिक, ५. धूमप्रभापृथ्वी-नैरयिक ६. तमःप्रभा-पृथ्वी-नैरयिक और ७. अधःसप्तमपृथ्वी-नैरयिक।

ये नैरयिक जीव संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। इनके शरीरादि द्वारों की विचारणा इस प्रकार है—

शरीरद्वार—नैरयिकजीवों में औदारिकशरीर नहीं होता। भवस्वभाव से ही उनका शरीर वैक्रिय होता है। अतः वैक्रिय, तैजस और कार्मण—ये तीन शरीर उनमें पाये जाते हैं।

अवगाहना—उनकी अवगाहना दो प्रकार की है—भवधारणीय और उत्तरवैक्रियिकी। जो जन्म से होती है वह भवधारणीय है और जो भवान्तर के वैरी नारक के प्रतिघात के लिए बाद में विचित्र रूप में बनाई जाती है वह उत्तरवैक्रियिकी है।

नारकियों की भवधारणीय अवगाहना तो जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग है जो जन्म-काल में होती है। उत्कृष्ट अवगाहना ५०० धनुष की है। यह उत्कृष्ट प्रमाण सातवीं पृथ्वी की अपेक्षा से है।

इनकी उत्तरवैक्रियिकी अवगाहना जघन्य से अंगुल का संख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से हजार धनुष की है। यह उत्कृष्ट प्रमाण सातवीं नरकभूमि की अपेक्षा से है। अलग-अलग नैरयिकों की भवधारणीय और उत्तरवैक्रियिकी उत्कृष्ट अवगाहना इस कोष्टक से जाननी चाहिए—

पृथ्वी का नाम	भवधारणीय अवगाहना	उत्तरवैक्रियिकी अव.
(१) रत्नप्रभा······	७॥। धनुष ६ अंगुल	१५॥ धनुष १२ अंगुल
(२) शर्कराप्रभा······	१५॥ धनुष १२ अंगुल	३१। धनुष
(३) बालुकाप्रभा ·······	३१। धनुष	६२॥ धनुष
(४) पंकप्रभा·······	६२॥ धनुष	१२५ धनुष
(५) धूमप्रभा·······	१२५ धनुष	२५० धनुष
(६) तमःप्रभा·······	२५० धनुष	५०० धनुष
(७) अधःसप्तमपृथ्वी	५०० धनुष	१००० धनुष

संहननद्वार—नारक जीवों के शरीर संहनन वाले नहीं होते। छह प्रकार के संहननों में से कोई भी संहनन उनके नहीं होता, क्योंकि उनके शरीरों में न तो शिराएँ (धमनी नाड़ियाँ) होती हैं और न स्नायु (छोटी नाड़ियाँ), उनके शरीर में हड्डियाँ नहीं होती। संहनन की परिभाषा है—अस्थियों का निचय होना। जब नैरयिकों के शरीर में अस्थियां हैं ही नहीं तो संहनन का सवाल ही नहीं उठता।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि पहले एकेन्द्रिय जीवों में सेवार्त संहनन बताया गया है, किन्तु उनके भी अस्थियाँ नहीं होती हैं? इसका समाधान यह है कि एकेन्द्रियों के औदारिक शरीर होता है और उस शरीर के सम्बन्ध मात्र की अपेक्षा से औपचारिक सेवार्तसंहनन कहा है। वास्तव में तो अस्थिनिचयात्मक ही संहनन है। प्रज्ञापना आदि में देवों को वज्रसंहनन वाले कहा गया है सो वह भी गौणरूप से और उपचारमात्र से कहा गया है। देवों में पर्वतादि को उखाड़ने की शक्ति है, उन्हें इस कार्य में जरा भी शारीरिक श्रम या थकावट नहीं होती, इस दृष्टि से उन्हें वज्रसंहननी कहा गया है। वस्तु-दृष्टि से तो वे असंहननी ही है।

कोई यह शंका कर सकता है कि 'शक्तिविशेष को संहनन कहते हैं' इस परिभाषा के अनुसार देवों में मुख्य रूप से संहनन मानना घटित हो सकता है। यह शंका सिद्धान्तबाधित है, क्योंकि इसी सूत्र में संहनन की परिभाषा 'अस्थिनिचयात्म' की गई है और स्पष्ट कहा गया है कि अस्थियों के अभाव में नैरयिकों में छह संहननों में से कोई संहनन नहीं होता।

पुनः शंका हो सकती है कि, यदि नारकियों के संहनन नहीं हैं तो उनके शरीरों का बन्ध कैसे घटित होगा? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—तथाविध पुद्गलस्कन्धों की तरह उनके शरीर का बन्ध हो जाता है। जो पुद्गल अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमनाम होते हैं वे उन नैरयिकों के शरीर के रूप में परिणत हो जाते हैं।

वृत्तिकार ने अनिष्ट आदि पदों का अर्थ इस प्रकार किया है—

अनिष्ट—जिसकी इच्छा ही न की जाय,

अकान्त—अकमनीय, जो सुहावने न हों, अत्यन्त अशुभ वर्णादि वाले,

अप्रिय—जो दिखते ही अरुचि उत्पन्न करें,

अशुभ—खराब वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाले,

अमनोज्ञ—जो मन में आह्लाद उत्पन्न नहीं करते क्योंकि विपाक दुःखजनक होता है,

अमनाम—जिनके प्रति रुचि उत्पन्न न हों।

संस्थानद्वार—नारकों के भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय—दोनों प्रकार के शरीर हुण्ड-संस्थान वाले हैं। तथाविध भवस्वभाव से नारकों के शरीर जड़मूल से उखाड़े गये पंख और ग्रीवा आदि अवयव वाले रोम-पक्षी की तरह अत्यन्त बीभत्स होते हैं। उत्तरविक्रिया करते हुए नारक चाहते हैं कि वे शुभ-शरीर बनायें किन्तु तथाविध अत्यन्त अशुभ नामकर्म के उदय से अत्यन्त अशुभ शरीर ही बना पाते हैं अतः वह भी हुण्डसंस्थान वाला ही होता है।

कषायद्वार—नारकों में चारों ही कषाय होते हैं।

संज्ञाद्वार—नारकों में चारों ही संज्ञाएँ पायी जाती हैं।

लेश्याद्वार—नारकों में शुरू की तीन अशुभ लेश्याएँ कृष्ण, नील और कापोत पाई जाती हैं। पहली और दूसरी नरक-भूमि में कापोतलेश्या, तीसरी नरक के कुछ नरकावासों में कापोतलेश्या और शेष में नीललेश्या; चौथी नरक में नीललेश्या, पांचवीं के कुछ नरकावासों में नीललेश्या और शेष में कृष्णलेश्या; छठी में कृष्णलेश्या और सातवीं नरक में परम कृष्णलेश्या पाई जाती है।

भगवतीसूत्र में कहा है—'आदि के दो नरकों में कापोतलेश्या, तीसरी में मिश्र (कापोत-नील), चौथी में नील, पांचवीं में मिश्र (नील-कृष्ण), छठी में कृष्ण और सातवीं में परम कृष्णलेश्या होती है।'[1]

इन्द्रियद्वार—नैरयिकों के स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये पांच इन्द्रियाँ होती हैं।

समुद्घातद्वार—इनके चार समुद्घात होते हैं—वेदना, कषाय, वैक्रिय और मारणान्तिक।

संज्ञीद्वार—ये नारकी जीव संज्ञी भी होते हैं और असंज्ञी भी होते हैं। जो गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) मर कर नारकी होते हैं वे संज्ञी कहे जाते हैं और जो संमूर्छिमों से आकर उत्पन्न होते हैं, वे असंज्ञी कहलाते हैं। ये रत्नप्रभा में ही उत्पन्न होते हैं, आगे के नरकों में नहीं। क्योंकि अविचार-पूर्वक जो अशुभ क्रिया की जाती है उसका इतना ही फल होता है। कहा है कि—

असंज्ञी जीव पहली नरक तक, सरीसृप दूसरी नरक तक, पक्षी तीसरी नरक तक, सिंह चौथी नरक तक, उरग (सर्पादि) पांचवीं नरक तक, स्त्री छठी नरक तक और मनुष्य एवं मच्छ सातवीं नरक तक उत्पन्न होते हैं।[2]

---

१. काऊ य दोसु तइयाए मीसिया नीलिया चउत्थिए।
पंचमियाए मीसा, कण्हा तत्तो परमकण्हा॥ —भगवतीसूत्र

२. असण्णी खलु पढमं दोच्चं व सिरीसवा तइय पक्खी।
सीहा जंति चउत्थि उरगा पुण पंचमि पुढवि॥
छट्ठि च इत्थियाओ मच्छा मणुया य सत्तमि पुढवि।
एसो परमोवाओ बोद्धव्वो नरयपुढवीसु॥

वेदद्वार—नारक जीव नपुंसक ही होते हैं।

पर्याप्तिद्वार—इनमें छह पर्याप्तियां और छह अपर्याप्तियां होती हैं। भाषा और मन की एकत्व विवक्षा से वृत्तिकार ने पांच पर्याप्तियां और पांच अपर्याप्तियां कही हैं।

दृष्टिद्वार—नारक जीव तीनों दृष्टि वाले होते हैं—१. मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि और मिश्रदृष्टि।

दर्शनद्वार—इनमें चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन यों तीन दर्शन पाये जाते हैं।

ज्ञानद्वार—ये ज्ञानी भी होते हैं और अज्ञानी भी। जो ज्ञानी हैं वे नियम से मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी हैं। जो अज्ञानी हैं वे मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी होते हैं। भावार्थ यह समझना चाहिए कि जो नारक असंज्ञी हैं वे अपर्याप्त अवस्था में दो अज्ञान वाले और पर्याप्त अवस्था में तीन अज्ञान वाले होते हैं। संज्ञी नारक दोनों ही अवस्था में तीन अज्ञान वाले होते हैं। असंज्ञी से उत्पद्यमान नारकों में अपर्याप्त अवस्था में बोध की मन्दता होने से अव्यक्त अवधि भी नहीं होता।

योगद्वार—नारकों में मनोयोग, वाग्योग और काययोग, तीन योग होते हैं।

उपयोग—नारक साकार और अनाकार दोनों उपयोगवाले हैं।

आहारद्वार—नारक जीव लोक के निष्कुट (किनारे) में नहीं होते, मध्य में होते हैं अतः उनके व्याघात नहीं होता। अतः छहों दिशाओं के पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और प्रायः करके अशुभ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले पुद्गलों को ग्रहण करते हैं।

उपपातद्वार—नारक जीव असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंचों और मनुष्यों को छोड़कर शेष पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं। शेष जीवस्थानों से नहीं।

स्थितिद्वार—नारकों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम है। जघन्य स्थिति प्रथम नरक की अपेक्षा और उत्कृष्ट स्थिति सातवीं नरक की अपेक्षा से समझनी चाहिए।

समवहतद्वार—नारक जीव मारणान्तिक समुद्घात से समवहत होकर भी मरते हैं और असमवहत होकर भी मरते हैं।

उद्वर्तनाद्वार—नारक पर्याय से निकल कर नारक जीव असंख्यात वर्षायु वाले तिर्यंचों और मनुष्यों को छोड़कर संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं। संमूछिम मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होते।

गति-आगतिद्वार—नारक जीव मरकर तिर्यंचों और मनुष्यों में ही जाते हैं, इसलिए दो गति वाले और तिर्यंचों मनुष्यों से ही आकर उत्पन्न होते हैं, इसलिए दो आगति वाले हैं।

हे आयुष्मन् श्रमण! ये नारक जीव प्रत्येकशरीरी हैं और असंख्यात हैं।

यह नैरयिकों का वर्णन हुआ।

तिर्यक् पंचेन्द्रियों का वर्णन

३३. से किं तं पंचेंदियतिरिक्खजोणिया?

पंचेंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता,

तंजहा—संमुच्छिम पंचेंदियतिरिक्खजोणिया य
गब्भवक्कंतिय पंचेंदियतिरिक्खजोणिया य ।

[३३] पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक कौन हैं ?
पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक दो प्रकार के कहे गये हैं । यथा—
(१) संमूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक और
(२) गर्भव्युत्क्रान्तिक पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक ।

३४. से किं तं संमुच्छिम पंचेंदियतिरिक्खजोणिया ?
संमुच्छिम पंचेंदिय तिरिक्खजोणिया तिविहा पण्णत्ता,
तंजहा—जलयरा, थलयरा, खहयरा ।

[३४] संमूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक कौन हैं ?
संमूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक तीन प्रकार के हैं—
जलचर, स्थलचर और खेचर ।

जलचरों का वर्णन

३५. से किं तं जलयरा ?
जलयरा पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा—
मच्छगा, कच्छभा, मगरा, गाहा, सुंसुमारा ।

से किं तं मच्छा ?

एवं जहा पण्णवणाए जाव जे यावण्णे तहप्पगारा । ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य ।

तेसि णं भंते ! जीवाणं कतिसरीरगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ सरीरगा पण्णत्ता, तंजहा—ओरालिए, तेयए, कम्मए । सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं । छेवट्टसंघयणी । हुंडसंठिया । चत्तारि कसाया, सण्णाओ वि, लेसाओ पंच, इंदिया पंच, समुग्घाया तिण्णि, णो सण्णी असण्णी, नपुंसकवेदा, पज्जत्तीओ अपज्जत्तीओ पंच, दो दिट्ठीओ, दो दंसणा, दो नाणा, दो अन्नाणा, दुविहे जोगे, दुविहे उवओगे, आहारो छद्दिसिं ।

उववाओ तिरियमणुस्सेहिंतो, नो देवेहिंतो नो नेरइएहिंतो, तिरिएहिंतो असंखेज्जवासाउय वज्जेसु, अकम्मभूमग-अंतरदीवग-असंखेज्जवासाउयवज्जेसु । ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं-पुव्वकोडी । मारणंतियसमुग्घाएणं दुविहा वि मरंति । अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं (उववज्जंति)? नेरइएसु वि, तिरिक्खजोणिएसु वि, मणुस्सेसु वि, देवेसु वि ।

नेरइएसु रयणप्पहाए सेसेसु पडिसेहो ।

तिरिएसु सव्वेसु उववज्जंति—संखेज्जवासाउएसु वि असंखेज्जवासाउएसु वि, चउप्पएसु वि पक्खीसु वि। मणुस्सेसु सव्वेसु कम्मभूमिएसु, नो अकम्मभूमिएसु अंतरदीवएसु वि संखिज्जवासाउएसु वि असंखिज्जवासाउएसु वि देवेसु जाव वाणमंतरा।

चउगइया, दुआगइया, परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता।

से त्तं जलयर-संमुच्छिम-पंचेंदियतिरिक्खा।

[३५] जलचर कौन हैं ?

जलचर पांच प्रकार के कहे गये हैं—मत्स्य, कच्छप, मगर, ग्राह और शिशुमार (सुंसुमार)।

मच्छ क्या हैं ?

मच्छ अनेक प्रकार के हैं इत्यादि वर्णन प्रज्ञापना के अनुसार जानना चाहिए यावत् इस प्रकार के अन्य भी मच्छ आदि ये सब जलचर संमूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

हे भगवन् ! उन जीवों के कितने शरीर कहे गये हैं ?

गौतम ! तीन शरीर कहे गये हैं—औदारिक, तैजस और कार्मण। उनके शरीर की अवगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजन। वे सेवार्तसंहनन वाले, हुण्डसंस्थान वाले, चार कषाय वाले, चार संज्ञाओं वाले, पांच लेश्याओं वाले हैं। उनके पांच इन्द्रियां, तीन समुद्घात होते हैं। वे संज्ञी नहीं, असंज्ञी हैं। वे नपुंसक वेद वाले हैं। उनके पांच पर्याप्तियां और पांच अपर्याप्तियां होती हैं। उनके दो दृष्टि, दो दर्शन, दो ज्ञान, दो अज्ञान, दो प्रकार के योग, दो प्रकार के उपयोग और आहार छहों दिशाओं के पुद्गलों का होता है।

वे तिर्यंच और मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, देवों और नारकों से नहीं। तिर्यंचों में से भी असंख्यात वर्षायु वाले तिर्यंच इनमें उत्पन्न नहीं होते। अकर्मभूमि और अन्तर्द्वीपों के असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य भी इनमें उत्पन्न नहीं होते।

इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की है। ये मारणांतिक समुद्घात से समवहत होकर भी मरते हैं और असमवहत होकर भी मरते हैं।

भगवन् ! ये संमूर्च्छिम जलचर जीव मरकर कहां उत्पन्न होते हैं ?

गौतम ! ये नरक में भी उत्पन्न होते हैं, तिर्यंचों में भी, मनुष्यों में भी और देवों में भी उत्पन्न होते हैं।

यदि नरक में उत्पन्न होते हैं तो रत्नप्रभा नरक तक ही उत्पन्न होते हैं, शेष नरकों में नहीं।

तिर्यंच में उत्पन्न हों तो सब तिर्यंचों में संख्यात वर्ष की आयु वालों में भी और असंख्यात वर्ष की आयु वालों में भी, चतुष्पदों में भी और पक्षियों में भी।

मनुष्य में उत्पन्न हों तो सब कर्मभूमियों के मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, अकर्मभूमि वाले मनुष्यों में नहीं। अन्तर्द्वीपजों में संख्यात वर्ष की आयुवालों में भी और असंख्यात वर्ष की आयु वालों में भी

उत्पन्न होते हैं। यदि वे देवों में उत्पन्न हों तो वानव्यन्तर देवों तक उत्पन्न होते हैं (आगे के देवों में नहीं)।

ये जीव चार गति में जाने वाले, दो गतियों से आने वाले, प्रत्येक शरीर वाले और असंख्यात कहे गये हैं। यह जलचर संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का वर्णन हुआ।

विवेचन—(सूत्र ३३ से ३५ तक)

प्रस्तुत सूत्रों में संमूर्च्छिम जलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के पांच भेद—मत्स्य, कच्छप, मकर, ग्राह और सुंसुमार तो बताये हैं परन्तु मत्स्य आदि के प्रकारों के लिए प्रज्ञापनासूत्र का निर्देश किया है। प्रज्ञापनासूत्र में वे प्रकार इस तरह बताये गये हैं—

मत्स्यों के प्रकार—श्लक्ष्ण मत्स्य, खवल्ल मत्स्य, युग मत्स्य, भिब्भिय मत्स्य, हेलिय मच्छ, मंजरिया मच्छ, रोहित मच्छ, हलीसागर, मोगरावड, वडगर तिमिमच्छ, तिमिंगला मच्छ, तंदुल मच्छ, काणिक्क मच्छ, सिलेच्छिया मच्छ, लंभण मच्छ, पताका मत्स्य पताकातिपताका मत्स्य, नक्र मत्स्य, और भी इसी तरह के मत्स्य।

कच्छपों के प्रकार—कच्छपों के दो प्रकार हैं—अस्थिकच्छप और मंसलकच्छप।

ग्राह के पांच प्रकार—दिली, वेढग, मुदुग, पुलग और सीमागार।

मगर के दो भेद—सोंड मगर और मृट्ठ मगर।

सुंसुमार—एक ही प्रकार के हैं।

ये मत्स्यादि सब जलचर संमूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से दो प्रकार के हैं इत्यादि वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

शरीरादि २३ द्वारों की विचारणा चतुरिन्द्रिय की तरह जानना चाहिए। जो विशेषता है वह इस प्रकार है—

अवगाहनाद्वार में इनकी जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यात भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजन है।

इन्द्रियद्वार में इनके पांच इन्द्रियां कहनी चाहिए।

संज्ञीद्वार में ये असंज्ञी ही हैं, संज्ञी नहीं—संमूर्छिम होने से ये समनस्क (संज्ञी) नहीं होते।

उपपातद्वार में ये असंख्यात वर्षायु वालों को छोड़कर शेष तिर्यंचों मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं।

स्थितिद्वार में जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटी की स्थिति है।

उद्वर्तनाद्वार में ये चारों गतियों में उत्पन्न होते हैं।

नरक में उत्पन्न हों तो पहली रत्नप्रभा में ही उत्पन्न होते हैं, इससे आगे की नरकों में नहीं।

सब प्रकार के तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं।

मनुष्यों में कर्मभूमि के मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं।

देवों में भवनपति और वाणव्यन्तरों में उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार ये जीव चारों गतियों में जाने वाले और दो गतियों से आने वाले हैं। हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ये जीव प्रत्येकशरीरी हैं और असंख्यात हैं।

स्थलचरों का वर्णन

३६. से किं तं थलयर-संमुच्छिमपंचेंदिय-तिरिक्खजोणिया ?

थलयर संमु० दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

चउप्पय थल०, परिसप्प सम्मु० पंचें० तिरिक्खजोणिया।

से किं तं थलयर चउप्पय सम्मुच्छिम पंचें० तिरिक्खजोणिया ?

थलयर चउप्पय० चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—

एगखुरा, दुखुरा, गंडीपया, सणप्फया। जाव जे यावण्णे तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य।

तओ सरीरा, ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं गाउयपुहुत्तं।

ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं चउरासिइवाससहस्साइं। सेसं जहा जलयराणं जाव चउगतिया दो आगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता। से तं थलयर चउप्पय०।

से किं तं थलयर परिसप्प संमुच्छिमा ?

थलयर परिसप्प संमुच्छिमा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

उरग परिसप्प संमुच्छिमा, भुयग परिसप्प संमुच्छिमा।

से किं तं उरग परिसप्प संमुच्छिमा ?

उरग परि० सं० चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—

अही अयगरा आसालिया महोरगा।

से किं तं अही ?

अही दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

दव्वीकरा, मउलिणो य।

से किं तं दव्वीकरा ?

दव्वीकरा अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—

आसीविसा जाव से तं दव्वीकरा।

से किं तं मउलिणो ?

मउलिणो अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—

दिव्वा, गोणसा जाव से तं मउलिणो। से तं अही।

से किं तं अयगरा ?

अयगरा एगागारा पण्णत्ता। से तं अयगरा।

से किं तं आसालिया ?

आसालिया जहा पण्णवणाए। से तं आसालिया।

से किं तं महोरगा ?

महोरगा जहा पण्णवणाए। से तं महोरगा।

जे यावण्णे तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य। तं चेव नवरि सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणपुहुत्तं। ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेवण्णं वाससहस्साइं। सेसं जहा जलयराणं जाव चउगतिया दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा। से तं उरगपरिसप्पा।

से किं तं भुयगपरिसप्प संमुच्छिम थलयरा ?

भुयग परि० संमु० थलयरा अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—गोहा, णउला, जाव जे यावन्ने तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य। सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलासंखेज्जं उक्कोसेणं धणुपुहुत्तं। ठिई उक्कोसेणं बायालीसं वाससहस्साइं; सेसं जहा जलयराणं जाव चउगतिया, दुआगतिया, परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता। से तं भुजपरिसप्प संमुच्छिमा। से तं थलयरा।

से किं तं खहयरा ?

खहयरा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—

चम्मपक्खी, लोमपक्खी, समुग्गपक्खी, विततपक्खी।

से किं तं चम्मपक्खी ?

चम्मपक्खी अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—

वग्गुली जाव जे यावन्ने तहप्पगारा, से तं चम्मपक्खी।

से किं तं लोमपक्खी ?

लोमपक्खी अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—

ढंका, कंका जे यावन्ने तहप्पगारा, से तं लोमपक्खी।

से किं तं समुग्गपक्खी ?

समुग्गपक्खी एगागारा पण्णत्ता जहा पण्णवणाए।

एवं विततपक्खी जाव जे यावण्णे तहप्पगारा, ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य। णाणत्तं सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं धणुपुहुत्तं। ठिई उक्कोसेणं बावत्तरिं वाससहस्साइं। सेसं जहा जलयराणं जाव चउगतिया दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता। से तं खहयर संमु० तिरिक्खजोणिया। से तं संमु० पंचेंदिय तिरिक्खजोणिया।

[३६] स्थलचर संमूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक कौन हैं ?

स्थलचर संमूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक दो प्रकार के हैं—चतुष्पद स्थलचर सं. पं. तिर्यंच और परिसर्प सम्मु. पं. ति.।

चतुष्पद स्थलचर सं. पं. तिर्यंच कौन हैं ?

चतुष्पद स्थलचर सं.पं. तिर्यंच चार प्रकार के हैं, यथा—एक खुर वाले, दो खुर वाले, गंडीपद और सनखपद। यावत् जो इसी प्रकार के अन्य भी चतुष्पद स्थलचर हैं। वे संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके तीन शरीर, अवगाहना जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट दो कोस से नौ कोस तक। स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट चौरासी हजार वर्ष की होती है। शेष सब जलचरों के समय समझना चाहिए। यावत् ये चार गति में जाने वाले और दो गति से आने वाले हैं, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात हैं। यह स्थलचर चतुष्पद संमूच्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिकों का कथन पूरा हुआ।

परिसर्प स्थलचर सं. पं. तिर्यंचयोनिक क्या हैं ?

परिसर्प स्थलचर सं. पं. तिर्यंचयोनिक दो प्रकार के हैं, यथा—उरग परिसर्प संमू. पं. ति. और भुजग परिसर्प संमू.।

उरग परिसर्प संमू. क्या हैं ?

उरग परिसर्प समू. चार प्रकार के हैं—अहि, अजगर, असालिया और महोरग।

अहि कौन हैं ?

अहि दो प्रकार के हैं—दर्वीकर (फणवाले) और मुकुली (फण रहित)। दर्वीकर कौन हैं ? दर्वीकर अनेक प्रकार के हैं, जैसे—आशीविष आदि यावत् दर्वीकर का कथन पूरा कथन।

मुकुली क्या हैं ?

मुकुली अनेक प्रकार के हैं, जैसे—दिव्य, गोनस यावत् मुकुली का कथन पूरा।

अजगर क्या हैं ?

अजगर एक ही प्रकार के हैं। अजगरों का कथन पूरा।

आसालिक क्या हैं ?

प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार आसालिकों का वर्णन जानना चाहिए।

महोरग क्या हैं ?

प्रज्ञापना के अनुसार इनका वर्णन जानना चाहिए। इस प्रकार के अन्य जो उरपरिसर्प जाति के हैं वे संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। शेष पूर्ववत् जानना चाहिए। विशेषता इस प्रकार—इनकी शरीर अवगाहना जघन्य से अंगुल के असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट योजन पृथक्त्व (दो से लेकर नव योजन तक)। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तिरपन हजार वर्ष। शेष द्वार जलचरों के समान जानना चाहिए यावत् ये जीव चार गति में जाने वाले, दो गति से आने वाले, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात हैं। यह उरग परिसर्प का कथन हुआ।

भुजग परिसर्प संमूर्छिम स्थलचर क्या हैं ?

भुजग परिसर्प संमूर्छिम स्थलचर अनेक प्रकार के हैं, यथा—गोह, नेवला यावत् अन्य इसी प्रकार के भुजग परिसर्प। ये संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। शरीरावगाहना जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट धनुषपृथक्त्व (दो धनुष से नौ धनुष तक)

स्थिति उत्कृष्ट से बयालीस हजार वर्ष। शेष जलचरों की भाँति कहना यावत् ये चार गति में जाने वाले, दो गति से आने वाले, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात हैं। यह भुजग परिसर्प संमूर्छिमों का कथन हुआ। इसके साथ ही स्थलचरों का कथन भी पूरा हुआ।

खेचर का क्या स्वरूप है ?

खेचर चार प्रकार के कहे गये हैं, यथा—चर्मपक्षी रोमपक्षी, समुद्गकपक्षी और विततपक्षी।

चर्मपक्षी क्या हैं ?

चर्मपक्षी अनेक प्रकार के हैं, जैसे—वल्गुली यावत् इसी प्रकार के अन्य चर्मपक्षी।

रोमपक्षी क्या हैं ?

रोमपक्षी अनेक प्रकार के हैं, यथा—ढंक, कंक यावत् अन्य इसी प्रकार के रोमपक्षी।

समुद्गकपक्षी क्या हैं ?

ये एक ही प्रकार के हैं। जैसा प्रज्ञापना में कहा वैसा जानना चाहिए।

इसी तरह विततपक्षी भी पन्नवणा के अनुसार जानने चाहिए।

ये खेचर संक्षेप से दो प्रकार के कहे गये हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त इत्यादि पूर्ववत्। विशेषता यह है कि इनकी शरीरावगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट धनुषपृथक्त्व है। स्थिति उत्कृष्ट बहत्तर हजार वर्ष की है। शेष सब जलचरों की तरह जानना चाहिए। यावत् ये खेचर चार गतियों में जाने वाले, दो गतियों से आने वाले, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात हैं। यह खेचरों का वर्णन हुआ। साथ ही संमूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिकों का कथन पूरा हुआ।

विवेचन—पूर्व सूत्र में जलचरों का वर्णन करने के पश्चात् इस सूत्र में संमूर्छिम स्थलचर और खेचर का वर्णन किया गया है। स्थलचर संमूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंच दो प्रकार के हैं—चतुष्पद और परिसर्प। जिसके चार पांव हों वे चतुष्पद हैं, जैसे अश्व, बैल आदि। जो पेट के बल या भुजाओं के सहारे चलते हैं वे परिसर्प हैं। जैसे सर्प, नकुल आदि। सूत्र में आये हुए दो चकार स्वगत अनेक भेद के सूचक हैं।

चतुष्पद स्थलचर चार प्रकार के हैं—एक खुर वाले, दो खुर वाले, गंडीपद और सनखपद। प्रज्ञापना सूत्र में इन चारों के प्रकार बताये गये हैं, जो इस भांति हैं—

एक खुर वाले अनेक प्रकार के हैं यथा—अश्व, अश्वतर (खेचर), घोटक (घोड़ा), गर्दभ, गोरक्षर, कन्दलक, श्रीकन्दलक और आवर्तक आदि।

दो खुर वाले अनेक प्रकार के हैं, यथा—ऊँट, बैल, गवय (नील गाय), रोझ, पशुक, महिष (भैंस-भैंसा), मृग, सांभर, बराह, अज (बकरा-बकरी), एलक (भेड़ या बकरा), रुरु, सरभ, चमर (चमरीगाय), कुरंग, गोकर्ण आदि।

गंडीपद—गंडी का अर्थ है—एरन। एरन के समान जिनके पांव हों वे गंडीपद हैं। ये अनेक प्रकार के हैं, यथा—हाथी, हस्तिपूतनक, मत्कुण हस्ती (बिना दांतों का छोटे कद का हाथी), खड्गी और गेंडा।

सनखपद—जिनके पावों के नख बड़े-बड़े हों वे सनखपद हैं। जैसे—कुत्ता, सिंह आदि। सनखपद अनेक प्रकार के हैं, जैसे—सिंह, व्याघ्र, द्वीपिका (दीपड़ा), रींछ (भालू), तरस, पाराशर, शृगाल (सियार), बिडाल (बिल्ली), श्वान, कोलश्वान, कोकन्तिक (लोमड़ी), शशक (खरगोश), चीता और चित्तलक (चिल्लक) इत्यादि।

इन चतुष्पद स्थलचरों में पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद तथा पूर्वोक्त २३ द्वारों की विचारणा जलचरों के समान जाननी चाहिए, केवल अन्तर इस प्रकार है। इनके शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट गव्यूतिपृथक्त्व (दो कोस से लेकर नौ कोस) की। आगम में पृथक्त्व का अर्थ दो से लेकर नौ की संख्या के लिए है। इनकी स्थिति जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट चौरासी हजार वर्ष की है। शेष सब वर्णन जलचरों की तरह ही है। यावत् वे चारों गतियों में जाने वाले, दो गति से आने वाले, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात हैं।

परिसर्प स्थलचर—पेट और भुजा के बल चलने वाले परिसर्प कहलाते हैं। इनके दो भेद किये हैं—उरगपरिसर्प और भुजगपरिसर्प। **उरगपरिसर्प** के चार भेद हैं—अहि, अजगर, आसालिक और महोरग।

अहि—ये दो प्रकार के हैं—दर्वीकर अर्थात् फण वाले और मुकुली अर्थात् बिना फण वाले। **दर्वीकर अहि** अनेक प्रकार के हैं, यथा—आशीविष, दृष्टिविष, उग्रविष, भोगविष, त्वचाविष, लालाविष, उच्छ्वासविष, निःश्वासविष, कृष्णसर्प श्वेतसर्प, काकोदर, दह्यपुष्प (दर्भपुष्प) कोलाह, मेलिमिन्द और शेषेन्द्र इत्यादि।

मुकुली—बिना फन वाले मुकुली सर्प अनेक प्रकार के हैं, यथा—दिव्याक (दिव्य), गोनस, कषाधिक, व्यतिकुल, चित्रली, मण्डली, माली, अहि, अहिशलाका, वातपताका आदि।

अजगर—ये एक ही प्रकार के होते हैं।

आसालिक—प्रज्ञापनासूत्र में आसालिक के विषय में ऐसी प्ररूपणा की गई है—

'भंते ! आसालिक कैसे होते हैं और कहाँ संमूर्छित (उत्पन्न) होते हैं ?

गौतम ! ये आसालिक उरःपरिसर्प मनुष्य क्षेत्र के अन्दर ढाई द्वीपों में निर्व्याघात से पन्द्रह कर्मभूमियों में और [1] व्याघात की अपेक्षा पांच महाविदेह क्षेत्रों में, चक्रवर्ती के स्कंधावारों (छावनियों) में, वासुदेवों के स्कंधावारों में, बलदेवों के स्कंधावारों में, मंडलिक (छोटे) राजाओं के स्कंधावारों में, महामंडलिक (अनेक देशों के) राजाओं के स्कंधावारों में, ग्रामनिवेशों में, नगर-निवेशों में, निगम (वणिक्वसति) निवेशों में, खेट (खेड़ा) निवेशों में, कर्बट (छोटे प्राकार वाले) निवेशों में, मंडल (जिसके २।। कोस के अन्तर में ग्राम न हो) निवेशों में, द्रोणमुख (प्रायः जल निर्गम प्रवेश वाला स्थान) निवेशों में, पत्तन[2] और पट्टन निवेशों में, आकरनिवेशों में, आश्रम-निवेशों में, संवाध (यात्रीगृह) निवेशों में और राजधानीनिवेशों में—जब इनका बिनाश होने

---

१. सुषमसुषमादिरूपोऽतिदुःषमादिरूपः कालो व्याघातहेतुः। —वृत्ति

२. पत्तनं शकटैर्गम्यं, घोटकैर्नौभिरेव च।
नौभिरेव तु यद् गम्यं पट्टनं तत्प्रचक्षते ।। —वृत्ति

वाला होता है तब इन पूर्वोक्त स्थानों में आसालिक संमूर्छिम रूप से उत्पन्न होता है। यह जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी अवगाहना (उत्पत्ति के समय) और उत्कृष्ट बारह योजन की अवगाहना और उसके अनुरूप ही लम्बाई-चौड़ाई वाला होता है। यह पूर्वोक्त स्कंधावार आदि की भूमि को फाड़ कर बाहर निकलता है। यह असंज्ञी, मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी होता है और अन्तर्मूहूर्त की आयु भोग कर मर जाता है। यह आसालिक गर्भज नहीं होता, यह संमूर्छिम ही होता है। यह मनुष्यक्षेत्र से बाहर नहीं होता। यह आसालिक का वर्णन हुआ।

महोरग—प्रज्ञापनासूत्र में महोरग का वर्णन इस प्रकार है—

महोरग अनेक प्रकार के कहे गये हैं, यथा—कोई महोरग एक अंगुल के भी होते हैं, कोई अंगुलपृथक्त्व के, कई वितस्ति (बेंत—बारह अंगुल) के होते हैं, कई वितस्तिपृथक्त्व के होते हैं, कई एक रत्नि (हाथ) के होते हैं, कई रत्निपृथक्त्व (दो हाथ से नौ हाथ तक) के होते हैं, कई कुक्षि (दो हाथ) प्रमाण होते हैं, कई कुक्षिपृथक्त्व के होते हैं, कई धनुष (चार हाथ) प्रमाण होते हैं, कई धनुषपृथक्त्व के होते हैं, कई गव्यूति (कोस या दो हजार धनुष) प्रमाण होते हैं, कई गव्यूतिपृथक्त्व प्रमाण के होते हैं, कई योजन (चार कोस) के होते हैं, कई योजनपृथक्त्व के होते हैं। (कोई सौ योजन के, कोई दो सौ से नौ सौ योजन के होते हैं और कई हजार योजन के भी होते हैं।)*

ये स्थल में उत्पन्न होते हैं परन्तु जल में भी स्थल की तरह चलते हैं और स्थल में भी चलते हैं। वे यहाँ नहीं होते, मनुष्यक्षेत्र के बाहर के द्वीप-समुद्रों में होते हैं। समुद्रों में भी पर्वत, देवनगरी आदि स्थलों में उत्पन्न होते हैं, जल में नहीं। इस प्रकार के अन्य भी दस अंगुल आदि की अवगाहना वाले महोरग होते हैं। यह अवगाहना उत्सेधांगुल के मान से है। शरीर का माप उत्सेधांगुल से ही होता है।

इस प्रकार अहि, अजगर आदि उर:परिसर्प स्थलचर सम्मूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त इत्यादि कथन तथा २३ द्वारों की विचारणा जलचरों की भांति जानना चाहिए। अवगाहना और स्थिति द्वार में अन्तर है। इनकी अवगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से योजनपृथक्त्व होती है। स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तिरेपन हजार वर्ष की होती है। शेष पूर्ववत् यावत् ये चार गति में जाने वाले, दो गति से आने वाले, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात होते हैं।

भुजगपरिसर्प—प्रज्ञापनासूत्र में भुजगपरिसर्प के भेद इस प्रकार बताये गये हैं—गोह, नकुल, सरट (गिरगिट), शल्य, सरंठ, सार, खार, गृहकोकिला (घरोली-छिपकली), विषम्भरा (वसुंभरा), मूषक, मंगूस (गिलहरी), पयोलातिक, क्षीरविडालिका आदि अन्य इसी प्रकार के भुजपरिसर्प तिर्यंच।

यह भुजपरिसर्प संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। शेष वर्णन पूर्ववत् समझना। तेवीस द्वारों की विचारणा में जलचरों की तरह कथन करना चाहिए, केवल अवगाहनाद्वार और स्थितिद्वार में अन्तर जानना चाहिए। इनकी अवगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से धनुषपृथक्त्व है। स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बयालीस हजार वर्ष की है। शेष पूर्ववत् यावत् ये जीव चार गति वाले, दो आगति वाले, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात हैं।

---

* कोष्ठक में दिया हुआ अंश गर्भज महोरग की अपेक्षा समझना चाहिए।

खेचर—खेचर के ४ प्रकार हैं—चर्मपक्षी, रोमपक्षी, समुद्गकपक्षी और विततपक्षी। प्रज्ञापना में इनके भेद इस प्रकार कहे हैं—

चर्मपक्षी—अनेक प्रकार के हैं—वग्गुली (चिमगादड़), जलौका, अडिल्ल, भारंडपक्षी जीवंजीव, समुद्रवायस, कर्णत्रिक और पक्षीविडाली आदि। जिनके पंख चर्ममय हों वे चर्मपक्षी हैं।

रोमपक्षी—जिनके पंख रोममय हों वे रोमपक्षी हैं। इनके भेद प्रज्ञापनासूत्र में इस प्रकार कहे हैं—

ढंक, कंक, कुरल, वायस, चक्रवाक, हंस, कलहंस, राजहंस (लाल चोंच एवं पंख वाले हंस) पादहंस, आड, सेडी, वक, बलाका (बकपंक्ति), पारिप्लव, क्रौंच, सारस, मेसर, मसूर, मयूर, शतवत्स (सप्तहस्त), गहर, पौण्डरोक, काक, कामंजुक, बंजुलक, तीतर, वर्तक (बतक), लावक, कपोत, कपिंजल, पारावत, चिटक, चास, कुक्कुट, शुक, वर्हि (मोरविशेष) मदनशलाका (मैना), कोकिल, सेह और वरिल्लक आदि।

समुद्गकपक्षी—उड़ते हुए भी जिनके पंख पेटी की तरह स्थित रहते हैं वे समुद्गकपक्षी हैं। ये एक ही प्रकार के हैं। ये मनुष्य क्षेत्र में नहीं होते। बाहर के द्वीपों समुद्रों में होते हैं।

विततपक्षी—जिनके पंख सदा फैले हुए होते हैं वे विततपक्षी हैं। ये एक ही प्रकार के हैं। ये मनुष्य क्षेत्र में नहीं होते, बाहर के द्वीपों समुद्रों में होते हैं।

ये खेचर संमूर्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय पर्याप्त, अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं, इत्यादि वर्णन पूर्ववत्। शरीर अवगाहना आदि द्वारों की विचारणा जलचरों की तरह करनी चाहिए। जो अन्तर है वह अवगाहना और स्थितिद्वारों में है। इनकी उत्कृष्ट अवगाहना धनुषपृथक्त्व है और स्थिति बहत्तर हजार वर्ष की है। ये जीव चार गति वाले, दो आगति वाले, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात हैं।

यहाँ स्थिति और अवगाहना को बताने वाली दो संग्रहणी गाथाएँ भी किन्हीं प्रतियों में हैं। वे इस प्रकार हैं—

जोयणसहस्स गाउयपुहुत्त तत्तो य जोयणपुहुत्तं।
दोण्हं पि धणुपुहुत्तं संमुच्छिम वियगपक्खीणं॥१॥
संमुच्छ पुव्वकोडी चउरासीई भवे सहस्साइं।
तेवण्णा बायाला बावत्तरिमेव पक्खीणं॥२॥

इनका अर्थ इस प्रकार है—सम्मूर्छिम जलचरों की उत्कृष्ट अवगाहना हजार योजन की है, चतुष्पदों की गव्यूति (कोस) पृथक्त्व है, उरपरिसर्पों की योजनपृथक्त्व की है। सम्मूर्छिम भुजगपरिसर्प और पक्षियों की धनुषपृथक्त्व की है।

सम्मूर्छिम जलचरों की उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटी है। चतुष्पदों की चौरासी हजार वर्ष की है, उरपरिसर्पों की तिरपन हजार वर्ष की है, भुजपरिसर्पों की बयालीस हजार वर्ष की है, पक्षियों की बहत्तर हजार वर्ष की है।

यह सम्मूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिकों का कथन हुआ।

गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का कथन

से किं तं गब्भवक्कंतिय पंचेंदिय तिरिक्खजोणिया ?

गब्भवक्कंतिय पं० तिरिक्ख जोणिया तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जलयरा, थलयरा, खहयरा।

[३७] गर्भव्युत्क्रान्तिक पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक क्या हैं ?

गर्भव्युत्क्रान्तिक पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—जलचर, स्थलचर और खेचर।

गर्भज जलचरों का वर्णन

३८, से किं तं जलयरा ?

जलयरा पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा—

मच्छा, कच्छभा, मगरा, गाहा, सुंसुमारा।

सव्वेसिं भेदो भाणियव्वो तहेव जहा पण्णवणाए, जाव जे यावण्णे तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य।

तेसिं णं भंते ! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि सरीरगा पण्णत्ता, तंजहा—

ओरालिए, वेउव्विए, तेयए, कम्मए।

सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं।

छव्विह संघयणी पण्णत्ता, तंजहा—

वइरोसभनारायसंघयणी, उसभनारायसंघयणी, नारायसंघयणी, अद्धनारायसंघयणी, कीलियासंघयणी, सेवट्टसंघयणी।

छव्विहा संठिया पण्णत्ता, तंजहा—

समचउरंससंठिया, णग्गोधपरिमंडलसंठिया, सादिसंठिया, खुज्जसंठिया, वामणसंठिया, हुंडसंठिया। कसाया सव्वे, सण्णाओ चत्तारि, लेसाओ छह, पंच इंदिया, पंच समुग्धाया आइल्ला, सण्णी, णो असण्णी, तिविह वेदा, छप्पज्जत्तीओ, छअप्पज्जत्तीओ, दिट्ठी तिविहा वि, तिण्णि दंसणा, णाणी वि अण्णाणी वि, जे णाणी ते अत्थेगइया दुणाणी, अत्थेगइया तिन्नाणी; जे दुन्नाणी ते णियमा आभिणिबोहियणाणी य सुयणाणी य। जे तिणाणी ते नियमा आभिनिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी। एवं अण्णाणि वि। जोगे तिविहे, उवओगे दुविहे, आहारो छद्दिसिं। उववाओ नेरइएहिं जाव अहेसत्तमा, तिरिक्खजोणिएहिं सव्वेहिं असंखेज्जवासाउयवज्जेहिं, मणुस्सेहिं अकम्मभूमग अंतरदीवग असंखेज्जवासाउयवज्जेहिं, देवेहिं जाव सहस्सारो। ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी। दुविहा वि मरंति। अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु जाव अहेसत्तमा, तिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु सव्वेसु देवेसु जाव सहस्सारो, चउगतिया चउआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता, से तं जलयरा।

[३८] (गर्भज) जलचर क्या हैं ?

ये जलचर पांच प्रकार के हैं—मत्स्य, कच्छप, मगर, ग्राह और सुंसुमार।

इन सबके भेद प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार कहना चाहिए यावत् इस प्रकार के गर्भज जलचर संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

हे भगवन् ! इन जीवों के कितने शरीर कहे गये हैं ?

गौतम ! इनके चार शरीर कहे गये हैं, जैसे कि

औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण।

इनकी शरीरावगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से हजार योजन की है।

इन जीवों के छह प्रकार के संहनन होते हैं, जैसे कि वज्रऋषभनाराचसंहनन, ऋषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलिकासंहनन और सेवार्तसंहनन। इन जीवों के शरीर के संस्थान छह प्रकार के हैं—

समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, सादिसंस्थान, कुब्जसंस्थान, वामनसंस्थान और हुंडसंस्थान।

इन जीवों के सब कषाय, चारों संज्ञाएँ, छहों लेश्याएँ, पांचों इन्द्रियां, शुरू के पांच समुद्घात होते हैं। ये जीव संज्ञी होते हैं, असंज्ञी नहीं। इनमें तीन वेद, छह पर्याप्तियां, छह अपर्याप्तियां, तीनों दृष्टियां, तीन दर्शन, पाये जाते हैं। ये जीव ज्ञानी भी होते हैं और अज्ञानी भी होते हैं। जो ज्ञानी हैं उनमें कोई दो ज्ञान वाले हैं और कोई तीन ज्ञान वाले। जो दो ज्ञान वाले हैं वे मतिज्ञान वाले और श्रुतज्ञान वाले हैं। जो तीन ज्ञान वाले हैं वे नियम से मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी हैं। इसी तरह अज्ञानी भी।

इन जीवों में तीन योग, दोनों उपयोग होते हैं। इनका आहार छहों दिशाओं से होता है।

ये जीव नैरयिकों से भी आकर उत्पन्न होते हैं यावत् सातवीं नरक से भी आकर उत्पन्न होते हैं। असंख्य वर्षायु वाले तिर्यंचों को छोड़कर सब तिर्यंचों से भी आकर उत्पन्न होते हैं। अकर्मभूमि, अन्तर्द्वीप और असंख्य वर्षायु वाले मनुष्यों को छोड़कर शेष सब मनुष्यों से भी आकर उत्पन्न होते हैं। ये सहस्रार तक के देवलोकों से आकर भी उत्पन्न होते हैं।

इनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटी की है। ये दोनों प्रकार के-समवहत, असमवहत मरण से मरते हैं। ये यहां से मर कर सातवीं नरक तक, सब तिर्यंचों और मनुष्यों में और सहस्रार तक के देवलोक में जाते हैं। ये चार गति वाले, चार आगति वाले, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात हैं। यह (गर्भज) जलचरों का कथन हुआ।

विवेचन—गर्भज जलचरों के भेद प्रज्ञापना के अनुसार जानने का निर्देश दिया गया है। ये भेद मत्स्य, कच्छप आदि पूर्व के सूत्र के विवेचन में बता दिये हैं। पर्याप्त, अपर्याप्त का वर्णन भी पूर्ववत् जानना चाहिए। शरीर आदि द्वार सम्मूर्छिम जलचरों के समान जानने चाहिए; जो अन्तर है, वह इस प्रकार जानना चाहिए—

शरीरद्वार में गर्भज जलचरों में चार शरीर पाये जाते हैं।

इनमें वैक्रियशरीर भी पाया जाता है। अतएव औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण—ये चार शरीर पाये जाते हैं।

अवगाहनाद्वार में इन गर्भज जलचरों की उत्कृष्ट अवगाहना हजार योजन की जाननी चाहिए।

संहननद्वार में इन गर्भज जलचरों में छहों संहनन सम्भव हैं। वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त ये छह संहनन होते हैं। इनकी व्याख्या पहले २३ द्वारों की सामान्य व्याख्या के प्रसंग में की गई है।[1]

संस्थानद्वार—इन जीवों के शरीरों के संस्थान छहों प्रकार के सम्भव हैं। वे छह संस्थान इस प्रकार हैं—समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, सादिसंस्थान,[2] वामनसंस्थान, कुब्जसंस्थान और हुंडसंस्थान। इनकी व्याख्या पहले सामान्य द्वारों की व्याख्या के प्रसंग में कर दी गई है।[3]

लेश्याद्वार में छहों लेश्याएँ हो सकती हैं। शुक्ललेश्या भी सम्भव है।

समुद्घातद्वार में आदि के पांच समुद्घात होते हैं। वैक्रियसमुद्घात भी सम्भव है।

संज्ञीद्वार में ये संज्ञी ही होते हैं असंज्ञी नहीं। वेदद्वार में तीनों वेद होते हैं। इनमें नपुंसक वेद के अतिरिक्त स्त्रीवेद और पुरुषवेद भी होता है।

पर्याप्तिद्वार में छहों पर्याप्तियां और छहों अपर्याप्तियां होती हैं। वृत्तिकार ने पांच पर्याप्तियाँ और पांच अपर्याप्तियाँ कहीं हैं सो भाषा और मन की एकत्व-विवक्षा को लेकर समझना चाहिए।

दृष्टिद्वार में तीनों (मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि) होते हैं।

दर्शनद्वार में इन जीवों में तीन दर्शन हो सकते हैं, क्योंकि किन्हीं में अवधिदर्शन भी हो सकता है।

ज्ञानद्वार में ये तीन ज्ञान वाले भी हो सकते हैं। क्योंकि इनमें से किन्हीं को अवधिज्ञान भी हो सकता है।

अज्ञानद्वार में तीन अज्ञान वाले भी हो सकते हैं। क्योंकि किन्हीं को विभंगज्ञान भी हो सकता है।

---

१. वज्जरिसहनारायं पढमं बीयं च रिसहनारायं।
नारायमद्धनाराय कीलिया तह य छेवट्टं ॥१॥
रिसहो य होइ पट्टो, वज्जं पुण कीलिया मुणेयव्वा।
उसभो मक्कडबंधो, नारायं तं वियाणाहि ॥२॥

२. 'साची' ऐसा भी पाठ है। साची का अर्थ शाल्मलि वृक्ष होता है। वह नीचे से अतिपुष्ट होता है, ऊपर से तदनुरूप नहीं होता।

३. समचउरंसे नग्गोहमंडले साइखुज्जवामणए।
हुंडे वि संठाणे जीवाणं छ मुणेयव्वा ॥१॥

अवधिज्ञान और विभंगज्ञान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व को लेकर भेद है। सम्यग्दृष्टि का अवधिज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टि का वही ज्ञान विभंगज्ञान कहलाता है।[1]

उपपातद्वार में ये जीव सातों नारकों से, असंख्यात वर्षायु वाले तिर्यंचों को छोड़कर शेष सब तिर्यंचों से, अकर्मभूमिज अन्तर्द्वीपज और असंख्यात वर्ष की आयुवालों को छोड़कर शेष कर्मभूमि के मनुष्यों से और सहस्रार नामक आठवें देवलोक तक के देवों से आकर उत्पन्न होते हैं। इससे आगे के देव इनमें उत्पन्न नहीं होते।

स्थितिद्वार में इन जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटी की है।

उद्वर्तनाद्वार में सहस्रार देवलोक से आगे के देवों को छोड़कर शेष सब जीवस्थानों में जाते हैं।

अतएव गति-आगति द्वार में ये चार गति वाले और चार आगति वाले हैं। ये प्रत्येकशरीरी और असंख्यात हैं। यह गर्भज जलचरों का वर्णन हुआ।

गर्भज स्थलचरों का वर्णन

३९. से किं तं थलयरा ?

थलयरा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

चउप्पया य परिसप्पा य।

से किं तं चउप्पया ?

चउप्पया चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—एगखुरा सो चेव भेदो जाव जे यावन्ने तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य। चत्तारि सरीरा, ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं छ गाउयाइं। ठिती उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं नवरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु चउत्थपुढविं गच्छंति, सेसं जहा जलयराणं जाव चउगतिया, चउआगतिया, परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता। से त्तं चउप्पया।

से किं तं परिसप्पा ?

परिसप्पा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

उरपरिसप्पा य भुयगपरिसप्पा य।

से किं तं उरपरिसप्पा ?

उरपरिसप्पा तहेव आसालियवज्जो भेदो भाणियव्वो, सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं, ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी।

उव्वट्टित्ता नेरइएसु जाव पंचमं पुढविं ताव गच्छंति, तिरिक्खमणुस्सेसु सव्वेसु, देवेसु जाव सहस्सारा। सेसं जहा जलयराणं जाव चउगतिया चउआगतिया परित्ता असंखेज्जा। से त्तं उरपरिसप्पा।

---

१. सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं मिथ्यादृष्टेर्विपर्यासः। —वृत्ति

से किं तं भुयगपरिसप्पा ?

भेदो तहेव। चत्तारि सरीरगा, ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलासंखेज्जइभागं उक्कोसेणं गाउय-पुहुत्तं। ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी। सेसेसु ठाणेसु जहा उरपरिसप्पा, णवरं दोच्चं पुढविं गच्छंति।

से तं भुयपरिसप्पा, से तं थलयरा।

[३९.] (गर्भज) स्थलचर क्या हैं ?

(गर्भज) स्थलचर दो प्रकार के हैं, यथा—चतुष्पद और परिसर्प। चतुष्पद क्या हैं ? चतुष्पद चार तरह के हैं, यथा—

एक खुर वाले आदि भेद प्रज्ञापना के अनुसार कहने चाहिए। यावत् ये स्थलचर संक्षेप से दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। इन जीवों के चार शरीर होते हैं। अवगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से छह कोस की है। इनकी स्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है। ये मरकर चौथे नरक तक जाते हैं, शेष सब वक्तव्यता जलचरों की तरह जानना यावत् ये चारों गतियों में जाने वाले और चारों गतियों से आने वाले हैं, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात हैं। यह चतुष्पदों का वर्णन हुआ।

परिसर्प क्या हैं ?

परिसर्प दो प्रकार के हैं—उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प।

उरपरिसर्प क्या हैं ?

उरपरिसर्प के पूर्ववत् भेद जानने चाहिए किन्तु आसालिक नहीं कहना चाहिए।

इन उरपरिसर्पों की अवगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से एक हजार योजन है।

इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट पूर्वकोटि है। ये मरकर यदि नरक में जाते हैं तो पांचवें नरक तक जाते हैं, सब तिर्यंचों और सब मनुष्यों में भी जाते हैं और सहस्रार देवलोक तक भी जाते हैं। शेष सब वर्णन जलचरों की तरह जानना। यावत् ये चार गति वाले, चार आगति वाले, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात हैं।

यह उरपरिसर्पों का कथन हुआ।

भुजपरिसर्प क्या हैं ?

भुजपरिसर्पों के भेद पूर्ववत् कहने चाहिए।

चार शरीर, अवगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से दो कोस से नौ कोस तक, स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से पूर्वकोटि। शेष स्थानों में उरपरिसर्पों की तरह कहना चाहिए। यावत् ये दूसरे नरक तक जाते हैं। यह भुजपरिसर्प का कथन हुआ। इसके साथ ही स्थलचरों का भी कथन पूरा हुआ।

४०. से किं तं खहयरा ?

खहयरा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—

चम्मपक्खी तहेव भेदो,

ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं धणुपुहुत्तं। ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागो; सेसं जहा जलयराणं नवरं जाव तच्चं पुढविं गच्छंति जाव से तं खहयर-गब्भवक्कंतिय-पंचिंदियतिरिक्खजोणिया, से तं तिरिक्खजोणिया।

[४०] खेचर क्या हैं ?

खेचर चार प्रकार के हैं, जैसे कि चर्मपक्षी आदि पूर्ववत् भेद कहने चाहिए।

इनकी अवगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से धनुषपृथक्त्व। स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवां भाग, शेष सब जलचरों की तरह कहना। विशेषता यह है कि ये जीव तीसरे नरक तक जाते हैं।

यह खेचर गर्भव्युत्क्रांतिक पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिकों का कथन हुआ। इसके साथ ही तिर्यंच-योनिकों का वर्णन पूरा हुआ।

विवेचन [३९-४०]—इन सूत्रों में स्थलचर गर्भव्युत्क्रान्तिक और खेचर गर्भव्युत्क्रान्तिक के भेदों को बताने के लिए निर्देश किया गया है कि सम्मूर्छिम स्थलचर और खेचर की भांति इनके भेद समझने चाहिए। सम्मूर्छिम स्थलचरों में उरपरिसर्प के भेदों में आसालिका का वर्णन किया गया है, वह यहाँ नहीं कहना चाहिए। क्योंकि आसालिका सम्मूर्छिम ही होती है, गर्भव्युत्क्रान्तिक नहीं। दूसरा अन्तर यह है कि महोरग के सूत्र में **'जोयणसयंपि जोयणसयपुहुत्तिया वि जोयणसहस्संपि'** इतना पाठ अधिक कहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि सम्मूर्छिम महोरग की अवगाहना उत्कृष्ट योजन-पृथक्त्व की है जब कि गर्भज महोरग की अवगाहना सौ योजनपृथक्त्व एवं हजार योजन की भी है। शरीरादि द्वारों में भी सर्वत्र गर्भज जलचरों की तरह वक्तव्यता है, केवल अवगाहना, स्थिति और उद्वर्तना द्वारों में अन्तर है।

चतुष्पदों की उत्कृष्ट अवगाहना छह कोस की है, उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की है, चौथे नरक से लेकर सहस्रार देवलोक तक की उद्वर्तना है अर्थात् इस बीच सभी जीवस्थानों में ये मरने के अनन्तर उत्पन्न हो सकते हैं।

उरपरिसर्पों की उत्कृष्ट अवगाहना हजार योजन है। उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि है और उद्वर्तना पांचवें नरक से लेकर सहस्रार देवलोक तक की है अर्थात् इस बीच के सभी जीवस्थानों में ये मरकर उत्पन्न हो सकते हैं।

भुजपरिसर्पों की उत्कृष्ट अवगाहना गव्यूतिपृथक्त्व अर्थात् दो कोस से लेकर नौ कोस तक की है। उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि है और उद्वर्तना दूसरे नरक से लेकर सहस्रार देवलोक तक है अर्थात् इस बीच के सब जीवस्थानों में ये उत्पन्न हो सकते हैं।

खेचर गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के भेद सम्मूर्छिम खेचरों की तरह ही हैं। शरीरादि द्वार गर्भज जलचरों की तरह हैं, केवल अवगाहना, स्थिति और उद्वर्तना में भेद है। खेचर गर्भज पंचेन्द्रिय

तिर्यंचों की उत्कृष्ट अवगाहना धनुषपृथक्त्व है। जघन्य तो सर्वत्र अंगुलासंख्येयभाग प्रमाण है। जघन्य स्थिति भी सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त की है और इनकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग है। इनकी उद्वर्तना तीसरे नरक से लेकर सहस्रार देवलोक तक के बीच के सब जीवस्थान हैं। अर्थात् इन सब जीवस्थानों में वे मरने के अनन्तर उत्पन्न हो सकते हैं।

किन्हीं प्रतियों में अवगाहना और स्थिति बताने वाली दो संग्रहणी गाथाएँ[1] दी गई हैं जिनका भावार्थ इस प्रकार है—

'गर्भव्युत्क्रान्तिक जलचरों की उत्कृष्ट अवगाहना हजार योजन की है, चतुष्पदों की छह कोस, उरपरिसर्पों की हजार योजन, भुजपरिसर्पों की गव्यूतपृथक्त्व, पक्षियों की धनुषपृथक्त्व है।

गर्भज जलचरों की उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि हैं, चतुष्पदों की तीन पल्योपम, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प की पूर्वकोटि, पक्षियों की पल्योपम का असंख्यातवां भाग है। नरकों में उत्पाद की स्थिति को बताने वाली दो गाथाएँ[2] हैं, जिनका भाव इस प्रकार है—

असंज्ञी जीव पहले नरक तक, सरीसृप दूसरे नरक तक, पक्षी तीसरे नरक तक, सिंह चौथे नरक तक, सर्प पांचवें नरक तक, स्त्रियाँ छठे नरक तक और मत्स्य तथा मनुष्य सातवें नरक तक जा सकते हैं।

इस प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का कथन पूरा हुआ। आगे मनुष्यों का प्रतिपादन करते हैं।

मनुष्यों का प्रतिपादन

४१. से किं तं मणुस्सा ?
मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—
संमुच्छिममणुस्सा य गब्भवक्कंतियमणुस्सा य।
कहि णं भंते ! संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति ?
गोयमा ! अंतो मणुस्सखेत्ते जाव करेंति।
तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?
गोयमा ! तिन्नि सरीरगा पण्णत्ता, तंजहा—

---

१. जोयणसहस्स छग्गाउयाइं तत्तो य जोयणसहस्सं।
गाउयपुहुत्त भुयगे, धणुयपुहुत्तं च पक्खीसु ॥१॥
गब्भम्मि पुव्वकोडी, तिन्नि य पलिओवमाइं परमाउं।
उरभुजग पुव्वकोडी, पल्लिय असंखेज्जभागो य ॥२॥ —वृत्ति

२. असण्णी खलु पढमं दोच्चं च सरीसवा तइय पक्खी।
सीहा जंति चउत्थं उरगा पुण पंचमिं पुढविं ॥१॥
छट्ठि च इत्थियाउ, मच्छा मणुया य सत्तमि पुढविं।
एसो परमोववाओ बोद्धव्वो नरयपुढविसु ॥२॥

ओरालिए, तेयए, कम्मए। से तं संमुच्छिममणुस्सा।

से किं तं गब्भवक्कंतियमणुस्सा ?

गब्भवक्कंतियमणुस्सा तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—

कम्मभूमया, अकम्मभूमया, अंतरदीवया।

एवं मणुस्सभेदो भाणियव्वो जहा पण्णवणाए तहा णिरवसेसं भाणियव्वं जाव छउमत्था य केवली य। ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य।

तेसिं णं भंते ! जीवाणं कति सरीरा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच सरीरा, तंजहा—ओरालिए जाव कम्मए।

सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलासंखेज्जइभागं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं। छच्चेव संघयणा छस्संठाणा।

ते णं भंते ! जीवा किं कोहकसाई जाव लोभकसाई अकसाई ?

गोयमा ! सव्वे वि।

ते णं भंते ! जीवा किं आहारसन्नोवउत्ता जाव लोभसन्नोवउत्ता नोसन्नोवउत्ता ?

गोयमा ! सव्वे वि।

ते णं भंते ! जीवा किं कण्हलेसा य जाव अलेसा ?

गोयमा ! सव्वे वि।

सोइंदियोवउत्ता जाव नोइंदियोवउत्ता वि।

सव्वे समुग्घाया तंजहा—वेयणासमुग्घाए जाव केवलिसमुग्घाए। सन्नी वि नोसन्नी वि असन्नी वि। इत्थिवेया वि जाव अवेदा वि। पंच पज्जत्ती, तिविहा वि दिट्ठी, चत्तारि दंसणा, णाणी वि अण्णाणी वि। जे णाणी ते अत्थेगइया दुणाणी अत्थेगइया तिणाणी अत्थेगइया चउणाणी, अत्थेगइया एगणाणी।

जे दुण्णाणी ते नियमा आभिणिबोहियणाणी, सुयनाणी य। जे तिणाणी ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी य अहवा आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, मणपज्जवणाणी य। जे चउणाणी ते णियमा आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी य। जे एगणाणी ते नियमा केवलणाणी।

एवं अण्णाणी वि दुअण्णाणी, तिअण्णाणी। मणजोगी वि वइजोगी वि, कायजोगी वि, अजोगी वि। दुविहे उवओगे, आहारो छद्दिसिं।

उववाओ नेरइएहिं अहेसत्तमवज्जेहिं, तिरिक्खजोणिएहिंतो उववाओ असंखेज्जवासाउयवज्जेहिं मणुएहिं अकम्मभूमग-अंतरदीवग-असंखेज्जवासाउयवज्जेहिं देवेहिं सव्वेहिं।

ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं, दुविहा वि मरंति, उव्वट्टित्ता नेरइयाइसु जाव अणुत्तरोववाइएसु, अत्थेगइया सिज्झंति जाव अंतं करेंति।

ते णं भंते ! जीवा कतिगतिआ कतिआगतिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचगतिया चउआगतिया परित्ता संखिज्जा पण्णत्ता समणाउसो ! से त्तं मणुस्सा ।

[४१] मनुष्य का क्या स्वरूप है ?

मनुष्य दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—सम्मूर्छिम मनुष्य और गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्य ।

भगवन् ! सम्मूर्छिम मनुष्य कहाँ सम्मूर्छित होते हैं—उत्पन्न होते हैं ?

गौतम ! मनुष्य क्षेत्र के अन्दर (गर्भज-मनुष्यों के अशुचि स्थानों में सम्मूर्छित) होते हैं, यावत् अन्तर्मुहूर्त की आयु में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ।

भंते ! उन जीवों के कितने शरीर होते हैं ?

गौतम ! तीन शरीर होते हैं—औदारिक, तैजस और कार्मण । (इस प्रकार द्वार-वक्तव्यता कहनी चाहिए ।)

यह सम्मूर्छिम मनुष्यों का कथन हुआ ।

गर्भज मनुष्यों का क्या स्वरूप है ?

गौतम ! गर्भज मनुष्य तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तर्द्वीपज । इस प्रकार मनुष्यों के भेद प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार कहने चाहिए और पूरी वक्तव्यता यावत् छद्मस्थ और केवली पर्यन्त ।

ये मनुष्य संक्षेप से पर्याप्त और अपर्याप्त रूप से दो प्रकार के हैं ।

भंते ! उन जीवों के कितने शरीर कहे गये हैं ?

गौतम ! पांच शरीर कहे गये हैं—औदारिक यावत् कार्मण । उनकी शरीरावगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से तीन कोस की है । उनके छह संहनन और छह संस्थान होते हैं ।

भंते ! वे जीव, क्या क्रोधकषाय वाले यावत् लोभकषाय वाले या अकषाय हैं ?

गौतम ! सब तरह के हैं ।

भगवन् ! वे जीव क्या आहारसंज्ञा वाले यावत् लोभसंज्ञा वाले या नोसंज्ञा वाले हैं ?

गौतम ! सब तरह के हैं ।

भगवन् ! वे जीव कृष्णलेश्या वाले यावत् शुक्ललेश्या वाले या अलेश्या वाले हैं ?

गौतम ! सब तरह के हैं ।

वे श्रोत्रेन्द्रिय उपयोग वाले यावत् स्पर्शनेन्द्रिय उपयोग और नोइन्द्रिय उपयोग वाले हैं ।

उनमें सब समुद्घात पाये जाते हैं, यथा—वेदनासमुद्घात यावत् केवलीसमुद्घात ।

वे संज्ञी भी हैं, नोसंज्ञी-असंज्ञी भी हैं ।

वे स्त्रीवेद वाले भी हैं, पुंवेद, नपुंसकवेद वाले भी हैं और अवेदी भी हैं ।

इनमें पांच पर्याप्तियां और पांच अपर्याप्तियां होती हैं । (भाषा और मन को एक मानने की अपेक्षा) ।

इनमें तीनों दृष्टियां पाई जाती हैं। चार दर्शन पाये जाते हैं। ये ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। जो ज्ञानी हैं—वे कोई दो ज्ञान वाले, कोई तीन ज्ञान वाले, कोई चार ज्ञान वाले और कोई एक ज्ञान वाले होते हैं। जो दो ज्ञान वाले हैं, वे नियम से मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी हैं, जो तीन ज्ञान वाले हैं वे मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी हैं अथवा मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और मन:पर्यवज्ञानी हैं। जो चार ज्ञान वाले हैं वे नियम से मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन:पर्यवज्ञान वाले हैं। जो एक ज्ञान वाले हैं वे नियम से केवलज्ञान वाले हैं।

इसी प्रकार जो अज्ञानी हैं वे दो अज्ञान वाले या तीन अज्ञान वाले हैं।
वे मनयोगी, वचनयोगी, काययोगी और अयोगी भी हैं।
उनमें दोनों प्रकार का—साकार-अनाकार उपयोग होता है।
उनका छहों दिशाओं से (पुद्गल ग्रहण रूप) आहार होता है।

वे सातवें नरक को छोड़कर शेष सब नरकों से आकर उत्पन्न होते हैं, असंख्यात वर्षायु को छोड़कर शेष सब तिर्यंचों से भी उत्पन्न होते हैं, अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज और असंख्यात वर्षायु वालों को छोड़कर शेष मनुष्यों से भी उत्पन्न होते हैं और सब देवों से आकर भी उत्पन्न होते हैं।

उनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है।

ये दोनों प्रकार के समवहत-असमवहत मरण से मरते हैं।

ये यहां से मर कर नैरयिकों में यावत् अनुत्तरोपपातिक देवों में भी उत्पन्न होते हैं और कोई सिद्ध होते हैं यावत् सब दु:खों का अन्त करते हैं।

भगवन्! ये जीव कितनी गति वाले और कितनी आगति वाले कहे गये हैं?

गौतम! पांच गति वाले और चार आगति वाले हैं। ये प्रत्येकशरीरी और संख्यात हैं। आयुष्मन् श्रमण! यह मनुष्यों का कथन हुआ।

विवेचन—मनुष्य सम्बन्धी प्रश्न किये जाने पर सूत्रकार कहते हैं कि मनुष्य दो प्रकार के हैं—सम्मूर्छिम मनुष्य और गर्भज मनुष्य। सम्मूर्छिम मनुष्यों के विषय में प्रश्न किया गया है कि ये कहां सम्मूर्छित होते हैं? कहां उत्पन्न होते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में प्रज्ञापनासूत्र का निर्देश किया गया है। अर्थात् प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार इसका उत्तर जानना चाहिए। प्रज्ञापनासूत्र में इस विषय में ऐसा उल्लेख किया गया है—

"पैंतालीस लाख योजन के लम्बे चौड़े मनुष्यक्षेत्र में—जिसमें अढ़ाई द्वीप-समुद्र हैं, पन्द्रह कर्मभूमियां, तीस अकर्मभूमियां और छप्पन अन्तर्द्वीप हैं—गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के ही १ उच्चार (मल) में, २ प्रस्रवण (मूत्र) में, ३ कफ में, ४ सिंघाण—नासिका के मल में, ५ वमन में, ६ पित्त में, ७ मवाद में, ८ खून में, ९ वीर्य में, १० सूखे हुए वीर्य के पुद्गलों के पुन: गीला होने में, ११ मृत जीव के कलेवरों में, १२ स्त्री-पुरुष के संयोग में, १३ गांव-नगर की गटरों में और १४ सब प्रकार के अशुचि स्थानों में ये सम्मूर्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण इनकी अवगाहना होती है। ये असंज्ञी, मिथ्यादृष्टि और सब पर्याप्तियों से अपर्याप्त रह कर अन्तर्मुहूर्त मात्र की आयु पूरी कर मर जाते हैं।"

इन सम्मूर्छिम मनुष्यों में शरीरादि द्वारों की वक्तव्यता इस प्रकार जाननी चाहिए—

शरीरद्वार—इनके तीन शरीर होते हैं—औदारिक, तैजस और कार्मण।

अवगाहनाद्वार—इनकी अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवें भाग-प्रमाण है।

संहनन, संस्थान, कषाय, लेश्याद्वार द्वीन्द्रियों की तरह जानना।

इन्द्रियद्वार—इनके पांचों इन्द्रियां होती हैं।

संज्ञीद्वार और वेदद्वार द्वीन्द्रिय की तरह जानना।

पर्याप्तिद्वार में—पांच अपर्याप्तियां होती हैं। ये लब्धिअपर्याप्तक होते हैं।

दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, योग, उपयोग द्वार पृथ्वीकायिकों के समान जानने चाहिए।

आहारद्वार द्वीन्द्रियों की तरह है।

उपपात—नैरयिक, देव, तेजस्काय, वायुकाय और असंख्यात वर्षायु वालों को छोड़कर शेष जीवस्थानों से आकर उत्पन्न होते हैं।

स्थिति—जघन्य और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण। जघन्य अन्तर्मुहूर्त से उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कुछ अधिक जानना चाहिए।

ये समवहत भी मरते हैं और असमवहत भी।

उद्वर्तना—नैरयिक, देव और असंख्यात वर्षायु वालों को छोड़कर शेष जीवस्थानों में मरकर उत्पन्न होते हैं। इसलिए गति-आगतिद्वार में दो गति वाले और दो आगति वाले (तिर्यक् और मनुष्य) हैं। ये प्रत्येकशरीरी और असंख्यात हैं। हे आयुष्मन् श्रमण ! यह सम्मूर्छिम मनुष्यों का वर्णन हुआ।

गर्भज मनुष्यों का वर्णन—गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य तीन प्रकार के हैं—१. कर्मभूमिक, २. अकर्मभूमिक और ३. अन्तर्द्वीपज।

कर्मभूमिक—कर्म-प्रधान भूमियों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य कर्मभूमिक हैं। कृषि वाणिज्यादि अथवा मोक्षानुष्ठानरूप कर्म जहाँ प्रधान हों वह कर्मभूमि है। पांच भरत, पांच ऐरवत और ५ महाविदेह—ये १५ कर्मभूमियाँ हैं। इन्हीं भूमियों में जीवन-निर्वाह हेतु विविध व्यापार, व्यवसाय, कृषि, कला आदि होते हैं। इन्हीं क्षेत्रों में मोक्ष के लिए अनुष्ठान, प्रयत्न आदि हो सकते हैं। अतएव ये कर्मभूमियां हैं। इनमें ही सब सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्थाएँ होती हैं। इनमें उत्पन्न मनुष्य कर्मभूमिक मनुष्य हैं।

अकर्मभूमिक—जहाँ असि (शस्त्रादि), मषि (साहित्य-व्यापार कलाएँ) और कृषि (खेती) आदि कर्म न हो तथा जहाँ मोक्षानुष्ठान हेतु धर्माराधना आदि प्रयत्न न हों ऐसी भोग-प्रधान भूमि अकर्मभूमियाँ हैं। पाँच हैमवत, पांच हैरण्यवत, पांच हरिवर्ष, पांच रम्यकवर्ष, पांच देव-कुरु और पांच उत्तरकुरु—ये तीस अकर्मभूमियां हैं। इन ३० अकर्मभूमियों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अकर्मभूमिक हैं। यहाँ के मनुष्यों के भोगोपभोग के साधनों की पूर्ति कल्पवृक्षों से होती है, इसके लिए उन्हें कोई कर्म नहीं करना पड़ता।

पाँच हैमवत और पांच हैरण्यवत क्षेत्र में मनुष्य एक कोस ऊँचे, एक पल्योपम की आयु वाले और वज्रऋषभनाराच संहनन वाले तथा समचतुरस्रसंस्थान वाले होते हैं। इनकी पीठ की पस-

लियाँ ६४ होती हैं। ये एक दिन के अन्तर से भोजन करते हैं और ७९ दिन तक सन्तान की पालना करते हैं।

पांच हरिवर्ष और पांच रम्यकवर्ष क्षेत्रों में मनुष्यों की आयु दो पल्योपम की, शरीर की ऊँचाई दो कोस की होती है। ये वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले और समचतुरस्रसंस्थान वाले होते हैं। दो दिन के अन्तर से आहार की अभिलाषा होती है। इनके १२८ पसलियाँ होती हैं। ६४ दिन तक संतान की पालना करते हैं।

पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यों की आयु तीन पल्योपम की, ऊँचाई तीन कोस की होती है। इनके वज्रऋषभनाराचसंहनन और समचतुरस्रसंस्थान होता है। इनकी पसलियाँ २५६ होती हैं, तीन दिन के अन्तर से आहार करते हैं और ४९ दिन तक अपत्य-पालना करते हैं।

अन्तर्द्वीपज—अन्तर् शब्द 'मध्य' का वाचक है। लवणसमुद्र के मध्य में जो द्वीप हैं वे अन्तर्द्वीप कहलाते हैं। ये अन्तर्द्वीप छप्पन हैं। इनमें रहने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज कहलाते हैं।

ये अन्तर्द्वीप हिमवान और शिखरी पर्वतों की लवणसमुद्र में निकली दाढाओं पर स्थित हैं। जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र की सीमा पर स्थित हिमवान पर्वत के दोनों छोर पूर्व-पश्चिम लवणसमुद्र में फैले हुए हैं। इसी प्रकार ऐरवत क्षेत्र की सीमा पर स्थित शिखरी पर्वत के दोनों छोर भी लवण-समुद्र में फैले हुए हैं। प्रत्येक छोर दो भागों में विभाजित होने से दोनों पर्वतों के आठ भाग लवण-समुद्र में जाते हैं। हाथी के दांतों के समान आकृति वाले होने से इन्हें दाढा कहते हैं। प्रत्येक दाढा पर मनुष्यों की आबादी वाले सात-सात क्षेत्र हैं। इस प्रकार ८×७=५६ अन्तर्द्वीप हैं। इनमें रहने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज कहलाते हैं।

हिमवान पर्वत से तीन सौ योजन की दूरी पर लवणसमुद्र में ३०० योजन विस्तार वाले १. एकोसक, २. आभासिक, ३. वैषाणिक और ४. लांगलिक नामक चार द्वीप चारों दिशाओं में हैं। इनके आगे चार-चार सौ योजन दूरी पर चार सौ योजन विस्तार वाले ५. हयकर्ण, ६. गजकर्ण, ७. गोकर्ण और ८. शष्कुलीकर्ण नामक चार द्वीप चारों विदिशाओं में हैं।

इसके आगे पांच सौ योजन जाने पर पांच सौ योजन विस्तार वाले ९. आदर्शमुख, १०. मेढ-मुख, ११. अयोमुख, १२. गोमुख नामक चार द्वीप चारों विदिशाओं में हैं। इनके आगे छह सौ योजन जाने पर छह सौ योजन विस्तार वाले १३. हयमुख, १४. गजमुख, १५. हरिमुख और १६. व्याघ्रमुख नामक चार द्वीप चारों विदिशाओं में हैं। इसके आगे सात सौ योजन जाने पर सात सौ योजन विस्तार वाले १७. अश्वकर्ण, १८. सिंहकर्ण, १९. अकर्ण और २०. कर्णप्रावरण नामक चार द्वीप चारों विदिशाओं में हैं। इनसे आठ सौ योजन आगे आठ सौ योजन विस्तार वाले, २१. उल्कामुख, २२. मेघमुख, २३. विद्युत्मुख और २३. अमुख नाम के चार द्वीप चारों विदिशाओं में हैं। इससे नौ सौ योजन आगे नौ सौ योजन विस्तार वाले २५. घनदन्त, २६. लष्टदन्त, २७. गूढदन्त और २८. शुद्धदन्त नाम के चार द्वीप चारों विदिशाओं में हैं। ये सब अट्ठाईसों द्वीप जम्बूद्वीप की जगती से तथा हिमवान पर्वत से तीन सौ योजन से लगाकर नौ सौ योजन दूर हैं।

इसी तरह ऐरवत क्षेत्र की सीमा करने वाले शिखरी पर्वत की दाढों पर भी इन्हीं नाम वाले २८ द्वीप हैं। इस तरह दोनों तरफ के मिलकर छप्पन अन्तर्द्वीप होते हैं। इन अन्तर्द्वीपों में एक पल्यो-

पम के असंख्यातवें भाग की आयु वाले युगलिक मनुष्य रहते हैं। इन द्वीपों में सदैव तीसरे आरे जैसी रचना रहती है।

यहाँ के स्त्री-पुरुष सर्वांग सुन्दर एवं स्वस्थ होते हैं। वहाँ रोग तथा उपद्रवादि नहीं होते हैं। उनमें स्वामी-सेवक व्यवहार नहीं होता। उनकी पीठ में ६४ पसलियाँ होती हैं। उनका आहार एक चतुर्थभक्त के बाद होता है तथा मिट्टी एवं कल्पवृक्ष के पुष्प-फलादि का होता है। वहाँ की पृथ्वी शक्कर से भी अधिक मीठी होती है तथा कल्पवृक्ष के फलादि चक्रवर्ती के भोजन से अनेक गुण अच्छे होते हैं।

यहाँ के मनुष्य मंदकषाय वाले, मृदुता-ऋजुता से सम्पन्न तथा ममत्व और वैरानुबन्ध से रहित होते हैं। यहाँ के युगलिक अपने अवसान के समय एक युगल (स्त्री-पुरुष) को जन्म देते हैं और ७९ दिन तक उसका पालन-पोषण करते हैं। इनका मरण जंभाई, खांसी या छींक आदि से होता है—पीड़ापूर्वक नहीं। ये मरकर देवलोक में जाते हैं।

कर्मभूमिक मनुष्य दो प्रकार के हैं—आर्य और म्लेच्छ (अनार्य)। शक, यवन, किरात, शबर, बर्बर, आदि अनेक प्रकार के म्लेच्छों के नाम प्रज्ञापनासूत्र में बताये गये हैं।

आर्य दो प्रकार के हैं—ऋद्धिप्राप्त आर्य और अनर्द्धिप्राप्त आर्य। ऋद्धिप्राप्त आर्य छह प्रकार के हैं—१. अरिहंत, २. चक्रवर्ती, ३. बलदेव, ४. वासुदेव, ५. चारण और ६. विद्याधर।

अनर्द्धिप्राप्त आर्य नौ प्रकार के हैं—१. क्षेत्रआर्य, २. जातिआर्य, ३. कुलआर्य, ४. कर्म-आर्य, ५. शिल्पआर्य, ६. भाषाआर्य, ७. ज्ञानआर्य, ८. दर्शनआर्य और ९. चारित्रआर्य।

१. क्षेत्रआर्य—साढे पच्चीस देश[1] के निवासी क्षेत्रआर्य हैं। इन क्षेत्रों में तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों और वासुदेवों का जन्म होता है।

२. जातिआर्य—जिनका मातृवंश श्रेष्ठ हो (शिष्टजनसम्मत हो)।

३. कुलआर्य—जिनका पितृवंश श्रेष्ठ हो। उग्र, भोग, राजन्य आदि कुलआर्य हैं।

४. कर्मआर्य—शिष्टजनसम्मत व्यापार आदि द्वारा आजीविका करने वाले कर्मआर्य हैं।

५. शिल्पआर्य—शिष्टजन सम्मत कलाओं द्वारा जीविका करने वाले शिल्पार्य हैं।

६. भाषाआर्य—शिष्टजन मान्य भाषा और लिपि का प्रयोग करने वाले भाषाआर्य हैं। सूत्रकार ने अर्धमागधी भाषा और ब्राह्मीलिपि का उपयोग करने वालों को भाषार्य कहा है। उपलक्षण से वे सब भाषाएँ और लिपियाँ ग्राह्य हैं जो शिष्टजनसम्मत और कोमलकान्त पदावली से युक्त हों।

७. ज्ञानआर्य—पांच ज्ञानों—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवल-ज्ञान की अपेक्षा से पांच प्रकार के ज्ञानआर्य समझने चाहिए।

८. दर्शनआर्य—सरागदर्शन और वीतरागदर्शन की अपेक्षा दो प्रकार के दर्शनआर्य समझने चाहिए।

९. चारित्रआर्य—सरागचारित्र और वीतरागचारित्र की अपेक्षा चारित्रआर्य दो प्रकार के जानने चाहिए।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र में विस्तृत जानकारी दी गई है।

सरागदर्शन और सरागचारित्र से तात्पर्य कषाय की विद्यमानता जहाँ तक बनी रहती है वहाँ तक का दर्शन और चारित्र सरागदर्शन और सरागचारित्र जानना चाहिए। कषायों की उपशान्तता तथा क्षीणता के साथ जो दर्शन और चारित्र होता है वह वीतरागदर्शन और वीतराग-चारित्र है। अकषाय रूप यथाख्यातचारित्र दो प्रकार का है—छाद्मस्थिक और कैवलिक। ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के छाद्मस्थिक यथाख्यातचारित्र होता है और तेरहवें, चौदहवें गुण-स्थानवर्ती जीवों के कैवलिक यथाख्यातचारित्र होता है। इसलिये यथाख्यातचारित्र-आर्य उक्त प्रकार से दो तरह के हो जाते हैं।

यह संक्षेप में आर्य-मनुष्यों का वर्णन हुआ। विस्तृत जानकारी के लिए प्रज्ञापनासूत्र पढ़ना चाहिए।

ये मनुष्य संक्षेप से पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं, इत्यादि वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

इन मनुष्यों के सम्बन्ध में २३ द्वारों की विचारणा इस प्रकार है—

शरीरद्वार—मनुष्यों में पांचों—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर पाये जाते हैं।

अवगाहना—जघन्य से इनकी अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से तीन कोस है।

संहनन—छहों संहनन पाये जाते हैं।

संस्थान—छहों संस्थान पाये जाते हैं।

कषायद्वार—क्रोधकषाय वाले, मानकषाय वाले, मायाकषाय वाले, लोभकषाय वाले और अकषाय वाले (वीतराग मनुष्य की अपेक्षा) भी होते हैं।

संज्ञाद्वार—चारों संज्ञा वाले भी हैं और नोसंज्ञी भी हैं। निश्चय से वीतराग मनुष्य और व्यवहार से सब चारित्री नोसंज्ञोपयुक्त हैं।[1] लोकोत्तर चित्त की प्राप्ति से वे दसों प्रकार की संज्ञा से युक्त हैं।

लेश्याद्वार—छहों लेश्या भी पायी जाती हैं और अलेश्यी भी हैं।

परम शुक्लध्यानी अयोगिकेवली अलेश्यी हैं।

इन्द्रियद्वार—पांचों इन्द्रियों के उपयोग से उपयुक्त भी होते हैं और केवली की अपेक्षा नो-इन्द्रियोपयुक्त भी हैं।

समुद्घातद्वार—सातों समुद्घात पाये जाते हैं। क्योंकि मनुष्यों में सब भाव संभव हैं।

संज्ञीद्वार—संज्ञी भी हैं और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी भी हैं। केवली की अपेक्षा नोसंज्ञी-नो-असंज्ञी हैं।

---

१. निर्वाणसाधकं सर्वं ज्ञेयं लोकोत्तराश्रयम्।
संज्ञाः लोकाश्रयाः सर्वाः भवांकुरजलं परं॥

वेदद्वार—तीनों वेद पाये जाते हैं और अवेदी भी होते हैं। सूक्ष्मसंपराय आदि गुणस्थान वाले अवेदी हैं।

पर्याप्तिद्वार—पांचों पर्याप्तियां और पांचों अपर्याप्तियां होती हैं। भाषा और मनःपर्याप्ति को एक मानने की अपेक्षा से पांच पर्याप्तियां कही हैं।

दृष्टिद्वार—तीनों दृष्टियां पाई जाती हैं। कोई मिथ्यादृष्टि होते हैं, कोई सम्यग्दृष्टि होते हैं और कोई मिश्रदृष्टि होते हैं।

दर्शनद्वार—चारों दर्शन पाये जाते हैं।

ज्ञानद्वार—मनुष्य ज्ञानी भी होते हैं और अज्ञानी भी होते हैं। जो मिथ्यादृष्टि हैं वे अज्ञानी हैं और जो सम्यग्दृष्टि हैं वे ज्ञानी हैं। इनमें पांच ज्ञान और तीन अज्ञान की भजना कही गई है। वह इस प्रकार है—कोई मनुष्य दो ज्ञान वाले हैं, कोई तीन ज्ञान वाले हैं, कोई चार ज्ञान वाले हैं और कोई एक ज्ञान वाले हैं। जो दो ज्ञान वाले हैं, वे नियम से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान वाले हैं। जो तीन ज्ञान वाले हैं, वे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान वाले हैं अथवा मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी और मनःपर्यायज्ञानी है। क्योंकि अवधिज्ञान के बिना भी मनःपर्यायज्ञानी हो सकता है। सिद्धप्राभृत आदि में अनेक स्थानों पर ऐसा कहा गया है।

जो चार ज्ञान वाले हैं वे मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्यायज्ञानी हैं।

जो एक ज्ञान वाले हैं वे केवलज्ञानी हैं। केवलज्ञान होने पर शेष चारों ज्ञान चले जाते हैं। आगम में कहा गया है कि केवलज्ञान होने पर छाद्मस्थिकज्ञान नष्ट हो जाते हैं।[1]

केवल ज्ञान होने पर शेष ज्ञानों का नाश कैसे ?

यहाँ शंका हो सकती है कि केवलज्ञान का प्रादुर्भाव होने पर शेष ज्ञान चले क्यों जाते हैं ? अपने-अपने आवरण के आंशिक क्षयोपशम होने पर ये मति आदि ज्ञान होते हैं तो अपने-अपने आवरण के निर्मूल क्षय होने पर वे अधिक मात्रा में होने चाहिए, जैसे कि चारित्रपरिणाम होते हैं।

इसका समाधान मरकत मणि के उदाहरण से किया गया है। जैसे जातिवंत श्रेष्ठ मरकत मणि मल आदि से लिप्त होने पर जब तक उसका समूल मल नष्ट नहीं होता तब तक थोड़ा थोड़ा मल दूर होने पर थोड़ी थोड़ी मणि की अभिव्यक्ति होती है। वह क्वचित्, कदाचित् और कथंचिद् होने से अनेक प्रकार की होती है। इसी तरह आत्मा स्वभाव से समस्त पदार्थों को जानने की शक्ति से सम्पन्न है परन्तु उसका यह स्वभाव आवरण रूप मल-पटल से तिरोहित है। जब तक पूरा मल दूर नहीं होता तब तक आंशिक रूप से मलोच्छेद होने से उस स्वभाव की आंशिक अभिव्यक्ति होती है। वह क्वचित् कदाचित् और कथंचित् होने से अनेक प्रकार की हो सकती है। वह मति, श्रुत आदि के भेद से होती है। जब मरकतमणि का सम्पूर्ण मल दूर हो जाता है तो वह मणि एक रूप में ही अभिव्यक्त होती है। इसी तरह जब आत्मा के सम्पूर्ण आवरण दूर हो जाते हैं तो आंशिक ज्ञान नष्ट

---

१. नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे'—इति वचनात्।

होकर सम्पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) एक ही रूप में अभिव्यक्त हो जाता है।[1]

जो अज्ञानी हैं, वे दो अज्ञान वाले भी हैं और तीन अज्ञान वाले भी हैं। जो दो अज्ञान वाले हैं वे मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी हैं। जो तीन अज्ञान वाले हैं वे मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी हैं।

योगद्वार—मनुष्य मनयोगी, वचनयोगी, काययोगी भी है और अयोगी भी है। शैलेशी अवस्था में अयोगित्व है।

उपयोगद्वार और आहारद्वार द्वीन्द्रियों की तरह जानना।

उपपातद्वार—सातवीं नरक को छोड़कर शेष सब स्थानों से मनुष्यों में जन्म हो सकता है। सातवीं नरक का नैरयिक मनुष्य नहीं होता। सिद्धान्त में कहा गया है कि—सप्तम पृथ्वी नैरयिक, तेजस्काय, वायुकाय और असंख्य वर्षायु वाले अनन्तर उद्वर्तित होकर मनुष्य नहीं होते।

स्थितिद्वार—मनुष्यों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है।

समवहतद्वार—मनुष्य मारणांतिक समुद्घात से समवहत होकर भी मरते हैं और असमवहत होकर भी मरते हैं।

उद्वर्तनाद्वार—ये सब नारकों में, सब तिर्यंचों में, सब मनुष्यों में और सब अनुत्तरोपपातिक देवों तक उत्पन्न होते हैं और कोई सब कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध हो जाते हैं और निर्वाण को प्राप्त कर सब दुःखों का अन्त कर देते हैं।

गति-आगतिद्वार—मनुष्य पांच गतियों में (सिद्धगति सहित) जाने वाले और चार गतियों से आने वाले हैं। हे आयुष्मन् श्रमण! ये प्रत्येकशरीरी हैं और संख्येय हैं। मनुष्यों की संख्या संख्येय कोटी प्रमाण है।

इस प्रकार मनुष्यों का कथन सम्पूर्ण हुआ।

देवों का वर्णन

४२. से किं तं देवा ?

देवा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—

भवणवासी, वाणमंतरा, जोइसिया, वेमाणिया।

से किं तं भवणवासी ?

---

१. शंका—आवरणदेसविगमे जाइं विज्जंति मइसुयाई णि।
आवरणसव्वविगमे कहं ताइं न होंति जीवस्स॥
समाधान—मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः॥
यथा जात्यस्य रत्नस्य निःशेषमलहानितः।
स्फुटैकरूपाऽभिव्यक्तिर्विज्ञप्तिस्तद्वदात्मनः॥

भवणवासी दसविहा पण्णत्ता, तंजहा—

असुरा जाव थणिया। से तं भवणवासी।

से किं तं वाणमंतरा?

देवभेदो सव्वो भाणियव्वो जाव ते दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य। तओ सरीरगा—वेउव्विए, तेयए, कम्मए। ओगाहणा दुविहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य।

तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्त रयणीओ। उत्तरवेउव्विया जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसयसहस्सं।

सरीरगा छण्हं संघयणाणं असंघयणी णेवट्ठी, णेव छिरा णेव ण्हारू णेव संघयणमत्थि, जे पोग्गला इट्ठा कंता जाव ते तेसिं संघायत्ताए परिणमंति।

किंसंठिया? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जे भवधारणिज्जा ते णं समचउरंससंठिया पण्णत्ता, तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया ते णं नाणासंठाणसंठिया पण्णत्ता, चत्तारि कसाया, चत्तारि सण्णाओ, छ लेस्साओ, पंच इंदिया, पंच समुग्घाया, सन्नी वि, असन्नी वि, इत्थिवेया वि, पुरिसवेया वि, णो णपुंसकवेदी, पज्जत्ती अपज्जत्तीओ पंच, दिट्ठी तिण्णि, तिण्णि दंसणा, णाणी वि अण्णाणी वि, जे नाणी ते नियमा तिण्णाणी, अण्णाणी भयणाए, दुविहे उवओगे, तिविहे जोगे, आहारो णियमा छद्दिसिं; ओसन्नं कारणं पडुच्चं वण्णओ हालिद्दसुक्किलाइं जाव आहारमाहरेंति। उववाओ तिरियमणुस्सेहिं, ठिती जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं, दुविहा वि मरंति, उव्वट्टित्ता नो नेरइएसु गच्छंति तिरियमणुस्सेसु जहासंभवं, नो देवेसु गच्छंति, दुगतिआ, दुआगतिआ परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता समणाउसो, से तं देवा; से तं पंचेंदिया; से तं ओराला तसा पाणा।

[४२] देव क्या हैं?

देव चार प्रकार के हैं, यथा—भवनवासी, वानव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

भवनवासी देव क्या हैं?

भवनवासी देव दस प्रकार के कहे गये हैं—

असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार।

वाणमन्तर क्या है?

(प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार) देवों के भेद कहने चाहिए। यावत् वे संक्षेप से पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं।

उनके तीन शरीर होते हैं—वैक्रिय, तैजस और कार्मण।

अवगाहना दो प्रकार की होती है—भवधारणीय और उत्तरवैक्रियिकी। इनमें जो भवधारणीय है वह जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट सात हाथ की है। उत्तरवैक्रियिकी जघन्य से अंगुल का संख्यातवां भाग और उत्कृष्ट एक लाख योजन की है।

देवों के शरीर छह संहननों में से किसी संहनन के नहीं होते हैं, क्योंकि उनमें न हड्डी होती है न शिरा (धमनी नाड़ी) और न स्नायु (छोटी नसें) हैं, इसलिए संहनन नहीं होता। जो पुद्गल

इष्ट कांत यावत् मन को आह्लादकारी होते हैं उनके शरीर रूप में एकत्रित हो जाते हैं—परिणत हो जाते हैं।

भगवन् ! देवों का संस्थान क्या है ?

गौतम ! संस्थान दो प्रकार के हैं—भवधारणीय और उत्तरवैक्रियिक । उनमें जो भवधारणीय है वह समचतुरस्रसंस्थान है और जो उत्तरवैक्रियिक है वह नाना आकार का है।

देवों में चार कषाय, चार संज्ञाएँ,छह लेश्याएँ, पांच इन्द्रियां, पांच समुद्घात होते हैं। वे संज्ञी भी हैं और असंज्ञी भी हैं। वे स्त्रीवेद वाले, पुरुषवेद वाले हैं, नपुंसकवेद वाले नहीं हैं। उनमें पांच पर्याप्तियां और पांच अपर्याप्तियां होती हैं। उनमें तीन दृष्टियां, तीन दर्शन होते हैं। वे ज्ञानी भी होते हैं और अज्ञानी भी होते हैं। जो ज्ञानी हैं वे नियम से तीन ज्ञान वाले हैं और अज्ञानी हैं वे भजना से तीन अज्ञान वाले हैं। उनमें साकार अनाकार दोनों उपयोग पाये जाते हैं। उनमें तीनों योग होते हैं। उनका आहार नियम से छहों दिशाओं के पुद्गलों को ग्रहण करना है। प्राय: करके पीले और सफेद शुभ वर्ण के यावत् सुभगंध, शुभरस, शुभस्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करते हैं।

वे तिर्यंच और मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं। उनकी स्थिति जघन्य से दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है। वे मारणांतिकसमुद्घात से समवहत होकर भी मरते हैं और असमवहत होकर भी मरते हैं।

वे वहाँ से च्युवित होकर नरक में उत्पन्न नहीं होते, यथासम्भव तिर्यंचों मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, देवों में उत्पन्न नहीं होते। इसलिए वे दो गति वाले, दो आगति वाले, प्रत्येकशरीरी और असंख्यात कहे गये हैं। हे आयुष्मन् श्रमण ! यह देवों का वर्णन हुआ। इसके साथ ही पंचेन्द्रिय का वर्णन हुआ और साथ ही उदार त्रसों का वर्णन पूरा हुआ।

विवेचन—प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार देवों के भेद-प्रभेद जानने चाहिए, वह इस प्रकार हैं—

देव चार प्रकार के हैं—१ भवनवासी, २ वाणव्यंतर, ३ ज्योतिष्क और ४ वैमानिक।

भवनवासी—जो देव प्राय: भवनों में निवास करते हैं वे भवनवासी कहलाते हैं। यह नागकुमार, आदि की अपेक्षा से समझना चाहिए। असुरकुमार प्राय: आवासों में रहते हैं और कदाचित् भवनों में भी रहते हैं। नागकुमार आदि प्राय: भवनों में रहते हैं और कदाचित् आवासों में रहते हैं।

भवन और आवास का अन्तर स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि भवन बाहर से गोलाकार और अन्दर से समचौरस होते हैं और नीचे कमल की कर्णिका के आकार के होते हैं। जबकि आवास कायप्रमाण स्थान वाले महामण्डप होते हैं, जो अनेक मणिरत्नों से दिशाओं को प्रकाशित करते हैं।

भवनवासी देवों के दस भेद हैं—१ असुरकुमार, २ नागकुमार, ३ सुपर्णकुमार, ४ विद्युत्कुमार, ५ अग्निकुमार, ६ द्वीपकुमार, ७ उदधिकुमार, ८ दिशाकुमार ९ पवनकुमार और १० स्तनितकुमार। इनके प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। ये कुमारों के समान विभूषाप्रिय, क्रीड़ा-परायण, तीव्र अनुराग वाले और सुकुमार होते हैं अतएव ये 'कुमार' कहे जाते हैं।

वाणव्यन्तर—'वि' अर्थात् विविध प्रकार के 'अन्तर' अर्थात् आश्रय जिनके हों वे व्यन्तर हैं। भवन, नगर और आवासों में—विविध जगहों पर रहने के कारण ये देव व्यन्तर कहलाते हैं। व्यन्तरों

के भवन रत्नप्रभापृथ्वी के प्रथम रत्नकाण्ड में ऊपर-नीचे सौ-सौ योजन छोड़कर शेष आठ सौ योजन प्रमाण मध्य भाग में हैं। इनके नगर तिर्यग्लोक में भी हैं और इनके आवास तीनों लोकों में हैं। अथवा जो वनों के विविध पर्वतान्तरों, कंदरान्तरों आदि आश्रयों में रहते हैं वे वाणव्यन्तर देव है।

वाणव्यन्तरों के आठ भेद हैं—किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। इनके प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

ज्योतिष्क—जो जगत् को द्योतित—प्रकाशित करते हैं वे ज्योतिष्क कहलाते हैं अर्थात् विमान। जो ज्योतिष् विमानों में रहते हैं वे ज्योतिष्क देव हैं। अथवा जो अपने अपने मुकुटों में रहे हुए चन्द्रसूर्यादि मण्डलों के चिह्नों से प्रकाशमान हैं वे ज्योतिष्क देव हैं। इनके पांच भेद हैं—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा। इनके भी दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

वैमानिक—जो ऊर्ध्वलोक के विमानों में रहते हैं वे वैमानिक हैं। ये दो प्रकार के हैं—कल्पोपन्न और कल्पातीत। कल्पोपन्न का अर्थ है—जहाँ कल्प-आचार-मर्यादा हो अर्थात् जहाँ इन्द्र, सामानिक, त्रायास्त्रिंश आदि की मर्यादा और व्यवहार हो, वे कल्पोपपन्न हैं। जहाँ उक्त व्यवहार या मर्यादा न होवे वे कल्पातीत हैं।

कल्पोपन्न के बारह भेद हैं—१ सौधर्म, २ ईशान, ३ सानत्कुमार, ४ माहेन्द्र, ५ ब्रह्मलोक, ६ लान्तक, ७ महाशुक्र, ८ सहस्रार, ९ आनत, १० प्राणत, ११ आरण और १२ अच्युत। इनके प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

कल्पातीत देव दो प्रकार के हैं—ग्रैवेयक और अनुत्तरोपपातिक। ग्रैवेयक देव नौ प्रकार के हैं—१ अधस्तन-अधस्तन, २ अधस्तन-मध्यम, ३ अधस्तन-उपरिम, ४ मध्यम-अधस्तन, ५ मध्यम-मध्यम, ६ मध्यम-उपरिम, ७ उपरिम-अधस्तन, ८ उपरिम-मध्यम और ९ उपरिम-उपरिम। इनके भी पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो भेद हैं।

अनुत्तरोपपातिक देवों के ५ भेद हैं—१ विजय, २ वैजयंत, ३ जयंत, ४ अपराजित और ५ सर्वार्थसिद्ध। इनके भी प्रत्येक के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

देवों में जो पर्याप्त, अपर्याप्त का भेद बताया है उसमें अपर्याप्तत्व अपर्याप्तनामकर्म के उदय से नहीं समझना चाहिए। किन्तु उत्पत्तिकाल में ही अपर्याप्तत्व समझना चाहिए। सिद्धान्त में कहा है—नारक, देव, गर्भज तिर्यंच, मनुष्य और असंख्यात वर्ष की आयु वाले उत्पत्ति के समय ही अपर्याप्त होते हैं।[1]

देवों की शरीरादि २३ द्वारों की अपेक्षा निम्न प्रकार की वक्तव्यता है—

शरीरद्वार—देवों के तीन शरीर होते हैं—वैक्रिय, तैजस और कार्मण।

अवगाहनाद्वार—भवधारणीय अवगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट सात हाथ प्रमाण है।

उत्तरवैक्रियिकी जघन्य से अंगुल का संख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से एक लाख योजन।

---

१. नारयदेवातिरियमणुय गब्भजा जे असंखवासाऊ।
एए उ अपज्जत्ता, उववाए चेव बोद्धव्वा॥

संहननद्वार—छहों संहननों में से एक भी संहनन नहीं होता, क्योंकि अस्थियों की रचना विशेष को संहनन कहते हैं और देवों के शरीर में न अस्थि है, न शिरा है और न स्नायु है। अतएव वे असंहननी हैं।

किन्तु जो पुद्गल इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मन को संतुष्ट करने वाले नरम और कमनीय होते हैं, वे पुद्गल उनके शरीररूप में एकत्रित हो जाते हैं—परिणत हो जाते हैं।

संस्थानद्वार—भवधारणीय संस्थान तो समचौरस संस्थान है और उत्तरवैक्रिय नाना प्रकार का होता है, क्योंकि वे इच्छानुसार आकार बना सकते हैं।

कषाय—चारों कषाय होते हैं।
संज्ञा—चारों संज्ञाएँ होती हैं।
लेश्या—छहों लेश्याएँ होती हैं।
इन्द्रिय—पांचों इन्द्रियां होती हैं।

समुद्घात—पांच समुद्घात होते हैं—वेदना, कषाय, मारणांतिक, वैक्रिय और तैजस समुद्घात।

संज्ञीद्वार—ये संज्ञी भी होते हैं और असंज्ञी भी होते हैं। जो गर्भव्युत्क्रान्तिक मर कर देव होते हैं वे संज्ञी हैं और जो सम्मूर्छिमों से आकर उत्पन्न होते हैं वे असंज्ञी कहलाते हैं।

वेदद्वार—ये स्त्रीवेदी और पुंवेदी होते हैं। नपुंसकवेद वाले नहीं होते।

पर्याप्तिद्वार, दृष्टिद्वार और दर्शनद्वार—नैरयिकों की तरह।

ज्ञानद्वार—ये ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। जो ज्ञानी हैं वे नियम से तीन ज्ञान वाले हैं—मति, श्रुत और अवधि। जो अज्ञानी हैं उनमें कोई दो अज्ञान वाले हैं और कोई तीन अज्ञान वाले हैं। जो तीन अज्ञान वाले हैं वे मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान वाले हैं। जो दो अज्ञान वाले हैं वे—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान वाले हैं। जो असंज्ञियों से आकर उत्पन्न होते हैं, उनकी अपेक्षा से दो अज्ञान होते हैं। यह भजना का तात्पर्य है।

उपयोग और आहारद्वार—नैरयिकवत् जानना चाहिए। अर्थात् साकार और अनाकार दोनों तरह से उपयोग होते हैं। छहों दिशाओं से आहार ग्रहण करते हैं।

उपपातद्वार—संज्ञीपंचेन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यंच और गर्भज मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, शेष जीवस्थानों से नहीं।

स्थितिद्वार—इनकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है।

समवहतद्वार—मारणांतिकसमुद्घात से समवहत होकर भी मरते हैं और असमवहत होकर भी।

च्यवनद्वार—ये देव मरकर पृथ्वी, पानी, वनस्पतिकाय में, गर्भज और संख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। शेष जीवस्थान में नहीं जाते।

गति-आगतिद्वार—इसलिए वे दो गति में जाने वाले और दो गति से आने वाले हैं।

हे आयुष्मन् श्रमण ! ये देव प्रत्येकशरीरी हैं और असंख्यात हैं।

इस प्रकार देवों का वर्णन हुआ। इसके साथ पंचेन्द्रियों का वर्णन पूरा हुआ और साथ ही उदार त्रसों की वक्तव्यता पूर्ण हुई।

आगे के सूत्र में स्थावरभाव और त्रसभाव की भवस्थिति का प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

भवस्थिति का प्रतिपादन

४३. थावरस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं ठिती पण्णत्ता।

तसस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।

थावरे णं भंते ! थावरे त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणीओ अवसप्पिणीओ कालओ। खेत्तओ अणंता लोया असंखेज्जा पुग्गलपरियट्टा। ते णं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो।

तसे णं भंते ! तसे त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जकालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ अवसप्पिणीओ कालओ। खेत्तओ असंखेज्जा लोगा।

थावरस्स णं भंते ! केवतिकालं अंतरं होइ ?

जहा तससंचिट्ठणाए।

तसस्स णं भंते ! केवइकालं अंतरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो।

एएसि णं भंते ! तसाणं थावराण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा, बहुया वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा तसा, थावरा अणंतगुणा।

से तं दुविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता।

दुविहपडिवत्ती समत्ता।

[४३] भगवन् ! स्थावर की कालस्थिति (भवस्थिति) कितने समय की कही गई है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से बावीस हजार वर्ष की है।

भगवन् ! त्रस की भवस्थिति कितने समय की कही है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से तेतीस सागरोपम की कही है।

भंते ! स्थावर जीव स्थावर के रूप में कितने काल तक रह सकता है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से अनंतकाल तक—अनन्त उत्सर्पिणी

अवसर्पिणियों तक। क्षेत्र से अनन्त लोक, असंख्येय पुद्गलपरावर्त तक। आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं उतने पुद्गलपरावर्त तक स्थावर स्थावररूप में रह सकता है।

भंते ! त्रस जीव त्रस के रूप में कितने काल तक रह सकता है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों तक। क्षेत्र से असंख्यात लोक।

भगवन् ! स्थावर का अन्तर कितना है ?

गौतम ! जितना उनका संचिट्ठणकाल है अर्थात् असंख्येय उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल से; क्षेत्र से असंख्येय लोक।

भगवन् ! त्रस का अन्तर कितना है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से वनस्पतिकाल।

भगवन् ! इन त्रसों और स्थावरों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

गौतम ! सबसे थोड़े त्रस हैं। स्थावर जीव उनसे अनन्तगुण हैं।

यह दो प्रकार के संसारी जीवों की प्ररूपणा हुई।

यह द्विविध प्रतिपत्ति नामक प्रथम प्रतिपत्ति पूर्ण हुई।

विवेचन—इस सूत्र में त्रस और स्थावर जीवों की भवस्थिति, कायस्थिति, अन्तर और अल्पबहुत्व प्रतिपादित किया है।

स्थावर जीवों की भवस्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से बावीस हजार वर्ष की कही है। यह स्थिति पृथ्वीकाय को लेकर समझना चाहिए, क्योंकि अन्य स्थावरकाय की उत्कृष्ट भवस्थिति इतनी संभव नहीं है।

त्रसकाय की जघन्य भवस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से तेतीस सागरोपम की कही है। यह देवों और नारकों की अपेक्षा से समझना चाहिए। अन्य त्रसों की इतनी उत्कृष्ट भवस्थिति नहीं होती।

कायस्थिति का अर्थ है—पुनः पुनः उसी काय में जन्म लेने पर उन भवों की कालगणना। जैसे स्थावरकाय वाला जितने समय तक स्थावर के रूप में जन्म लेता रहता है, वह सब काल उसकी कायस्थिति समझनी चाहिए।

स्थावर जीव की कायस्थिति कितनी है ? इसका अर्थ यह है कि स्थावर जीव कितने समय तक स्थावर के रूप में लगातार जन्म लेता रहता है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से अनन्त काल तक स्थावर स्थावर के रूप में जन्म-मरण करता रहता है। इस अनन्तकाल को काल और क्षेत्र की अपेक्षा से स्पष्ट किया गया है। काल से अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल तक स्थावर स्थावर के रूप में रह सकता है। क्षेत्र की अपेक्षा से इस अनन्तता को इस प्रकार समझाया गया है कि अनन्त लोकों में जितने आकाश-प्रदेश हैं उन्हें प्रतिसमय एक-एक का अपहार करने से जितना समय लगता है वह समय अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीमय है। इसी अनन्तता को पुद्गलपरावर्त के मान से बताते हुए कहा गया है कि असंख्येय पुद्गलपरावर्तों (क्षेत्रपुद्गलपरावर्तों) में जितनी उत्सर्पिणियां-

अवसर्पिणियां होती हैं, उतनी अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी तक स्थावर के रूप में रह सकता है। पुद्गलपरावर्तों की असंख्येयता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं उतने पुद्गलपरावर्त जानने चाहिए।

इतना कालमान वनस्पतिकाय की अपेक्षा से समझना चाहिए, पृथ्वीकाय-अप्काय की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि पृथ्वीकाय अप्काय की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्येय उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण है। प्रज्ञापनासूत्र में यह बात स्पष्ट की गई है। यह वनस्पतिकायस्थिति काल सांव्यवहारिक जीवों की अपेक्षा से समझना चाहिए। असांव्यवहारिक जीवों की कायस्थिति को अनादि समझना चाहिए। जैसा कि विशेषणवती ग्रन्थ में कहा गया है—'ऐसे अनंत जीव हैं जिन्होंने त्रसत्व को पाया ही नहीं है। जो निगोद में रहते हैं वे जीव अनन्तानन्त हैं।'[1] कतिपय असंव्यवहार राशि वाले जीवों की कायस्थिति अनादि-अनन्त है। अर्थात् वे अव्यवहार राशि से निकल कर कभी व्यवहार राशि में आवेंगे ही नहीं। कतिपय असंव्यवहारराशि वाले जीव ऐसे हैं जिनकी कायस्थिति अनादि किन्तु अन्त वाली है अर्थात् वे व्यवहारराशि में आ सकते हैं। जैसाकि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषणवती में कहा है कि 'संव्यवहारराशि से जितने जीव सिद्ध होते हैं, अनादि वनस्पतिराशि से उतने ही जीव व्यवहारराशि में आ जाते हैं।'[2]

त्रसजीव त्रसरूप में कितने समय तक रह सकते हैं, इसका उत्तर दिया गया है कि जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से असंख्येय काल तक। उस असंख्येय काल को काल और क्षेत्र से स्पष्ट किया गया है। काल से असंख्येय उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी तक और क्षेत्र से असंख्यात लोकों में जितने आकाश-प्रदेश हैं उनका प्रतिसमय एक-एक के मान से अपहार करने में जितनी उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियां लगती हैं, उतने काल तक त्रसजीव त्रस के रूप में रह सकता है। इतनी कायस्थिति गतित्रस—तेजस्काय और वायुकाय की अपेक्षा से ही सम्भव है, लब्धित्रस की अपेक्षा से नहीं। लब्धित्रस की उत्कर्ष से कायस्थिति कतिपय वर्ष अधिक दो हजार सागरोपम की ही है।

अन्तर—स्थावर जीव के स्थावरत्व को छोड़ने के बाद फिर कितने समय बाद वह पुनः स्थावर बन सकता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि असंख्येय उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल से और क्षेत्र से असंख्यात लोक का अन्तर पड़ता है। इतना अन्तर तेजस्काय, वायुकाय में जाने की अपेक्षा से सम्भव है। अन्यत्र जाने पर इतना अन्तर सम्भव नहीं है।

त्रसकाय के त्रसत्व को छोड़ने के बाद कितने समय बाद पुनः त्रसत्व प्राप्त हो सकता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि उत्कृष्ट से वनस्पतिकाल जितना अन्तर है। अर्थात् उत्कृष्ट से अनन्त-अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों का और क्षेत्र से अनन्त लोक का अन्तर पड़ता है। इसकी

---

१. अत्थि अणंता जीवा, जेहिं न पत्तो तसाइपरिणामो।
तेवि अणंताणंता निगोयवासं अणुवसंति॥ —विशेषणवती

२. सिज्झंति जत्तिया किर इह संववहारजीवरासिमज्झाओ।
इंति अणाइवणस्सइरासीओ तत्तिया तंमि॥ —विशेषणवती

स्पष्टता ऊपर की जा चुकी है। इतना अन्तर वनस्पतिकाय में जाने पर ही सम्भव है, अन्यत्र जाने पर नहीं।

अल्पबहुत्व में सबसे थोड़े त्रस जीव हैं क्योंकि वे असंख्यात हैं। उनसे स्थावर अनन्तगुण हैं, क्योंकि वे अजघन्योत्कृष्ट अनन्तानन्त हैं।

इस प्रकार दो प्रकार के संसारी जीवों की प्रतिपत्ति का वर्णन हुआ। यह दो प्रकार के जीवों की प्रतिपत्तिरूप प्रथम प्रतिपत्ति का प्रतिपादन हुआ।

।। प्रथम प्रतिपत्ति पूर्ण ।।

□□

त्रिविधाख्या द्वितीय प्रतिपत्ति

प्रथम प्रतिपत्ति में दो प्रकार के संसारसमापन्नक जीवों का प्रतिपादन किया गया। अब क्रमप्राप्त द्वितीय प्रतिपत्ति में तीन प्रकार के संसारप्रतिपन्नक जीवों का प्रतिपादन अपेक्षित है। अतएव त्रिविधा नामक द्वितीय प्रतिपत्ति का आरम्भ किया जाता है, जिसका यह आदि सूत्र है—

तीन प्रकार के संसारसमापन्नक जीव

४४. तत्थ जे ते एवमाहंसु—तिविधा संसार-समावण्णगा जीवा पण्णत्ता ते एवमाहंसु, तंजहा—

इत्थी पुरिसा णपुंसका।

[४४] (पूर्वोक्त नौ प्रतिपत्तियों में से) जो कहते हैं कि संसारसमापन्नक जीव तीन प्रकार के हैं, वे ऐसा कहते हैं कि संसारसमापन्नक जीव तीन प्रकार के हैं—१ स्त्री, २ पुरुष और ३ नपुंसक।

विवेचन—प्रथम प्रतिपत्ति में त्रस और स्थावर के रूप में दो प्रकार के संसारसमापन्नक जीवों का निरूपण कर २३ द्वारों के द्वारा विस्तार के साथ उनकी विवेचना की गई है। अब इस दूसरी प्रतिपत्ति में तीन प्रकार के संसारसमापन्नक जीवों का वर्णन करना अभिप्रेत है। पूर्व में कहा गया है कि संसारसमापन्नक जीवों के विषय में विवक्षाभेद को लेकर नौ प्रतिपत्तियां हैं। ये सब प्रतिपत्तियां भिन्न-भिन्न रूप वाली होते हुए भी अविरुद्ध और यथार्थ हैं। विवक्षाभेद के कारण भेद होते हुए भी वस्तुतः ये सब प्रतिपत्तियां सत्य तत्त्व के विविध रूपों का ही प्रतिपादन करती हैं।

जो प्ररूपक तीन प्रकार के संसारसमापन्नक जीवों की प्ररूपणा करते हैं, वे कहते हैं कि संसारसमापन्नक जीव तीन प्रकार के हैं—१ स्त्री, २ पुरुष और ३ नपुंसक। यह भेद वेद को लेकर किया गया है। जब संसारी जीवों का वर्णन वेद की दृष्टि से किया जाता है, तब उनके तीन भेद हो जाते हैं। सब प्रकार के संसारी जीवों का समावेश वेद की दृष्टि से इन तीन भेदों में हो जाता है। अर्थात् जो भी संसारी जीव हैं वे या तो स्त्रीवेद वाले हैं या पुरुषवेद वाले हैं या नपुंसकवेद वाले हैं। वे अवेदी नहीं हैं।

वेद का अर्थ है—रमण की अभिलाषा। नोकषायमोहनीय के उदय से वेद की प्रवृत्ति होती है।

स्त्रीवेद—जिस कर्म के उदय से पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसे स्त्रीवेद कहते हैं। स्त्रीवेद का बाह्य चिह्न योनि, स्तन आदि हैं। स्त्रियों में मृदुत्व की प्रधानता होती है, अतः उन्हें कठोर भाव की अपेक्षा रहती है। स्त्रीवेद का विकार करीषाग्नि (छाणे की अग्नि) के समान है, जो जल्दी प्रकट भी नहीं होता और जल्दी शान्त भी नहीं होता। व्यवहार (स्थूल) दृष्टि से

स्त्रीत्व के सात लक्षण माने गये हैं—१ योनि, २ मृदुत्व, ३ अस्थैर्य, ४ मुग्धता, ५ अबलता, ६ स्तन और ७ पुंस्कामिता (पुरुष के साथ रमण की अभिलाषा)।[1]

पुरुषवेद—जिस कर्म के उदय से स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो उसे पुरुषवेद कहते हैं। पुरुषवेद का बाह्य चिह्न लिंग, श्मश्रु-केश आदि हैं। पुरुष में कठोर भाव की प्रधानता होती है अतः उसे कोमल तत्त्व की अपेक्षा रहती है। पुरुषवेद का विकार तृण की अग्नि के समान है जो शीघ्र प्रदीप्त हो जाती है और शीघ्र शान्त हो जाती है। स्थूल दृष्टि से पुरुष के सात लक्षण कहे गये हैं—१ मेहन (लिंग), २ कठोरता, ३ दृढता, ४ शूरता, ५ श्मश्रु (दाढ़ी-मूंछ), ६ धीरता और ७ स्त्रीकामिता।[2]

नपुंसकवेद—स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की अभिलाषा जिस कर्म के उदय से हो वह नपुंसकवेद है। नपुंसक में स्त्री और पुरुष दोनों के मिले-जुले भाव होते हैं। नपुंसक की कामाग्नि नगरदाह या दावानल के समान होती है जो बहुत देर से शान्त होती है। नपुंसक में स्त्री और पुरुष दोनों के चिह्नों का सम्मिश्रण होता है।[3] नपुंसक में दोनों—मृदुत्व और कठोरत्व का मिश्रण होने से उसे दोनों—स्त्री और पुरुष की अपेक्षा रहती है।

नारक जीव नपुंसकवेद वाले ही होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीव और असंज्ञी पंचेन्द्रिय नपुंसकवेद वाले ही होते हैं। सब संमूर्छिम जीव नपुंसकवेदी होते हैं। गर्भज तिर्यंच और गर्भज मनुष्यों में तीनों वेद पाये जाते हैं। देवों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद ही होता है, नपुंसकवेद नहीं होता। उक्त तीनों वेदों में सब संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। वेदमोहनीय की उपशमदशा में उसकी सत्ता मात्र रहती है, उदय नहीं रहता। वेद का सर्वथा क्षय होने पर अवेदी-अवस्था प्राप्त हो जाती है।

स्त्रियों का वर्णन

४५. [१] से किं तं इत्थीओ ?

इत्थीओ तिविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

१. तिरिक्खजोणियाओ, २. मणुस्सित्थीओ, ३. देवित्थिओ।

से किं तं तिरिक्खजोणिणित्थीओ ?

तिरिक्खजोणिणित्थीओ तिविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

१. जलयरीओ, २. थलयरीओ, ३. खहयरीओ।

---

१. योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं मुग्धताऽबलता स्तनौ।
पुंस्कामितेति चिह्नानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते॥ —मलयगिरिवृत्ति

२. मेहनं खरता दार्ढ्यं, शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता।
स्त्रीकामितेति लिंगानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते॥ —मलयगिरिवृत्ति

३. स्तनादिश्मश्रुकेशादि भावाभावसमन्वितं।
नपुंसकं बुधा प्राहुर्मोहानलसुदीपितम्॥ —मलयगिरिवृत्ति

से किं तं जलयरीओ ?

जलयरीओ पंचविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

मच्छीओ जाव सुंसुमारीओ।

से किं तं थलयरीओ ?

थलयरीओ दुविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

चउप्पदीओ य परिसप्पीओ य।

से किं तं चउप्पदीओ ?

चउप्पदीओ चउव्विहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

एगखुरीओ जाव सणप्फईओ।

से किं तं परिसप्पीओ ?

परिसप्पीओ दुविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

उरपरिसप्पीओ य भुजपरिसप्पीओ य।

से किं तं उरपरिसप्पीओ ?

उरपरिसप्पीओ तिविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

१. अहीओ, २. अयगरीओ, ३. महोरगीओ। से त्तं उरपरिसप्पीओ।

से किं तं भुयपरिसप्पीओ ?

भुयपरिसप्पीओ अणेगविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

गोहीओ, णउलीओ, सेधाओ, सेलीओ सरडीओ, सेरंधीओ[1], ससाओ, खाराओ, पंचलोइयाओ, चउप्पइयाओ, मूसियाओ, मंगुसियाओ, घरोलियाओ, गोल्हियाओ, जोह्नियाओ, विरसिरालियाओ, से त्तं भयपरिसप्पीओ।

से किं तं खहयरीओ ?

खहयरीओ चउव्विहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

चम्मपक्खिणीओ जाव विययपक्खिणीओ, से त्तं खहयरीओ, से त्तं तिरिक्खजोणियाओ।

[४५] स्त्रियाँ कितने प्रकार की हैं ?

स्त्रियां तीन प्रकार की कही गई हैं, यथा—१ तिर्यंचयोनिकस्त्रियां, २ मनुष्यस्त्रियां और ३ देवस्त्रियां।

तिर्यंचयोनिक स्त्रियां कितने प्रकार की हैं ?

---

१. यहाँ अनेक वाचना-भेद दृष्टिगोचर होते हैं। आगमोदय समिति से प्रकाशित प्रति में 'सरडीओ सेरंधिओ गोहीओ णउलीओ सेधाओ सण्णाओ सरडीओ सेरंधीओ, भावाओ खाराओ पवण्णइयाओ चउप्पइयाओ मूसियाओ....इस प्रकार पाठ दिया गया है। कई वाचनाओं में गोहीओ जाव विरचिरालिया' पाठ है।

—सम्पादक

तिर्यंचयोनिक स्त्रियां तीन प्रकार की हैं। जैसे कि—१ जलचरी, २ स्थलचरी और ३ खेचरी।

जलचरी स्त्रियां कितने प्रकार की हैं ?

जलचरी स्त्रियां पांच प्रकार की हैं। यथा—मत्स्यी यावत् सुंसुमारी।

स्थलचरी स्त्रियां कितने प्रकार की हैं ?

स्थलचरी स्त्रियां दो प्रकार की हैं—चतुष्पदी और परिसर्पी।

चतुष्पदी स्त्रियां कितने प्रकार की हैं ?

चतुष्पदी स्त्रियां चार प्रकार की हैं। यथा—एकखुर वाली यावत् सनखपदी।

परिसर्पी स्त्रियां कितने प्रकार की हैं ?

परिसर्पी स्त्रियां दो प्रकार की हैं। यथा—उरपरिसर्पी और भुजपरिसर्पी।

उरपरिसर्पी स्त्रियां कितने प्रकार की हैं ?

उरपरिसर्पी स्त्रियां तीन प्रकार की हैं। यथा—१ अहि, २ अजगरी और ३ महोरगी। यह उरपरिसर्पी स्त्रियों का कथन हुआ।

भुजपरिसर्पी स्त्रियां कितने प्रकार की हैं ?

भुजपरिसर्पी स्त्रियां अनेक प्रकार की कही गई हैं, यथा—गोधिका, नकुली, सेधा, सेला, सरटी (गिरगिटी), शशकी, खारा, पंचलौकिक, चतुष्पदिका, मूषिका, मुंगुसिका (टाली), घरोलिया (छिपकली), गोल्हिका, योधिका, वीरचिरालिका आदि भुजपरिसर्पी स्त्रियां हैं।

खेचरी स्त्रियां कितने प्रकार की हैं ?

खेचरी स्त्रियां चार प्रकार की हैं। यथा—चर्मपक्षिणी यावत् विततपक्षिणी। यह खेचरी स्त्रियों का वर्णन हुआ। इसके साथ ही तिर्यंचस्त्रियों का वर्णन भी पूरा हुआ।

[२] से किं तं मणुस्सित्थीओ ?

मणुस्सित्थीओ तिविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

१. कम्मभूमियाओ, २. अकम्मभूमियाओ, ३. अंतरदीवियाओ।

से किं तं अंतरदीवियाओ ?

अंतरदीवियाओ अट्ठावीसइविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

एगोरुइयाओ आभासियाओ जाव सुद्धदंतीओ। से त्तं अंतरदीवियाओ।

से किं तं अकम्मभूमियाओ ?

अकम्मभूमियाओ तीसविहाओ पण्णत्ताओ तंजहा—

पंचसु हेमवएसु, पंचसु एरण्णवएसु, पंचसु हरिवासेसु, पंचसु रम्मगवासेसु, पंचसु देवकुरासु, पंचसु उत्तरकुरासु। से त्तं अकम्मभूमियाओ।

से किं तं कम्मभूमियाओ ?

कम्मभूमियाओ पण्णरसविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

पंचसु भरतेसु, पंचसु एरवएसु, पंचसु महाविदेहेसु। से त्तं कम्मभूमिगमणुस्सीओ। से त्तं मणुस्सित्थीओ।

मनुष्य स्त्रियां कितने प्रकार की हैं ?

मनुष्य स्त्रियां तीन प्रकार की कही गई हैं—कर्मभूमिजा, अकर्मभूमिजा और अन्तर्द्वीपजा।

अन्तर्द्वीपजा स्त्रियां कितने प्रकार की हैं ?

अन्तर्द्वीपजा स्त्रियां अट्ठावीस प्रकार की हैं, यथा—

एकोरुकद्वीपजा, आभाषिकद्वीपजा यावत् शुद्धदंतद्वीपजा। यह अन्तर्द्वीपजा स्त्रियों का वर्णन हुआ।

अकर्मभूमिजा स्त्रियां कितने प्रकार की हैं ?

अकर्मभूमिजा स्त्रियां तीस प्रकार की हैं। यथा—

पांच हैमवत में उत्पन्न, पांच एरण्यवत में उत्पन्न, पांच हरिवर्ष में उत्पन्न, पांच रम्यकवर्ष में उत्पन्न, पांच देवकुरु में उत्पन्न, पांच उत्तरकुरु में उत्पन्न। यह अकर्मभूमिजा स्त्रियों का वर्णन हुआ।

कर्मभूमिजा स्त्रियां कितने प्रकार की हैं ?

कर्मभूमिजा स्त्रियां पन्द्रह प्रकार की हैं। यथा—

पांच भरत में उत्पन्न, पांच ऐरवत में उत्पन्न और पांच महाविदेहों में उत्पन्न। यह कर्मभूमिजा स्त्रियों का वर्णन हुआ। यह मनुष्य स्त्रियों का वर्णन हुआ।

[३] से किं तं देवित्थियाओ ?

देवित्थियाओ चउव्विहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

१. भवणवासिदेवित्थियाओ, २. वाणमंतरदेवित्थियाओ, ३. जोइसियदेवित्थियाओ, ४. वेमाणियदेवित्थियाओ।

से किं तं भवणवासिदेवित्थियाओ ?

भवणवासिदेवित्थियाओ दसविहा पण्णत्ता, तंजहा—

असुरकुमारभवणवासिदेवित्थियाओ जाव थणियकुमारभवणवासिदेवित्थियाओ। से त्तं भवणवासिदेवित्थियाओ।

से किं तं वाणमंतरदेवित्थियाओ ?

वाणमंतरदेवित्थियाओ अट्ठविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—पिसायवाणमंतरदेवित्थियाओ जाव गंधव्व वाणमंतरदेवित्थीओ, से त्तं वाणमंतरदेवित्थियाओ।

से किं तं जोइसियदेवित्थियाओ ?

जोइसियदेवित्थियाओ पंचविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

चंदविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, सूर० गह० नक्खत्त० ताराविमाणजोइसियदेवित्थियाओ। से तं जोइसियाओ।

से किं तं वेमाणियदेवित्थियाओ?

वेमाणियदेवित्थियाओ दुविहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

सोहम्मकप्पवेमाणियदेवित्थियाओ, ईसाणकप्पवेमाणियदेवित्थियाओ [।] से तं वेमाणियदेवित्थियाओ।

[३] देवस्त्रियां कितने प्रकार की हैं?

देवस्त्रियां चार प्रकार की हैं। यथा—

१. भवनपतिदेवस्त्रियां, २. वानव्यन्तरदेवस्त्रियां, ३. ज्योतिष्कदेवस्त्रियां और ४. वैमानिक-देवस्त्रियां।

भवनपतिदेवस्त्रियां कितने प्रकार की हैं?

भवनपतिदेवस्त्रियां दस प्रकार की हैं। यथा—

असुरकुमार-भवनवासी-देवस्त्रियां यावत् स्तनितकुमार-भवनवासी-देवस्त्रियां। यह भवनवासी देवस्त्रियों का वर्णन हुआ।

वानव्यन्तरदेवस्त्रियां कितने प्रकार की हैं?

वानव्यन्तरदेवस्त्रियां आठ प्रकार की हैं। यथा—

पिशाचवानव्यन्तरदेवस्त्रियां यावत् गन्धर्ववानव्यन्तरदेवस्त्रियां। यह वानव्यन्तरदेवस्त्रियों का वर्णन हुआ।

ज्योतिष्कदेवस्त्रियां कितने प्रकार की हैं?

ज्योतिष्कदेवस्त्रियां पांच प्रकार की हैं। यथा—

चन्द्रविमान-ज्योतिष्क देवस्त्रियां, सूर्यविमान-ज्योतिष्क देवस्त्रियां, ग्रहविमान-ज्योतिष्क देवस्त्रियां, नक्षत्रविमान-ज्योतिष्क देवस्त्रियां और ताराविमान-ज्योतिष्क देवस्त्रियां। यह ज्योतिष्क देवस्त्रियों का वर्णन हुआ।

वैमानिक देवस्त्रियां कितने प्रकार की हैं?

वैमानिक देवस्त्रियां दो प्रकार की हैं। यथा—

सौधर्मकल्प-वैमानिक देवस्त्रियां और ईशानकल्प-वैमानिक देवस्त्रियां। यह वैमानिक देवस्त्रियों का वर्णन हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में स्त्रियों का वर्णन किया गया है। चार गतियों में से नरकगति में स्त्रियां नहीं हैं क्योंकि नारक केवल नपुंसकवेद वाले ही होते हैं। अतएव शेष तीन गतियों में—तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में स्त्रियां हैं। इसलिए सूत्र में कहा गया है कि तीन प्रकार की स्त्रियां हैं—तिर्यंचस्त्री, मनुष्यस्त्री और देवस्त्री। तिर्यंचगति में भी एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय

तथा सम्मूर्छिम जन्म वाले नपुंसकवेदी होते हैं। अतएव गर्भजतिर्यंचों, गर्भजमनुष्यों में और देवों में स्त्रियां होती हैं। इसलिए स्त्रियों के तीन प्रकार कहे गये हैं। तिर्यंचस्त्रियों के तीन भेद हैं, जलचरी, थलचरी और खेचरी। तिर्यंचों के अवान्तर भेद के अनुसार इनकी स्त्रियों के भी भेद जानने चाहिए। इसी तरह मनुष्यस्त्रियों के भी कर्मभूमिका, अकर्मभूमिका और अन्तरद्वीपिका भेद हैं। मनुष्यों के अवान्तर भेदों के अनुसार इनकी स्त्रियों के भी भेद समझने चाहिए। जैसे कर्मभूमिका स्त्रियों के १५, अकर्मभूमिका स्त्रियों के ३० और अन्तरद्वीपिकाओं के २८ भेद समझने चाहिए। भवनपति, वानव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों के भेद के अनुसार ही इनकी स्त्रियों के भेद समझने चाहिए। वैमानिक देवों में केवल पहले सौधर्म देवलोक में और दूसरे ईशान देवलोक में ही स्त्रियां हैं। आगे के देवलोकों में स्त्रियां नहीं हैं। अतएव वैमानिक देवियों के दो भेद बताये हैं—सौधर्मकल्प वैमानिक देवस्त्री और ईशानकल्प वैमानिक देवस्त्री। इस प्रकार स्त्रियों के तीन भेदों का वर्णन किया गया है।

स्त्रियों की भवस्थिति का प्रतिपादन

४६. इत्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! एगेणं आएसेणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पणपन्नं पलिओवमाइं।

एक्केणं आएसेणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं णव पलिओवमाइं।

एक्केणं आएसेणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं।

एक्केणं आएसेणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पन्नासं पलिओवमाइं।

[४६] हे भगवन् ! स्त्रियों की कितने काल की स्थिति कही गई है ?

गौतम ! एक अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पचपन पल्योपम की स्थिति है।

दूसरी अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट नौ पल्योपम की स्थिति कही गई है।

तीसरी अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सात पल्योपम की स्थिति कही गई है।

चौथी अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पचास पल्योपम की स्थिति कही गई है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सामान्य रूप से स्त्रियों की भवस्थिति का प्रतिपादन किया गया है। समुच्चय रूप से स्त्रियों की स्थिति यहाँ चार अपेक्षाओं से बताई गई है। सूत्र में आया हुआ 'आदेश' शब्द प्रकार का वाचक है।[1] प्रकार शब्द अपेक्षा का भी वाचक है। ये चार आदेश (प्रकार) इस प्रकार हैं—

(१) एक अपेक्षा से स्त्रियों की भवस्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त है। यह तिर्यंच और मनुष्यस्त्री की अपेक्षा से जानना चाहिए। अन्यत्र इतनी जघन्य स्थिति नहीं होती। उत्कृष्ट स्थिति पचपन पल्योपम की है। यह ईशानकल्प की अपरिगृहीता देवी की अपेक्षा से समझना चाहिए।

(२) दूसरी अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त (पूर्ववत्) और उत्कृष्ट नौ पल्योपम। यह ईशानकल्प की परिगृहीता देवी की अपेक्षा से समझना चाहिए।

(३) तीसरी अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त (पूर्ववत्) और उत्कृष्ट सात पल्योपम। यह सौधर्मकल्प की परिगृहीता देवी की अपेक्षा से है।

१. 'आदेसो त्ति पगारो' इति वचनात्।

(४) चौथी अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त (पूर्ववत्) और उत्कृष्ट पचास पल्योपम। यह सौधर्म कल्प की अपरिगृहीता देवी की अपेक्षा से है।[1]

तिर्यंचस्त्री आदि की पृथक् पृथक् भवस्थिति

४७. [१] तिरिक्खजोणित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं।

जलयर-तिरिक्ख-जोणित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण पुव्वकोडी।

चउप्पद-थलयर-तिरिक्ख-जोणित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहा तिरिक्खजोणित्थीओ।

उरगपरिसप्प-थलयर-तिरिक्ख-जोणित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसं पुव्वकोडी।

एवं भुयपरिसप्प-थलयर-तिरिक्ख-जोणित्थीणं।

एवं खहयर-तिरिक्खित्थीणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण पलिओवमस्स असंखेज्जइभागो।

[४७] (१) हे भगवन् ! तिर्यक्योनिस्त्रियों की स्थिति कितने समय की कही गई है ?
गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से तीन पल्योपम की स्थिति कही गई है।

भगवन् ! जलचर तिर्यक्योनिस्त्रियों की स्थिति कितने समय की कही गई है ?
गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की स्थिति कही गई है।

भगवन् ! चतुष्पद स्थलचरतिर्यक्स्त्रियों की स्थिति कितनी कही गई है ?
गौतम ! जैसे तिर्यंचयोनिक स्त्रियों की (औघिक) स्थिति कही है वैसी जानना।

भंते ! उरपरिसर्प स्थलचर तिर्यक्स्त्रियों की स्थिति कितने समय की कही गई है ?
गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि।

इसी तरह भुजपरिसर्प स्त्रियों की स्थिति भी समझना।

इसी तरह खेचरतिर्यक्स्त्रियों की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवां भाग है।

मनुष्यस्त्रियों की स्थिति

[२] मणुस्सित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

---

१. उक्तं च संग्रहण्याम्—
सपरिग्गहेयराणं सोहम्मीसाण पलियसाहियं।
उक्कोस सत्त पन्ना नव पणपन्ना य देवीणं॥

कम्मभूमय-मणुस्सित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! खित्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

भरहेरवयकम्मभूमग-मणुस्सित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

पुव्वविदेह-अवरविदेहकम्मभूमग-मणुस्सित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी। धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

अकम्मभूमग-मणुस्सित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणं पलिओवमं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं ऊणगं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं। संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

हेमवय-एरण्णवए जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणं पलिओवमं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणगं पलिओवमं। संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

हरिवास-रम्मयवास अकम्मभूमग-मणुस्सित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणयाइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं। संहरणं पडुच्च जहन्नेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

देवकुरु-उत्तरकुरु-अकम्मभूमग-मणुस्सित्थीणं भंते ! केवइयं काल ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणाइं तिण्णि पलिओवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणयाइं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं। संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

अंतरदीवग-अकम्मभूमग-मणुस्सित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणयं, उक्कोसेण पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं। संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

[४७] (२) हे भगवन् ! मनुष्यस्त्रियों की कितने समय की स्थिति कही गई है ?

गौतम ! क्षेत्र की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति है। चारित्रधर्म की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम पूर्वकोटि।

भगवन् ! कर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियों की स्थिति कितनी कही गई है ?

गौतम ! क्षेत्र को लेकर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति है और चारित्रधर्म को लेकर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि।

भगवन् ! भरत और एरवत क्षेत्र की कर्मभूमि की मनुष्य स्त्रियों की स्थिति कितनी कही गई है ?

गौतम ! क्षेत्र की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति है । चारित्रधर्म की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि ।

भंते ! पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह की कर्मभूमि को मनुष्यस्त्रियों की स्थिति कितनी कही गई है ?

गौतम ! क्षेत्र की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि । चारित्रधर्म की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि ।

भंते ! अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियों की स्थिति कितनी कही गई है ?

गौतम ! जन्म की अपेक्षा से जघन्य कुछ कम पल्योपम । कुछ कम से तात्पर्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम समझना चाहिए । उत्कृष्ट से तीन पल्योपम की स्थिति है । संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि है ।

हेमवत-ऐरण्यवत क्षेत्र की मनुष्यस्त्रियों की स्थिति जन्म की अपेक्षा जघन्य से देशोन पल्योपम अर्थात् पल्योपम के असंख्यावें भाग कम एक पल्योपम की है और संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि है ।

भंते ! हरिवर्ष-रम्यकवर्ष की अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियों की स्थिति कितनी कही गई है ?

गौतम ! जन्म की अपेक्षा जघन्य से देशोन दो पल्योपम अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम दो पल्योपम की है और उत्कृष्ट से दो पल्योपम की है । संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि है ।

भंते ! देवकुरु-उत्तरकुरु की अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियों की स्थिति कितनी कही गई है ?

गौतम ! जन्म की अपेक्षा जघन्य से देशोन तीन पल्योपम की अर्थात् पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम तीन पल्योपम की है और उत्कृष्ट से तीन पल्योपम की है । संहरण की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि है ।

भंते ! अन्तरद्वीपों की अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियों की स्थिति कितनी कही गई है ।

गौतम ! जन्म की अपेक्षा देशोन पल्योपम का असंख्यातवां भाग । यहाँ देशोन से तात्पर्य पल्योपम का असंख्यातवां भाग है । अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम पल्योपम का असंख्यातवां भाग उनकी जघन्य स्थिति है, उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवां भाग है । संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृट देशोनपूर्वकोटि है ।

देवस्त्रियों की स्थिति

[३] देवित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं पणपन्नं पलिओवमाइं ।

भवणवासिदेवित्थीणं भंते ?

जहन्नेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेणं अद्ध पंचमाइं पलिओवमाइं। एवं असुरकुमार-भवणवासि-देवित्थियाए, नागकुमार-भवणवासि-देवित्थियाए वि जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं देसूणाइं पलिओवमाइं, एवं सेसाण वि जाव थणियकुमाराणं।

वाणमंतरीणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसं अद्धपलिओवमं।

जोइसियदेवित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं अट्ठभागं उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पण्णासाएहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियं।

चंदविमाण-जोतिसिय। देवित्थियाए जहन्नेणं चउभागपलिओवमं उक्कोसेणं तं चेव।

सूरविमाण-जोतिसिय-देवित्थियाए जहन्नेणं चउभागपलिओवमं उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पंचहिं वाससएहिं अब्भहियं।

गहविमाण-जोतिसिय-देवित्थीणं जहन्नेणं चउभागपलिओवमं उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं।

णक्खत्तविमाण-जोतिसिय-देवित्थीणं जहण्णेणं चउभागपलिओवमं उक्कोसेणं चउभागपलिओवमं साइरेगं।

ताराविमाण-जोतिसिय-देवित्थियाए जहन्नेणं अट्ठभागं पलिओवमं उक्कोसेणं सातिरेगं अट्ठभागपलिओवमं।

वेमाणिय-देवित्थियाए जहन्नेणं पलिओवमं उक्कोसेणं पणपन्नं पलिओवमाइं।

सोहम्मकप्पवेमाणिय-देवित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं।

ईसाण-देवित्थीणं जहण्णेणं सातिरेगं पलिओवमं उक्कोसेणं णव पलिओवमाइं।

[४७] (३) हे भगवन् ! देवस्त्रियों की कितने काल की स्थिति है ?

गौतम ! जघन्य से दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट से पचपन पल्योपम की स्थिति कही गई है।

भगवन् ! भवनवासीदेवस्त्रियों की कितनी स्थिति है ?

गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट साढे चार पल्योपम।

इसी प्रकार असुरकुमार भवनवासी देवस्त्रियों की, नागकुमार भवनवासी देवस्त्रियों की जघन्य दस दजार वर्ष और उत्कृष्ट देशोनपल्योपम की स्थिति जाननी चाहिए। इसी प्रकार शेष रहे सुपर्णकुमार आदि यावत् स्तनितकुमार देवस्त्रियों की स्थिति जाननी चाहिए।

वानव्यन्तरदेवस्त्रियों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष उत्कृष्ट स्थिति आधा पल्योपम की है।

भंते ! ज्योतिष्कदेवस्त्रियों की स्थिति कितने समय की कही गई है ?

गौतम ! जघन्य से पल्योपम का आठवां भाग और उत्कृष्ट से पचास हजार वर्ष अधिक आधा पल्योपम है।

चन्द्रविमान-ज्योतिष्कदेवस्त्रियों की जघन्य स्थिति पल्योपम का चौथा भाग और उत्कृष्ट स्थिति वही पचास हजार वर्ष अधिक आधे पल्योपम की है।

सूर्यविमान-ज्योतिष्कदेवस्त्रियों की स्थिति जघन्य से पल्योपम का चौथा भाग और उत्कृष्ट से पांच सौ वर्ष अधिक आधा पल्योपम है।

ग्रहविमान-ज्योतिष्कदेवस्त्रियों की स्थिति जघन्य से पल्योपम का चौथा भाग, उत्कृष्ट से आधा पल्योपम।

नक्षत्रविमान-ज्योतिष्कदेवस्त्रियों की स्थिति जघन्य से पल्योपम का चौथा भाग और उत्कृष्ट पाव पल्योपम से कुछ अधिक।

ताराविमान-ज्योतिष्कदेवस्त्रियों की जघन्य स्थिति पल्योपम का आठवां भाग और उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक पल्योपम का आठवां भाग है।

वैमानिकदेवस्त्रियों की जघन्य स्थिति एक पल्योपम है और उत्कृष्ट स्थिति पचपन पल्योपम की है।

भगवन् ! सौधर्मकल्प की वैमानिकदेवस्त्रियों की स्थिति कितनी कही गई है ?
गौतम ! जघन्य से एक पल्योपम और उत्कृष्ट सात पल्योपम की स्थिति है।

ईशानकल्प की वैमानिकदेवस्त्रियों की स्थिति जघन्य से एक पल्योपम से कुछ अधिक और उत्कृष्ट नौ पल्योपम की है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में तिर्यक्स्त्रियों, मनुष्यस्त्रियों और देवस्त्रियों की कालस्थिति को ओधिक रूप से और पृथक् पृथक् रूप से बताया गया है। सर्वप्रथम तिर्यञ्चस्त्रियों की औघिकस्थिति बतलाई गई है। स्थिति दो तरह की है—जघन्य और उत्कृष्ट। जघन्य स्थिति का अर्थ है—कम से कम काल तक रहना और उत्कृष्ट का अर्थ है—अधिक से अधिक काल तक रहना।

तिर्यंचस्त्रियों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की कही गई है। यह उत्कृष्ट स्थिति देवकुरु आदि में चतुष्पदस्त्री की अपेक्षा से है।

विशेष विवक्षा में जलचरस्त्रियों की उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि की, स्थलचरस्त्रियों की औघिक—अर्थात् तीन पल्योपम की, खेचरस्त्रियों की पल्योपम का असंख्येयभाग स्थिति कही गई हैं। (उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प की उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि है।) जघन्य स्थिति सबकी अन्तर्मुहूर्त है।

मनुष्यस्त्रियों की स्थिति—मनुष्यस्त्रियों की स्थिति दो अपेक्षाओं से बताई गई है। एक है क्षेत्र को लेकर और दूसरी है धर्माचरण (चारित्र) को लेकर। मनुष्यस्त्रियों की औधिकस्थिति क्षेत्र को लेकर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है। यह उत्कृष्ट स्थिति देवकुरु आदि में तथा भरत आदि क्षेत्र में एकान्त सुषमादिकाल की अपेक्षा से है।

धर्माचरण (चारित्रधर्म) की अपेक्षा से मनुष्यस्त्रियों की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति देशोनपूर्वकोटि है।

जो चारित्रधर्म की अपेक्षा से मनुष्यस्त्रियों की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त कही गई है वह उसी भव में परिणामों की धारा बदलने पर चारित्र से गिर जाने की अपेक्षा से समझना चाहिए। कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल तक तो चारित्र रहता ही है। किसी स्त्री ने तथाविध क्षयोपशमभाव से सर्व-विरति रूप चारित्र को स्वीकार कर लिया तथा उसी भाव में कम से कम अन्तर्मुहूर्त बाद वह परिणामों की धारा बदलने से पतित होकर अविरत सम्यग्दृष्टि हो गई या मिथ्यात्वगुणस्थान में चली गई तो इस अपेक्षा से चारित्रधर्म की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त काल को रही अथवा चारित्र स्वीकार करने के बाद मृत्यु भी हो जाय तो भी अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में अन्तर्मुहूर्तकाल की संभावना है ही।

दूसरी दृष्टि से भी इसकी संगति की जाती है। धर्माचरण से यहाँ देशविरति समझना चाहिए, सर्वविरति नहीं। देशविरति जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त की हो होती है क्योंकि देशविरति के बहुत से भंग (प्रकार) हैं। शंका की जा सकती है कि उभयरूप चारित्र की संभावना होते हुए भी देशविरति का ही ग्रहण क्यों किया जाय? इसका समाधान है कि प्राय: सर्वविरति देशविरति पूर्वक होती है, यह बतलाने के लिए ऐसा ग्रहण किया जा सकता है। वृद्ध आचार्यों ने कहा है कि 'सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात् (अधिक से अधिक) पल्योपमपृथक्त्वकाल में श्रावकत्व की प्राप्ति और चारित्रमोहनीय का उपशम या क्षय संख्यात सागरोपम के पश्चात् होता है।'[1]

चारित्रधर्म की उत्कृष्ट स्थिति देशोनपूर्वकोटि कही गई है। आठ वर्ष की अवस्था के पूर्व चारित्र परिणाम नहीं होते। आठ वर्ष की अवस्था के बाद चारित्र स्वीकार करके उससे गिरे बिना चारित्रधर्म का पालन पूर्वकोटि के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त तक करते रहने की अपेक्षा से कहा गया है। आठ वर्ष की अवधि को कम करने से देशोनपूर्वकोटि चारित्रधर्म की दृष्टि से मनुष्यस्त्रियों की स्थिति बताई गई है।

पूर्वकोटि से तात्पर्य एक करोड़ पूर्व से है। पूर्व का परिमाण इस प्रकार है—७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्षों का एक पूर्व होता है (७०,५६०००,००००००० =सत्तर, छप्पन और दस शून्य)।[2]

मनुष्यस्त्रियों की औघिक स्थिति बताने के पश्चात् कर्मभूमिक आदि विशेष मनुष्यस्त्रियों की वक्तव्यता कही गई है। कर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियों की स्थिति क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से तीन पल्योपम है। यह भरत और ऐरवत क्षेत्र में सुषमसुषम नामक आरक में समझना चाहिए। चारित्रधर्म की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोनपूर्वकोटि है। यह कर्म-भूमि के सामान्य लक्षण को लेकर वक्तव्यता हुई। विशेष की वक्तव्यता इस प्रकार है—भरत और ऐरवत में तीन पल्योपम की स्थिति सुषमसुषम आरे में होती है। पूर्व-पश्चिम विदेहों में क्षेत्र से

---

१. सम्मत्तम्मि उ लद्धे पलिय पुहुत्तेण सावओ होइ।
चरणोवसमखयाणं सागर संखंतरा होंति॥

२. पुव्वस्स उ परिमाणं सयरिं खलु होंति कोडिलक्खाओ।
छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं॥

पूर्वकोटि स्थिति है, क्योंकि क्षेत्रस्वभाव से इससे अधिक आयु वहाँ नहीं होती। चारित्रधर्म को लेकर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोनपूर्वकोटि है।

अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियों की स्थिति दो अपेक्षाओं से कही गई है। एक जन्म की अपेक्षा से और दूसरी संहरण की अपेक्षा से। संहरण का अर्थ है—कर्मभूमिज स्त्री को अकर्मभूमि में ले जाना। जैसे कोई मगध आदि देश से सौराष्ट्र के प्रति रवाना हुआ और चलते-चलते सौराष्ट्र में पहुँच गया और वहाँ रहने लगा तो तथाविध प्रयोजन होने पर उसे सौराष्ट्र का कहा जाता है, वैसे ही कर्मभूमि से उठाकर अकर्मभूमि में संहृत की गई स्त्री अकर्मभूमि की कही जाती है। औघिक रूप से जन्म को लेकर जघन्य से अकर्मभूमिज स्त्रियों की स्थिति देशोन (पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम) एक पल्योपम की है और उत्कृष्ट से तीन पल्योपम की है। यह हैमवत, हैरण्यवत क्षेत्र की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि वहाँ जघन्य से इतनी स्थिति सम्भव है। उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति देवकुरु-उतरकुरु की अपेक्षा से जाननी चाहिए।

संहरण की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि स्थिति है। कर्मभूमि से अकर्मभूमि में किसी स्त्री का संहरण किया गया हो और वह वहाँ केवल अन्तर्मुहूर्त मात्र जीवित रहे या वहाँ से उसका पुनः संहरण हो जाय, इस अपेक्षा से जघन्य की स्थिति अन्तर्मुहूर्त कही है। यदि वह स्त्री वहाँ पूर्वकोटि आयुष्य वाली हो तो उसकी अपेक्षा देशोनपूर्वकोटि उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है।

यह शंका हो सकती है कि भरत और एरवत क्षेत्र भी कर्मभूमि में हैं, वहाँ भी एकान्त सुषमादि काल में तीन पल्योपम की स्थिति होती है और संहरण भी सम्भव है तो उत्कृष्ट से देशोन-पूर्वकोटि कैसे संगत है? इसका समाधान है कि कर्मभूमि होने पर भी कर्मकाल की विवक्षा से ऐसा कहा गया है। भरत, एरवत क्षेत्र में एकान्त सुषमादि काल में भोगभूमि जैसी रचना होती है अतः वह कर्मकाल नहीं है। कर्मकाल में तो पूर्वकोटि आयुष्य ही होता है अतएव यथोक्त देशोनपूर्वकोटि संगत है।

हैमवत, हैरण्यवत अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियों की स्थिति जन्म की अपेक्षा जघन्य देशोन पल्योपम (पल्योपम के असंख्येय भाग न्यून) है और उत्कर्ष से परिपूर्ण पल्योपम है। संहरण को लेकर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से देशोनपूर्वकोटि है।

हरिवर्ष और रम्यकवर्ष की स्त्रियों की स्थिति जन्म की अपेक्षा पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम दो पल्योपम की है और उत्कर्ष से परिपूर्ण दो पल्योपम की है। संहरण की अपेक्षा जघन्य एक अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि है।

देवकुरु-उत्तरकुरु में जन्म की अपेक्षा से पल्योपम के असंख्येयभागहीन तीन पल्योपम की जघन्यस्थिति और उत्कृष्टस्थिति परिपूर्ण तीन पल्योपम की है। संहरण की अपेक्षा जघन्य एक अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि है।

अन्तरद्वीपों की मनुष्यस्त्रियों की स्थिति जन्म की अपेक्षा से जघन्य कुछ कम पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है और उत्कर्ष से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि

उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण आयुष्य से जघन्य आयु पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण न्यून है। संहरण की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि है।

देवस्त्रियों की स्थिति—देवस्त्रियों की औघिकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति पचपन पल्योपम की है। भवनपति और व्यन्तर देवियों की अपेक्षा से जघन्य स्थिति का कथन है और ईशान देवलोक की देवी को लेकर उत्कृष्ट स्थिति का विधान किया गया है।

विशेष विवक्षा में भवनवासी देवियों की सामान्यत: दस हजार वर्ष और उत्कर्ष से साढ़े चार पल्योपम की स्थिति है। यह असुरकुमार देवियों की अपेक्षा से है। यहाँ भी विशेष विवक्षा में असुरकुमार देवियों की सामान्यत: जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट साढ़े चार पल्योपम, नागकुमार देवियों की जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट देशोनपल्योपम, इसी तरह शेष सुपर्णकुमारी से लगाकर स्तनितकुमारियों की स्थिति जानना चाहिए।

व्यन्तरदेवियों की स्थिति जघन्य से दस हजार वर्ष और उत्कर्ष से आधा पल्योपम है।

ज्योतिष्कस्त्रियों की जघन्य से पल्योपम का आठवां भाग और उत्कर्ष से पचास हजार वर्ष अधिक आधा पल्योपम है। विशेष विवक्षा में चन्द्रविमान की स्त्रियों की स्थिति जघन्य से पल्योपम का चौथा भाग और उत्कर्ष से पचास हजार वर्ष अधिक आधा पल्योपम है।

सूर्यविमान की स्त्रियों की स्थिति जघन्य से पल्योपम का चौथा भाग और उत्कर्ष से पांच सौ वर्ष अधिक अर्धपल्योपम है।

ग्रहविमान की देवियों की स्थिति जघन्य से पाव पल्योपम और उत्कर्ष से आधा पल्योपम है।

नक्षत्रविमान की देवियों की स्थिति जघन्य से पाव पल्योपम और उत्कर्ष से पाव पल्योपम से कुछ अधिक।

ताराविमान की देवियों की स्थिति जघन्य से $\frac{1}{8}$ पल्योपम और उत्कर्ष से $\frac{1}{8}$ पल्योपम से कुछ अधिक है।

वैमानिकदेवियों की स्थिति

वैमानिक देवियों की औघिकी जघन्यस्थिति एक पल्योपम की और उत्कर्ष से ५५ पल्योपम की है। विशेष चिन्ता में **सौधर्मकल्प** की देवियों की जघन्यस्थिति एक पल्योपम और उत्कर्ष से सात पल्योपम की है। यह स्थितिपरिमाण परिगृहीता देवियों की अपेक्षा से है। अपरिगृहीता देवियों की जघन्य से एक पल्योपम और उत्कर्ष से ५५ पल्योपम है। ईशानकल्प की देवियों की जघन्यस्थिति कुछ अधिक एक पल्योपम और उत्कर्ष से नौ पल्योपम है। यहाँ भी यह स्थितिपरिमाण परिगृहीतादेवियों की अपेक्षा से है। अपरिगृहीता देवियों की जघन्यस्थिति पल्योपम से कुछ अधिक और उत्कर्ष से ५५ पल्योपम की है।

वृत्तिकार ने लिखा है कि कई प्रतियों में यह स्थितिसम्बन्धी पूरा पाठ पाया जाता है और कई प्रतियों में केवल यह अतिदेश किया गया है—'एवं देवीणं ठिई भाणियव्वा जहा पण्णवणाए जाव ईसाणदेवीणं।'

स्त्रीत्व की निरन्तरता का कालप्रमाण

४८. [१] इत्थीणं भंते ! इत्थित्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! एक्केणादेसेणं जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसं दसुत्तरं पलिओवमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ॥१॥

एक्केणादेसेणं जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अट्ठारस पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ॥२॥

एक्केणादेसेणं जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं चउदस पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं ॥३॥

एक्केणादेसेणं जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं पलिओवमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ॥४॥

एक्केणादेसेणं जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसं पलिओवमपुहुत्तं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ॥५॥

[४८-१] हे भगवन् ! स्त्री, स्त्रीरूप में लगातार कितने समय तक रह सकती है ?

गौतम ! एक अपेक्षा से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक एक सौ दस पल्योपम तक स्त्री, स्त्रीरूप में रह सकती है।१।

दूसरी अपेक्षा से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक अठारह पल्योपम तक रह सकती है।२।

तीसरी अपेक्षा से जघन्य एक समय और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक चौदह पल्योपम तक कह सकती है।३।

चौथी अपेक्षा से जघन्य एक समय और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक एक सौ पल्योपम तक रह सकती है।४।

पांचवीं अपेक्षा से जघन्य एक समय और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक पल्योपम-पृथक्त्व तक रह सकती है।५।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्रश्न किया गया है कि स्त्री, स्त्री के रूप में लगातार कितने समय तक रह सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर में पांच आदेश (प्रकार—अपेक्षाएँ) बतलाये गये हैं। वे पांच अपेक्षाएँ क्रम से इस प्रकार हैं—

(१) पहली अपेक्षा से स्त्री, स्त्री के रूप में लगातार जघन्य से एक समय एक और उत्कृष्ट से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक एक सौ दस (११०) पल्योपम तक हो सकती है, इसके पश्चात् अवश्य परिवर्तन होता है। इस आदेश की भावना इस प्रकार है—

कोई स्त्री उपशमश्रेणी पर आरूढ हुई और वहाँ उसने वेदत्रय का उपशमन कर दिया और अवेदकता का अनुभव करने लगी। बाद में वह वहाँ से पतित हो गई और एक समय तक स्त्रीवेद में रही और द्वितीय समय में काल करके (मरकर) देव (पुरुष) बन गई। इस अपेक्षा से उसके स्त्रीत्व का काल एक समय का ही रहा। अतः जघन्य से स्त्रीत्व का काल समय मात्र ही रहा।

स्त्री का स्त्रीरूप में अवस्थानकाल उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक एक सौ दस पल्योपम कहा गया है, उसकी भावना इस प्रकार है—

कोई जीव पूर्वकोटि की आयु वाली मनुष्यस्त्रियों में अथवा तिर्यंचस्त्रियों में उत्पन्न हो जाय और वह वहाँ पांच अथवा छह बार उत्पन्न होकर ईशानकल्प की अपरिगृहीता देवी के रूप में पचपन पल्योपम की स्थिति युक्त होकर उत्पन्न हो जाय, वहाँ से आयु का क्षय होने पर पुनः मनुष्यस्त्री या तिर्यंचस्त्री के रूप में पूर्वकोटि आयुष्य सहित उत्पन्न हो जाय। वहाँ से पुनः द्वितीय बार ईशान देवलोक में ५५ पल्योपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली अपरिगृहीता देवी बन जाय, इसके बाद अवश्य ही वेदान्तर को प्राप्त होती है। इस प्रकार पांच-छह बार पूर्वकोटि आयु वाली मनुष्यस्त्री या तिर्यंचस्त्री के रूप में उत्पन्न होने का काल और दो बार ईशान देवलोक में उत्पन्न होने का काल ५५+५५=११० पल्योपम—ये दोनों मिलाकर पूर्वकोटि पृथक्त्व एक सौ दस पल्योपम का कालमान होता है। यहाँ पृथक्त्व का अर्थ वहुत बार है। इतने काल के पश्चात् अवश्य ही वेदान्तर होता है।

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि कोई जीव देवकुरु-उत्तरकुरु आदि क्षेत्रों में तीन पल्योपम आयुवाली स्त्री के रूप में जन्म ले तो इससे भी अधिक स्त्रीवेद का अवस्थानकाल हो सकता है। इस शंका का समाधान यह है कि देवी के भव से च्यवित देवी का जीव असंख्यात वर्षायु वाली स्त्रियों में स्त्री होकर उत्पन्न नहीं होता और न वह असंख्यात वर्षायु वाली स्त्री उत्कृष्ट आयु वाली देवियों में उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि प्रज्ञापनासूत्र-टीका में कहा गया है—'जतो असंखेज्जवासाउया उक्कोसियं ठिइं न पावेइ' अर्थात् असंख्यात वर्ष की आयुवाली स्त्री उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त नहीं करती। इसलिए यथोक्त प्रमाण ही स्त्रीवेद का उत्कृष्ट अवस्थानकाल है।१।

(२) दूसरी अपेक्षा से स्त्रीवेद का अवस्थानकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक अठारह पल्योपम है। जघन्य एक समय की भावना प्रथम आदेश के समान है। उत्कृष्ट अवस्थानकाल की भावना इस प्रकार है—

कोई जीव मनुष्यस्त्री और तिर्यंचस्त्री के रूप में लगातार पाँच वार रहकर पूर्ववत् ईशान-देवलोक में दो बार उत्कृष्ट स्थिति वाली देवियों में उत्पन्न होता हुआ नियम से परिगृहीता देवियों में ही उत्पन्न होता है, अपरिगृहीता देवियों में उत्पन्न नहीं होता। परिगृहीता देवियों की उत्कृष्ट स्थिति नौ पल्योपम की है, अतः ९+९=१८ पल्योपम का ही उसका ईशान देवलोक का काल होता है। मनुष्य, तिर्यंच भव का कालमान पूर्वकोटिपृथक्त्व जोड़ने से यथोक्त पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक १८ पल्योपम का स्त्रीवेद का अवस्थान-काल होता है।२।

(३) तीसरी अपेक्षा से स्त्रीवेद का अवस्थानकाल जघन्य एक समय और उत्कर्ष से पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक चौदह पल्योपम है। एक समय की भावना प्रथम आदेश की तरह है। उत्कर्ष की भावना इस प्रकार है—द्वितीय आदेश की तरह कोई जीव पांच छह बार पूर्वकोटि प्रमाण वाली मनुष्यस्त्री या तिर्यंचस्त्री में उत्पन्न हुआ और बाद में सौधर्म देवलोक की सात पल्योपम प्रमाण आयु वाली परिगृहीता देवियों में दो बार देवी रूप में उत्पन्न हो, इस अपेक्षा से स्त्रीवेद का उत्कृष्ट अवस्थान-काल पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक चौदह पल्योपम है।३।

(४) चौथी अपेक्षा से स्त्रीवेद का अवस्थानकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक सौ पल्योपम है। एक समय की भावना प्रथम आदेशानुसार है। उत्कृष्ट की भावना इस प्रकार है—

पूर्वकोटि आयु वाली मनुष्यस्त्री या तिर्यंचस्त्री रूप में पांच छह बार पूर्व की तरह रहकर सौधर्मदेवलोक में ५० पल्योपम की उत्कृष्ट आयुवाली अपरिगृहीता देवी के रूप में दो बार उत्पन्न होने पर ५०+५०=१०० पल्योपम और पूर्वकोटिपृथक्त्व तिर्यंच-मनुष्यस्त्री का काल मिलाने पर यथोक्त अवस्थानकाल पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक सौ पल्योपम होता है।४।

(५) पांचवीं अपेक्षा से स्त्रीवेद का अवस्थानकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक पल्योपमपृथक्त्व है। जघन्य की भावना पूर्ववत्। उत्कृष्ट की भावना इस प्रकार है—

कोई जीव मनुष्यस्त्री या तिर्यंचस्त्री के रूप में पूर्वकोटि आयुष्य सहित सात भव करके आठवें भव में देवकुरु आदि की तीन पल्योपम की स्थिति वाली स्त्रियों में स्त्रीरूप से उत्पन्न हो, वहाँ से मर कर सौधर्म देवलोक की जघन्यस्थिति वाली (पल्योपम स्थिति वाली) देवियों में देवीरूप से उत्पन्न हो, इसके बाद अवश्य वेदान्तर होता है। इस प्रकार पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक पल्योपम, पृथक्त्व प्रमाण स्त्रीवेद का अवस्थानकाल होता है।५।

उक्त पांच आदेशों में से कौनसा आदेश समीचीन है, इसका निर्णय अतिशय ज्ञानी या सर्वोत्कृष्ट श्रुतलब्धिसम्पन्न ही कर सकते हैं। वर्तमान में वैसी स्थिति न होने से सूत्रकार ने पांचों आदेशों का उल्लेख कर दिया है और अपनी ओर से कोई निर्णय नहीं दिया है। हमें तत्त्व केवलिगम्य मानकर पांचों आदेशों को अलग अलग अपेक्षाओं को समझना चाहिए।

तिर्यञ्चस्त्री का तद्रूप में अवस्थानकाल

[२] तिरिक्खजोणित्थी णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थित्ति कालओ केवच्चिरं होति ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं।

जलयरीए जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण पुव्वकोडिपुहुत्तं।

चउप्पयथलयरतिरिक्खजोणित्थी जहा ओहिया तिरिक्खजोणित्थी।

उरपरिसप्पी-भुयपरिसप्पित्थीणं जहा जलयरीणं, खहयरित्थी णं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं।

[४८] (२) हे भगवन् ! तिर्यञ्चस्त्री तिर्यञ्चस्त्री के रूप में कितने समय तक (लगातार) रह सकती है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम तक रह सकती है।

जलचरी जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व तक रह सकती है।

चतुष्पदस्थलचरी के सम्बन्ध में औधिक तिर्यंचस्त्री की तरह जानना।

उरपरिसर्पस्त्री और भुजपरिसर्पस्त्री के संबंध में जलचरी की तरह कहना चाहिए।

खेचरी खेचरस्त्री के रूप में जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक रह सकती है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में तिर्यंचस्त्री का तिर्यञ्चस्त्री के रूप में लगातार रहने का कालप्रमाण बताया गया है। जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल तक और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम तक तिर्यंचस्त्री तिर्यंचस्त्रीरूप में रह सकती है। इसकी भावना इस प्रकार है—

किसी तिर्यंचस्त्री की आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र हो और वह मर कर वेदान्तर को प्राप्त कर ले अथवा मनुष्यादि विलक्षण भाव को प्राप्त कर ले तो उसकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त का जघन्य अवस्थान-काल संगत होता है। उत्कृष्ट अवस्थानकाल की भावना इस प्रकार है—

मनुष्य और तिर्यञ्च उसी रूप में उत्कर्ष से आठ भव लगातार कर सकते हैं, अधिक नहीं।[1] इनमें से सात भव तो संख्यात वर्ष की आयु वाले होते हैं और आठवां भव असंख्यात वर्ष की आयु वाला ही होता है। पर्याप्त मनुष्य या पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च निरन्तर यथासंख्य सात पर्याप्त मनुष्य भव या सात पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के भवों का अनुभव करके आठवें भव में पुनः पर्याप्त मनुष्य या पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में उत्पन्न हो तो नियम से असंख्येय वर्षायु वाला ही होता है, संख्येय वर्षायु वाला नहीं। असंख्येय वर्षायुवाला मर कर नियम से देवलोक में उत्पन्न होता है, अतः लगातार नौवां भव मनुष्य या संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च का नहीं होता। अतएव जब पीछे के सातों भव उत्कर्ष से पूर्वकोटि आयुष्य के हों और आठवां भव देवकुरु आदि में उत्कर्ष से तीन पल्योपम का हो, इस अपेक्षा से तिर्यक्स्त्री का अवस्थानकाल पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम का होता है।

विशेष चिन्ता में जलचरी स्त्री जलचरी स्त्री के रूप में लगातार जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व तक रह सकती है। पूर्वकोटि आयु की जलचरी के सात भव करके अवश्य ही जलचरीभव का परिवर्तन होता है।

चतुष्पद स्थलचरी की वक्तव्यता औघिक तिर्यंचस्त्री की तरह है। अर्थात् जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम है।

उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प स्त्री की वक्तव्यता जलचरस्त्री की वक्तव्यता के अनुसार है। अर्थात् जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व है।

खेचरस्त्री का अवस्थानकाल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक पल्योपम का असंख्यातवां भाग है। इस प्रकार तिर्यंचस्त्रियों का अवस्थानकाल सामान्य और विशेष रूप से कहा गया है।

मनुष्यस्त्रियों का तद्रूप में अवस्थानकाल

[३] मणुस्सित्थी णं भंते ! मणुस्सित्थित्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्त-मब्भहियाइं। धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी।

१. 'नरतिरियाणं सतट्ठभवा' इति वचनात्

एवं कम्मभूमिया वि, भरहेरवया वि, णवरं खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं देसूणपुव्वकोडिमब्भहियाइं । धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी ।

पुव्वविदेह-अवरविदेहित्थी णं खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिपुहुत्तं । धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी ।

अकम्मभूमिग-मणुस्सित्थी णं भंते ! अकम्मभूमिग-मणुस्सित्थित्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणं पलिओवमं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागेणं ऊणं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं । संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं देसूणाए पुव्वकोडीए अब्भहियाइं ।

हेमवय-एरण्णवय-अकम्मभूमियमणुस्सित्थी णं भंते ! हेमवय-एरण्णवय अकम्मभूमिय-मणुस्सित्थित्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणं पलिओवमं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणगं, उक्कोसेणं पलिओवमं । संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पलिओवमं देसूणाए पुव्वकोडीए अब्भहियं ।

हरिवास-रम्मयवास-अकम्मभूमिग-मणुस्सित्थी णं हरिवास-रम्मयवास-अकम्मभूमिग-मणुस्सित्थित्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणाइं, उक्कोसेण दो पलिओवमाइं । संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं देसूणपुव्वकोडिमब्भहियाइं ।

देवकुरुत्तरकुरूणं, जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणाइं तिन्नि पलिओवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगाइं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं । संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं देसूणाए पुव्वकोडीए अब्भहियाइं ।

अंतरदीवगाकम्मभूमिग-मणुस्सित्थी णं भंते ! अंतरदीवगाकम्मभूमिग-मणुस्सित्थित्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणं, उक्कोसेण पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं । संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं देसूणाए पुव्वकोडीए अब्भहियं ।

देवित्थीणं भंते ! देवित्थित्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जच्चेव भवट्ठिई सच्चेव संचिट्ठणा भाणियव्वा ।

[४८] (३) भंते ! मनुष्यस्त्री मनुष्यस्त्री के रूप में कितने काल तक रहती है ?

गौतम ! क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम तक रहती है। चारित्रधर्म की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि तक रह सकती है।

इसी प्रकार कर्मभूमिक स्त्रियों के विषय में और भरत ऐरवत क्षेत्र की स्त्रियों के सम्बन्ध में जानना चाहिए। विशेषता यह है कि क्षेत्र की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम तक रह सकती है। चारित्रधर्म की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि तक अवस्थानकाल है।

पूर्वविदेह पश्चिमविदेह की स्त्रियों के सम्बन्ध में क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अवस्थानकाल कहना चाहिए। धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य एक समय, उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि।

भगवन् ! अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्री अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्री के रूप में कितने काल तक रह सकती है ?

गौतम ! जन्म की अपेक्षा जघन्य से देशोन अर्थात् पल्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून एक पल्योपम और उत्कृष्ट से तीन पल्योपम तक। संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोनपूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम तक रह सकती है।

भगवन् ! हेमवत-एरण्यवत-अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्री हेमवत-एरण्यवत-अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्री के रूप में कितने काल तक रह सकती है ?

गौतम ! जन्म की अपेक्षा जघन्य से देशोन अर्थात् पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम एक पल्योपम और उत्कर्ष से एक पल्योपम तक। संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि अधिक एक पल्योपम तक।

भगवन् ! हरिवास-रम्यकवास-अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्री हरिवास-रम्यकवास-अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्री के रूप में कितने काल तक रह सकती है ?

गौतम ! जन्म की अपेक्षा से जघन्यतः पल्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून दो पल्योपम तक और उत्कृष्ट से दो पल्योपम तक। संहरण की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन-पूर्वकोटि अधिक दो पल्योपम तक।

देवकुरु-उत्तरकुरु की स्त्रियों का अवस्थानकाल जन्म की अपेक्षा पल्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून तीन पल्योपम और उत्कृष्ट से तीन पल्योपम है। संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम।

भगवन् ! अन्तरद्वीपों की अकर्मभूमि की मनुष्य स्त्रियों का उस रूप में अवस्थानकाल कितना है ?

गौतम ! जन्म की अपेक्षा जघन्य से देशोनपल्योपम का असंख्यातवां भाग कम पल्योपम का असंख्यातवां भाग है और उत्कृष्ट से पल्योपम का असंख्यातवां भाग है। संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि अधिक पल्योपम का असंख्यातवां भाग।

भगवन् ! देवस्त्री देवस्त्री के रूप में कितने काल तक रह सकती है ?
गौतम ! जो उसकी भवस्थिति है, वही उसका अवस्थानकाल है ।

विवेचन—मनुष्यस्त्रियों का सामान्यतः अवस्थानकाल वही है जो सामान्य तिर्यंचस्त्रियों का कहा गया है । अर्थात् जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम है । इसकी भावना तिर्यंचस्त्री के अधिकार में पहले कही जा चुकी है, तदनुसार जानना चाहिए ।

कर्मभूमि की मनुष्यस्त्री का अवस्थानकाल क्षेत्र की अपेक्षा अर्थात् सामान्यतः कर्मक्षेत्र को लेकर जघन्य अन्तर्मुहूर्त है, इसके बाद उसका परित्याग सम्भव है। उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम का है । इसमें सात भव महाविदेहों में और आठवां भव भरत-ऐरावतों में । एकान्त सुषमादि आरक में तीन पल्योपम का प्रमाण समझना चाहिए । धर्माचरण को लेकर जघन्य से एक समय है, क्योंकि तदावरणकर्म के क्षयोपशम की विचित्रता से एक समय की सम्भावना है। इसके बाद मरण हो जाने से चारित्र का प्रतिपात हो जाता है । उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि है, क्योंकि चारित्र का परिपूर्ण काल भी उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि ही है ।

भरत-ऐरवत कर्मभूमिक मनुष्यस्त्री का अवस्थानकाल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त है और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम का है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पूर्वविदेह अथवा पश्चिमविदेह की पूर्वकोटि आयु वाली स्त्री को किसी ने भरतादि क्षेत्र में एकान्त सुषमादि काल में संहृत किया । वह यद्यपि महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हुई है तो भी पूर्वोक्त मागध पुरुष के दृष्टान्त से भरत-ऐरावत की कही जाती है । वह स्त्री पूर्वकोटि तक जीवित रहकर अपनी आयु का क्षय होने पर वहीं भरतादि क्षेत्र में एकान्त सुषम आरक के प्रारम्भ में उत्पन्न हुई । इस अपेक्षा से देशोन पूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम का उसका अवस्थानकाल हुआ । धर्माचरण की अपेक्षा कर्मभूमिज स्त्री की तरह जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि जानना चाहिए ।

पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह कर्मभूमिज स्त्री का अवस्थानकाल क्षेत्र को लेकर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व है । वहीं पुनः उत्पत्ति की अपेक्षा से समझना चाहिए । धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि है । यह कर्मभूमिज स्त्रियों की वक्तव्यता हुई ।

अकर्मभूमिज मनुष्यस्त्री का सामान्यतः अवस्थानकाल जन्म की अपेक्षा से जघन्यतः देशोन पल्योपम है । अष्ट भाग आदि भी देशोन होता है अतः ऊनता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि पल्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून एक पल्योपम है । उत्कर्ष से तीन पल्योपम है । संहरण की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त । यह अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहते संहरण होने से अपेक्षा से है । उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कोई पूर्वविदेह या पश्चिमविदेह की मनुष्यस्त्री जो देशोन पूर्वकोटि की आयु वाली है, उसका देवकुरु आदि में संहरण हुआ, वह पूर्व मागधदृष्टान्त से देवकुरु की कहलाई । वह वहाँ देशोन

पूर्वकोटि तक जी कर कालधर्म प्राप्त कर वहीं तीन पल्योपम की आयु लेकर उत्पन्न हुई। इस तरह देशोन पूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम का अवस्थानकाल हुआ।

संहरण को लेकर इस जघन्य और उत्कृष्ट अवस्थानकालमान प्रदर्शित करने से यह प्रतिपादित किया गया है कि कुछ न्यून अन्तर्मुहूर्त आयु शेष वाली स्त्री का तथा गर्भस्थ का संहरण नहीं होता है। अन्यथा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से पूर्वकोटि की देशोनता सिद्ध नहीं हो सकती है।

विशेष-विवक्षा से हैमवत ऐरण्यवत हरिवर्ष रम्यकवर्ष देवकुरु-उत्तरकुरु और अन्तर्द्वीपिज स्त्रियों का जन्म की अपेक्षा जो जिसकी स्थिति है, वही उसका अवस्थानकाल है। संहरण की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से जो जिसकी स्थिति है उससे देशोन पूर्वकोटि अधिक अवस्थानकाल जानना चाहिए। इस संक्षिप्त कथन को स्पष्टता के साथ इस प्रकार जानना चाहिए—

हैमवत ऐरण्यवत की मनुष्यस्त्री का अवस्थानकाल जन्म की अपेक्षा पल्योपमासंख्येय भाग न्यून एक पल्योपम और उत्कर्ष से परिपूर्ण पल्योपम। संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि अधिक एक पल्योपम।

हरिवर्ष रम्यकवर्ष की मनुष्यस्त्री का अवस्थानकाल जन्म की अपेक्षा पल्योपमासंख्येय भाग कम दो पल्योपम और उत्कर्ष से परिपूर्ण दो पल्योपम। संहरण की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि अधिक दो पल्योपम।

देवकुरु-उत्तरकुरु की मनुष्यस्त्री का अवस्थानकाल जन्म की अपेक्षा जघन्य से पल्योपमासंख्येय भाग न्यून तीन पल्योपम और उत्कर्ष से तीन पल्योपम। संहरण की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम।

अन्तर्द्वीपों की मनुष्यस्त्री का अवस्थानकाल जन्म की अपेक्षा जघन्यतः पल्योपमासंख्येय भाग न्यून पल्योपम का असंख्यातवां भाग और उत्कर्ष से पल्योपम का असंख्येय भाग। संहरण को लेकर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि अधिक पल्योपम का असंख्येय भाग है।

देवस्त्रियों का अवस्थानकाल—देवस्त्रियों की जो भवस्थिति है, वही उनका अवस्थानकाल है। क्योंकि तथाविध भवस्वभाव से उनमें कायस्थिति नहीं होती। क्योंकि देव देवी मरकर पुनः देव देवी नहीं होते।

अन्तरद्वार

४९. इत्थी णं भंते ! केवइयं कालं अंतरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं, वणस्सइकालो, एवं सव्वासिं तिरिक्खत्थीणं।

मणुस्सित्थीए खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वणस्सइकालो; धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं, एवं जाव पुव्वविदेह-अवरविदेहियाओ।

अकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते ! केवइयं कालं अंतरं होइ ?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहन्नं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं; उक्कोसेणं वणस्सइ-कालो। संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो। एवं जाव अंतरदीवियाओ।

देवित्थियाणं सव्वासि जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वणस्सइकालो।

[४९] भगवन् ! स्त्री के पुन: स्त्री होने में कितने काल का अन्तर होता है ? (स्त्री, स्त्रीत्व का त्याग करने के बाद पुन: कितने समय बाद स्त्री होती है ?)

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से अनन्तकाल अर्थात् बनस्पतिकाल। ऐसा सब तिर्यंचस्त्रियों के विषय में कहना चाहिए।

मनुष्यस्त्रियों का अन्तर क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल। धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्तकाल यावत् देशोन अपार्धपुद्गलपरा-वर्तन। इसी प्रकार यावत् पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह की मनुष्यस्त्रियों की वक्तव्यता कहनी चाहिए।

भंते ! अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियों का अन्तर कितना कहा गया है ?

गौतम ! जन्म की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त अधिक दस हजार वर्ष और उत्कर्ष से वनस्पति-काल। संहरण की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल। इस प्रकार यावत् अन्त-र्द्वीपों की स्त्रियों का अन्तर कहना चाहिए।

सभी देवस्त्रियों का अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अन्तर बताया गया है। अन्तर का अर्थ है काल का व्यवधान। स्त्री स्त्रीपर्याय का परित्याग करके पुन: जितने समय के बाद स्त्रीपर्याय को प्राप्त करती है वह काल-व्यवधान स्त्री का अन्तर कहलाता है।

सामान्य विवक्षा में स्त्रीवेद का अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से अनन्तकाल अर्थात् वनस्पतिकाल है। इसकी भावना इस प्रकार है—

कोई स्त्री मरकर स्त्रीपर्याय से च्युत होकर पुरुषवेद या नपुंसकवेद का अन्तर्मुहूर्त काल तक अनुभव करके वहाँ से मरकर पुन: स्त्रीरूप में उत्पन्न हो, इस अपेक्षा से जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्तकाल का होता है। उत्कर्ष से वनस्पतिकाल का अन्तर होता है। असंख्येय पुद्गलपरावर्त का वनस्पतिकाल होता हैं। इस अनन्तकाल में काल की अपेक्षा अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी बीत जाती हैं, क्षेत्र से अनन्त लोक और असंख्येय पुद्गलपरावर्त निकल जाते हैं। ये पुद्गलपरावर्त आवलिका के अन्दर जितने समय होते हैं उसका असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।[1] इतने लम्बे काल तक स्त्रीत्व का व्यवच्छेद हो जाता है और फिर स्त्रीत्व की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार औधिक तिर्यंचस्त्रियों का, जलचर थलचर खेचर स्त्रियों का और औघिक मनुष्यस्त्रियों का अन्तर जानना चाहिए।

---

१. 'अणंताओ उस्सप्पिणी ओसप्पिणी कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा,' एवं वनस्पति-काल:।

कर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियों का अन्तर कर्मभूमिक्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से अनन्तकाल अर्थात् वनस्पतिकाल प्रमाण जानना चाहिए। धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कर्ष से अनन्तकाल अर्थात् देशोन अपार्द्ध पुद्गलपरावर्त जितना अन्तर है। इससे अधिक चरणलब्धि का प्रतिपातकाल नहीं है। दर्शनलब्धि के प्रतिपात का काल सम्पूर्ण अपार्ध पुद्गल परावर्त होने का स्थान-स्थान पर निषेध हुआ है।

इसी तरह भरत-ऐरवत मनुष्यस्त्रियों का और पूर्वविदेह पश्चिमविदेह की स्त्रियों का अन्तर क्षेत्र और धर्माचरण की अपेक्षा से समझना चाहिए।

अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियों का अन्तर जन्म की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त अधिक दस हजार वर्ष है। इसका स्पष्टीकरण इस तरह है—कोई अकर्मभूमि की स्त्री मर कर जघन्य स्थिति के देवों में उत्पन्न हुई। वहाँ दस हजार वर्ष की आयु पाल कर उसके क्षय होने पर वहाँ से च्यवकर कर्मभूमि में मनुष्यपुरुष या मनुष्यस्त्री के रूप में उत्पन्न हुई (क्योंकि देवलोक से कोई सीधा अकर्मभूमि में पैदा नहीं होता), अन्तर्मुहूर्त काल में मरकर फिर अकर्मभूमि की स्त्री रूप में उत्पन्न हुई, इस अपेक्षा से अन्तर्मुहूर्त अधिक दस हजार वर्ष का जघन्य अन्तर होता है। उत्कर्ष से अन्तर वनस्पतिकाल है। संहरण की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त का अन्तर इस अपेक्षा से है कि कोई अकर्मभूमिज स्त्री को कर्मभूमि में संहृत कर अन्तर्मुहूर्त बाद हो बुद्धिपरिवर्तन होने से पुनः उसी स्थान पर रख दे। उत्कर्ष से अन्तर वनस्पतिकाल प्रमाण है। इतने लम्बे काल में कर्मभूमि में उत्पत्ति की तरह संहरण भी निश्चय से होता ही है। कोई अकर्मभूमि की स्त्री कर्मभूमि में संहृत की गई। वह अपनी आयु के क्षय के अनन्तर अनन्तकाल तक वनस्पति आदि में भटक कर पुनः अकर्मभूमि में उत्पन्न हुई। वहाँ से किसी ने उसका संहरण किया तो यथोक्त संहरण का उत्कृष्ट कालमान हुआ।

इसी प्रकार हैमवत हैरण्यवत हरिवर्ष रम्यकवर्ष देवकुरु उत्तरकुरु और अन्तर्द्वीपों की मनुष्यस्त्रियों का भी जन्म से और संहरण की अपेक्षा से जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर कहना चाहिए। देवस्त्रियों का अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल है। कोई देवीभाव से च्यवकर गर्भज मनुष्य में उत्पन्न हुई। वहाँ वह पर्याप्ति की पूर्णता के पश्चात् तथाविध अध्यवसाय से मृत्यु पाकर देवी के रूप में उत्पन्न हो गई—इस अपेक्षा से जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त हुआ। उत्कर्ष से वनस्पति काल का अन्तर स्पष्ट ही है।

इसी प्रकार असुरकुमार देवी से लगाकर ईशानकल्प की देवियों का अन्तर भी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल जानना चाहिए।

अल्पबहुत्व

५०. (१) **एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं, मणुस्सित्थियाणं देवित्थियाणं कयरा कयराहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?**

गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सित्थिओ,

तिरिक्खजोणियाओ असंखेज्जगुणाओ,

देवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ।

(२) एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीण य कयरा कयराहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवाओ खहयरतिरिक्खजोणित्थियाओ,
थलयर तिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,
जलयर तिरिक्खयोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

(३) एतासि णं भंते ! मणुस्सित्थियाणं कम्मभूमियाणं अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाण य कयरा कयराहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवाओ अंतरदीवग-अकम्मभूमग-मणुस्सित्थियाओ,
देवकुरूत्तरकुरु-अकम्मभूमग-मणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ,
हरिवास रम्मगवास अकम्मभूमग-मणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ,
हेमवतेरण्णवय अकम्मभूमिग-मणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखिज्जगुणाओ,
भरहेरवतवासकम्मभूमग-मणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखिज्जगुणाओ,
पुव्वविदेह अवरविदेह कम्मभूमग-मणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ ।

(४) एतासि णं भंते ! देवित्थियाणं भवणवासीणं वाणमंतरीणं जोइसिणीणं वेमाणिणीणं य कयरा कयराहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवाओ वेमाणियदेवित्थियाओ,
भवणवासिदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ,
वाणमंतरदेवियाओ असंखेज्जगुणाओ,
जोतिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

(५) एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीणं, मणुस्सित्थियाणं कम्मभूमियाणं अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाणं, देवित्थियाणं भवणवासियाणं वाणमंतरीणं जोतिसियाणं वेमाणिणीण य कयराओ कयराहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवाओ अंतरदीवग अकम्मभूमग-मणुस्सित्थियाओ,
देवकुरु-उत्तरकुरु अकम्मभूमग-मणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखिज्जगुणाओ,
हरिवास रम्मगवास अकम्मभूमग-मणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखिज्जगुणाओ,
हेमवतहेरण्णवयवास अकम्मभूमग-मणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखिज्जगुणाओ,
भरहेरवयवास कम्मभूमग-मणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ,
पुव्वविदेह-अवरविदेहवास कम्मभूमग-मणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ,
वेमाणियदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ,
भवणवासिदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ,

खहयरतिरिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ,
थलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखिज्जगुणाओ,
जलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखिज्जगुणाओ,
वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,
जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ।

[५०] (१) हे भगवन्! इन तिर्यक्योनिक स्त्रियों में, मनुष्यस्त्रियों में और देवस्त्रियों में कौन किससे अल्प है, अधिक है, तुल्य है या विशेषाधिक है?

गौतम! सबसे थोड़ी मनुष्यस्त्रियां, उनसे तिर्यक्योनिक स्त्रियां असंख्यातगुणी, उनसे देवस्त्रियां असंख्यातगुणी हैं।

(२) भगवन्! इन तिर्यक्योनि की जलचरी, स्थलचरी और खेचरी में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक हैं?

गौतम! सबसे थोड़ी खेचर तिर्यक्योनि की स्त्रियां, उनसे स्थलचर तिर्यक्योनि की स्त्रियां संख्यात गुणी, उनसे जलचर तिर्यक्योनि की स्त्रियां संख्यातगुणी हैं।

(३) हे भगवन्! कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अंतरद्वीप की मनुष्य स्त्रियों में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक हैं?

गौतम! सबसे थोड़ी अंतर्द्वीपों की मनुष्यस्त्रियां, उनसे देवकुरु-उत्तरकुरु-अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां दोनों परस्पर तुल्य और संख्यातगुणी हैं, उनसे

हरिवास-रम्यकवास-अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां परस्पर तुल्य और संख्यातगुणी हैं, उनसे हेमवत और एरण्यवत अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां परस्पर तुल्य और संख्यातगुणी हैं, उनसे

भरत-एरवत क्षेत्र की कर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां दोनों परस्पर तुल्य और संख्यातगुणी हैं, उनसे

पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह कर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां दोनों परस्पर तुल्य और संख्यातगुणी हैं।

(४) भगवन्! भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवस्त्रियों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं।

गौतम! सबसे थोड़ी वैमानिक देवियां, उनसे भवनवासी देवियां असंख्यातगुणी, उनसे वानव्यन्तरदेवियां असंख्यातगुणी, उनमें ज्योतिष्कदेवियां संख्यातगुणी हैं।

(५) हे भगवन्! तिर्यंचयोनि की जलचरी, स्थलचरी, खेचरी और कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तर्द्वीप की मनुष्यस्त्रियां और भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवियों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं।

गौतम! सबसे थोड़ी अकर्मभूमि की अन्तर्द्वीपों की मनुष्यस्त्रियां, उनसे देवकुरु-उत्तरकुरु की अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां दोनों परस्पर तुल्य और संख्यातगुणी; उनसे

हरिवास-रम्यकवास अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां दोनों परस्पर तुल्य और संख्यातगुणी, उनसे

हैमवत-हैरण्यवत अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां दोनों परस्पर तुल्य और संख्यातगुणी; उनसे
भरत-ऐरवत कर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां दोनों परस्पर तुल्य और संख्यातगुणी, उनसे
पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह कर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां दोनों परस्पर तुल्य और संख्यात गुणी, उनसे

वैमानिकदेवियां असंख्यातगुणी, उनसे
भवनवासीदेवियां असंख्यातगुणी, उनसे
खेचरतिर्यक्योनि की स्त्रियां असंख्यातगुणी, उनसे
स्थलचरस्त्रियां संख्यातगुणी, उनसे
जलचरस्त्रियां संख्यातगुणी, उनसे
वानव्यन्तरदेवियां संख्यातगुणी, उनसे
ज्योतिष्कदेवियां संख्यातगुणी हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में पांच प्रकार से अल्पबहुत्व बताया गया है। पहले प्रकार में तीनों प्रकार की स्त्रियों का सामान्य से अल्पबहुत्व बताया है। दूसरे प्रकार में तीन प्रकार की तिर्यंच-स्त्रियों का अल्पबहुत्व है। तीसरे प्रकार में तीन प्रकार की मनुष्यस्त्रियों का अल्पबहुत्व है। चौथे प्रकार में चार प्रकार की देवस्त्रियों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व है और पांचवें प्रकार में सब प्रकार की मिश्र स्त्रियों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व बताया गया है।

(१) सामान्य रूप से तीन प्रकार की स्त्रियों में सबसे थोड़ी मनुष्यस्त्रियां हैं, क्योंकि उनका प्रमाण संख्यात कोटाकोटी है। उनसे तिर्यंचस्त्रियां असंख्येयगुण हैं, क्योंकि प्रत्येक द्वीप और प्रत्येक समुद्र में तिर्यंचस्त्रियों की अति बहुलता है और द्वीप-समुद्र असंख्यात हैं। उनसे देवस्त्रियां असंख्येय-गुणी हैं, क्योंकि भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ईशान की देवियां प्रत्येक असंख्येय श्रेणी के आकाश-प्रदेशप्रमाण हैं। यह प्रथम अल्पबहुत्व हुआ।

(२) दूसरा अल्पबहुत्व तीन प्रकार की तिर्यंचस्त्रियों की अपेक्षा से है। सबसे थोड़ी खेचर तिर्यक्योनि की स्त्रियां, उनसे स्थलचरस्त्रियां संख्येयगुण हैं क्योंकि खेचरों से स्थलचर स्वभाव से प्रचुर प्रमाण में हैं। उनसे जलचरस्त्रियां संख्यातगुणी हैं, क्योंकि लवणसमुद्र में, कालोद में और स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्यों की अति प्रचुरता है और स्वयंभूरमणसमुद्र अन्य समस्त द्वीप-समुद्रों से अति विशाल है।

(३) तीसरा अल्पबहुत्व तीन प्रकार की मनुष्यस्त्रियों को लेकर है। सबसे थोड़ी अन्तर्द्वीपों की अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियां हैं, क्योंकि वह क्षेत्र छोटा है। उनसे देवकुरु-उत्तरकुरु की स्त्रियां संख्येयगुण हैं, क्योंकि क्षेत्र संख्येयगुण है। स्वस्थान में परस्पर दोनों तुल्य हैं, क्योंकि दोनों का क्षेत्र समान प्रमाण वाला है। उनसे हरिवर्ष रम्यकवर्ष अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां संख्येयगुणी हैं, क्योंकि देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र की अपेक्षा हरिवर्ष रम्यकवर्ष का क्षेत्र बहुत अधिक है। स्वस्थान में दोनों तुल्य हैं, क्योंकि क्षेत्र समान है। उनसे हैमवत-हैरण्यवत अकर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां संख्येयगुण हैं, क्योंकि क्षेत्र की अल्पता होने पर भी अल्प स्थिति वाली होने से वहाँ उनकी बहुलता है। स्वस्थान में परस्पर तुल्य हैं, क्योंकि दोनों क्षेत्रों में समानता है। उनसे भरत और ऐरवत कर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां

संख्येयगुण हैं, क्योंकि कर्मभूमि होने से स्वभावत: उनकी वहां प्रचुरता है। स्वस्थान में परस्पर तुल्य हैं, क्योंकि दोनों क्षेत्रों की समान रचना है। उनसे पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह कर्मभूमि की मनुष्य-स्त्रियां संख्येयगुण हैं, क्योंकि क्षेत्र की बहुलता होने से अजितनाथ तीर्थंकर के काल के समान स्वभावत: वहां उनकी बहुलता है। स्वस्थान में परस्पर तुल्य हैं, समान क्षेत्ररचना होने से।

(४) चौथा अल्पबहुत्व चार प्रकार की देवियों को लेकर है, सबसे थोड़ी वैमानिक देवस्त्रियां हैं, क्योंकि अंगुलमात्र क्षेत्र की प्रदेशराशि का जो द्वितीय वर्गमूल है उसे तृतीय वर्गमूल से गुणा करने पर जितनी प्रदेशराशि होती है, उतनी घनीकृत लोक की एक प्रादेशिक श्रेणियों में जितने आकाश प्रदेश हैं, उनका बत्तीसवां भाग कम कर देने पर जो राशि आवे उतने प्रमाण की सौधर्मदेवलोक की देवियां हैं और उतनी ही ईशानदेवलोक की देवियां हैं।

वैमानिकदेवियों से भवनवासीदेवियां असंख्यातगुणी हैं, क्योंकि अंगुलमात्र क्षेत्र की प्रदेश-राशि का जो प्रथम वर्गमूल है उसको द्वितीय वर्गमूल से गुणा करने पर जो प्रदेशराशि होती है उतनी श्रेणियों के जितने प्रदेश हैं उनका बत्तीसवां भाग कम करने पर जो राशि होती है उतनी भवनवासी-देवियां हैं।

भवनवासीदेवियों से व्यन्तरदेवियां असंख्येयगुणी हैं, क्योंकि एक प्रतर में संख्येय योजन प्रमाण वाले एक प्रादेशिक श्रेणी प्रमाण जितने खण्ड हों, उनमें से बत्तीसवां भाग कम करने पर जो शेष राशि रहती है, उतने प्रमाण की व्यन्तरदेवियां हैं।

व्यन्तरदेवियों से ज्योतिष्कदेवियां संख्येयगुण हैं। क्योंकि २५६ अंगुल प्रमाण के जितने खण्ड एक प्रतर में होते हैं, उनमें से बत्तीसवां भाग कम करने पर जितनी प्रदेशराशि होती है उतनी ज्योतिष्कदेवियां हैं।

(५) पांचवां अल्पबहुत्व समस्त स्त्री विषयक है। सबसे थोड़ी अन्तर्द्वीपों की अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियां, उनसे देवकुरु-उत्तरकुरु की मनुष्यस्त्रियां संख्येयगुणी, उनसे हरिवर्ष-रम्यकवर्ष की स्त्रियां संख्येयगुणी, उनसे हैमवत-हैरण्यवत की स्त्रियां संख्येयगुणी, उनसे भरत-एरवत कर्मभूमि की मनुष्यस्त्रियां संख्येयगुण, उनसे पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह की मनुष्यस्त्रियां संख्येयगुण हैं। इनका स्पष्टी-करण पूर्ववत् जानना चाहिए। पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह की मनुष्यस्त्रियों से वैमानिकदेवस्त्रियां असंख्येयगुण हैं, क्योंकि वे असंख्येय श्रेणी के आकाशप्रदेश की राशि के जितनी हैं। उनसे भवनवासी-देवियां असंख्यातगुण हैं, इसकी युक्ति पहले कही ही है। उनसे खेचरस्त्रियां असंख्येयगुण हैं। वे प्रतर के असंख्येय भागवर्ती असंख्येय श्रेणियों के आकाशप्रदेशों के बराबर हैं। उनसे स्थलचरस्त्रियां संख्येय-गुण हैं, क्योंकि वे संख्येयगुण बड़े प्रतर के असंख्यातवें भाग में रही हुई असंख्येय श्रेणियों के आकाश-प्रदेश जितनी हैं। उनसे जलचर तिर्यंचस्त्रियां संख्येयगुण हैं क्योंकि वे वृहत्तम प्रतर के असंख्यातवें भाग में रही हुई असंख्येय श्रेणियों के आकाशप्रदेश जितनी हैं। उनसे व्यन्तरस्त्रियां संख्येयगुण हैं, क्योंकि संख्येय कोटाकोटी योजन प्रमाण एक प्रदेश की श्रेणी जितने खण्ड एक प्रतर में होते हैं, उनमें से बत्तीसवां भाग कम करने पर जो राशि होती है उतनी व्यन्तरदेवियां हैं।

व्यन्तरदेवियों से ज्योतिष्कदेवियां संख्येयगुणी हैं, इसकी स्पष्टता पूर्व में की जा चुकी है।

स्त्रीवेद की स्थिति

५१. इत्थिवेदस्स णं भंते ! कम्मस्स केवइयं कालं बंधठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढो सत्तभागो पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणो; उक्कोसेणं पन्नरस सागरोवमकोडाकोडीओ, पण्णरस वाससयाइं अबाधा, अबाहूणिया कम्मठिती कम्मणिसेओ ।

इत्थिवेदे णं भंते ! किंपगारे पण्णत्ते ?

गोयमा ! फुंफुअग्गिसमाणे पण्णत्ते; से त्तं इत्थियाओ ।

[५१] हे भगवन् ! स्त्रीवेदकर्म की कितने काल की बन्धस्थिति कही गई है ?

गौतम ! जघन्य से पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम १।। सागरोपम के सातवें भाग (१।।/७) प्रमाण है । उत्कर्ष से पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की बन्धस्थिति है । पन्द्रह सौ वर्ष का अबधाकाल है । अबाधाकाल से रहित जो कर्मस्थिति है वही अनुभवयोग्य होती है, अतः वही कर्मनिषेक (कर्मदलिकों की रचना) है ।

हे भगवन् ! स्त्रीवेद किस प्रकार का कहा गया है ?

गौतम ! स्त्रीवेद फुंफु अग्नि (कारिष—वनकण्डे की अग्नि) के समान होता है । इस प्रकार स्त्रियों का अधिकार पूरा हुआ ।

विवेचन—स्त्री पर्याय का अनुभव स्त्रीवेद कर्म के उदय से होता है अतः स्त्रीवेद कर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है ।

गौतमस्वामी ने प्रश्न किया कि भगवन् ! स्त्रीवेद की बन्धस्थिति कितने काल की है ? इसके उत्तर में प्रभु ने फरमाया कि स्त्रीवेद की जघन्य बन्धस्थिति डेढ सागरोपम के सातवें भाग में पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम है । जघन्य स्थिति लाने की विधि इस प्रकार है—

जिस प्रकृति का जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है, उसमें मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम का भाग देने पर जो राशि प्राप्त होती है उसमें पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम करने पर उस प्रकृति की जघन्य स्थिति प्राप्त होती है । स्त्रीवेद की उत्कृष्ट स्थिति १५ कोडाकोडी सागरोपम है । इसमें ७० कोडाकोडी सागरोपम का भाग दिया तो १५/७० कोडाकोडी सागरोपम प्राप्त होता है । छेद्य-छेदक सिद्धान्त के अनुसार इस राशि में १० का भाग देने पर १।।/७ कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति बनती है । इसमें पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम करने से यथोक्त स्थिति बन जाती है ।[1] यह व्याख्या मूल टीका के अनुसार है । पंचसंग्रह के मत से भी यही जघन्यस्थिति का परिमाण है, केवल पल्योपम का असंख्यातवां भाग न्यून नहीं कहना चाहिए ।

कर्मप्रकृति संग्रहणीकार ने जघन्य स्थिति लाने की दूसरी विधि बताई है ।[2] ज्ञानावरणी-

---

१. 'सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तुक्कोसएण जं लद्धं' इति वचनप्रामाण्यात् ।

२. वग्गुक्कोसठिईणं मिच्छत्तुक्कोसगेण णं लद्धं ।
सेसाणं तु जहण्णं पलियासंखेज्जगेणूणं ।। —कर्मप्रकृति सं.

यादि कर्मों की अपनी-अपनी प्रकृतियां ज्ञानावरणीयादि वर्ग कहलाती हैं। वर्गों की जो अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति हो उसमें मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जो लब्ध होता है उसमें पल्योपम का संख्येयभाग कम करने से जघन्य स्थिति निकल आती है। यहाँ स्त्रीवेद नोकषायमोहनीयवर्ग की प्रकृति है। उसकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है। उसमें सत्तर कोडाकोडी सागरोपम का भाग देने से (शून्य को शून्य से काटने पर) $\frac{2}{7}$ कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति बनती है। अर्थात् दो कोडाकोडी सागरोपम का सातवां भाग, उसमें से पल्योपमासंख्येय भाग कम करने से स्त्रीवेद की जघन्यस्थिति इस विधि से $\frac{2}{7}$ कोडाकोडी सागरोपम में पल्योपमासंख्येय भाग न्यून प्राप्त होती है।

स्त्रीवेद की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम है।

स्थिति दो प्रकार की है—कर्मरूपतावस्थानरूप और अनुभवयोग्य। यहाँ जो स्थिति बताई गई है वह कर्मरूपतावस्थानरूप है। अनुभवयोग्य स्थिति तो अबाधाकाल से हीन होती है। जिस कर्म की जितने कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति होती है उतने ही सौ वर्ष उसकी अबाधा होती है। जैसे स्त्रीवेद की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की है तो उसका अबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष का होता है। अर्थात् इतने काल तक वह बन्धी हुई प्रकृति उदय में नहीं आती और अपना फल नहीं देती। अबाधाकाल बीतने पर ही कर्मदलिकों की रचना होती है अर्थात् वह प्रकृति उदय में आती है। इसको कर्मनिषेक कहा जाता है। अबाधाकाल से हीन कर्मस्थिति ही अनुभवयोग्य होती हैं।

स्त्रीवेद की बन्धस्थिति के पश्चात् गौतमस्वामी ने स्त्रीवेद का प्रकार पूछा है। इसके उत्तर में भगवान् ने कहा कि स्त्रीवेद फुम्फुक (कारीष-छाणे) की अग्नि के समान होता है, अर्थात् वह धीरे धीरे जागृत होता है और देर तक बना रहता है। इस प्रकार स्त्रीविषयक अधिकार समाप्त हुआ।

पुरुष-सम्बन्धी प्रतिपादन

५२. से किं तं पुरिसा?

पुरिसा तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—तिरिक्खजोणियपुरिसा, मणुस्सपुरिसा, देवपुरिसा।

से किं तं तिरिक्खजोणियपुरिसा?

तिरिक्खजोणियपुरिसा तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जलयरा, थलयरा, खहयरा।

इत्थिभेदो भाणियव्वो जाव खहयरा।

से त्तं खहयरा, से तं खहयर तिरिक्खजोणियपुरिसा।

से किं तं मणुस्सपुरिसा?

मणुस्सपुरिसा तिविधा पण्णत्ता, तंजहा—कम्मभूमगा, अकम्मभूमगा, अंतरदीवगा। से त्तं मणुस्सपुरिसा।

से किं तं देवपुरिसा?

देवपुरिसा चउव्विहा पण्णत्ता, इत्थीभेदो भाणियव्वो जाव सव्वट्ठसिद्धा।

[५२] पुरुष क्या हैं—कितने प्रकार के हैं ?

पुरुष तीन प्रकार के हैं—यथा तिर्यक्योनिक पुरुष, मनुष्य पुरुष और देव पुरुष।

तिर्यक्योनिक पुरुष कितने प्रकार के हैं ?

तिर्यक्योनिक पुरुष तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—जलचर, स्थलचर और खेचर।

इस प्रकार जैसे स्त्री अधिकार में भेद कहे गये हैं, वैसे यावत् खेचर पर्यन्त कहना। यह खेचर का और उसके साथ ही खेचर तिर्यक्योनिक पुरुषों का वर्णन हुआ।

भगवन् ! मनुष्य पुरुष कितने प्रकार के हैं ?

गौतम ! मनुष्य पुरुष तीन प्रकार के हैं—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तर्द्वीपिक। यह मनुष्यों के भेद हुए।

देव पुरुष कितने प्रकार के हैं ?

देव पुरुष चार प्रकार के हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त स्त्री अधिकार में कहे गये भेद कहते जाने चाहिए यावत् सर्वार्थसिद्ध तक देव भेदों का कथन करना।

विवेचन—पुरुष के भेदों में पूर्वोक्त स्त्री अधिकार में कहे गये भेद कहने चाहिए। विशेषता केवल देव पुरुषों में हैं। देव पुरुष चार प्रकार के हैं—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। भवनपति के असुरकुमार आदि १० भेद हैं। वानव्यन्तर के पिशाच आदि आठ भेद हैं, ज्योतिष्क के चन्द्रादि पांच भेद हैं और वैमानिक देव दो प्रकार के हैं—कलोपपन्न और कल्पातीत। सौधर्म आदि बारह देवलोक कल्पोपपन्न हैं और ग्रैवेयक तथा अनुत्तरोपपातिक देव कल्पातीत हैं। अनुत्तरोपपातिक के पांच भेद हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। अतः 'जाव सव्वट्ठसिद्धा' कहा गया है।

कालस्थिति

५३. पुरिसस्स णं भंते ! केवइयं कालठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोमाइं।

तिरिक्खजोणियपुरिसाणं मणुस्सपुरिसाणं जाव चेव इत्थीणं ठिई सा चेव भाणियव्वा।

देवपुरिसाण वि जाव सव्वट्ठसिद्धाणं ठिई जहा पण्णवणाए (ठिइपए) तहा भाणियव्वा।

[५३] हे भगवन् ! पुरुष की कितने काल की स्थिति कही गई है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से तेतीस सागरोपम।

तिर्यंचयोनिक पुरुषों की और मनुष्य पुरुषों की वही स्थिति जाननी चाहिए जो तिर्यंचयोनिक स्त्रियों और मनुष्य स्त्रियों की कही गई है। देवयोनिक पुरुषों की यावत् सर्वार्थसिद्ध विमान के देव पुरुषों की स्थिति वही जाननी चाहिए जो प्रज्ञापना के स्थितिपद में कही गई है।

विवेचन—अपने अपने भव को छोड़े बिना पुरुषों की कितने काल तक की स्थिति है, ऐसा प्रश्न किये जाने पर भगवान् ने कहा कि जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से तेतीस सागरोपम की स्थिति है। अन्तर्मुहूर्त में मरण हो जाने की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त की जघन्य स्थिति कही है और अनुत्तरोपपातिक देवों की अपेक्षा तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति कही गई है।

औघिक तिर्यंच पुरुषों की, जलचर, स्थलचर, खेचर पुरुषों की स्थिति वही है जो तिर्यंचस्त्री की पूर्व में कही गई है। मनुष्य पुरुष की औघिक तथा कर्मभूमि-अकर्मभूमि-अन्तर्द्वीपों के मनुष्य पुरुषों की सामान्य और विशेष से वही स्थिति समझ लेनी चाहिये जो अपने-अपने भेद में स्त्रियों की कही गई है। स्पष्टता के लिए उसका उल्लेख निम्न प्रकार है—

तिर्यंच पुरुषों की स्थिति

औघिक तिर्यंचयोनिक पुरुषों को जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से तीन पल्योपम।

जलचर पुरुषों की जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कर्ष से पूर्वकोटि।

चतुष्पद स्थलचर पुरुषों की जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट तीन पल्योपम, उरपरिसर्प स्थलचर पुरुषों की जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट पूर्वकोटि।

भुजपरिसर्प स्थलचर पुरुषों की तथा खेचर पुरुषों की जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पल्योपम का असंख्येयभाग।

मनुष्य पुरुषों की स्थिति

औघिक मनुष्य पुरुषों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की है। धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि। जघन्य अन्तर्मुहूर्त की स्थिति बाह्यलिंग प्रव्रज्या-प्रतिपत्ति की अपेक्षा से है अन्यथा चरणपरिणाम तो एक सामयिक भी सम्भव है। अथवा देशविरति के बहुत भंग होने से जघन्य से अन्तर्मुहूर्त का सम्भव है। आठ वर्ष की वय के बाद चरण-प्रतिपत्ति होने से पूर्वकोटि आयु वाले की अपेक्षा से देशोन पूर्वकोटि उत्कर्ष से स्थिति कही है।

कर्मभूमिक मनुष्यों की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है। चारित्रधर्म की अपेक्षा इनकी स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि है।

भरत और ऐरवत कर्मभूमिक मनुष्य पुरुषों की जघन्य स्थिति क्षेत्र की अपेक्षा एक अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है। यह सुषमासुषम काल की अपेक्षा से है। चारित्रधर्म की अपेक्षा जघन्यस्थिति एक अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि है।

पूर्वविदेह पश्चिमविदेह पुरुषों की क्षेत्र को अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि है। चरणधर्म को लेकर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि है।

अकर्मभूमिक मनुष्य पुरुषों की सामान्यतः जन्म की अपेक्षा जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन एक पल्योपम की है और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है। संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि।

हैमवत और ऐरण्यवत के मनुष्य पुरुषों की स्थिति जन्म की अपेक्षा जघन्य से पल्योपमा-संख्येयभाग हीन एक पल्योपम की है। उत्कर्ष से पूर्ण एक पल्योपम की है। संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि है।

हरिवर्ष, रम्यकवर्ष के मनुष्य पुरुषों की स्थिति जन्म की अपेक्षा पल्योपमासंख्येयभाग हीन दो

पल्योपम की है और उत्कृष्ट परिपूर्ण दो पल्योपम की है। संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि है।

देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्य पुरुषों की स्थिति जन्म की अपेक्षा जघन्य पल्योपमासंख्येय भाग हीन तीन पल्योपम है और उत्कृष्ट परिपूर्ण तीन पल्योपम है। संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि है।

अन्तर्द्वीपों के मनुष्य पुरुषों की स्थिति जन्म की अपेक्षा जघन्य से पल्योपम के देशोन असंख्यातवें भाग रूप है और उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि है। संहरण की अपेक्षा जघन्य से एक अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि है।

देव पुरुषों की स्थिति

प्रज्ञापना में देव पुरुषों की स्थिति इस प्रकार कही गई है—

देव पुरुषों की औघिक स्थिति जघन्य से दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम।

विशेष विचारणा में असुरकुमार पुरुषों की जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट कुछ अधिक एक सागरोपम। नागकुमार पुरुषों की जघन्य से दस हजार वर्ष, उत्कृष्ट देशोन दो पल्योपम। सुवर्णकुमार आदि शेष स्तनितकुमार पर्यन्त सब भवनपतियों की भी यही स्थिति है।

व्यन्तरों की जघन्य दस हजार की, उत्कृष्ट एक पल्योपम; ज्योतिष्क पुरुषों की जघन्य से पल्योपम का आठवां भाग और उत्कृष्ट एक लाख वर्ष अधिक एक परिपूर्ण पल्योपम।

सौधर्मकल्प के देव पुरुषों की स्थिति जघन्य से एक पल्योपम और उत्कृष्ट से दो सागरोपम की है।

ईशानकल्प के देव पुरुषों की जघन्य से कुछ अधिक एक पल्योपम और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागरोपम है।

सनत्कुमार देव पुरुषों की जघन्य दो सागरोपम और उत्कृष्ट सात सागरोपम है।

माहेन्द्रकल्प के देवों की जघन्य से कुछ अधिक दो सागरोपम और उत्कृष्ट से कुछ अधिक सात सागरोपम है।

ब्रह्मलोक देवों की जघन्य से सात सागरोपम और उत्कृष्ट से दस सागरोपम है।

लान्तक देवों की जघन्य से दस सागरोपम और उत्कृष्ट से चौदह सागरोपम है।

महाशुक्रकल्प के देवों की जघन्य चौदह सागरोपम और उत्कृष्ट सत्रह सागरोपम है।

सहस्रारकल्प के देवों की जघन्य स्थिति सत्रह सागरोपम है और उत्कृष्ट अठारह सागरोपम है।

आनतकल्प के देवों की स्थिति जघन्य अठारह सागरोपम और उत्कृष्ट उन्नीस सागरोपम है।

प्राणतकल्प के देवों की जघन्य स्थिति उन्नीस सागरोपम की और उत्कृष्ट बीस सागरोपम की है।

आरणकल्प के देवों की जघन्य स्थिति बीस सागरोपम की और उत्कृष्ट इक्कीस सागरोपम है।

अच्युतकल्प के देवों की जघन्य स्थिति इक्कीस सागरोपम है और उत्कृष्ट बावीस सागरोपम है।

अधस्तनाधस्तन ग्रैवेयक देवपुरुषों की जघन्य स्थिति बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट तेवीस सागरोपम है।

अधस्तनमध्यम ग्रैवेयक देवों की जघन्य स्थिति तेवीस सागरोपम और उत्कृष्ट चौवीस सागरोपम है।

अधस्तनोपरितन ग्रैवेयक देवों की जघन्य स्थिति चौवीस सागरोपम और उत्कृष्ट पच्चीस सागरोपम है।

मध्यमाधस्तन ग्रैवेयक देवों की जघन्य स्थिति पच्चीस सागरोपम है, उत्कृष्ट छब्वीस सागरोपम है।

मध्यममध्यम ग्रैवेयक देवों की जघन्य स्थिति छब्वीस सागरोपम की और उत्कृष्ट सत्तावीस सागरोपम की है।

मध्यमोपरितन ग्रैवेयक देवों की जघन्य स्थिति सत्तावीस सागरोपम और उत्कृष्ट अट्ठावीस सागरोपम है।

उपरितनाधस्तन ग्रैवेयक देवों की जघन्य स्थिति अट्ठावीस सागरोपम और उत्कृष्ट स्थिति उनतीस सागरोपम है।

उपरितनमध्यम ग्रैवेयक देवों की जघन्य स्थिति उनतीस सागरोपम और उत्कृष्ट तीस सागरोपम है।

उपरितनोपरितन ग्रैवेयक देवों की जघन्य स्थिति तीस सागरोपम और उत्कृष्ट इकतीस सागरोपम है।

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमान गत देवपुरुषों की जघन्य स्थिति इकतीस सागरोपम की है और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम है।

सर्वार्थसिद्धविमान के देवों की स्थिति तेतीस सागरोपम की है। यहाँ स्थिति में जघन्य-उत्कृष्ट का भेद नहीं।

पुरुष का पुरुषरूप में निरन्तर रहने का काल

५४. पुरिसे णं भंते ! पुरिसेत्ति कालओ केवच्चिरं होई ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं।

तिरिक्खजोणियपुरिसे णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं।

एवं तं चेव संचिट्ठणा जहा इत्थीणं जाव खहयर तिरिक्खजोणियपुरिसस्स संचिट्ठणा।

मणुस्सपुरिसाणं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं; धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी ।

एवं सव्वत्थ जाव पुव्वविदेह-अवरविदेह कम्मभूमिग मणुस्सपुरिसाणं । अकम्मभूमग मणुस्सपुरिसाणं जहा अकम्मभूमग मणुस्सित्थीणं जाव अंतरदीवगाणं ।

देवाणं जच्चेव ठिई सच्चेव संचिट्ठणा जाव सव्वट्ठसिद्धगाणं ।

[५४] हे भगवन् ! पुरुष, पुरुषरूप में निरन्तर कितने काल तक रह सकता है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से सागरोपम शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ सौ सागरोपम) से कुछ अधिक काल तक पुरुष पुरुषरूप में निरन्तर रह सकता है ।

भगवन् ! तिर्यंचयोनि-पुरुष काल से कितने समय तक निरन्तर उसी रूप में रह सकता है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम तक ।

इस प्रकार से जैसे स्त्रियों की संचिट्ठणा कही, वैसे खेचर तिर्यंचयोनिपुरुष पर्यन्त की संचिट्ठणा है ।

भगवन् ! मनुष्यपुरुष उसी रूप में काल से कितने समय तक रह सकता है ?

गौतम ! क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम तक । धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि ।

इसी प्रकार सर्वत्र पूर्वविदेह, पश्चिमविदेह कर्मभूमिक मनुष्य-पुरुषों तक के लिए कहना चाहिए ।

अकर्मभूमिक मनुष्यपुरुषों के लिए वैसा ही कहना जैसा अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियों के लिए कहा है । इसी प्रकार अन्तरद्वीपों के अकर्मभूमिक मनुष्यपुरुषों तक वक्तव्यता जानना चाहिए ।

देवपुरुषों की जो स्थिति कही है, वही उसका संचिट्ठणा काल है । ऐसा ही कथन सर्वार्थसिद्ध के देवपुरुषों तक कहना चाहिए ।

विवेचन—पुरुष पुरुषपर्याय का त्याग किये बिना कितने काल तक निरन्तर पुरुषरूप में रह सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा कि जघन्य से अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कर्ष से दो सौ सागरोपम से लेकर नौ सौ सागरोपम से कुछ अधिक काल तक पुरुष पुरुष-पर्याय में रह सकता है । जो पुरुष अन्तर्मुहूर्त काल जी कर मरने के बाद स्त्री आदि रूप में जन्म लेता है उसकी अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहा गया है । सामान्यरूप से तिर्यक्, नर और देव भवों में इतने काल तक पुरुषरूप में रहने की सम्भावना है । मनुष्य के भवों की अपेक्षा से सातिरेकता (कुछ अधिकता) समझना चाहिए । इससे अधिक काल तक निरन्तर पुरुष नामकर्म का उदय नहीं रह सकता । नियमतः वह स्त्री आदि भाव को प्राप्त करता है ।

तिर्यक्योनि पुरुषों के विषय में वही वक्तव्यता है, जो तिर्यक्योनि स्त्रियों के विषय में कही गई है । वह इस प्रकार है—

तिर्यक्योनि पुरुष अपने उस पुरुषत्व को त्यागे बिना निरन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त रह सकता है। उसके बाद मरकर गत्यन्तर या वेदान्तर को प्राप्त होता है। उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम तक रह सकता है। इसमें सात भव तो पूर्वकोटि आयुष्य के पूर्वविदेह आदि में और आठवां भव देवकुरु-उत्तरकुरु में जहाँ तीन पल्योपम की आयु है। इस तरह पल्योपम और पूर्वकोटि-पृथक्त्व (बहुत पूर्वकोटियां) काल तक उसी रूप में रह सकता है। जलचरपुरुष जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व तक। पूर्वकोटि आयु वाले पुरुष के पुनः पुनः वहीं दो तीन चार बार उत्पन्न होने की अपेक्षा से समझना चाहिए।

चतुष्पदस्थलचर पुरुष जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम तक। भावना पूर्वोक्त औधिक तिर्यक् पुरुष की तरह समझना चाहिए।

उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प स्थलचर पुरुष जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट से पूर्वकोटिपृथक्त्व तक। भावना पूर्वोक्त जलचर पुरुष की तरह समझना।

खेचर पुरुष जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक पल्योपम का असंख्येय भाग। यह सात बार तो पूर्वकोटि की आयु वाले भवों में और आठवीं बार अन्तर्द्वीपादि खेचर पुरुषों में (पल्योपमासंख्येय भाग स्थिति वालों में) उत्पन्न होने की अपेक्षा से समझना चाहिए।

मनुष्यपुरुषों का निरन्तर तद्रूप में रहने का काल पूर्व में कही गई मनुष्यस्त्रियों की वक्तव्यता के अनुसार है। वह निम्नानुसार है—

सामान्य से मनुष्य-पुरुष का तद्रूप में निरन्तर रहने का कालमान जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम। इसमें सात भव तो महाविदेह में पूर्वकोटि आयु के और आठवां भव देवकुरु आदि में तीन पल्योपम की आयु का जानना चाहिए। धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि। आठ वर्ष की आयु के बाद चारित्र-प्रतिपत्ति होती है, अतः आठ वर्ष कम होने से देशोनता कही है।

विशेष विवक्षा में कर्मभूमि का मनुष्य-पुरुष कर्मभूमि क्षेत्र की अपेक्षा से जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम तक निरन्तर तद्रूप में रह सकता है। यह सात बार पूर्वकोटि आयु वालों में उत्पन्न होकर आठवीं बार भरत-ऐरावत में एकान्त सुषमा आरे में तीन पल्योपम की स्थिति सहित उत्पन्न होने वाले की अपेक्षा से है। धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य से एक समय (सर्वविरति परिणाम एक समय का भी संभव है) और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि तक। समग्र चारित्रकाल भी इतना है।

भरत-ऐरावत कर्मभूमिक मनुष्य पुरुष भी भरत-ऐरावत क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम तक तद्रूप में निरन्तर रह सकता है। यह पूर्वकोटि आयु वाले किसी विदेहपुरुष को भरतादिक्षेत्र में संहरण कर लाने पर भरतक्षेत्रीय व्यपदेश होने से भवायु के क्षय होने पर एकान्त सुषमाकाल के प्रारंभ में उत्पन्न होने वाले मनुष्यपुरुष की अपेक्षा से समझना चाहिए।

धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि तक संचिट्ठणा समझनी चाहिए।

पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह कर्मभूमिक मनुष्यपुरुष उसी रूप में निरन्तर क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व तक रह सकता है। वह बार बार वहीं सात बार उत्पत्ति की अपेक्षा से समझना चाहिए। इसके बाद अवश्य गति और योनि का परिवर्तन होता ही है।

धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि।

अकर्मभूमिक मनुष्य पुरुष तद्भाव को छोड़े बिना निरन्तर जन्म की अपेक्षा से पल्योपमासंख्येयभाग न्यून एक पल्योपम तक और उत्कर्ष से तीन पल्योपम तक रह सकता है। संहरण की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त (यह अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर अकर्मभूमि में संहरण की अपेक्षा से है।) है और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम तक। यह देशोन पूर्वकोटि आयु वाले पुरुष का उत्तरकुरु आदि में संहरण हो और वह वहीं मर कर वहीं उत्पन्न हो, इस अपेक्षा से है। देशोनता गर्भकाल की अपेक्षा से है। गर्भस्थित के संहरण का प्रतिषेध है।

हैमवत-हैरण्यवत अकर्मभूमिक मनुष्य पुरुष जन्म की अपेक्षा जघन्य से पल्योपमासंख्येयभाग न्यून एक पल्योपम तक और उत्कर्ष से परिपूर्ण पल्योपम तक उसी रूप में रह सकता है। संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि अधिक एक पल्योपम रह सकता है।

हरिवर्ष-रम्यकवर्ष अकर्मभूमिक मनुष्य-पुरुष जन्म की अपेक्षा जघन्य पल्योपमासंख्येय भाग न्यून दो पल्योपम तक और उत्कर्ष से परिपूर्ण दो पल्योपम तक। जघन्य और उत्कर्ष से वहाँ इतनी ही आयु सम्भव है। संहरण की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त (क्योंकि अन्तर्मुहूर्त से कम आयु वाले पुरुष का संहरण नहीं होता) और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि अधिक दो पल्योपम तक तद्रूप में रह सकता है।

देवकुरु-उत्तरकुरु अकर्मभूमिक मनुष्य-पुरुष क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से पल्योपमासंख्येय भाग न्यून तीन पल्योपम और उत्कर्ष से परिपूर्ण तीन पल्योपम तक उसी रूप में रह सकता है। संहरण की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से देशोनपूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम तक उसी रूप में रह सकता है।

अन्तर्द्वीपक मनुष्य-पुरुष जन्म की अपेक्षा देशोन पल्योपम का असंख्येय भाग तक और उत्कर्ष से परिपूर्ण पल्योपम का असंख्येय भाग तक रह सकता है। संहरण की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिअधिक पल्योपमासंख्येय भाग तक उसी पुरुषपर्याय में रह सकता है।

देवपुरुषों की जो स्थिति पहले बताई गई है, वही उनकी संचिट्ठणा (कायस्थिति) भी है।

शंका की जा सकती है कि अनेक भव-भावों की अपेक्षा से कायस्थिति होती है वह एक ही भव में कैसे हो सकती है? यह दोष नहीं है क्योंकि यहाँ केवल उतनी ही विवक्षा है कि देवपुरुष देव पुरुषत्व को छोड़े बिना कितने काल तक रह सकता है। देव मर कर अनन्तर भव में देव नहीं होता अतः यह अतिदेश किया गया है कि जो देवों की भवस्थिति है वही उनको संचिट्ठणा है।

अन्तरद्वार

५५. पुरिसस्स णं भंते ! केवइयं कालं अंतरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेण वणस्सइकालो।

तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो। एवं जाव खहयर-तिरिक्खजोणियपुरिसाणं।

मणुस्सपुरिसाणं भंते! केवइयं कालं अंतरं होइ ?

गोयमा! खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वणस्सइकालो। धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेण अणंतकालं अणंताओ उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीओ जाव अवड्ढं पोग्गल-परियट्टं देसूणं।

कम्मभूमगाणं जाव विदेहो जाव धम्मचरणे एक्को समओ सेसं जहित्थीणं जाव अंतरदीवगाणं।

देवपुरिसाणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो। भवणवासिदेवपुरिसाणं ताव जाव सहस्सारो, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो।

आणतदेवपुरिसाणं भंते! केवइयं कालं अंतरं होई ?

गोयमा! जहन्नेण वासपुहुत्तं उक्कोसेण वणस्सइकालो। एवं जाव गेवेज्जदेवपुरिसस्स वि। अणुत्तरोववाइयदेवपुरिसस्स जहन्नेणं वासपुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं सागरोवमाइं साइरेगाइं।

[५५] भंते! पुरुष का अन्तर कितना कहा गया है? (अर्थात् पुरुष, पुरुष-पर्याय छोड़ने के बाद फिर कितने काल पश्चात् पुरुष होता है?)

गौतम! जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल के बाद पुरुष पुनः पुरुष होता है।

भगवन्! तिर्यक्योनिक पुरुषों का अन्तर कितना कहा गया है?

गौतम! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल का अन्तर है। इसी प्रकार खेचर तिर्यक्योनि पर्यन्त के विषय में जानना चाहिए।

भगवन्! मनुष्य पुरुषों का अन्तर कितने काल का है?

गौतम! क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल का अन्तर है। धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अनन्त काल अर्थात् इस अवधि में अनन्त उत्सर्पिणियां-अवसर्पिणियां बीत जाती हैं यावत् वह देशोन अर्धपुद्गल परावर्तकाल होता है।

कर्मभूमि के मनुष्य का यावत् विदेह के मनुष्यों का अन्तर यावत् धर्माचरण की अपेक्षा एक समय इत्यादि जो मनुष्यस्त्रियों के लिए कहा गया है वही यहाँ कहना चाहिए। अन्तर्द्वीपों के अन्तर तक उसी प्रकार कहना चाहिए।

देवपुरुषों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल है। यही कथन भवनवासी देवपुरुष से लगा कर सहस्रार देवलोक तक के देव पुरुषों के विषय में समझना चाहिए।

भगवन्! आनत देवपुरुषों का अन्तर कितने काल का कहा गया है?

गौतम! जघन्य से वर्षपृथक्त्व (आठ वर्ष) और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल का अन्तर होता है।

इसी प्रकार ग्रैवेयक देवपुरुषों का भी अन्तर जानना चाहिये।

अनुत्तरोपपातिक देवपुरुषों का अन्तर जघन्य से वर्षपृथक्त्व और उत्कृष्ट संख्यात सागरोपम से कुछ अधिक का होता है।

विवेचन—पूर्व सूत्र में उसी पर्याय में निरन्तर रहने का कालमान बताया गया था। इस सूत्र में जीव अपनी वर्तमान पर्याय को छोड़ने के बाद पुनः उस पर्याय को जितने समय बाद पुनः प्राप्त करता है, यह कहा है उसको अन्तर कहा जाता है। यहां तिर्यंच, मनुष्य और देव पुरुषों के अन्तर की विवक्षा है।

सामान्य रूप से पुरुष, पुरुषपर्याय छोड़ने के पश्चात् कितने काल के बाद पुनः पुरुषपर्याय प्राप्त करता है, ऐसा गौतमस्वामी द्वारा प्रश्न किये जाने पर भगवान् कहते हैं कि गौतम! जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल का अन्तर होता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जब कोई पुरुष उपशमश्रेणी पर चढ़ कर पुरुषवेद को उपशान्त कर देता है और एक समय के बाद ही मर कर वह देव-पुरुष में ही नियम से उत्पन्न होता है, इस अपेक्षा से एक समय का अन्तर कहा गया है।

यहाँ कोई शंका करता है कि स्त्री और नपुंसक भी श्रेणी पर चढ़ते हैं तो उनका अन्तर एक समय का क्यों नहीं कहा? इसका उत्तर है कि श्रेणी पर आरूढ स्त्री या नपुंसक वेद का उपशमन करने के अनन्तर मर कर तथाविध शुभ अध्यवसाय से मर कर नियम से देव पुरुषों में ही उत्पन्न होते हैं देव स्त्रियों या नपुंसकों में नहीं। अतः उनका अन्तर एक समय नहीं होता।

उत्कर्ष से पुरुष का अन्तर वनस्पतिकाल कहा गया है। वनस्पतिकाल को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'काल से अनन्त उत्सर्पिणियां और अनन्त अवसर्पिणियां उसमें बीत जाती हैं, क्षेत्र से अनन्त लोक के प्रदेशों का अपहार हो जाता है और असंख्येय पुद्‌गलपरावर्त बीत जाते हैं। वे पुद्‌गलपरावर्त आवलिका के समयों के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।'[1]

सामान्य से पुरुष का अन्तर बताने के पश्चात् तिर्यक् पुरुष आदि विशेषणों—भेदों की अपेक्षा अन्तर का कथन किया गया है।

तिर्यक्योनि पुरुषों का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल है। इस प्रकार जैसा तिर्यंच स्त्रियों का अन्तर बताया गया है, वही अन्तर तिर्यंक् पुरुषों का भी समझना चाहिए। जलचर, स्थलचर, खेचर पुरुषों का भी जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और वनस्पतिकाल जानना चाहिए।

मनुष्य स्त्रियों का जो अन्तर पूर्व में कहा गया है, वही मनुष्य पुरुषों का भी अन्तर समझना चाहिए। वह इस प्रकार है—

सामान्यतः मनुष्य-पुरुष का क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल का अन्तर है। धर्मचरण की अपेक्षा जघन्य से एक समय (क्योंकि चारित्र स्वीकार करने के पश्चात् गिरकर पुनः एक समय में चारित्रपरिणाम हो सकते हैं), उत्कर्ष से देशोन अपार्धपुद्‌गलपरावर्त है।

---

१. 'अणंताओ उस्सप्पिणीओ ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइ भागो।' इति

इसी प्रकार भरत, ऐरवत, पूर्वविदेह, अपरविदेह कर्मभूमि के मनुष्य का जन्म को लेकर, तथा चारित्र को लेकर जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर कहना चाहिए।

सामान्य से अकर्मभूमिक मनुष्य पुरुष का जन्म को लेकर अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त अधिक दस हजार वर्ष है, क्योंकि वह मर कर जघन्य स्थिति के देवों में उत्पन्न होकर वहाँ से च्यव कर कर्मभूमि में स्त्री या पुरुष के रूप में पैदा होकर पुनः अकर्मभूमि मनुष्य के रूप में उत्पन्न हो सकता है। बीच में कर्मभूमि में पैदा होकर मरने का कथन इसलिए किया गया है कि देवभव से च्यवकर कोई जीव सीधा अकर्मभूमियों में मनुष्य या तिर्यक् संज्ञी पंचेन्द्रिय के रूप में उत्पन्न नहीं होता। उत्कर्ष से वनस्पतिकाल का अन्तर है।

संहरण की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त (अकर्मभूमि से कर्मभूमि में संहृत किये जाने के बाद अन्तर्मुहूर्त में तथाविध बुद्धिपरिवर्तन होने से पुनः वहीं लाकर रख देने की अपेक्षा से) उत्कर्ष से वनस्पतिकाल। इतने काल के बीतने पर अकर्मभूमियों में उत्पत्ति की तरह संहरण भी नियम से होता है।

इसी तरह हैमवत हैरण्यवतादि अकर्मभूमियों में जन्म से और संहरण से जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर कहना चाहिए। इसी तरह अन्तर्द्वीपक अकर्मभूमिक मनुष्य पुरुष की वक्तव्यता तक पूर्ववत् अन्तर कहना चाहिए।

मनुष्य-पुरुष का अन्तर बताने के पश्चात् देवपुरुष का अन्तर बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि सामान्य से देवपुरुष का अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल है। देवभव से च्यवकर गर्भज मनुष्य में उत्पन्न होकर पर्याप्ति पूरी करने के बाद तथाविध अध्यवसाय से मरकर पुनः वह जीव देवरूप में उत्पन्न हो सकता है, इस अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल का अन्तर बताया है, उत्कर्ष से वनस्पतिकाल का अन्तर है। इस प्रकार असुरकुमार से लगाकर सहस्रार (आठवें) देवलोक तक के देवों का अन्तर कहना चाहिए।

आनतकल्प (नौवें देवलोक) के देव का अन्तर जघन्य से वर्षपृथक्त्व है। क्योंकि आनत आदि कल्प से च्यवित होकर पुनः आनत आदि कल्प में उत्पन्न होने वाला जीव नियम से (मनुष्यभव में) चारित्र लेकर ही वहाँ उत्पन्न हो सकता है। चारित्र लिए बिना कोई जीव आनत आदि कल्पों में जन्म नहीं ले सकता। चारित्र आठ वर्ष की अवस्था से पूर्व नहीं होता अतः आठ वर्ष तक की अवधि का अन्तर बताने के लिए वर्षपृथक्त्व कहा है। उत्कर्ष से वनस्पतिकाल का अन्तर है। अनुत्तरोपपातिक कल्पातीत देवपुरुष का अन्तर जन्घय से वर्षपृथक्त्व और उत्कर्ष से कुछ अधिक संख्येय सागरोपम है। अन्य वैमानिक देवों में उत्पत्ति के कारण संख्येय सागर और मनुष्यभवों में उत्पत्ति को लेकर कुछ अधिकता समझनी चाहिए।

यद्यपि यह कथन सामान्य रूप से सब अनुत्तरोपपातिक देवों के लिए है तथापि यह विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमानों की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि सर्वार्थसिद्ध विमान में एक बार ही उत्पत्ति होती है, अतः अन्तर की संभावना ही नहीं है।

वृत्तिकार ने अन्तर के विषय में मतान्तर का उल्लेख करते हुए कहा है कि भवनवासी से लेकर ईशान देवलोक तक के देव का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त है, सनत्कुमार से लगाकर सहस्रार तक

जघन्य अन्तर नौ दिन, आनतकल्प से लगाकर अच्युतकल्प तक नौ मास, नव ग्रैवेयकों में और सर्वार्थसिद्ध को छोड़कर शेष अनुत्तरोपपातिक देवों का अन्तर नौ वर्ष का है। ग्रैवेयक तक सर्वत्र उत्कृष्ट अन्तर वनस्पतिकाल है। विजयादि चार महाविमानों में दो सागरोपम का उत्कृष्ट अन्तर है।[1]

अल्पबहुत्व

५६. अप्पाबहुयाणि जहेवित्थीणं जाव एतेसि णं भंते ! देवपुरिसाणं भवणवासीणं वाणमंतराणं जोतिसियाणं वेमाणियाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणियदेवपुरिसा, भवणवइदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, वाणमंतर-देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, जोइसियादेवपुरिसा संखेज्जगुणा।

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणिय-पुरिसाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं, मणुस्सपुरिसाणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं, देवपुरिसाणं भवणवासीणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं सोहम्माणं जाव सव्वट्ठसिद्धगाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवगमणुस्सपुरिसा, देवकुरुत्तरकुरुअकम्मभूमग मणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा हरिवास रम्मगवास अकम्मभूमग मणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, हेमवत हेरण्णवतवास अकम्मभूमग मणुस्सपुरिसा दोवि संखेज्जगुणा;

भरहेरवतवास कम्मभूमग मणुस्सपुरिसा दोवि संखेज्जगुणा,
पुव्वविदेह अवरविदेह कम्मभूमग मणुस्सपुरिसा दोवि संखेज्जगुणा,
अणुत्तरोववाइय देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
उवरिमगेविज्ज देवपुरिसा संखेज्जगुणा,
मज्झिमगेविज्ज देवपुरिसा संखेज्जगुणा,
हेट्ठिमगेविज्ज देवपुरिसा संखेज्जगुणा,
अच्चुयकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, जाव
आणतकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा,
सहस्सारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
महासुक्के कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
जाव माहिंदे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,

---

१. आईसाणादमरस्स अंतरं हीणयं मुहुत्तंतो।
आसहसारे अच्चुयणुत्तर दिणमासवास नव ॥१॥
थावरकालुक्कोसो सव्वट्ठे बीयओ न उववाओ।
दो अयरा विजयादिसु .... ॥ —मलयगिरिवृत्ति

सणंकुमारकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
ईसाणकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
सोहम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा,
भवणवासिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
खहयर तिरिक्खजोणिय पुरिसा असंखेज्जगुणा,
थलयर तिरिक्खजोणिय पुरिसा संखेज्जगुणा,
जलयर तिरिक्खजोणिय पुरिसा असंखेज्जगुणा,
वाणमंतर देवपुरिसा संखेज्जगुणा,
जोतिसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा ।

[५६] स्त्रियों का जैसा अल्पबहुत्व कहा यावत् हे भगवन् ! देव पुरुषों—भवनपति, वानव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिकों में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक है ?

गौतम ! सबसे थोड़े वैमानिक देवपुरुष, उनसे भवनपति देवपुरुष असंख्येयगुण, उनसे वानव्यन्तर देवपुरुष असंख्येय गुण, उनसे ज्योतिष्क देवपुरुष संख्येयगुणा हैं ।

हे भगवन् ! इन तिर्यंचयोनिक पुरुषों—जलचर, स्थलचर और खेचर; मनुष्य पुरुषों—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक, अन्तर्द्वीपकों में; देवपुरुषों—भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों—सौधर्म देवलोक यावत् सर्वार्थसिद्ध देवपुरुषों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

गौतम ! सबसे थोड़े अन्तर्द्वीपों के मनुष्यपुरुष, उनसे देवकुरु उत्तरकुरु अकर्मभूमिक मनुष्यपुरुष दोनों संख्यातगुण, उनसे हरिवास रम्यकवास अकर्मभूमिक मनुष्यपुरुष दोनों संख्यातगुण, उनसे हेमवत हैरण्यवत अकर्मभूमिक मनुष्यपुरुष दोनों संख्यातगुण, उनसे भरत ऐरवतवास कर्मभूमि के मनुष्यपुरुष दोनों संख्यातगुण, उनसे पूर्वविदेह अपरविदेह कर्मभूमि मनुष्यपुरुष दोनों संख्यातगुण, उनसे अनुत्तरोपपातिक देवपुरुष असंख्यातगुण, उनसे उपरिम ग्रैवेयक देव पुरुष संख्यातगुण, उनसे मध्यम ग्रैवेयक देवपुरुष संख्यातगुण, उनसे अधस्तन ग्रैवेयक देवपुरुष संख्यातगुण, उनसे अच्युतकल्प के देवपुरुष संख्यातगुण, उनसे यावत् आनतकल्प के देवपुरुष संख्यातगुण, उनसे सहस्रारकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण, उनसे महाशुक्रकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण, उनसे यावत् महेन्द्रकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण, उनसे सनत्कुमारकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण, उनसे ईशानकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण, उनसे सौधर्मकल्प के देवपुरुष संख्यातगुण, उनसे भवनवासी देवपुरुष असंख्यातगुण, उनसे खेचर तिर्यंचयोनिक पुरुष असंख्यातगुण, उनसे स्थलचर तिर्यंचयोनिक पुरुष संखेयगुण, उनसे जलचर तिर्यंचयोनिक पुरुष असंखेयगुण, उनसे वाणव्यन्तर देवपुरुष संखेयगुण, उनसे ज्योतिषी देवपुरुष संखेयगुण हैं ।

विवेचन—सामान्य स्त्री-प्रकरण में स्त्रियों के अल्पबहुत्व का कथन जिस प्रकार किया गया है, उसी प्रकार से सामान्य पुरुषों का अल्पबहुत्व कहना चाहिए । यहाँ पर अल्पबहुत्व का प्रकरण यावत् देवपुरुषों के अल्पबहुत्व प्रकरण से पहले पहले का गृहीत हुआ है । यहाँ पांच प्रकार से अल्प

बहुत्व बताया है। जिसमें पहला सामान्य से तिर्यंच, मनुष्य और देव पुरुषों को लेकर, दूसरा तिर्यंच-योनिक जलचर, स्थलचर, खेचर पुरुषों को लेकर, तीसरा कर्मभूमिक आदि तीन प्रकार के मनुष्यों को लेकर, चौथा चार प्रकार के देवों को लेकर और पांचवां सबको मिश्रित करके अल्पबहुत्व बताया है।

आदि के तीन अल्पबहुत्व तो जैसे इनकी स्त्रियों को लेकर कहे हैं वैसे ही यहाँ पुरुषों को लेकर कहना चाहिए। इन तीन अल्पबहुत्वों का यहाँ 'यावत' पद से ग्रहण किया है। वह स्त्री-प्रकरण के अल्पबहुत्व में देख लेना चाहिए। अन्तर केवल यह है कि 'स्त्री' की जगह 'पुरुष' पद का प्रयोग करना चाहिए।

चौथा देवपुरुष सम्बन्धी अल्पबहुत्व सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में साक्षात् कहा है। वह इस प्रकार है—सबसे थोड़े अनुत्तरोपपातिक देवपुरुष हैं, क्योंकि उनका प्रमाण क्षेत्रपल्योपम के असंख्येय भागवर्ती आकाशप्रदेशों की राशि तुल्य है। उनसे उपरितन ग्रैवेयक देवपुरुष संख्येयगुण हैं। क्योंकि वे बृहत्तर क्षेत्रपल्योपम के असंख्येयभागवर्ती आकाश प्रदेशों की राशि प्रमाण हैं। विमानों की बहुलता के कारण संख्येयगुणता है। अनुत्तर देवों के पांच विमान हैं और उपरितन ग्रैवेयक देवों के सौ विमान हैं। प्रत्येक विमान में असंख्येय देव हैं। जैसे-जैसे विमान नीचे हैं उनमें देवों की संख्या प्रचुरता से है। इससे जाना जाता है कि अनुत्तरविमान देवपुरुषों से उपरितन ग्रैवेयक देवपुरुष संख्येयगुण हैं।

उपरितन ग्रैवेयक देवपुरुषों की अपेक्षा मध्यम ग्रैवेयक देवपुरुष संख्येयगुण हैं। उनसे अधस्तन ग्रैवेयक देवपुरुष संख्येयगुण हैं, उनसे अच्युतकल्प के देव पुरुष संख्येयगुण हैं। उनसे आरणकल्प के देव पुरुष संख्येयगुण हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि आरण और अच्युत कल्प दोनों समश्रेणी और समान विमानसंख्या वाले हैं तो भी कृष्णपाक्षिक जीव तथास्वभाव से दक्षिण दिशा में अधिक रूप में उत्पन्न होते हैं।

जीव दो प्रकार के हैं—कृष्णपाक्षिक और शुक्लपाक्षिक। जिन जीवों का कुछ कम अर्ध-पुद्गलपरावर्त संसार शेष रहा है वे शुक्लपाक्षिक हैं। इससे अधिक दीर्घ संसार वाले कृष्ण-पाक्षिक हैं।[1]

कृष्णपाक्षिकों की अपेक्षा शुक्लपाक्षिक थोड़े हैं। अल्पसंसारी जीव थोड़े ही हैं। कृष्ण-पाक्षिक बहुत हैं, क्योंकि दीर्घसंसारी जीव अनन्तानन्त हैं।

शंका हो सकती है कि यह कैसे माना जाय कि कृष्णपाक्षिक प्रचुरता से दक्षिणदिशा में पैदा होते हैं? आचार्यों ने कहा है कि ऐसा स्वाभाविक रूप से ही होता है। कृष्णपाक्षिक प्रायः दीर्घसंसारी होते हैं और दीर्घसंसारी प्रायः बहुत पापकर्म के उदय से होते हैं। बहुत पाप का उदय वाले जीव प्रायः क्रूरकर्मा होते हैं और क्रूरकर्मा जीव प्रायः तथास्वभाव से भवसिद्धिक होते हुए भी दक्षिण दिशा में उत्पन्न होते हैं।[2] अतः दक्षिण दिशा में कृष्णपाक्षिकों की प्रचुरता होने से अच्युतकल्प देव-पुरुषों की अपेक्षा आरणकल्प के देवपुरुष संख्येयगुण हैं।

---

१. जेसिमवड्ढो पुग्गलपरियट्टो सेसओ य संसारो।
ते सुक्कपक्खिया खलु अहिए पुण कण्हपक्खीआ॥

२. पायमिह कूरकम्मा भवसिद्धिया वि दाहिणिल्लेसु।
नेरइय-तिरिय-मणुया, सुराइठाणेसु गच्छन्ति॥

आरणकल्प के देवपुरुषों की अपेक्षा प्राणतकल्प के देवपुरुष संख्येयगुण हैं। उनसे आनतकल्प के देवपुरुष संख्येयगुण हैं। यहाँ भी प्राणतकल्प की अपेक्षा आनतकल्प में कृष्णपाक्षिक दक्षिणदिशा में ज्यादा होने से संख्येयगुण हैं। सब अनुत्तरवासी देव और आनतकल्प वासी पर्यन्त देवपुरुष प्रत्येक क्षेत्रपल्योपम के असंख्येय भागवर्ती आकाश प्रदेशों की राशि प्रमाण हैं। केवल असंख्येय भाग असंख्येय प्रकार का है इसलिए पूर्वोक्त संख्येयगुणत्व में कोई विरोध नहीं है।

आनतकल्प देवपुरुषों से सहस्रारकाल वासी देवपुरुष असंख्येयगुण हैं क्योंकि वे घनीकृत लोक की एक प्रादेशिक श्रेणी के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश हैं, उनके तुल्य हैं। उनसे महाशुक्रकल्पवासी देवपुरुष असंख्येयगुण हैं। क्योंकि वे बृहत्तर श्रेणी के असंख्येय भागवर्ती आकाश प्रदेश राशि तुल्य हैं। विमानों की बहुलता से यह असंख्येय गुणता जाननी चाहिए। सहस्रारकल्प में विमानों की संख्या छह हजार है जबकि महाशुक्र विमान में चालीस हजार विमान हैं। नीचे-नीचे के विमानों में ऊपर के विमानों की अपेक्षा अधिक देवपुरुष होते हैं।

महाशुक्रकल्प के देवपुरुषों की अपेक्षा लान्तक देवपुरुष असंख्येयगुण हैं। क्योंकि वे बृहत्तम श्रेणी के असंख्येय भागवर्ती आकाश प्रदेश राशि प्रमाण हैं। उनसे ब्रह्मलोकवासी देवपुरुष असंख्येय-गुण हैं। क्योंकि वे अधिक बृहत्तम श्रेणी के असंख्येयभागगत आकाशप्रदेशराशि प्रमाण हैं। उनसे माहेन्द्रकल्पवासी देवपुरुष असंख्येयगुण हैं क्योंकि वे और अधिक बृहत्तम श्रेणी के असंख्येय भागगत आकाश प्रदेशराशि तुल्य हैं। उनसे सनत्कुमारकल्प के देव असंख्येयगुण हैं। क्योंकि विमानों की बहुलता है। सनत्कुमारकल्प में बारह लाख विमान हैं और माहेन्द्रकल्प में आठ लाख विमान हैं। दूसरी बात यह है कि सनत्कुमारकल्प दक्षिणदिशा में है और माहेन्द्रकल्प उत्तर दिशा में है। दक्षिणदिशा में बहुत से कृष्णपाक्षिक उत्पन्न होते हैं। इसलिए माहेन्द्रकाल से सनत्कुमारकल्प में देवपुरुष असंख्येयगुण हैं। सहस्रारकल्प से लगाकर सनत्कुमारकल्प के देव सभी अपने-अपने स्थान में घनीकृत लोक की एक श्रेणी के असंख्येयभाग में रहे हुए आकाशप्रदेशों की राशि प्रमाण हैं परन्तु श्रेणी का असंख्येय भाग असंख्येय तरह का होने से असंख्यातगुण कहने में कोई विरोध नहीं आता।

सनत्कुमारकल्प के देवपुरुषों से ईशानकल्प के देवपुरुष असंख्येयगुण हैं क्योंकि वे अंगुलमात्र क्षेत्र की प्रदेशराशि के द्वितीय वर्गमूल को तृतीय वर्गमूल से गुणित करने पर जितनी प्रदेशराशि होती है उतनी घनीकृत लोक की एक प्रादेशिक श्रेणियों में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उसका जो बत्तीसवां भाग है, उतने प्रमाण वाले हैं।

ईशानकल्प के देवपुरुषों से सौधर्मकल्पवासी देवपुरुष संख्येयगुण हैं। यह विमानों की बहुलता के कारण जानना चाहिए। ईशानकल्प में अट्ठावीस लाख विमान हैं और सौधर्मकल्प में बत्तीस लाख विमान हैं। दूसरी बात यह है कि सौधर्मकाल दक्षिणदिशा में है और ईशानकल्प उत्तरदिशा में है। दक्षिण दिशा में तथास्वभाव से कृष्णपाक्षिक अधिक उत्पन्न होते हैं अत: ईशानदेवलोक के देवों से सौधर्मदेवलोक के देव संख्यातगुण होते हैं।

यहाँ एक शंका होती है कि सनत्कुमार और माहेन्द्रकल्प में भी उक्त युक्ति कही है। फिर वहाँ तो माहेन्द्र की अपेक्षा सनत्कुमार में देवों की संख्या असंख्यातगुण कही है और यहाँ सौधर्म में

ईशान में संख्यातगुण ही प्रमाण बताया है, ऐसा क्यों ? इसका उत्तर यही है कि तथास्वभाव से ही ऐसा है। प्रज्ञापना आदि में सर्वत्र ऐसा ही कहा गया है।

सौधर्म देवों से भवनवासी देव असंख्येयगुण हैं। क्योंकि वे अंगुलमात्र क्षेत्र की प्रदेशराशि के प्रथम वर्गमूल में द्वितीय वर्गमूल का गुणा करने से जितनी प्रदेशराशि होती है, उतनी घनीकृत लोक की एक प्रादेशिकी श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश हैं, उनके बत्तीसवें भाग प्रमाण हैं।

उनसे व्यन्तर देव असंख्येयगुण हैं क्योंकि वे एक प्रतर के संख्येय कोडाकोडी योजन प्रमाण एक प्रादेशिकी श्रेणी प्रमाण जितने खण्ड होते हैं, उनका बत्तीसवें भाग प्रमाण हैं। उनसे ज्योतिष्क देव संख्येयगुण हैं। क्योंकि दो सौ छप्पन अंगुल प्रमाण एक प्रादेशिकी श्रेणी जितने एक प्रतर में जितने खण्ड होते हैं, उनके बत्तीसवें भाग प्रमाण हैं।

अब पांचवा अल्पबहुत्व कहते हैं—

सबसे थोड़े अन्तर्द्वीपिक मनुष्य हैं, क्योंकि क्षेत्र थोड़ा है, उनसे देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यपुरुष संख्येयगुण हैं, क्योंकि क्षेत्र बहुत है। स्वस्थान में दोनों परस्पर तुल्य हैं क्षेत्र समान होने से। उनसे हरिवर्ष रम्यकवर्ष के मनुष्यपुरुष संख्येयगुण हैं, क्योंकि क्षेत्र अतिबहुल होने से। स्वस्थान में परस्पर तुल्य हैं क्योंकि क्षेत्र समान हैं।

उनसे हैमवत हैरण्यवत के मनुष्यपुरुष संख्येयगुण हैं क्योंकि क्षेत्र की अल्पता होने पर भी स्थिति की अल्पता के कारण उनकी प्रचुरता है। स्वस्थान में परस्पर तुल्य हैं।

उनसे भरत ऐरवत कर्मभूमि के मनुष्यपुरुष संख्येयगुण हैं, क्योंकि अजित प्रभु के काल में उत्कृष्ट पद में स्वभावतः ही मनुष्यपुरुषों की अति प्रचुरता होती है। स्वस्थान में दोनों परस्पर तुल्य हैं, क्योंकि क्षेत्र की तुल्यता है।

उनसे पूर्वविदेह पश्चिमविदेह के मनुष्य पुरुष संख्येयगुण हैं। क्योंकि क्षेत्र की बहुलता होने से अजितस्वामी के काल की तरह स्वभाव से ही मनुष्यपुरुषों की प्रचुरता होती है। स्वस्थान में परस्पर दोनों तुल्य हैं।

उनसे अनुत्तरोपपातिक देव असंख्येयगुण हैं, क्योंकि वे क्षेत्रपल्योपम के असंख्येय भागवर्ती आकाश प्रदेशराशि प्रमाण हैं।

उनसे उपरितन ग्रैवेयक देवपुरुष, मध्यम ग्रैवेयक देवपुरुष, अधस्तन ग्रैवेयक देवपुरुष, अच्युतकल्प देवपुरुष, आरणकल्प देवपुरुष, प्राणतकल्प देवपुरुष, आनतकल्प देवपुरुष यथोत्तर (क्रमशः) संख्येयगुण हैं।

उनसे सहस्रारकल्प देवपुरुष, लान्तककल्प देवपुरुष, ब्रह्मलोककल्प देवपुरुष, माहेन्द्रकल्प देवपुरुष, सनत्कुमारकल्प देवपुरुष, ईशानकल्प देवपुरुष यथोत्तर (क्रमशः) असंख्येयगुण हैं। उनसे सौधर्मकल्प के देवपुरुष संख्येयगुण हैं।

सौधर्मकल्प देवपुरुषों से भवनवासी देवपुरुष असंख्येयगुण हैं।

उनसे खेचर तिर्यंचयोनिक पुरुष असंख्येयगुण हैं। क्योंकि वे प्रतर के असंख्येय भागवर्ती असंख्यातश्रेणिगत आकाश प्रदेशराशि प्रमाण हैं।

उनसे स्थलचर संख्येयगुण, उनसे जलचर संख्येय गुण, उनसे वानव्यन्तर देव संख्येयगुण हैं। क्योंकि वानव्यन्तर देव एक प्रतर में संख्येय योजन कोटि प्रमाण एक प्रादेशिक श्रेणी के बराबर जितने खण्ड होते हैं, उनके बत्तीसवें भाग प्रमाण हैं। उनसे ज्योतिष्क देव संख्यात गुण हैं। युक्ति पहले कही जा चुकी है।

पुरुषवेद की स्थिति

५७. पुरिसवेदस्स णं भंते। केवइयं कालं बंधट्ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठसंवच्छराणि उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ। दसवाससयाइं अबाधा, अबाहूणिया कम्मठिई कम्मणिसेओ।

पुरिसवेदे णं भंते ! किंपगारे पण्णत्ते ?

गोयमा ! वणदवग्गिजालसमाणे पण्णत्ते। से त्तं पुरिसा।

[५७] हे भगवन् ! पुरुषवेद की कितने काल की बंधस्थिति है ?

गौतम ! जघन्य आठ वर्ष और उत्कृष्ट दस कोडाकोडी सागरोपम की बंधस्थिति है। एक हजार वर्ष का अबाधाकाल है। अबाधाकाल से रहित स्थिति कर्मनिषेक है (उदययोग्य है)।

भगवन् ! पुरुषवेद किस प्रकार का कहा गया है ?

गौतम ! वन को अग्निज्वाला के समान है। यह पुरुष का अधिकार पूरा हुआ।

विवेचन—पुरुषवेद की जघन्य स्थिति आठ वर्ष की है क्योंकि इससे कम स्थिति के पुरुषवेद के बंध के योग्य अध्यवसाय ही नहीं होते। उत्कर्ष से उसकी स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है।

स्थिति दो प्रकार की कही गई है—(१) कर्मरूप से रहने वाली और (२) अनुभव में आने वाली। यह जो स्थिति कही गई है वह कर्म-अवस्थान रूप है। अनुभवयोग्य जो स्थिति होती है वह अबाधाकाल से रहित होती है। अबाधाकाल पूरा हुए बिना कोई भी कर्म अपना फल नहीं दे सकता। अबाधाकाल का प्रमाण यह बताया है कि जिस कर्म की उत्कृष्ट स्थिति जितने कोडाकोडी सागरोपम की होती है उसकी अबाधा उतने ही सौ वर्ष की होती है। पुरुषवेद की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है, अतः उसकी अबाधा दस सौ (एक हजार) वर्ष होती है। अबाधाकाल से रहित स्थिति हो अनुभवयोग्य होती है—यही कर्मनिषेक है अर्थात् कर्मदलिकों की उदयावलिका में आने की रचनाविशेष है।

पुरुषवेद को दावाग्नि-ज्वाला समान कहा है अर्थात् वह प्रारम्भ में तीव्र कामाग्नि वाला होता है और शीघ्र शान्त भी हो जाता है।

नपुंसक निरूपण

५८. से किं तं नपुंसका ?

नपुंसका तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—नेरइय नपुंसका, तिरिक्खजोणिय-नपुंसका, मणुस्सजोणिय-नपुंसका।

से किं तं नेरइयनपुंसका ?

नेरइयनपुंसका सत्तविहा पण्णत्ता, तंजहा—

रयणप्पभापुढविनेरइयनपुंसका,

सक्करप्पभापुढविनेरइयनपुंसका,

जाव अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसका।

से तं नेरइयनपुंसका।

से किं तं तिरिक्खजोणियनपुंसका ?

तिरिक्खजोणियनपुंसका पंचविहा पण्णत्ता—

एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका,

बेइंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका,

तेइंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका,

चउरिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका,

पंचिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका।

से किं तं एगिन्दियतिरिक्खजोणियनपुंसका ?

एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा—

पुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका जाव वणस्सइकाइयतिरिक्खजोणियनपुंसका।

से त्तं एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका।

से किं तं बेइंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका ?

बेइंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका अणेगविहा पण्णत्ता।

से त्तं बेइंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका।

एवं तेइंदिया वि, चउरिंदिया वि।

से किं तं पंचिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका ?

पंचिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—

जलयरा, थलयरा, खहयरा।

से किं तं जलयरा ?

सो चेव पुव्वुत्तभेदो आसालियवज्जिओ भाणियव्वो। से तं पंचिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका।

से किं तं मणुस्सनपुंसका ?

मणुस्सनपुंसका तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—

कम्मभूमगा, अकम्मभूमगा, अंतरदीवगा भेदो जाव भाणियव्वो।

[५९] भंते ! नपुंसक क्या हैं—कितने प्रकार के हैं ?

गौतम ! नपुंसक तीन प्रकार के हैं, यथा—१ नैरयिक नपुंसक, २ तिर्यक्योनिक नपुंसक और ३ मनुष्ययोनिक नपुंसक।

नैरयिक नपुंसक कितने प्रकार के हैं ?

नैरयिक नपुंसक सात प्रकार के हैं, यथा—रत्नप्रभापृथ्वी नैरयिक नपुंसक, शर्कराप्रभापृथ्वी नैरयिक यावत् अधःसप्तमपृथ्वी नैरयिक नपुंसक।

तिर्यंचयोनिक नपुंसक कितने प्रकार के हैं ?

तिर्यंचयोनिक नपुंसक पांच प्रकार के हैं, यथा—एकेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक नपुंसक, द्वीन्द्रिय, तिर्यंचयोनिक नपुंसक, त्रीन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक, चतुरिन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक और पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक नपुंसक।

एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक कितने प्रकार के हैं ?

एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक पांच प्रकार के हैं, यथा—

पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक यावत् वनस्पतिकायिक तिर्यक्योनिक नपुंसक।

यह एकेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक नपुंसक का अधिकार हुआ।

भंते ! द्वीन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक कितने प्रकार के हैं ?

गौतम ! अनेक प्रकार के हैं। यह द्वीन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक का अधिकार हुआ।

इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का कथन करना।

पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक कितने प्रकार के हैं ?

वे तीन प्रकार के हैं—जलचर, स्थलचर और खेचर।

जलचर कितने प्रकार के हैं ?

वही पूर्वोक्त भेद आसालिक को छोड़कर कहने चाहिए।

ये पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक का अधिकार हुआ।

भंते ! मनुष्य नपुंसक कितने प्रकार के हैं ?

वे तीन प्रकार के हैं, यथा—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तरद्वीपिक पूर्वोक्त भेद कहने चाहिए।

विवेचन—पुरुष सम्बन्धी वर्णन पूरा करने के पश्चात् शेष रहे नपुंसक के सम्बन्ध में यहाँ भेद-प्रभेद सहित निरूपण किया गया है। नपुंसक के तीन भेद गति की अपेक्षा हैं—नारकनपुंसक, तिर्यञ्चनपुंसक और मनुष्यनपुंसक। देव नपुंसक नहीं होते। नारक नपुंसकों के नारकपृथ्वियों की अपेक्षा से सात भेद बताये हैं—१. रत्नप्रभापृथ्वीनारक नपुंसक, २. शर्कराप्रभापृथ्वीनारक नपुंसक, ३. बालुकाप्रभापृथ्वीनारक नपुंसक, ४. पंकप्रभापृथ्वीनारक नपुंसक, ५. धूमप्रभापृथ्वीनारक नपुंसक, ६. तमःप्रभापृथ्वीनारक नपुंसक और ७. अधःसप्तमपृथ्वीनारक नपुंसक।

तिर्यक्योनिक नपुंसक के जाति की अपेक्षा से पांच भेद बताये हैं—एकेन्द्रियजाति नपुंसक, द्वीन्द्रियजाति नपुंसक, त्रीन्द्रियजाति नपुंसक, चतुरिन्द्रियजाति नपुंसक और पंचेन्द्रियजाति नपुंसक।

एकेन्द्रियजाति नपुंसकों के पांच भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय नपुंसक।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय नपुंसकों के भेद अनेक प्रकार के हैं। प्रथम प्रतिपत्ति में इनके जो भेद-प्रभेद बताये हैं, वे सब यहां कहने चाहिए।

पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनि नपुंसक के तीन भेद—जलचर नपुंसक, स्थलचर नपुंसक और खेचर नपुंसक हैं। इनके अवान्तर भेद-प्रभेद प्रथम प्रतिपत्ति के अनुसार कहने चाहिए। केवल उरपरिसर्प में आसालिका का अधिकार नहीं कहना चाहिए। क्योंकि आसालिका चक्रवर्ती के स्कन्धावार आदि में कभी कभी उत्पन्न होते हैं और अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु वाले होते हैं अतः उनकी यहां विवक्षा नहीं है।

मनुष्य नपुंसक तीन प्रकार के हैं—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तर्द्वीपिक नपुंसक। इनके भेद-प्रभेद प्रथम प्रतिपत्ति के अनुसार कहने चाहिए।

नपुंसक की स्थिति

५९. [१] णपुंसगस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं।

णेरइय नपुंसगस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं।

सव्वेसिं ठिई भाणियव्वा जाव अधेसत्तमपुढविनेरइया।

तिरियजोणिय णपुंसकस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी।

एगिंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसकस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं।

पुढविकाइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसकस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं। सव्वेसिं एगिंदिय नपुंसकाणं ठिती भाणियव्वा।

बेइंदिय तेइंदिय चउरिंदिय णपुंसगाणं ठिई भाणियव्वा।

पंचिंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसकस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी।

एवं जलयरतिरिक्खचउप्पद-थलयर-उरगपरिसप्प-भुयगपरिसप्प-खहयरतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं सव्वेसिं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी।

मणुस्स णपुंसकस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी। धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

कम्मभूमग भरहेरवय-पुव्वविदेह-अवरविदेह मणुस्सणपुंसगस्स वि तहेव।

अकम्मभूमग मणुस्सणपुंसगस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। साहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी। एवं जाव अंतरदीवगाणं।

[५६] भगवन् ! नपुंसक की कितने काल की स्थिति कही है ?
गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम।

भगवन् ! नैरयिक नपुंसक की कितनी स्थिति कही है ?
गौतम ! जघन्य से दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम। सब नारक नपुंसकों की स्थिति कहनी चाहिए अधःसप्तमपृथ्वीनारक नपुंसक तक।

भगवन् ! तिर्यक्योनिक नपुंसक की स्थिति कितनी है ?
गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि।

भगवन् ! एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक की कितनी स्थिति कही है ?
गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बावीस हजार वर्ष।

भंते ! पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक की स्थिति कितनी कही है ?
गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बावीस हजार वर्ष। सब एकेन्द्रिय नपुंसकों की स्थिति कहनी चाहिए। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय नपुंसकों की स्थिति कहनी चाहिए।

भगवन् ! पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक की कितनी स्थिति कही गई है ?
गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि।

इसी प्रकार जलचरतिर्यंच, चतुष्पदस्थलचर, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प, खेचर तिर्यक्योनिक नपुंसक इन सबकी जघन्य से अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट पूर्वकोटि स्थिति है।

भगवन् ! मनुष्य नपुंसक की स्थिति कितनी कही है ?
गौतम ! क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि। धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि स्थिति।

कर्मभूमिक भरत-एरवत, पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह के मनुष्य नपुंसक की स्थिति भी उसी प्रकार कहनी चाहिए।

भगवन् ! अकर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक की कितनी स्थिति कही है ?

गौतम ! जन्म की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से भी अन्तर्मुहूर्त। संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि। इसी प्रकार अन्तर्द्वीपिक मनुष्य नपुंसकों तक की स्थिति कहनी चाहिए।

विवेचन:—नपुंसकाधिकार में उसके भेद-प्रभेद बताने के पश्चात् उसकी स्थिति का निरूपण इस सूत्र में किया गया है। सामान्यतया नपुंसक की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है। जघन्य अन्तर्मुहूर्त की स्थिति तिर्यंच और मनुष्य नपुंसक की अपेक्षा से है और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम भी स्थिति सप्तमपृथ्वी नारक नपुंसक की अपेक्षा से है।

विशेष विवक्षा में प्रथम नारक नपुंसकों की स्थिति कहते हैं। सामान्यत: नैरयिक नपुंसक की जघन्य से दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है। विशेष विवक्षा में अलग-अलग नरकपृथ्वियों के नारकों की स्थिति निम्न है—

नारक नपुंसकों की स्थिति

नारकपृथ्वी नपुंसक का नाम	जघन्य	उत्कृष्ट
१. रत्नप्रभानारक नपुंसक	दस हजार वर्ष	एक सागरोपम
२. शर्कराप्रभानारक नपुंसक	एक सागरोपम	तीन सागरोपम
३. बालुकाप्रभानारक नपुंसक	तीन सागरोपम	सात सागरोपम
४. पंकप्रभानारक नपुंसक	सात सागरोपम	दस सागरोपम
५. धूमप्रभानारक नपुंसक	दस सागरोपम	सत्रह सागरोपम
६. तम:प्रभानारक नपुंसक	सत्रह सागरोपम	बावीस सागरोपम
७. अध:सप्तमनारक नपुंसक	बावीस सागरोपम	तेतीस सागरोपम

सामान्यत: तिर्यंच नपुंसकों की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि है।

तिर्यञ्च नपुंसकों की स्थिति

तिर्यक्नपुंसकों के भेद	जघन्य	उत्कृष्ट
समुच्चय एकेन्द्रिय नपुंसक	अन्तर्मुहूर्त	बावीस हजार वर्ष
पृथ्वीकाय नपुंसक	,,	बावीस हजार वर्ष
अप्काय ,,	,,	सात हजार वर्ष
तेजस्काय ,,	,,	तीन अहोरात्रि
वायुकाय ,,	,,	तीन हजार वर्ष
वनस्पतिकाय ,,	,,	दस हजार वर्ष
द्वीन्द्रिय ,,	,,	बारह वर्ष
त्रीन्द्रिय ,,	,,	उनपचास अहोरात्रि
चतुरिन्द्रिय ,,	,,	छह मास
सामान्य पंचेन्द्रिय तिर्यंच नपुंसक	,,	पूर्वकोटि
जलचर ,, ,, ,,	,,	,,
स्थलचर ,, ,, ,,	,,	,,
खेचर ,, ,, ,,	,,	,,

मनुष्य नपुंसकों की स्थिति

	मनुष्य नपुंसकों के भेद	जघन्य	उत्कृष्ट
१.	समुच्चय मनुष्य नपुंसक	अन्तर्मुहूर्त	पूर्वकोटि
२.	कर्मभूमि मनुष्य नपुंसक क्षेत्र से	,,	पूर्वकोटि
३.	कर्मभूमि मनुष्य नपुंसक धर्माचरण से	,,	देशोन पूर्वकोटि
४.	भरत-एरवत कर्म. म. न. क्षेत्र से	,,	पूर्वकोटि
५.	,, ,, ,, धर्माचरण से	,,	देशोन पूर्वकोटि
६.	पूर्वविदेह मनुष्य नपुं. क्षेत्र से	,,	पूर्वकोटि
७.	पश्चिमविदेह मनुष्य नपुं. धर्माचरण से	,,	देशोन पूर्वकोटि
८.	अकर्मभूमि मनुष्य नपुंसक (जन्म से) (केवल संमूर्छिम होते हैं, गर्भज नहीं। युगलियों में नपुंसक नहीं होते)	,,	बृहत्तर अन्तर्मुहूर्त
९.	अकर्मभूमि मनुष्य नपुंसक संहरण से	,,	देशोन पूर्वकोटि
१०.	हैमवत हैरण्यवत म. नपुंसक जन्म से	,,	बृहत्तर अन्तर्मुहूर्त
११.	,, ,, संहरण से	,,	देशोन पूर्वकोटि
१२.	हरिवर्ष रम्यकवर्ष म. नपुंसक जन्म से	,,	बृहत्तर अन्तर्मुहूर्त
१३.	,, ,, संहरण से	,,	देशोन पूर्वकोटि
१४.	देवकुरु उत्तरकुरु म. नपुंसक जन्म से	,,	बृहत्तर अन्तर्मुहूर्त
१५.	,, ,, संहरण से	,,	देशोन पूर्वकोटि

इस प्रकार नारक नपुंसक, तिर्यक् नपुंसक और मनुष्य नपुंसकों की स्थिति बताई गई है।

कायस्थिति (नपुंसकों की संचिट्ठणा)

५९. [२] णपुंसए णं भंते ! णपुंसए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं तरुकालो।

णेरइय णपुंसए णं भंते !० ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं। एवं पुढवीए ठिई भाणियव्वा।

तिरिक्खजोणिय णपुंसए णं भंते० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो। एवं एगिंदिय णपुंसकस्स, वणस्सइकाइयस्स वि एवमेव। सेसाणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखिज्जं कालं, असंखेज्जाओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोया।

बेइंदिय तेइंदिय चउरिंदिय नपुंसकाण य जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जं कालं।

पंचिंदिय तिरिक्खजोणिय नपुंसकाणं भंते !० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिपुहुत्तं। एवं जलयरतिरिक्ख चउप्पय थलयर उरगपरिसप्प भुयगपरिसप्प महोरगाण वि।

मणुस्स णपुंसकस्स णं भंते ! ०?

गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहन्नेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडिपुहुत्तं। धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी।

एवं कम्मभूमग भरहेरवय-पुव्वविदेह-अवरविदेहेसु वि भाणियव्वं।

अकम्मभूमक मणुस्स णपुंसए णं भंते ! ०?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण मुहुत्तपुहुत्तं। साहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

एवं सव्वेसिं जाव अंतरदीवगाणं।

[५९] (२) भगवन् ! नपुंसक, नपुंसक के रूप में निरन्तर कितने काल तक रह सकता है ?
गौतम ! जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से वनस्पतिकाल तक रह सकता है।

भंते ! नैरयिक नपुंसक के विषय में पृच्छा ?
गौतम ! जघन्य से दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट से तेतीस सागरोपम तक। इस प्रकार सब नारकपृथ्वियों की स्थिति कहनी चाहिए।

भंते ! तिर्यक्योनिक नपुंसक के विषय में पृच्छा ?
गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल, इस प्रकार एकेन्द्रिय नपुंसक और वनस्पतिकायिक नपुंसक के विषय में जानना चाहिए। शेष पृथ्वीकाय आदि जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से असंख्यातकाल तक रह सकते हैं। इस असंख्यातकाल में असंख्येय उत्सर्पिणियां और अवसर्पिणियां (काल की अपेक्षा) बीत जाती हैं और क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात लोक के आकाश प्रदेशों का अपहार हो सकता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय नपुंसक जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से संख्यातकाल तक रह सकते हैं।

भंते ! पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक के लिए पृच्छा ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व पर्यन्त रह सकते हैं।
इसी प्रकार जलचर तिर्यक्योनिक, चतुष्पद स्थलचर उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प और महोरग नपुंसकों के विषय में भी समझना चाहिए।

भगवन् ! मनुष्य नपुंसक के विषय में पृच्छा ?
गौतम ! क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व। धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कर्ष से देशोन पूर्वकोटि।
इसी प्रकार कर्मभूमि के भरत-ऐरवत, पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह नपुंसकों के विषय में भी कहना चाहिए।

भंते ! अकर्मभूमिक मनुष्य-नपुंसक के विषय में पृच्छा ?

गौतम ! जन्म की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट मुहूर्तपृथक्त्व । संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि तक उसी रूप में रह सकते हैं ।

विवेचन—पूर्वसूत्र में नपुंसकों की भवस्थिति बताई गई थी । इस सूत्र में उनकी कायस्थिति बताई गई है । कायस्थिति का अर्थ है उस पर्याय को छोड़े बिना लगातार उसी में बना रहना । सतत रूप से उस पर्याय में भवस्थिति को कायस्थिति भी कहते हैं और संचिट्ठणा भी कहते हैं ।

सामान्य विवक्षा में नपुंसक रूप में उस पर्याय को छोड़े बिना लगातार जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल तक रह सकता है । एक समय की स्पष्टता इस प्रकार है—कोई नपुंसक उपशमश्रेणी पर चढ़ा और अवेदक होने के बाद उपशमश्रेणी से गिरा । नपुंसकवेद का उदय हो जाने पर एक समय के अनन्तर मर कर देव हो गया और पुरुषवेद का उदय हो गया । इस अपेक्षा से नपुंसकवेद जघन्य से एक समय तक रहा ।

उत्कर्ष से नपुंसकवेद वनस्पतिकाल तक रहता है । वनस्पतिकाल आवलिका के असंख्येय भाग में जितने समय हैं, उतने पुद्गलपरावर्तकाल का होता है । तथा इस काल में अनन्त उत्सर्पिणियां और अनन्त अवसर्पिणियां बीत जाती हैं । क्षेत्र की अपेक्षा से कहें तो एक समय में एक आकाश-प्रदेश का अपहार करने पर अनन्त लोकों के आकाश प्रदेशों का अपहार इतने काल में हो सकता है ।[1]

नैरयिक नपुंसक की कायस्थिति की विचारणा में जो उनकी स्थिति है वही जघन्य और उत्कर्ष से उनकी अवस्थिति (संचिट्ठणा) है । क्योंकि कोई नैरयिक मरकर निरन्तर नैरयिक नहीं होता, अतः भवस्थिति ही उनकी कायस्थिति जाननी चाहिए । भवस्थिति से अतिरिक्त उनमें कायस्थिति संभव नहीं है ।

सामान्य तिर्यंच नपुंसकों की कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल है । अन्तर्मुहूर्त के बाद मरकर दूसरी गति में जाने से या दूसरे वेद में हो जाने से जघन्य भवस्थिति अन्तर्मुहूर्त है । उत्कर्ष से वनस्पतिकाल है, जिसका स्वरूप ऊपर बताया गया है ।

विशेष विवक्षा में एकेन्द्रिय नपुंसक की कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल है ।

पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय नपुंसक की कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से असंख्येयकाल है,[2] जो असंख्येय उत्सर्पिणियां और असंख्येय अवसर्पिणियां प्रमाण है और क्षेत्र से असंख्यात लोकों के आकाश प्रदेशों के अपहार तुल्य है ।

इसी प्रकार अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक की कायस्थिति भी कहनी चाहिए । वनस्पति की कायस्थिति वही है जो सामान्य एकेन्द्रिय की कायस्थिति बताई है । अर्थात् जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल ।

---

१. अणंताओ उस्सप्पिणी ओसाप्पिणी कालओ, खेत्तओ अणंता लोया, असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा—वणस्सइ कालो ।

२. उक्कोसेण असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणी ओसप्पिणीओ कालओ खेत्तओ असंखिज्जा लोगा ।

द्वीन्द्रिय नपुंसक की कायस्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से संख्यातकाल है। यह संख्यातकाल संख्येय हजार वर्ष का समझना चाहिए। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय नपुंसकों की कायस्थिति भी कहनी चाहिए।

पंचेन्द्रियतिर्यक् नपुंसक की कायस्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व की है। इसमें निरन्तर सात भव तो पूर्वकोटि आयु के नपुंसक भवों का अनुभव करने की अपेक्षा से हैं। इसके बाद अवश्य वेद का और भव का परिवर्तन होता है।

इसी प्रकार जलचर, स्थलचर, खेचर नपुंसकों के विषय में भी समझना चाहिए।

सामान्यतः मनुष्य नपुंसक की कायस्थिति भी इसी तरह—अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से पूर्वकोटिपृथक्त्व है।

कर्मभूमि के मनुष्य नपुंसक की कायस्थिति क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से पूर्वकोटिपृथक्त्व है। धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य से एक समय, उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि है। भावना पूर्ववत्। इसी तरह भरत-ऐरवत कर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक की कायस्थिति और पूर्वविदेह-पश्चिम-विदेह कर्मभूमिक मनुष्य-नपुंसक की कायस्थिति भी जाननी चाहिए।

सामान्य से अकर्मभूमिक मनुष्य-नपुंसक की कायस्थिति जन्म की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त है। इतने से काल में वे कई बार जन्म-मरण करते हैं। उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्तपृथक्त्व है। इसके बाद वहाँ उसकी उत्पत्ति नहीं होती। संहरण की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से देशोन पूर्व-कोटि है। हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, देवकुरु, उत्तरकुरु, अन्तर्द्वीपिक मनुष्य नपुंसकों की कायस्थिति भी इसी तरह की जाननी चाहिए। यह कायस्थिति का वर्णन हुआ।

अन्तर

[३] नपुंसकस्स णं भंते ! केवइयं कालं अंतरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं।

णेरइय नपुंसकस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तरुकालो।

रयणप्पभापुढवी नेरइय णपुंसकस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तरुकालो।

एवं सव्वेसिं जाव अधेसत्तमा।

तिरिक्खजोणिय णपुंसगस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोपमसयपहुत्तं सातिरेगं।

एगिंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसकस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं।

पुढवि-आउ-तेउ-वाऊणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो।

वणस्सइकाइयाणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव असंखेज्जा लोया।

सेसाणं बेइंदियादीणं जाव खहयराणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो।

मणुस्स णपुंसकस्स खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो। धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं।

एवं कम्मभूमगस्स वि भरहेरवय-पुव्वविदेह-अवरविदेहकस्स वि।

अकम्मभूमक मणुस्स णपुंसकस्स णं भंते! केवइयं कालं अंतरं होइ?

गोयमा! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो। संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो एवं जाव अंतरदीवग त्ति।

[५९] (३) भगवन्! नपुंसक का कितने काल का अन्तर होता है?
गौतम! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से सागरोपमशतपृथक्त्व से कुछ अधिक।

भगवन्! नैरयिक नपुंसक का अन्तर कितने काल का है?
गौतम! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल।

रत्नप्रभापृथ्वी नैरयिक नपुंसक का जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल।

इसी प्रकार अधःसप्तमपृथ्वी नैरयिक नपुंसक तक कहना चाहिए।

तिर्यक्योनि नपुंसक का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ अधिक सागरोपमशत-पृथक्त्व।

एकेन्द्रिय तिर्यक्योनि नपुंसक का जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यातवर्ष अधिक दो हजार सागरोपम।

पृथ्वी-अप्-तेजस्काय और वायुकाय का जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल का अन्तर है। वनस्पतिकायिकों का जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से असंख्येयकाल—यावत् असंख्येय-लोक।

शेष रहे द्वीन्द्रियादि यावत् खेचर नपुंसकों का अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल है।

मनुष्य नपुंसक का अन्तर क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल है। धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्तकाल यावत् देशोन अर्धपुद्गल-परावर्त।

इसी प्रकार कर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक का, भरत-एरवत-पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह मनुष्य नपुंसक का भी कहना चाहिए।

भगवन्! अकर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक का अन्तर कितने काल का होता है?

गौतम! जन्म को लेकर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल। संहरण की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से वनस्पतिकाल, इस प्रकार अन्तर्द्वीपिक नपुंसक तक का अन्तर कहना चाहिए।

विवेचन—नपुंसकों की भवस्थिति और कायस्थिति बताने के पश्चात् इस सूत्र में उनका

अन्तर बताया गया है। अर्थात् नपुंसक, नपुंसकपर्याय को छोड़ने पर पुनः कितने काल के पश्चात् नपुंसक होता है।

सामान्यतः नपुंसक का अन्तर बताते हुए भगवान् कहते हैं कि गौतम ! जघन्य से अन्तमुंहूर्त और उत्कर्ष से कुछ अधिक सागरोपमशतपृथक्त्व का अन्तर होता है। क्योंकि व्यवधान रूप पुरुषत्व और स्त्रीत्व का कालमान इतना ही होता है। जैसा कि संग्रहणीगाथाओं में कहा है—स्त्री और नपुंसक की संचिट्ठणा (कायस्थिति) और पुरुष का अन्तर जघन्य से एक समय है तथा पुरुष की संचिट्ठणा और नपुंसक का अंतर उत्कर्ष से सागरपृथक्त्व—(पदैकदेशे पदसमुदायोपचार से) सागरोपमशतपृथक्त्व है।[1]

सामान्य विवक्षा में नैरयिक नपुंसक का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। सप्तमनारकपृथ्वी से निकलकर तन्दुलमत्स्यादि भव में अन्तर्मुहूर्त तक रहकर पुनः सप्तमपृथ्वीनरक में जाने की अपेक्षा से अन्तर्मुहूर्त कहा गया है। उत्कृष्ट अन्तर वनस्पतिकाल है। यह नरकभव से निकलकर परम्परा से निगोद में अनन्तकाल रहने की अपेक्षा से समझना चाहिए। इसी प्रकार सातों नरकपृथ्वी के नपुंसकों का अन्तर समझ लेना चाहिए।

सामान्य विवक्षा में तिर्यक्योनि नपुंसक का अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से सागरोपमशतपृथक्त्व है। पूर्ववत् स्पष्टीकरण जानना चाहिए।

विशेष विवक्षा में सामान्यतः एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक का अन्तर जघन्य से अन्तमुंहूर्त (क्योंकि द्वीन्द्रियादिकाल का व्यवधान इतना ही है) और उत्कर्ष से संख्येय वर्ष अधिक दो हजार सागरोपम है, क्योंकि व्यवधान रूप त्रसकाय की इतनी ही कालस्थिति है। इतने व्यवधान के बाद पुनः एकेन्द्रिय होता ही है।

पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय नपुंसक का अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल है। इसी तरह अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एकेन्द्रिय नपुंसकों का भी अन्तर कहना चाहिए।

वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय नपुंसकों का जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से असंख्येय काल है। यह असंख्येय काल, काल से असंख्येय उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप होता है और क्षेत्र से असंख्येय लोक प्रमाण होता है। इसका तात्पर्य यह है कि असंख्येय लोकाकाश के प्रदेशों का प्रतिसमय एक एक प्रदेश का अपहार करने पर जितने समय में उन प्रदेशों का सम्पूर्ण अपहार हो जाय, उतने काल को अर्थात् उतनी उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों का वह असंख्येय काल होता है। वनस्पतिभव से छूटने पर अन्यत्र उत्कृष्ट से इतने काल तक जीव रह सकता है। इसके अनन्तर संसारी जीव नियम से पुन वनस्पतिकायिक में उत्पन्न होता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसकों का अन्तर जलचर, स्थलचर, खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसकों का अन्तर और सामान्यतः मनुष्य नपुंसक का अन्तर

---

१. इत्थिनपुंसा संचिट्ठणेसु पुरिसंतरे य समओ उ।
पुरिसनपुंसा संचिट्ठणंतरे सागरपुहुत्तं ॥

जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल है। वह अनन्त काल, वनस्पतिकाल है, जिसका स्वरूप पहले बताया गया है।

कर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक का अन्तर क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल है। धर्माचरण की अपेक्षा जघन्य से एक समय क्योंकि सर्वजघन्य लब्धिपात का काल एक समय का ही होता है। उत्कर्ष से अनन्तकाल। इस अनन्तकाल में अनन्त उत्सर्पिणियां और अनन्त अवसर्पिणियां बीत जाती हैं और क्षेत्र से असंख्येय लोकाकाश के प्रदेशों का अपहार हो जाता है। और यह देशोन अर्धपुद्गलपरावर्त जितना है।

इसी तरह भरत, ऐरवत, पूर्वविदेह और अपरविदेह कर्मभूमिक नपुंसकों का क्षेत्र और धर्माचरण को लेकर जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर कहना चाहिए।

अकर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक का जन्म की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त (अन्य गति में जाने की अपेक्षा इतना व्यवधान होता है) और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल का अन्तर होता है। संहरण की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से वनस्पतिकाल है। किसी ने कर्मभूमि के मनुष्य नपुंसक का अकर्मभूमि में संहरण किया, वह अकर्मभूमिक हो गया। थोड़े समय बाद तथाविध बुद्धिपरिवर्तन से पुनः कर्मभूमि में संहृत कर दिया, वहाँ अन्तर्मुहूर्त रोक कर पुनः अकर्मभूमि में ले आया, इस अपेक्षा से अन्तर्मुहूर्त का अन्तर होता है। उत्कर्ष से वनस्पतिकाल। विशेष विवक्षा में हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, देवकुरु-उत्तरकुरु अकर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक का और अन्तरद्वीपिक मनुष्य नपुंसक का जन्म और संहरण की अपेक्षा से जघन्य और उत्कर्ष से अन्तर कहना चाहिए।

नपुंसकों का अल्पबहुत्व

६०. [१] एतेसि णं भंते ! णेरइयनपुंसकाणं, तिरिक्खनपुंसकाणं, मणुस्सनपुंसकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सणपुंसका, नेरइयणपुंसगा असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियनपुंसका अणंतगुणा।

[२] एतेसि णं भंते ! रयणप्पहापुढवि णेरइयणपुंसकाणं जाव अहेसत्तमपुढवि णेरइय णपुंसकाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुढवि-नेरइय णपुंसका, छट्ठपुढवि णेरइय नपुंसगा असंखेज्जगुणा जाव दोच्चपुढवि णेरइय णपुंसका असंखेज्जगुणा। इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए णेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा।

[३] एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणिय णपुंसकाणं, एगिंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसकाणं, पुढविकाइय जाव वणस्सइकाइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसगाणं, बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचेंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसकाणं जलयराणं थलयराणं खहयराण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा खहयरतिरिक्खजोणियणपुंसगा,

थलयर तिरिक्खजोणिय नपुंसका संखेज्जगुणा,
जलयर तिरिक्खजोणिय नपुंसका संखेज्जगुणा,
चउरिंदिय तिरिक्खजोणिय नपुंसका विसेसाहिया,
तेइंदिय तिरिक्खजोणिय नपुंसका विसेसाहिया,
बेइंदिय तिरिक्खजोणिय नपुंसका विसेसाहिया,
तेउक्काइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिय नपुंसका असंखेज्जगुणा,
पुढविक्काइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिय नपुंसका विसेसाहिया,
एवं आउ-वाउ-वणस्सइकाइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिय नपुंसका अणंतगुणा ।

[४] एतेसिं णं भंते ! मणुस्सणपुंसकाणं, कम्मभूमगणपुंसकाणं अकम्मभूमगणपुंसकाणं अंतरदीवगणपुंसगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवग अकम्मभूमग मणुस्स णपुंसका,
देवकुरु-उत्तरकुरु अकम्मभूमगा दोवि संखेज्जगुणा एवं जाव पुव्वविदेह-अवरविदेह कम्मभूमग-मणुस्स नपुंसका दो वि संखेज्जगुणा ।

[५] एतेसिं णं भंते ! णेरइय णपुंसकाणं, रयणप्पभापुढवि नेरइय नपुंसकाणं जाव अहेसत्तम-पुढवि णेरइय णपुंसकाणं, तिरिक्खजोणिय नपुंसकाणं, एगिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं पुढविकाइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसगाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं मणुस्स णपुंसकाणं कम्मभूमिगाणं अकम्मभूमिगाण अंतरदीवगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुढवि णेरइय नपुंसका, छट्ठ पुढवि नेरइय णपुंसगा असंखेज्ज-गुणा जाव
दोच्च पुढवि णेरइय नपुंसका असंखेज्जगुणा,
अंतरदीवग मणुस्स णपुंसका असंखेज्जगुणा,
देवकुरु-उत्तरकुरु अकम्मभूमग मणुस्स णपुंसका दो वि संखेज्जगुणा, जाव
पुव्वविदेह-अवरविदेह कम्मभूमग मणुस्स णपुंसका दो वि संखेज्जगुणा,
रयणप्पभा पुढवि णेरइय णपुंसका असंखेज्जगुणा,
खहयर पंचिंदिय तिरिक्खजोणिय नपुंसका असंखेज्जगुणा,
थलयर पंचि० ति०जो० णपुंसका संखिज्जगुणा,
जलयर पंचि० ति०जो० णपुंसका संखिज्जगुणा,
चउरिंदिय ति०जो० णपुंसका विसेसाहिया,
तेइंदिय ति०जो० णपुंसका विसेसाहिया,
बेइंदिय ति०जो० णपुंसका विसेसाहिया,

तेउक्काइय एगिंदिय ति०जो० णपुंसका असंखेज्जगुणा,
पुढविकाइय एगिंदिय ति० जो० णपुंसका विसेसाहिया,
आउक्काइय एगि० ति० जो० णपुंसका विसेसाहिया,
वाउक्काइय एगि० ति० जो० णपुंसका विसेसाहिया,
वणस्सकाइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसका अणंतगुणा ।

[६०] (१) भगवन् इन नैरयिक नपुंसक, तिर्यक्योनिक नपुंसक और मनुष्ययोनिक नपुंसकों में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

गौतम ! सबसे थोड़े मनुष्य नपुंसक, उनसे नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण, उनसे तिर्यक्-योनिक नपुंसक अनन्तगुण हैं ।

(२) भगवन् ! इन रत्नप्रभा पृथ्वी नैरयिक नपुंसकों में यावत् अधःसप्तमपृथ्वी नैरयिक नपुंसकों में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक हैं ।

गौतम ! सबसे थोड़े अधःसप्तमपृथ्वी के नैरयिक नपुंसक, उनसे छठी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण, यावत् दूसरी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक क्रमशः असंख्यात-असंख्यात गुण कहने चाहिए ।

उनसे इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण हैं ।

(३) भगवन् ! इन तिर्यक्योनिक नपुंसकों में एकेन्द्रिय तिर्यक् नपुंसकों में पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसकों में, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसकों में, जलचरों में, स्थलचरों में, खेचरों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

गौतम ! सबसे थोड़े खेचर तिर्यक्योनिक नपुंसक,
उनसे स्थलचर तिर्यक्योनिक नपुंसक संख्येयगुण,
उनसे जलचर तिर्यक्योनिक नपुंसक संख्येयगुण,
उनसे चतुरिन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे त्रीन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे द्वीन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे तेजस्काय एकेन्द्रिय तिर्यक् नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय तिर्यक् नपुंसक विशेषाधिक ।

उनसे अप्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक अनन्त-गुण हैं ।

(४) भगवन् ! इन मनुष्य नपुंसकों में, कर्मभूमिक मनुष्य नपुंसकों में, अकर्मभूमिक मनुष्य नपुंसकों में और अन्तर्द्वीपों के मनुष्य नपुंसकों में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

गौतम ! सबसे थोड़े अन्तर्द्वीपिक मनुष्य नपुंसक, उनसे देवकुरु-उत्तरकुरु अकर्मभूमि के मनुष्य नपुंसक दोनों संख्यातगुण, इस प्रकार यावत् पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह के कर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक दोनों संख्येयगुण हैं।

(५) हे भगवन् ! इन नैरयिक नपुंसक, रत्नप्रभापृथ्वी नैरयिक नपुंसक यावत् अधःसप्तम पृथ्वी नैरयिक नपुंसकों में, तिर्यंचयोनिक नपुंसकों में—एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिकों में, पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय तिर्यक् नपुंसकों में, यावत् वनस्पतिकायिक तिर्यक् नपुंसकों में, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसकों में, जलचरों में, स्थलचरों में, खेचरों में, मनुष्य नपुंसकों में, कर्मभूमिक मनुष्य नपुंसकों में, अकर्मभूमिक मनुष्य नपुंसकों में अंतर्द्वीपिक मनुष्य नपुंसकों में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक है ?

गौतम ! सबसे थोड़े अधःसप्तमपृथ्वी नैरयिक नपुंसक,
उनसे छठी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे यावत् दूसरी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे अन्तर्द्वीप के मनुष्य नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे देवकुरु-उत्तरकुरु अकर्मभूमिक म. नपुंसक दोनों संख्यातगुण,
उनसे यावत् पूर्वविदेह पश्चिमविदेह कर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक दोनों संख्यातगुण,
उनसे रत्नप्रभा के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे खेचर पंचेन्द्रियतिर्यक्योनिक नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यक् नपुंसक संख्यातगुण,
उनसे जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यक् नपुंसक संख्यातगुण,
उनसे चतुरिन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे त्रीन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे द्वीन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे तेजस्काय एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे अप्कायिक एकेन्द्रिय ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे वायुकायिक एकेन्द्रिय ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक अनन्तगुण हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में पांच प्रकार से अल्पबहुत्व बताया गया है। प्रथम प्रकार में नैरयिक, तिर्यक्योनिक और मनुष्य नपुंसकों का सामान्य रूप से अल्पबहुत्व है। दूसरे में नैरयिकों के सात भेदों का अल्पबहुत्व है। तीसरे प्रकार में तिर्यक्योनिक नपुंसकों के भेदों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व है। चौथे प्रकार में मनुष्यों के भेदों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व है और पांचवें प्रकार में सामान्य और विशेष दोनों प्रकारों का मिश्रित अल्पबहुत्व है।

(१) प्रथम प्रकार के अल्पबहुत्व में पूछा गया है कि नैरयिक नपुंसक, तिर्यक्योनिक नपुंसक और मनुष्य नपुंसकों में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक है। इसके उत्तर में कहा गया है—

सबसे थोड़े मनुष्य नपुंसक हैं, क्योंकि वे श्रेणी के असंख्येयभागवर्ती प्रदेशों की राशि-प्रमाण हैं।

उनसे नैरयिक नपुंसक असंख्येयगुण हैं, क्योंकि वे अंगुलमात्र क्षेत्र की प्रदेशराशि के प्रथम वर्गमूल को द्वितीय वर्गमूल से गुणित करने पर जो प्रदेशराशि होती है, उसके बराबर घनीकृत लोक की एक प्रादेशिक श्रेणियों में जितने आकाश प्रदेश हैं, उनके बराबर हैं। नैरयिक नपुंसकों से तिर्यक्योनिक नपुंसक अनन्तगुण हैं, क्योंकि निगोद के जीव अनन्त हैं।

(२) नैरयिक नपुंसक भेद सम्बन्धी अल्पबहुत्व—

सबसे थोड़े सातवीं पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक हैं, क्योंकि इनका प्रमाण आभ्यन्तर श्रेणी के असंख्येयभागवर्ती आकाशप्रदेश राशितुल्य है।

उनसे छठी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्येयगुण हैं,
उनसे पांचवी पृथ्वी के नैरयिक नपुं. असंख्येयगुण हैं,
उनसे चौथी पृथ्वी के नैरयिक नपुं. असंख्येयगुण हैं,
उनसे तीसरी पृथ्वी के नैरयिक नपुं. असंख्येयगुण हैं,
उनसे दूसरी पृथ्वी के नैरयिक नपुं. असंख्येयगुण हैं।

क्योंकि ये सभी पूर्व-पूर्व नैरयिकों के परिमाण की हेतुभूत श्रेणी के असंख्येयभाग की अपेक्षा असंख्येयगुण असंख्येयगुण श्रेणी के भागवर्ती नभ:-प्रदेशराशि प्रमाण हैं। दूसरी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्येयगुण हैं, क्योंकि ये अंगुल मात्र प्रदेश की प्रदेशराशि के प्रथम वर्गमूल में द्वितीय वर्गमूल का गुणा करने पर जितनी प्रदेशराशि होती है, उसके बराबर घनीकृत लोक की एक प्रादेशिक श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश है, उतने प्रमाण वाले हैं।

प्रत्येक नरकपृथ्वी के पूर्व, उत्तर, पश्चिम दिशा के नैरयिक सर्वस्तोक हैं, उनसे दक्षिणदिशा के नैरयिक असंख्येयगुण हैं। पूर्व पूर्व की पृथ्वियों की दक्षिणदिशा के नैरयिक नपुंसकों की अपेक्षा पश्चानुपूर्वी से आगे आगे की पृथ्वियों में उत्तर और पश्चिम दिशा में रहे हुए नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण अधिक हैं। प्रज्ञापनासूत्र में ऐसा ही कहा है।[1]

(३) तिर्यक्योनिक नपुंसक विषय आल्पबषुत्व

खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यक् नपुंसक सबसे थोड़े, क्योंकि वे प्रतर के असंख्येयभागवर्ती असंख्येय श्रेणीगत आकाश प्रदेशराशि प्रमाण हैं।

उनसे स्थलचर तिर्यक्योनिक नपुंसक संख्येयगुण हैं, क्योंकि वे बृहत्तर प्रतर के असंख्येय-भागवर्ती असंख्येय श्रेणिगत आकाश-प्रदेशराशिप्रमाण हैं।

उनसे जलचर नपुंसक संख्येयगुण है क्योंकि वे बृहत्तम प्रतर के असंख्येयभागवर्ती असंख्येय श्रेणिगत प्रदेशराशिप्रमाण हैं।

---

१. दिसाणुवायेण सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुढविनेरइया पुरत्थिम पच्चत्थिम उत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा········ इत्यादि। —प्रज्ञापनासूत्र पद ३।

उनसे चतुरिन्द्रिय ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक हैं, क्योंकि वे असंख्येय योजन कोटीकोटी-प्रमाण आकाशप्रदेश राशिप्रमाण घनीकृत लोक की एक प्रादेशिक श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश हैं, उतने प्रमाण वाले हैं।

उनसे त्रीन्द्रिय ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक हैं, क्योंकि वे प्रभूततर श्रेणिगत आकाशप्रदेश-राशिप्रमाण हैं।

उनसे द्वीन्द्रिय ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक हैं, क्योंकि वे प्रभूततम श्रेणिगत आकाशप्रदेश-राशिप्रमाण हैं।

उनसे तेजस्कायिक एकेन्द्रिय ति. यो. नपुंसक असंख्यातगुण हैं, क्योंकि वे सूक्ष्म और बादर मिलकर असंख्येय लोकाकाश प्रदेशप्रमाण हैं।

उनसे पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक हैं, क्योंकि वे प्रभूत असंख्येय लोकाकाशप्रदेशप्रमाण हैं।

उनसे अप्कायिक एके. ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक हैं, क्योंकि वे प्रभूततर असंख्येय लोका-काशप्रदेशप्रमाण हैं।

उनसे वायुकायिक एके. ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक हैं, क्योंकि वे प्रभूततम असंख्येय लोकाकाशप्रदेशप्रमाण हैं।

उनसे वनस्पतिकायिक एके. तिर्यक्योनिक नपुंसक अनन्तागुण हैं, क्योंकि वे अनन्त लोकाकश-प्रदेशराशिप्रमाण हैं।

(४) मनुष्यनपुंसकसंबंधी अल्पबहुत्व

सबसे थोड़े अन्तर्द्वीपिज मनुष्य-नपुंसक। ये संमूर्छिम समझने चाहिए, क्योंकि गर्भज मनुष्य-नपुंसकों का वहाँ सद्भाव नहीं होता। कर्मभूमि से संहृत हुए हो भी सकते हैं।

अन्तर्द्वीपिज मनुष्य नपुंसकों से देवकुरु-उत्तरकुरु अकर्मभूमि के मनुष्य नपुंसक संख्येयगुण हैं, क्योंकि तद्गत गर्भजमनुष्य अन्तर्द्वीपिक गर्भजमनुष्यों से संख्येयगुण हैं, क्योंकि गर्भजमनुष्यों के उच्चार आदि में संमूर्छिम-मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। स्वस्थान में परस्पर तुल्य हैं।

उनसे हरिवर्ष-रम्यकवर्ष अकर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक संख्येयगुण हैं और स्वस्थान में तुल्य हैं।

उनसे हैमवत-हैरण्यवत के अकर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक संख्येयगुण हैं और स्वस्थान में तुल्य हैं।

उनसे भरत-ऐरवत कर्मभूमि के मनुष्य नपुंसक संख्येयगुण हैं और स्वस्थान में तुल्य हैं।

उनसे पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह कर्मभूमि के मनुष्य नपुंसक संख्येयगुण हैं और स्वस्थान में दोनों परस्पर तुल्य हैं।

सर्वत्र युक्ति पूर्ववत् जाननी चाहिए।

(५) मिश्रित अल्पबहुत्व

सबसे थोड़े अधःसप्तमपृथ्वी नैरयिक नपुंसक,

उनसे छठी, पांचवीं, चौथी, तीसरी, दूसरी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक यथोत्तर असंख्येयगुण,

उनसे अन्तर्द्वीपिक म. नपुंसक असंख्येयगुण (संमूछिम मनुष्य की अपेक्षा),

उनसे देवकुरु-उत्तरकुरु अकर्मभूमि के म. नपुंसक संख्येयगुण,

उनसे हरिवर्ष-रम्यकवर्ष अकर्मभूमि के म. नपुं. संख्येयगुण,

उनसे हैमवत-हैरण्यवत अकर्मभूमिक म. नपुं. संख्येयगुण,

उनसे भरत-एरवत कर्मभूमिक मनुष्य नपुं. संख्येयगुण,

उनसे पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह कर्म. म. नपुं. संख्येयगुण हैं और स्वस्थान में परस्पर तुल्य हैं,

उनसे रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्येयगुण हैं,

उनसे खेचर पंचे. तिर्यक्योनिक नपुंसक असंख्येयगुण हैं,

उनसे स्थलचर पंचे. ति. यो. नपुंसक संख्येयगुण हैं,

उनसे जलचर पंचे. ति. यो. नपुंसक संख्येयगुण हैं,

उनसे चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक हैं,

उनसे तेजस्कायिक एके. ति. यो. नपुं. असंख्येयगुण हैं,

उनसे पृथ्वी, अप्, वायुकायिक एके. ति. यो. नपुंसक यथोत्तर विशेषाधिक हैं,

उनसे वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक अनन्तगुण हैं।

युक्ति सर्वत्र पूर्ववत् जाननी चाहिए।

नपुंसकवेद की बंधस्थिति और प्रकार

६१. णपुंसकवेदस्स णं भंते ! कम्मस्स केवइयं कालं बंधठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा, पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, दोण्णि य वाससहस्साइं अबाधा, अबाहूणिया कम्मठिई कम्मणिसेगो।

णपुंसक वेदे णं भंते ! किंपगारे पण्णत्ते ?

गोयमा ! महाणगरदाहसमाणे पण्णत्ते समणाउसो !

से त्तं णपुंसका।

[६१] हे भगवन् ! नपुंसकवेद कर्म की कितने काल की स्थिति कही है ?

गौतम ! जघन्य से सागरोपम के $\frac{2}{7}$ (दो सातिया भाग) भाग में पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम और उत्कृष्ट से बीस कोडाकोडी सागरोपम की बंधस्थिति कही गई है। दो हजार वर्ष

का प्रबाधाकाल है। प्रबाधाकाल से हीन स्थिति का कर्मनिषेक है प्रर्थात् अनुभवयोग्य कर्मदलिक की रचना है।

भगवन् ! नपुंसक वेद किस प्रकार का है ?

हे आयुष्मान् श्रमण गौतम ! महानगर के दाह के समान (सब अवस्थाओं में धधकती कामाग्नि के समान) कहा गया है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नपुंसकवेद की बंधस्थिति कही गई है। स्थिति दो प्रकार की होती है—१. बंधस्थिति और २. अनुभवयोग्य (उदयावलिका में आने योग्य) स्थिति। नपुंसकवेद की बंधस्थिति जघन्य से पल्योपम के असंख्यातवें भाग से न्यून एक सागरोपम का $\frac{2}{7}$ भाग प्रमाण है। उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है। यहाँ जघन्यस्थिति प्राप्त करने की जो विधि पूर्व में कही है, वह ध्यान में रखनी चाहिए। वह इस प्रकार है कि जिस प्रकृति की जो उत्कृष्ट स्थिति है, इसमें मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम का भाग देने पर जो राशि प्राप्त होती है, उसमें पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम करने पर उस प्रकृति की जघन्य स्थिति प्राप्त होती है। यहाँ नपुंसकवेद की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है, उसमें सत्तर कोडाकोडी का भाग देने पर (शून्यं शून्येन पातयेत्—शून्य को शून्य से काटने पर) $\frac{2}{7}$ सागरोपम लब्धांक होता है। इसमें पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम करने पर नपुंसकवेद की जघन्य स्थिति प्राप्त होती है।

नपुंसकवेद का अबाधाकाल दो हजार वर्ष का है। अबाधाकाल प्राप्त करने का नियम यह है कि जिस कर्मप्रकृति की उत्कृष्टस्थिति जितने कोडाकोडी सागरोपम की है, उतने सौ वर्ष की उसकी अबाधा होती है। बीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाले नपुंसकवेद की अबाधा बीस सौ वर्ष अर्थात् दो हजार वर्ष की हुई। बंधस्थिति में से अबाधा कम करने पर जो स्थिति बनती है वही जीव को अपना फल देती है अर्थात् उदय में आती है। इसलिए अबाधाकाल से हीन शेष स्थिति का कर्मनिषेक होता है अर्थात् अनुभवयोग्य कर्मदलिकों की रचना होती है—कर्मदलिक उदय में आने लगते हैं।

नपुंसकवेद की बंधस्थिति सम्बन्धी प्रश्न के पश्चात् गौतम स्वामी ने नपुंसकवेद का वेदन किस प्रकार का होता है, यह प्रश्न पूछा। इसके उत्तर में प्रभु ने फरमाया कि हे आयुष्मान् श्रमण गौतम ! नपुंसकवेद का वेदन महानगर के दाह के समान होता है। जैसे किसी महानगर में फैली हुई आग की ज्वालाएँ चिरकाल तक धधकती रहती हैं तथा उत्कट होती हैं, उसी प्रकार नपुंसक की कामाग्नि चिरकाल तक धधकती रहती है और अतितीव्र होती है। वह आदि, मध्य और अन्त तक सब अवस्थाओं में उत्कट बनी रहती है।

इस प्रकार नपुंसक सम्बन्धी प्रकरण पूरा हुआ।

नवविध अल्पबहुत्व

६२. [१] एतेसि णं भंते ! इत्थीणं पुरिसाणं नपुंसकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा, बहुया वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा पुरिसा, इत्थीओ संखिज्जगुणाओ, णपुंसगा अणंतगुणा।

[२] एएसिं[1] णं भंते ! तिरिक्खजोणि-इत्थीणं तिरिक्खजोणियपुरिसाणं तिरिक्खजोणिय-णपुंसकाण य कयरे कयरेहिन्तो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणियपुरिसा, तिरिक्खजोणि-इत्थीओ असंखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणियनपुंसगा अणंतगुणा।

[३] एतेसिं णं भंते ! मणुस्सित्थीणं, मणुस्सपुरिसाणं, मणुस्सनपुंसकाण य कयरे कयरेहिन्तो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेज्जगुणाओ, मणुस्सनपुंसका असंखेज्जगुणा।

[४] एतेसिं णं भंते ! देवित्थीणं देवपुरिसाणं णेरइयणपुंसकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा णेरइयणपुंसका, देवपुरिसा असंखेज्जगुणा देवित्थीओ संखेज्जगुणाओ।

[५] एतेसिं णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं तिरिक्खजोणियपुरिसाणं तिरिक्खजोणियनपुंसगाणं, मणुस्सित्थीणं, मणुस्सपुरिसाणं, मणुस्सनपुंसगाणं, देवित्थीणं, देवपुरिसाणं णेरइयणपुंसकाण य कयरे कयरेहिंतो, अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वोत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ, संखेज्जगुणाओ, मणुस्सणपुंसगा असंखेज्जगुणा, णेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियपुरिसा असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणि-त्थियाओ संखेज्जगुणाओ, देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणिय-णपुंसगा अणंतगुणा।

[६] एतेसिं णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं, जलयरीणं थलयरीणं खहयरीणं तिरिक्ख-जोणियपुरिसाणं, जलयराणं थलयराणं खहयराणं तिरिक्खजोणियनपुंसगाणं एगिंदियतिरिक्ख-जोणियणपुंसगाणं पुढविकाइय-एगिंदिय-तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जाव वणस्सइकाइय-एगिंदिय तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं, बेइंदिय-तिरिक्खजोणियणपुंसगाणं तेइंदिय० चउरिंदिय० पंचेंदिय तिरिक्खजोणियणपुंसगाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा खहयरतिरिक्खजोणिय पुरिसा, खहयर तिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, थलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा, थलयर पंचिदिय तिरिक्ख-जोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जलयर तिरिक्खजोणिय पुरिसा संखिज्जगुणा, जलयर तिरिक्ख-जोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, खहयरपंचिदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसका असंखेज्जगुणा, थलयर-

१. 'एयासिं णं' ऐसा पाठ वृत्तिकार ने माना है।

पंचिंदिय तिरिक्खजोणिय नपुंसगा संखेज्जगुणा, जलयर पंचिंदिय तिरिक्खजोणिय नपुंसगा संखेज्जगुणा, चउरिंदिय तिरि० विसेसाहिया, तेइंदिय णपुंसका विसेसाहिया, बेइंदिय नपुंसका विसेसाहिया, तेउक्काइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसका असंखेज्जगुणा, पुढवि० णपुंसका विसेसाहिया, आउ० विसेसाहिया, वाउ० विसेसाहिया, वणप्फइ० एगिंदिय णपुंसका अणंतगुणा।

[७] एतेसि णं भंते ! मणुस्सित्थीणं कम्मभूमियाणं, अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाणं, मणुस्सपुरिसाणं कम्मभूमकाणं अकम्मभूमकाणं अंतरदीवकाणं, मणुस्सनपुंसकाणं कम्मभूमाणं अकम्मभूमाणं अंतरदीवकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा, बहुया वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! अंतरदीवगा मणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा य, एते णं दुन्नि वि तुल्ला वि सव्वत्थोवा, देवकुरु-उत्तरकुरु अकम्मभूमग मणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा एतेणं दोन्नि वि तुल्ला संखेज्जगुणा,

हरिवास-रम्मयवास-अकम्मभूमग मणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा य एते णं दोन्नि वि तुल्ला संखेज्जगुणा,

हेमवत हेरण्यवत अकम्मभूमक मणुस्सित्थियाओ मणुस्स पुरिसा य दो वि तुल्ला संखेज्जगुणा,

भरहेरवत-कम्मभूमग मणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा,

भरहेरवत कम्मभूमग मणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ।

पुव्वविदेह-अवरविदेह कम्मभूमग मणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा,

पुव्वविदेह-अवरविदेह कम्मभूमग मणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ,

अंतरदीवग मणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा,

देवकुरु-उत्तरकुरु अकम्मभूमगमणुस्स नपुंसका दो वि संखेज्जगुणा,

तहेव जाव पुव्वविदेह कम्मभूमक मणुस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा।

[८] एतासि णं भंते ! देवित्थीणं भवणवासिणीणं वाणमंतरिणीणं जोइसिणीणं वेमाणिणीणं; देवपुरिसाणं भवणवासीणं जाव वेमाणियाणं सोहम्मकाणं जाव गेवेज्जकाणं अणुत्तरोववाइयाणं, णेरइयणपुंसकाणं रयणप्पभापुढविणेरइय णपुंसगाणं जाव अहेसत्तमपुढवि नेरइयाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववाइयदेव पुरिसा, उवरिम गेवेज्जदेव पुरिसा संखेज्जगुणा, तं चेव जाव आणए कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा;

अहेसत्तमाए पुढवीए णेरइय णपुंसका असंखेज्जगुणा,

छट्ठीए पुढवीए णेरइय नपुंसका असंखेज्जगुणा,

सहस्सारे कप्पे देव पुरिसा असंखेज्जगुणा,

महासुक्के कप्पे देवा असंखेज्जगुणा,

पंचमाए पुढवीए णेरइय णपुंसका असंखेज्जगुणा,

लंतए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा,
चउत्थीए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा,
बंभलोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
तच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा,
माहिंदे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
सणंकुमारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
दोच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा,
ईसाणे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
ईसाणे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,
सोहम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा,
सोहम्मे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,
भवणवासि देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
भवणवासि देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,
इमीसे रयणप्पभापुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा,
वाणमंतर देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
वाणमंतर देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,
जोतिसिय देवपुरिसा संखेज्जगुणा,
जोतिसिय देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

[९] एतरसि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीणं तिरिक्खजोणिय-पुरिसाणं, जलयराणं थलयराणं खहयराणं तिरिक्खजोणिय नपुंसगाणं, एगिंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसगाणं पुढविकाइयएगिंदिय ति० जो० नपुंसकाणं, आउक्काइय एगिंदिय ति० जो० णपुंसगाणं जाव वणस्सइकाइय एगिंदिय ति० जो० णपुंसगाणं, बेइंदिय ति० जो० णपुंसगाणं, तेइंदिय ति० जो० णपुंसकाणं, चउरिंदिय ति० जो० णपुंसगाणं, पंचिंदिय ति० जो० णपुंसगाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं मणुस्सित्थीणं कम्मभूमियाणं अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवयाणं मणुस्सणपुंसगाणं कम्मभूमकाणं अकम्मभूमकाणं अंतरदीवयाणं देवित्थीणं भवणवासिणीणं वाणमंतरिणीणं जोतिसिणीणं वेमाणिणीणं देवपुरिसाणं भवणवासिणीणं वाणमंतराणं जोतिसियाणं वेमाणियाणं सोहम्मकाणं जाव गेवेज्जगाणं अणुत्तरोववाइयाणं नेरइय-णपुंसकाणं रयणप्पमापुढविनेरइय नपुंसकाणं जाव अहेसत्तमपढविणेरइय णपुंसकाण य कयरे कयरेहिन्तो अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! अंतरदीवग-अकम्मभूमग मणुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य, एते णं दोवि तुल्ला सव्वत्थोवा,

देवकुरु-उत्तरकुरु-अकम्मभूमग मणुस्सित्थिओ पुरिसा य, एते णं दोवि तुल्ला संखेज्जगुणा,

एवं हरिवास-रम्मगवास० अकम्मभूमग मणुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य एए णं दोवि तुल्ला संखेज्जगुणा, 'एव' हेमवय-हेरण्णवय-अकम्मभूमगमणुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य एए णं दोवि तुल्ला संखेज्जगुणा, भरहेरवय कम्मभूमग मणुस्सपुरिसा दोविसंखेज्जगुणा,

भरहेरवय कम्मभूमिगमणुस्सित्थिओ दोवि संखेज्जगुणाओ,

पुव्वविदेह-अवरविदेह कम्मभूमक मणुस्सपुरिसा दोवि संखेज्जगुणा,

पुव्वविदेह-अवरविदेह कम्मभूमक मणुस्सित्थियाओ दोवि संखेज्जगुणाओ,

अणुत्तरोववाइय देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,

उवरिमगेविज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा,

जाव आणए कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा,

अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा,

छट्ठीए पुढवीए नेरइय नपुंसका असंखेज्जगुणा,

सहस्सारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,

महासुक्के कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,

पंचमाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा,

लंतए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,

चउत्थीए पुढवीए नेरइय नपुंसका असंखेज्जगुणा,

बंभलोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,

तच्चाए पुढवीए नेरइय णपुंसका असंखेज्जगुणा,

माहिंदे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,

सणंकुमारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,

दोच्चाए पुढवीए नेरइय नपुंसका असंखेज्जगुणा,

अंतरदीवग-अकम्मभूमग मणुस्सनपुंसका असंखेज्जगुणा,

देवकुरु-उत्तरकुरु-अकम्मभूमग मणुस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा एवं जाव विदेह त्ति,

ईसाणे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,

ईसाणे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणा,

सोहम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणाओ,

सोहम्मे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,

भवनवासि देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,

भवनवासि देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,

इमीसे रयण्पयाए पुढवीए णेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा,
खहयर तिरिक्खजोणिय पुरिसा संखेज्जगुणा,
खहयर तिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,
थलयर तिरिक्खजोणिय पुरिसा संखेज्जगुणा,
थलयर तिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,
जलयर तिरिक्ख पुरिसा संखेज्जगुणा,
जलयर तिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,
वाणमंतर देवपुरिसा संखेज्जगुणा,
वाणमंतर देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,
जोइसिय देवपुरिसा संखेज्जगुणा,
जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,
खहयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसगा संखेज्जगुणा,
थलयर णपुंसका संखेज्जगुणा,
जलयरणपुंसगा संखिज्जगुणा,
चउरिंदिय णपुंसका विसेसाहिया,
तेइंदिय णपुंसका विसेसाहिया,
बेइंदिय णपुंसका विसेसाहिया,
तेउक्काइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसका असंखेज्जगुणा,
पुढविकाइय० णपुंसका विसेसाहिया,
आउक्काइय० णपुंसका विसेसाहिया,
वाउक्काइय० णपुंसका विसेसाहिया,
वणप्फइकाइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिय णपुंसका अणंतगुणा।

[६२] (१) भगवन् ! इन स्त्रियों में, पुरुषों में और नपुंसकों में कौन किससे कम, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक है ?

गौतम ! सबसे थोड़े पुरुष, स्त्रियां संख्यातगुणी और नपुंसक अनन्तगुण हैं ।

(२) भगवन् ! इन तिर्यक्योनिक स्त्रियों में, तिर्यक्योनिक पुरुषों में और तिर्यक्योनिक नपुंसकों में कौन किससे कम, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

गौतम ! सबसे थोड़े तिर्यक्योनिक पुरुष, तिर्यक्योनिक स्त्रियां उनसे असंख्यातगुणी और उनसे तिर्यक्योनिक नपुंसक अनन्तगुण हैं ।

(३) भगवन् ! इन मनुष्यस्त्रियों में, मनुष्यपुरुषों में और मनुष्यनपुंसकों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

गौतम ! सबसे थोड़े मनुष्यपुरुष, उनसे मनुष्यस्त्रियां संख्यातगुणी, उनसे मनुष्यनपुंसक असंख्यातगुण हैं ।

(४) भगवन् ! इन देवस्त्रियों में, देवपुरुषों में और नैरयिकनपुंसकों में कौन किससे कम, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

गौतम ! सबसे थोड़े नैरयिकनपुंसक, उनसे देवपुरुष असंख्यातगुण, उनसे देवस्त्रियां संख्यातगुणा हैं।

(५) हे भगवन् ! इन तिर्यक्योनिकस्त्रियों, तिर्यक्योनिकपुरुषों, तिर्यक्योनिकनपुंसकों में, मनुष्यस्त्रियों, मनुष्यपुरुषों और नपुंसकों में, देवस्त्रियों, देवपुरुषों और नैरयिकनपुंसकों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

गौतम ! सबसे थोड़े मनुष्यपुरुष,
उनसे मनुष्यस्त्रियां संख्यातगुणी,
उनसे मनुष्यनपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे नैरयिकनपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे तिर्यक्योनिकपुरुष असंख्यातगुण,
उनसे तिर्यक्योनिकस्त्रियां संख्यातगुणी,
उनसे देवपुरुष असंख्यातगुण,
उनसे देवस्त्रियां संख्यातगुण,
उनसे तिर्यक्योनिक नपुंसक अनन्तगुण हैं।

(६) हे भगवन् ! इन तिर्यक्योनिकस्त्रियों—जलचरी, स्थलचरी, खेचरी, तिर्यक्योनिक-पुरुष—जलचर, स्थलचर, खेचर, तिर्यंचयोनिक नपुंसक एकेन्द्रिय ति. यो. नपुंसक, पृथ्वीकायिक एके. ति. यो. नपुंसक यावत् वनस्पतिकायिक एके. ति. यो. नपुंसक, द्वीन्द्रिय ति. यो. नपुंसक, त्रीन्द्रिय ति. यो. नपुंसक, चतुरिन्द्रिय ति. यो. नपुंसक, पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक, जलचर, स्थलचर और खेचर नपुंसकों में कौन किससे कम, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

गौतम ! सबसे थोड़े खेचर तिर्यक्योनिक पुरुष,
उनसे खेचर तिर्यक्योनिक स्त्रियां संख्यातगुणी,
उनसे स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक पुरुष संख्यातगुण,
उनसे स्थल. पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक स्त्रियां संख्यातगुणी,
उनसे जलचर तिर्यक्योनिक पुरुष संख्यातगुण,
उनसे जलचर तिर्यक्योनिक स्त्रियां संख्यातगुणी,
उनसे खेचर पंचे. तिर्यक्योनिक नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे स्थलचर पंचे. तिर्यक्योनिक नपुंसक संख्यातगुण,
उनसे जलचर पंचे. तिर्यक्योनिक नपुंसक संख्यातगुण,
उनसे चतुरिन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे त्रीन्द्रिय ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे द्वीन्द्रिय ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे तेजस्कायिक एकेन्द्रिय ति. यो. नपुंसक असंख्यातगुण,

उनसे पृथ्वीकायिक एके. ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे अप्कायिक एके. ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे वायुकायिक एके. ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक,
उनसे वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक नपुंसक अनन्तगुण हैं।

(७) हे भगवन्! इन मनुष्यस्त्रियों में—कर्मभूमिक स्त्रियों, अकर्मभूमिक स्त्रियों और अन्तरद्वीपिक मनुष्यस्त्रियों में, मनुष्यपुरुषों—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तरद्वीपकों में, मनुष्य नपुंसक—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तरद्वीपिक नपुंसकों में कौन किससे कम, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक हैं?

गौतम! अन्तरद्वीपिक मनुष्यस्त्रियां और मनुष्यपुरुष—ये दोनों परस्पर तुल्य और सबसे थोड़े हैं,

उनसे देवकुरु-उत्तरकुरु अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियां और मनुष्यपुरुष—ये दोनों परस्पर तुल्य और संख्यातगुण हैं,

उनसे हरिवर्ष-रम्यकवर्ष अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियां और मनुष्यपुरुष परस्पर तुल्य और संख्यातगुण हैं,

उनसे हैमवत-हैरण्यवत अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियां और मनुष्यपुरुष परस्पर तुल्य और संख्यातगुण हैं,

उनसे भरत-ऐरवत-कर्मभूमिक मनुष्यपुरुष दोनों संख्यातगुण हैं,
उनसे भरत-ऐरवत-कर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियां दोनों संख्यातगुण हैं,
उनसे भरत-ऐरवत-कर्मभूमिक मनुष्यपुरुष दोनों संख्यातगुण हैं,
उनसे पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह कर्मभूमक मनुष्यपुरुष दोनों संख्यातगुण है,
उनसे पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह कर्मभूमक मनुष्यस्त्रियां दोनों संख्यातगुणी हैं,
उनसे अन्तरद्वीपिक मनुष्यनपुंसक असंख्यातगुण हैं,
उनसे देवकुरु-उत्तरकुरु अकर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक दोनों संख्यातगुण हैं,

इसी तरह यावत् पूर्वविदेहकर्मभूमिक मनुष्यनपुंसक, पश्चिमविदेह कर्मभूमिक मनुष्यनपुंसक दोनों संख्यातगुण हैं।

(८) भगवन्! इन देवस्त्रियों में, भवनवासिनियों में, वाणव्यन्तरियों में, ज्योतिषीस्त्रियों में और वैमानिकस्त्रियों में, देवपुरुषों में भवनवासी यावत् वैमानिकों में, सौधर्मकल्प यावत् ग्रैवेयक देवों में अनुत्तरोपपातिक देवों में, नैरयिक नपुंसकों में—रत्नप्रभा नैरयिक नपुंसकों यावत् अधःसप्तम-पृथ्वी नैरयिक नपुंसकों में कौन किससे कम, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक हैं?

गौतम! सबसे थोड़े अनुत्तरोपपातिक देवपुरुष,
उनसे उपरिम ग्रैवेयक देवपुरुष संख्यातगुण,
इसी तरह यावत् आनतकल्प के देवपुरुष संख्यातगुण,
उनसे अधःसप्तमपृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण,

उनसे छठी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे सहस्रारकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण,
उनसे महाशुक्रकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण,
उनसे पांचवीं पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे लान्तककल्प के देव असंख्यातगुण,
उनसे चौथी पृथ्वी के नैरयिक असंख्यातगुण,
उनसे ब्रह्मलोककल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण,
उनसे तीसरी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे माहेन्द्रकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण,
उनसे सनत्कुमारकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण,
उनसे दूसरी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे ईशानकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण,
उनसे ईशानकल्प की देवस्त्रियां संख्यातगुणी,
उनसे सौधर्मकल्प के देवपुरुष संख्यातगुण,
उनसे सौधर्मकल्प की देवस्त्रियां संख्यातगुणी,
उनसे भवनवासी देवपुरुष असंख्यातगुण,
उनसे भवनवासी देवस्त्रियां संख्यातगुणी,
उनसे इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण,
उनसे वानव्यन्तर देवपुरुष असंख्यातगुण,
उनसे वानव्यन्तर देवस्त्रियां संख्यातगुणी,
उनसे ज्योतिष्कदेवपुरुष संख्यातगुण,
उनसे ज्योतिष्क देवस्त्रियां संख्यातगुणी हैं।

(९) हे भगवन् ! इन तिर्यक्योनिक स्त्रियों—जलचरी स्थलचरी व खेचरियों में, तिर्यक्योनिक पुरुषों—जलचर, स्थलचर खेचरों में, तिर्यक्योनिक नपुंसकों—एकेन्द्रिय तिर्यग्योनिक नपुंसकों, पृथ्वीकायिक एके. ति नपुंसकों, अप्कायिक एके. ति. नपुंसकों यावत् वनस्पतिकायिक एके. ति. नपुंसकों में, द्वीन्द्रिय ति. नपुंसकों में त्रीन्द्रिय ति. नपुंसकों में, चतुरिन्द्रिय ति. नपुंसकों में, पंचेन्द्रिय ति. नपुंसकों—जलचर, स्थलचर, खेचर नपुंसकों में, मनुष्यस्त्रियों—कर्मभूमिका, अकर्मभूमिका, अन्तर्द्वीपिका स्त्रियों में, मनुष्यपुरुषों—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक, अन्तर्द्वीपिकों में, मनुष्य नपुंसकों—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक, अन्तरद्वीपकों में, देवस्त्रियों—भवनवासिनियों, वानव्यन्तरियों, ज्योतिषिणियों में, वैमानिक देवियों में, देवपुरुषों में—भवनवासी, वानव्यन्तर ज्योतिष्क, वैमानिक देवों में, सौधर्मकल्प यावत् ग्रैवेयकों में, अनुत्तरोपपातिक देवों में, नैरयिक नपुंसकों—रत्नप्रभापृथ्वी नैरयिक नपुंसकों यावत् अधःसप्तम पृथ्वी नैरयिक नपुंसकों में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

गौतम ! अन्तर्द्वीपिक अकर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियां और मनुष्यपुरुष—ये दोनों परस्पर तुल्य और सबसे थोड़े हैं,

उनसे देवकुरु—उत्तरकुरु अकर्मभूमिक मनुष्य स्त्रियां और पुरुष दोनों तुल्य और संख्यातगुण हैं,

इसी प्रकार अकर्मभूमिक हरिवर्ष-रम्यकवर्ष की मनुष्यस्त्रियां और मनुष्यपुरुष दोनों तुल्य और संख्यातगुण हैं। इसी प्रकार हैमवत-हैरण्यवत के स्त्री पुरुष तुल्य व संख्यातगुण हैं। भरत-ऐरवत कर्मभूमिग मनुष्यपुरुष दोनों यथोत्तर संख्यातगुण हैं,

उनसे भरत-एरवत कर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियां दोनों संख्यातगुण हैं,
उनसे पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह कर्मभूमिक मनुष्यपुरुष दोनों संख्यातगुण हैं,
उनसे पूर्वविदेह-पश्चिमविदेह कर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियां दोनों संख्यातगुण हैं,
उनसे अनुत्तरोपपातिक देवपुरुष असंख्यातगुण हैं,
उनसे उपरिम ग्रैवेयक देवपुरुष संख्यातगुण हैं,
उनसे यावत् आनतकल्प के देवपुरुष यथोत्तर संख्यातगुण हैं,
उनसे अधःसप्तमपृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण हैं,
उनसे छठी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण हैं,
उनसे सहस्रारकल्प में देवपुरुष असंख्यातगुण हैं,
उनसे महाशुक्रकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण हैं,
उनसे पांचवीं पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण हैं,
उनसे लान्तककल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण हैं,
उनसे चौथी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण हैं,
उनसे ब्रह्मलोककल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण हैं,
उनसे तीसरी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण हैं,
उनसे माहेन्द्रकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण हैं,
उनसे सनत्कुमारकल्प के देवपुरुष असंख्यातगुण हैं,
उनसे दूसरी पृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण हैं,
उनसे अन्तर्द्वीपिक अकर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक असंख्यातगुण हैं,
उनसे देवकुरु-उत्तरकुरु अकर्मभूमिक मनुष्य नपुंसक दोनों संख्यातगुण हैं,
इस प्रकार यावत् विदेह तक यथोत्तर संख्यातगुण कहना चाहिए,
उनसे ईशानकल्प में देवपुरुष असंख्यातगुण हैं,
उनसे ईशानकल्प में देवस्त्रियां संख्यातगुणी हैं,
उनसे सौधर्मकल्प में देवपुरुष संख्यातगुण हैं,
उनसे सौधर्मकल्प में देवस्त्रियां संख्यातगुणी हैं,
उनसे भवनवासी देवपुरुष असंख्यातगुण हैं,
उनसे भवनवासी देवस्त्रियां संख्यातगुणी हैं,
उनसे इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक नपुंसक असंख्यातगुण हैं,
उनसे खेचर तिर्यक्योनिक पुरुष संख्यातगुण हैं,
उनसे खेचर तिर्यक्स्त्रियां संख्यातगुणी हैं,
उनसे स्थलचर तिर्यक्योनिक पुरुष संख्यातगुण हैं,

उनसे स्थलचर तिर्यक्योनिक स्त्रियां संख्यातगुणी हैं,
उनसे जलचर तिर्यक्योनिक पुरुष संख्यातगुण हैं,
उनसे जलचर तिर्यक्योनिक स्त्रियां संख्यातगुण हैं,
उनसे वानव्यन्तर देवपुरुष संख्यातगुण हैं,
उनसे वानव्यन्तर देवियां संख्यातगुणी हैं,
उनसे ज्योतिष्क देवपुरुष संख्यातगुण हैं,
उनसे ज्योतिष्क देवस्त्रियां संख्यातगुण हैं,
उनसे खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक संख्यातगुण हैं,
उनसे स्थलचर ति. यो. नपुंसक संख्यातगुण हैं,
उनसे जलचर ति. यो. नपुंसक संख्यातगुण हैं,
उनसे चतुरिन्द्रिय नपुंसक विशेषाधिक हैं,
उनसे त्रीन्द्रिय नपुंसक विशेषाधिक हैं,
उनसे द्वीन्द्रिय नपुंसक विशेषाधिक हैं,
उनसे तेजस्कायिक एके. ति. यो. नपुंसक असंख्यातगुण हैं,
उनसे पृथ्वीकायिक एके. ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक हैं,
उनसे अप्कायिक एके. ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक हैं,
उनसे वायुकायिक एके. ति. यो. नपुंसक विशेषाधिक हैं,
उनसे वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक नपुंसक अनन्तगुण हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नौ अल्पबहुत्व की वक्तव्यता है।

(१) प्रथम अल्पबहुत्व सामान्य से स्त्री, पुरुष और नपुंसक को लेकर है। (२) दूसरा अल्पबहुत्व सामान्य से तिर्यक्योनिक स्त्री, पुरुष और नपुंसक विषयक है। (३) तीसरा अल्पबहुत्व सामान्य से मनुष्य स्त्री, पुरुष और नपुंसक को लेकर है। (४) चौथा अल्पबहुत्व सामान्य से देवी स्त्री, पुरुष और नारक नपुंसक को लेकर है। देवों में नपुंसक नहीं होते और नारक केवल नपुंसक ही होते हैं, अतः देवस्त्री देवपुरुष के साथ नारकनपुंसकों का अल्पबहुत्व बताया गया है। (५) पांचवें अल्पबहुत्व में सामान्य की अपेक्षा पूर्वोक्त सबका मिश्रित अल्पबहुत्व कहा है।

(६) छठा अल्पबहुत्व विशेष को लेकर (भेदों की अपेक्षा से) तिर्यक्योनिक स्त्री, पुरुष नपुंसक विषयक है। (७) सातवां अल्पबहुत्व विशेष-भेदों की अपेक्षा से मनुष्य स्त्री, पुरुष, नपुंसक के संबंध में है। (८) आठवां अल्पबहुत्व विशेष की अपेक्षा से देव स्त्री, पुरुष और नारक नपुंसकों को लेकर कहा गया है। (९) नौवां अल्पबहुत्व तिर्यंच और मनुष्य के स्त्री पुरुष एवं नपुंसक तथा देवों के स्त्री, पुरुष तथा नारक नपुंसकों का—सब विजातीय व्यक्तियों का मिश्रित अल्पबहुत्व है।

मलयगिरिवृत्ति में यहाँ आठ ही अल्पबहुत्व का उल्लेख है। पहला अल्पबहुत्व जो सामान्य स्त्री-पुरुष-नपुंसक को लेकर कहा गया है, उसका वृत्ति में उल्लेख नहीं है। वृत्तिकार ने 'एयासि णं भंते ! तिरिक्खजोणियइत्थीणं' पाठ से ही अल्पबहुत्व का आरंभ किया है।

अल्पबहुत्व की व्याख्या मूलार्थ से ही स्पष्ट है और पूर्व में अलग-अलग प्रसंगों में सब प्रकार के जीवों का प्रमाण और उसकी समझाइश हेतुपूर्वक दे दी गई है, अतएव यहाँ पुनः उसे दोहराना अनावश्यक ही है।

समुदाय रूप में स्त्री-पुरुष-नपुंसकों की स्थिति

६३. इत्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! एगेणं आएसेणं जहा पुव्विं भाणियं, एवं पुरिसस्स वि नपुंसकस्स वि। संचिट्ठणा पुनरवि तिण्हंपि जहा पुव्विं भाणिया, अंतरं पि तिण्हं पि जहा पुव्विं भाणियं तहा नेयव्वं।

[६३] भगवन् ! स्त्रियों की कितने काल की स्थिति कही गई है ?

गौतम ! 'एक अपेक्षा से', इत्यादि कथन जो स्त्री-प्रकरण में किया गया है, वही यहाँ कहना चाहिए। इसी प्रकार पुरुष और नपुंसक की भी स्थिति आदि का कथन पूर्ववत् समझना चाहिए। तीनों की संचिट्ठणा (कायस्थिति) और तीनों का अन्तर भी जो अपने-अपने प्रकरण में कहा गया है, वही यहाँ (समुदाय रूप से) कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में स्त्री, पुरुष और नपुंसकों को लेकर जो कालस्थिति (भवस्थिति), संचिट्ठणा (कायस्थिति) और अन्तर आदि का पूर्व में पृथक्-पृथक् प्रकरण में वर्णन किया गया है, उसी का समुदायरूप में संकलन है। जो कथन पहले अलग-अलग प्रकरणों में किया गया है, उसका यहाँ समुदाय रूप से कथन अभिप्रेत होने से पुनरुक्ति दोष का प्रसंग नहीं है।

वृत्तिकार ने यहाँ वह पाठ माना है जो अल्पबहुत्व सम्बन्धी पूर्ववर्ती सूत्र के प्रथम अल्पबहुत्व के रूप में दिया गया है। वह इस प्रकार है—'एयासि णं भंते इत्थीणं पुरिसाणं नपुंसकाण य कयरे कयरेहिन्तो अप्पा वा ४ ? सव्वथोवा पुरिसा, इत्थीओ संखेज्जगुणाओ, नपुंसका अणंतगुणा।'

उक्त अल्पबहुत्व में समुदायरूप स्त्री-पुरुष एवं नपुंसकों का कथन होने से वृत्तिकार ने इसे सामुदायिक प्रकरण में लिया है। सामुदायिक स्थिति, संचिट्ठणा और अन्तर के साथ ही सामुदायिक अल्पबहुत्व होने से यहाँ यह पाठ विशेष संगत होता है। लेकिन अल्पबहुत्व के साधर्म्य से आठ अल्पबहुत्वों के साथ उसे प्रथम अल्पबहुत्व के रूप में पूर्वसूत्र में दे दिया है। इस प्रकार केवल स्थान-भेद हैं—आशय भेद नहीं है।

स्त्रियों की पुरुषों से अधिकता

६४. तिरिक्खजोणित्थियाओ तिरिक्खजोणियपुरिसेहिंतो तिगुणाओ तिरूवाहियाओ, मणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसेहिंतो सत्तावीसइगुणाओ सत्तावीसइरूवाहियाओ देवित्थियाओ देवपुरिसेहिंतो बत्तीसइगुणाओ बत्तीसइरूवाहियाओ।

से त्तं तिविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता।

तिविहेसु होइ भेयो, ठिई य संचिट्ठणंतरप्पबहुं।

वेदाण य बंधठिई वेओ तह किंपगारो उ ॥१॥

से त्तं तिविहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता।

[६४] तिर्यक्योनि की स्त्रियां तिर्यक्योनि के पुरुषों से तीन गुनी और त्रिरूप अधिक हैं।

मनुष्यस्त्रियां मनुष्यपुरुषों से सत्तावीसगुनी और सत्तावीसरूप अधिक हैं।

देवस्त्रियां देवपुरुषों से बत्तीसगुनी और बत्तीसरूप अधिक हैं।

इस प्रकार संसार समापन्नक जीव तीन प्रकार के हैं, यह प्रतिपादन पूरा हुआ।

(संकलित गाथा) तीन वेदरूप दूसरी प्रतिपत्ति में प्रथम अधिकार भेदविषयक है, इसके बाद स्थिति, संचिट्ठणा, अन्तर और अल्पबहुत्व का अधिकार है। तत्पश्चात् वेदों की बंधस्थिति तथा वेदों का अनुभव किस प्रकार का है, यह वर्णन किया गया है।

॥ त्रिविधसंसार समापन्नक जीवरूप दूसरी प्रतिपत्ति समाप्त ॥

विवेचन—पहले कहा गया है कि पुरुषों से स्त्रियां अधिक हैं तो सहज प्रश्न होता है कि कितनी अधिक हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान इस सूत्र में किया गया है।

तिर्यक्योनि की स्त्रियां तिर्यक् पुरुषों से तीन गुनी हैं अर्थात् संख्या में तीनगुनीविशेष हैं। 'गुण' शब्द गुण-दोष के अर्थ में भी आता है, अतः उसे स्पष्ट करने के लिए त्रिरूप अधिक विशेषण दिया है। 'गुण' से यहां संख्या अर्थ अभिप्रेत है।

मनुष्यस्त्रियां मनुष्यपुरुषों से सत्तावीसगुनी हैं और देवस्त्रियां देवपुरुषों से बत्तीसगुनी हैं।[1]

उपसंहार

इस दूसरी प्रतिपत्ति के अन्त में विषय को संकलित करने वाली गाथा दी गई है। उसमें कहा गया है कि त्रिविध वेदों की वक्तव्यता वाली इस दूसरी प्रतिपत्ति में पहले भेद, तदनन्तर क्रमशः स्थिति, संचिट्ठणा (कायस्थिति), अन्तर एवं अल्पबहुत्व का प्रतिपादन है। इसके पश्चात् वेदों की बंधस्थिति और वेदों के अनुभवप्रकार का कथन किया गया है।

॥ त्रिविध संसारसमापन्नक जीव वक्तव्यतारूप द्वितीय प्रतिपत्ति समाप्त ॥

□□

---

१. तिगुणा तिरूव अहिया तिरियाणं इत्थिया मुणेयव्वा।
सत्तावीसगुणा पुण मणुयाणं तदहिया चेव ॥१॥
बत्तीसगुणा बत्तीस रूप अहिया उ होंति देवाणं।
देवीओ पण्णत्ता जिणेहिं जियरागदोसेहिं ॥२॥

चतुर्विधाख्या तृतीय प्रतिपत्ति

द्वितीय प्रतिपत्ति में संसारसमापन्नक जीवों के तीन भेदों का विवेचन किया गया है। अब क्रम प्राप्त तीसरी प्रतिपत्ति में संसारसमापन्नक जीवों के चार भेदों को लेकर विवेचन किया जा रहा है। उसका आदिसूत्र इस प्रकार है—

चार प्रकार के संसारसमापन्नक जीव

६५. तत्थ जे ते एवमाहंसु—चउव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ते एवमाहंसु, तंजहा—नेरइया, तिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा।

[६५] जो आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि संसारसमापन्नक जीव चार प्रकार के हैं, वे ऐसा प्रतिपादन करते हैं, यथा—नैरयिक, तिर्यंचयोनिक, मनुष्य और देव।

६६. से किं तं नेरइया?

नेरइया सत्तविहा पण्णत्ता, तंजहा—

पढमापुढविनेरइया, दोच्चापुढविनेरइया, तच्चापुढविनेरइया चउत्थापुढविनेरइया, पचमा-पुढविनेरइया, छट्ठापुढविनेरइया, सत्तमा पुढविनेरइया।

[६६] नैरयिकों का स्वरूप क्या है?

नैरयिक सात प्रकार के कहे गये हैं, यथा—प्रथमपृथ्वीनैरयिक, द्वितीयपृथ्वीनैरयिक, तृतीय पृथ्वीनैरयिक, चतुर्थपृथ्वीनैरयिक, पंचमपृथ्वीनैरयिक, षष्ठपृथ्वीनैरयिक और सप्तमपृथ्वी नैरयिक।

६७. पढमा णं भंते! पुढवी किंनामा किंगोत्ता पण्णत्ता?

गोयमा! णामेणं धम्मा, गोत्तेणं रयणप्पभा।

दोच्चा णं भंते! पुढवी किंनामा किंगोत्ता पण्णत्ता?

गोयमा! णामेणं वंसा गोत्तेणं सक्करप्पभा?

एवं एतेणं अभिलावेणं सव्वासिं पुच्छा,

णामाणि इमाणि सेला तच्चा, अंजणा चउत्थी, रिट्ठा पंचमी, मघा छट्ठी, माघवती सत्तमा जाव तमतमागोत्तेणं पण्णत्ता।

[६७] हे भगवन्! प्रथम पृथ्वी का क्या नाम और क्या गोत्र है?

गौतम! प्रथम पृथ्वी का नाम 'धम्मा' है और उसका गोत्र रत्नप्रभा है।

भगवन्! द्वितीय पृथ्वी का क्या नाम और क्या गोत्र कहा गया है?

गौतम ! दूसरी पृथ्वी का नाम वंशा है और गोत्र शर्कराप्रभा है।

इस प्रकार सब पृथ्वियों के सम्बन्ध में प्रश्न करने चाहिए।

उनके नाम इस प्रकार हैं—तीसरी पृथ्वी का नाम शैला, चौथी पृथ्वी का नाम अंजना, पांचवीं पृथ्वी का नाम रिष्ठा है, छठी पृथ्वी का नाम मघा और सातवीं पृथ्वी का नाम माघवती है। इस प्रकार तीसरी पृथ्वी का गोत्र बालुकाप्रभा, चोथी का पंकप्रभा, पांचवीं का धूमप्रभा, छठी का तमःप्रभा और सातवीं का गोत्र तमस्तमःप्रभा है।

६८. इमा णं भंते ! रयणप्पभापुढवी केवइया बाहल्लेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! इमा णं रयणप्पभापुढवी असिउत्तरं जोयणसयसहस्सं बाहल्लेणं पण्णत्ता, एवं एतेणं अभिलावेणं इमा गाहा अणुगंतव्वा—

असीयं बत्तीसं अट्ठावीसं तहेव वीसं य।
अट्ठारस सोलसगं अट्ठुत्तरमेव हिट्ठिमिया ॥१॥

[६८] भगवन् ! यह रत्नप्रभापृथ्वी कितनी मोटी कही गई है ?

गौतम ! यह रत्नप्रभापृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसी प्रकार शेष पृथ्वियों की मोटाई इस गाथा से जानना चाहिए—

'प्रथम पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन की है। दूसरी की मोटाई एक लाख बत्तीस हजार योजन की है। तीसरी की मोटाई एक लाख अट्ठाईस हजार योजन की है। चौथी की मोटाई एक लाख बीस हजार योजन की है। पांचवीं की मोटाई एक लाख अठारह हजार योजन की है। छठी की मोटाई एक लाख सोलह हजार योजन की है। सातवीं की मोटाई एक लाख आठ हजार योजन की है।

विवेचन—(सं. ६५ से ६६ तक)

पूर्व प्रतिपादित दस प्रकार की प्रतिपत्तियों में से जो आचार्य संसारसमापन्नक जीवों के चार प्रकार कहते हैं वे चार गतियों के जीवों को लेकर ऐसा प्रतिपादन करते हैं; यथा—१ नरकगति के नैरयिक जीव, २ तिर्यंचगति के जीव, ३ मनुष्यगति के जीव और ४ देवगति के जीव। ऐसा कहे जाने पर सहज जिज्ञासा होती है कि नैरयिक आदि जीव कहाँ रहते हैं, उनके निवास रूप नरकभूमियों के नाम, गोत्र, विस्तार आदि क्या और कितने हैं ? नरकभूमियों और नारकों के विषय में विविध जानकारी इन सूत्रों में और आगे के सूत्रों में दी गई है।

सर्वप्रथम नारक जीवों के प्रकार को लेकर प्रश्न किया गया है। उसके उत्तर में कहा गया है कि नारक जीव सात प्रकार के हैं। सात नरकभूमियों की अपेक्षा से नारक जीवों के सात प्रकार बताये हैं, जैसे कि प्रथमपृथ्वीनैरयिक से लगा कर सप्तमपृथ्वीनैरयिक तक। इसके पश्चात् नरकपृथ्वियों के नाम और गोत्र को लेकर प्रश्न और उत्तर हैं। नाम और गोत्र में अन्तर यह है कि नाम अनादिकालसिद्ध होता है और अन्वर्थरहित होता है अर्थात् नाम में उसके अनुरूप गुण होना आवश्यक नहीं है, जबकि गोत्र गुणप्रधान होता है। सात पृथ्वियों के नाम और गोत्र इस प्रकार हैं—

पृथ्वियां	नाम	गोत्र	बाहल्य (योजनों में)
प्रथम पृथ्वी	धम्मा	रत्नप्रभा	एक लाख अस्सी हजार
द्वितीय पृथ्वी	वंशा	शर्कराप्रभा	एक लाख बत्तीस हजार
तृतीय पृथ्वी	शैला	बालुकाप्रभा	एक लाख अट्ठावीस हजार
चतुर्थ पृथ्वी	अंजना	पंकप्रभा	एक लाख बीस हजार
पंचम पृथ्वी	रिष्टा	धूमप्रभा	एक लाख अठारह हजार
षष्ठ पृथ्वी	मघा	तमप्रभा	एक लाख सोलह हजार
सप्तम पृथ्वी	माघवती	तमस्तमप्रभा	एक लाख आठ हजार

नाम की अपेक्षा गोत्र की प्रधानता है, अतएव रत्नप्रभादि गोत्र का उल्लेख करके प्रश्न किये गये हैं तथा उसी रूप में उत्तर दिये गये हैं। नरकभूमियों के गोत्र अर्थानुसार हैं, अतएव उनके अर्थ को स्पष्ट करते हुए पूर्वाचार्यों ने कहा है कि रत्नों की जहाँ बहुलता हो वह रत्नप्रभा है।[1] यहाँ 'प्रभा' का अर्थ बाहुल्य है। इसी प्रकार शेष पृथ्वियों के विषय में भी समझना चाहिए। जहाँ शर्करा (कंकर) की प्रधानता हो वह शर्कराप्रभा। जहाँ बालू की प्रधानता हो वह बालुकाप्रभा। जहाँ कीचड़ की प्रधानता हो पंकप्रभा।[2] धुंए की तरह जहाँ प्रभा हो वह धूमप्रभा है। जहाँ अन्धकार का बाहुल्य हो वह तम:प्रभा और जहाँ बहुत घने अन्धकार की बहुलता हो वह तमस्तम:प्रभा है।

यहाँ किन्हीं किन्हीं प्रतियों में इन पृथ्वियों के नाम और गोत्र को बताने वाली दो संग्रहणी गाथाएँ दी गई हैं; जो नीचे टिप्पण में दी गई हैं।[3]

इसके पश्चात् प्रत्येक नरकपृथ्वी की मोटाई को लेकर प्रश्नोत्तर हैं। नरकपृथ्वियों का बाहुल्य (मोटाई) ऊपर कोष्ठक में बता दिया गया है। इस विषयक संग्रहणी गाथा इस प्रकार है—

असीयं बत्तीसं अट्ठावीसं तहेव वीसं च।
अट्ठारस सोलसगं अट्ठुत्तरमेव हिट्ठिमिया॥

इस गाथा का अर्थ मूलार्थ में दे दिया है। स्पष्टता के लिए पुन: यहाँ दे रहे हैं। रत्नप्रभा-नरकभूमि की मोटाई १ लाख ८० हजार योजन, शर्कराप्रभा की १ लाख ३२ हजार, बालुका-प्रभा की १ लाख २८ हजार, पंकप्रभा की १ लाख २० हजार, धूमप्रभा की १ लाख १८ हजार, तम:प्रभा की १ लाख १६ हजार और तमस्तम:प्रभा की मोटाई १ लाख ८ हजार योजन की है।

अब आगे के सूत्र में रत्नप्रभा आदि नरकपृथ्वियों के भेद को लेकर प्रश्नोत्तर हैं—

---

१. रत्नानां प्रभा—बाहुल्यं यत्र सा रत्नप्रभा रत्नबहुलेति भाव:।—वृत्ति

२. धूमस्येव प्रभा यस्या: सा धूमप्रभा।

३. धम्मा वंसा सेला अंजण रिट्ठा मघा या माघवती।
सत्तण्हं पुढवीणं एए नामा उ नायव्वा॥ १॥
रयणा सक्कर वालुयं पंका धूमा तमा य तमतमा।
सत्तण्हं पुढवीणं एए गोत्ता मुणेयव्वा॥ २॥

६९. इमा णं भंते ! रयणप्पभापुढवी कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—खरकंडे, पंकबहुले कंडे, आवबहुले कंडे ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभापुढवीए खरकंडे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! सोलसविधे पण्णत्ते, तंजहा—१ रयणकंडे, २ वइरे ३ वेरुलिए, ४ लोहितक्खे, ५ मसारगल्ले, ६ हंसगब्भे, ७ पुलए, ८ सोयंधिए, ९ जोतिरसे, १० अंजणे, ११ अंजणपुलए, १२ रयए, १३ जातरूवे, १४ अंके, १५ फलिहे, १६ रिट्ठेकंडे ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभापुढवीए रयणकंडे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते । एवं जाव रिट्ठे ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभापुढवीए पंकबहुले कंडे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते ।

एवं आवबहुले कंडे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवी कतिविधा पण्णत्ता ?

गोयमा ! एगागारा पण्णत्ता । एवं जाव अहेसत्तमा ।

[६९] भगवन् ! यह रत्नप्रभापृथ्वी कितने प्रकार की कही गई है ?

गौतम ! तीन प्रकार की कही गई है, यथा—१. खरकाण्ड, २. पंकबहुलकांड और अप्बहुल (जल की अधिकता वाला) कांड ।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का खरकाण्ड कितने प्रकार का कहा गया है ?

गौतम ! सोलह प्रकार का कहा गया है, यथा—

१. रत्नकांड, २. वज्रकांड, ३. वैडूर्य, ४. लोहिताक्ष, ५. मसारगल्ल, ६. हंसगर्भ, ७. पुलक, ८. सौगंधिक, ९. ज्योतिरस, १०. अंजन, ११. अंजनपुलक, १२. रजत, १३. जातरूप, १४. अंक, १५. स्फटिक और १६. रिष्ठकांड ।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का रत्नकाण्ड कितने प्रकार का है ?

गौतम ! एक ही प्रकार का है । इसी प्रकार रिष्टकाण्ड तक एकाकार कहना चाहिए ।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का पंकबहुलकांड कितने प्रकार का है ?

गौतम ! एक ही प्रकार का कहा गया है ।

इसी तरह अप्बहुलकांड कितने प्रकार का है ।

गौतम ! एकाकार है ।

भगवन् ! शर्कराप्रभापृथ्वी कितने प्रकार की है ?

गौतम ! एक ही प्रकार की है ।

इसी प्रकार अधःसप्तमपृथ्वी तक एकाकार कहना चाहिए ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों के प्रकार (विभाग) की पृच्छा है। उत्तर में कहा गया है कि रत्नप्रभापृथ्वी के तीन प्रकार (विभाग) हैं, यथा—खरकांड, पंकबहुलकांड और अप्बहुलकाण्ड। काण्ड का अर्थ है—विशिष्ट भूभाग। खर का अर्थ है कठिन। रत्नप्रभापृथ्वी का प्रथम खरकाण्ड १६ विभाग वाला है। रत्नकाण्ड नामक प्रथम विभाग, वज्रकाण्ड नामक द्वितीय विभाग, वैडूर्यकाण्ड नामक तृतीय विभाग, इस प्रकार रिष्टरत्नकाण्ड नामक सोलहवां विभाग है। सोलह रत्नों के नाम के अनुसार रत्नप्रभा के खरकाण्ड के सोलह विभाग हैं। प्रत्येक काण्ड एक हजार योजन की मोटाई वाला है। इस प्रकार खरकाण्ड सोलह हजार योजन की मोटाई वाला है। उक्त रत्नकाण्ड से लगाकर रिष्टकाण्ड पर्यन्त सब काण्ड एक ही प्रकार के हैं, अर्थात् इनमें फिर विभाग नहीं है।

दूसरा काण्ड पंकबहुल है। इसमें कीचड़ की अधिकता है और इसका और विभाग न होने से यह एक प्रकार का ही है। यह दूसरा काण्ड ८४ हजार योजन की मोटाई वाला है। तीसरे अप्बहुल-काण्ड में जल की प्रचुरता है और इसका कोई विभाग नहीं है, एक ही प्रकार का है। यह ८० हजार योजन की मोटाई वाला है। इस प्रकार रत्नप्रभा के तीनों काण्डों को मिलाने से रत्नप्रभा की कुल मोटाई (१६+८४+८०) एक लाख अस्सी हजार हो जाती है।

दूसरी नरकपृथ्वी शर्कराप्रभा से लेकर अधःसप्तमपृथ्वी तक की नरकभूमियों के कोई विभाग नहीं हैं। सब एक ही आकार वाली हैं।

नरकावासों की संख्या

७०. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए केवइया निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तीसं णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता, एवं एएणं अभिलावेणं सव्वासिं पुच्छा, इमा गाहा अणुगंतव्वा—

तीसा य पण्णवीसा पण्णरस दसेव तिण्णि य हवंति।
पंचूण सयसहस्सं पंचेव अणुत्तरा णरगा ॥१॥

जाव अहेसत्तमाए पंच अणुत्तरा महतिमहालया महाणरगा पण्णत्ता, तंजहा—काले, महाकाले, रोरुए, महारोरुए, अपइट्ठाणे।

[७०] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी में कितने लाख नरकावास कहे गये हैं ?

गौतम ! तीस लाख नरकावास कहे गये हैं। इस गाथा के अनुसार सातों नरकों में नरकावासों की संख्या जाननी चाहिए। प्रथम पृथ्वी में तीस लाख, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पांचवीं में तीन लाख, छठी में पांच कम एक लाख और सातवीं पृथ्वी में पांच अनुत्तर महान रकावास हैं।

अधःसप्तमपृथ्वी में जो बहुत बड़े अनुत्तर महान रकावास कहे गये हैं, वे पांच हैं, यथा—१. काल, २. महाकाल, ३. रौरव, ४. महारौरव और ५. अप्रतिष्ठान।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्रत्येक नरकापृथ्वी में नारकावासों की संख्या बताई गई है।

(१) प्रथम रत्नप्रभापृथ्वी से लगाकर छठी तमःप्रभापृथ्वी पर्यन्त पृथ्वियों में नरकावास दो प्रकार के हैं—आवलिकाप्रविष्ट और प्रकीर्णक रूप। जो नरकावास पंक्तिबद्ध हैं वे आवलिका-प्रविष्ट हैं और जो बिखरे-बिखरे हैं, वे प्रकीर्णक रूप हैं। रत्नप्रभापृथ्वी के तेरह प्रस्तर (पाथड़े) हैं। प्रस्तर गृहभूमि तुल्य होते हैं। पहले प्रस्तर में पूर्वादि चारों दिशाओं में ४९-४९ नरकावास हैं। चार विदिशाओं में ४८-४८ नरकावास हैं। मध्य में सीमन्तक नाम का नरकेन्द्रक है। ये सब मिलकर ३८९ नरकावास होते हैं। शेष बारह प्रस्तरों में प्रत्येक में चारों दिशाओं और चारों विदिशाओं में एक-एक नरकावास कम होने से आठ-आठ नरकावास कम-कम होते गये हैं। अर्थात् प्रथम प्रस्तर में ३८९, दूसरे में ३८१, तीसरे में ३७३ इस प्रकार आगे-आगे के प्रस्तर में आठ-आठ नरकावास कम हैं। इस प्रकार तेरह प्रस्तरों में कुल ४४३३ नरकावास आवलिकाप्रविष्ट हैं और शेष २९९५५६७ (उनतीस लाख पंचानवै हजार पांच सौ सडसठ) नारकावास प्रकीर्णक रूप हैं। कुल मिलाकर प्रथम रत्नप्रभा-पृथ्वी में तीस लाख नरकावास हैं।[1]

(२) शर्कराप्रभा के ग्यारह प्रस्तर हैं। पहले प्रस्तर में चारों दिशाओं में ३६-३६ आवलिका-प्रविष्ट नरकावास हैं। चारों विदिशाओं में ३५-३५ नरकावास और मध्य में एक नरकेन्द्रक, सब मिलाकर २८५ नरकवास पहले प्रस्तर में आवलिकाप्रविष्ट हैं। शेष दस प्रस्तरों में प्रत्येक में आठ-आठ की हानि होने से सब प्रस्तरों के मिलाकर २६९५ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। शेष २४९७३०५ (चौवीस लाख सित्तानवै हजार तीन सौ पांच) पुष्पावकीर्णक नरकावास हैं। दोनों मिलाकर पच्चीस लाख नरकावास दूसरी शर्कराप्रभा में हैं।

(३) तीसरी बालुकाप्रभा में नौ प्रस्तर हैं। पहले प्रस्तर में प्रत्येक दिशा में २५-२५, विदिशा में २४-२४ और मध्य में एक नरकेन्द्रक—कुल मिलाकर १९७ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। शेष आठ प्रस्तरों में प्रत्येक में आठ-आठ की हानि है, सब मिलाकर १४८५ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। शेष १४९८५१५ पुष्पावकीर्णक नरकावास हैं। दोनों मिलाकर पन्द्रह लाख नरका-वास तीसरी पृथ्वी में हैं।[3]

(४) चौथी पंकप्रभा में सात प्रस्तर हैं। पहले प्रस्तर में प्रत्येक दिशा में १६-१६ आवलिका-प्रविष्ट नरकावास हैं और विदिशा में १५-१५ हैं, मध्य में एक नरकेन्द्रक है। सब मिलकर १२५ नरकावास हुए। शेष छह प्रस्तरों में प्रत्येक में आठ-आठ की हानि है अतः सब मिलाकर ७०७ आव-लिकाप्रविष्ट नरकावास हैं—शेश ९९९२९३ (नौ लाख निन्यानवै हजार दो सौ तिरानवै) पुष्पाव-कीर्णक नरकावास हैं। दोनों मिलाकर दस लाख नरकावास पंकप्रभा में हैं।[4]

---

१. सत्तट्ठी पंचसया पणनउइसहस्स लक्खगुणतीसं।
रयणाए सेढिगया चोयालसया उ तित्तीसं ॥१॥

२. सत्ता णउइसहस्सा चउवीसं लक्खं तिसय पंचउहिया।
बीयाए सेढिगया छव्वीससया उ पणनउया ॥

३. पंचसया पन्नारा अडनवइसहस्स लक्ख चोद्दस य।
तइयाए सेढिगया पणसीया चोद्दस सया उ ॥

४. तेणउया दोण्णि सया नवनउइसहस्स नव य लक्खा य।
पंकाए सेढिगया सत्तसया हुंति सत्तहिया ॥

(५) पांचवीं धूमप्रभा में ५ प्रस्तर हैं। पहले प्रस्तर में एक-एक दिशा में नौ-नौ आवलिका-प्रविष्ट विमान हैं और विदिशाओं में आठ-आठ हैं। मध्य में एक नरकेन्द्रक है। सब मिलाकर ६९ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। शेष चार प्रस्तरों में पूर्ववत् आठ-आठ की हानि है। अतः सब मिलाकर २६५ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। शेष २९९७३५ (दो लाख निन्यानवै हजार सात सौ पैंतीस) पुष्पावकीर्णक नरकावास हैं। दोनों मिलकर तीन लाख नरकावास पांचवीं पृथ्वी में हैं।[1]

(६) छठी तमःप्रभा में तीन प्रस्तर हैं। प्रथम प्रस्तर की प्रत्येक दिशा में चार-चार और प्रत्येक विदिशा में ३-३, मध्य में एक नरकेन्द्रक सब मिलाकर २९ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। शेष दो प्रस्तरों में क्रम से आठ-आठ की हानि है। अतः सब मिलाकर ६३ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। शेष ९९९३२ (निन्यानवै हजार नौ सौ बत्तीस) पुष्पावकीर्णक हैं। दोनों मिलाकर छठी पृथ्वी में ९९९९५ नरकावास हैं।[2]

(७) सातवीं पृथ्वी में केवल पांच नरकावास हैं। काल, महाकाल, रौरव, महारौरव और अप्रतिष्ठान उनके नाम हैं। अप्रतिष्ठान नामक नरकावास मध्य में है और उसके पूर्व में काल नरकावास, पश्चिम में महाकाल, दक्षिण में रौरव और उत्तर में महारौरव नरकावास है।[3]

पृथ्वी का नाम	आवलिका प्रविष्ट नरकावास	पुष्पावकीर्णक नरकावास	कुल नरकावास
रत्नप्रभा	४४३३	२९९५५६७	३००००००
शर्कराप्रभा	२६९५	२४९७३०५	२५०००००
बालुकाप्रभा	१४८५	१४९८५१५	१५०००००
पंकप्रभा	७०७	९९९२९३	१००००००
धूमप्रभा	२६५	२९९७३५	३०००००
तमःप्रभा	६३	९९९३२	९९९९५
तमस्तमःप्रभा	१ मध्य में	४ चारों दिशाओं में	५

---

१. सत्तसया पणतीसा नवनवइसहस्स दो य लक्खा य।
धूमाए सेढिगया पणसट्ठा दो सया होंति॥

२. नवनउई य सहस्सा नव चेव सया हवंति बत्तीसा।
पुढवीए छट्ठीए पइण्णगाणेस संखेवो॥

३. पुव्वेण होइ कालो अवरेण अप्पइट्ठ महकालो।
रोरु दाहिणपासे उत्तरपासे महारोरू॥

घनोदधि आदि की पृच्छा

७१. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे घणोदहीति वा, घणवातेति वा, तणुवातेति वा, ओवासंतरेति वा ?

हंता अत्थि । एवं जाव अहेसत्तमाए ।

[७१] हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नीचे घनोदधि है, घनवात है, तनुवात है और शुद्ध आकाश है क्या ?

हाँ गौतम ! है । इसी प्रकार सातों पृथ्वियों के नीचे घनोदधि, घनवात, तनुवात और शुद्ध आकाश है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नरकपृथ्वियों का आधार बताया गया है । सहज ही यह प्रश्न हो सकता है कि ये सातों नरकपृथ्वियां किसके आधार पर स्थित हैं ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि ये पृथ्वियां जमे हुए जल पर स्थित हैं । जमे हुए जल को घनोदधि कहते हैं । पुनः प्रश्न होता है कि घनोदधि किसके आधार पर रहा हुआ है तो उसका समाधान किया गया है कि घनोदधि, घनवात पर स्थित है । अर्थात् पिण्डीभूत वायु के आधार पर घनोदधि स्थित है । घनीभूत वायु (घनवात) तनुवात (हल्की वायु) पर आधारित है और तनुवात आकाश पर प्रतिष्ठित है । आकाश किसी पर अवलम्बित न होकर स्वयं प्रतिष्ठित है । तात्पर्य यह है कि आकाश के आधार पर तनुवात, तनुवात पर घनवात और घनवात पर घनोदधि और घनोदधि पर ये रत्नप्रभादि पृथ्वियां स्थित हैं ।[1]

प्रश्न हो सकता है कि वायु के आधार पर उदधि और उदधि के आधार पर पृथ्वी कैसे ठहर सकती है ? इसका समाधान एक लौकिक उदाहरण के द्वारा किया है गया । कोई व्यक्ति मशक (वस्ती) को हवा से फुला दे । फिर उसके मुंह को फीते से मजबूत गांठ देकर बांध दे तथा उस मशक के बीच के भाग को भी बांध दे । ऐसा करने से मशक में भरे हुए पवन के दो भाग हो जावेंगे, जिससे थैली डुगडुगी जैसी लगेगी । तब उस मशक का मुंह खोलकर ऊपर के भाग की हवा निकाल दे और उसकी जगह पानी भरकर फिर उस मशक का मुंह बांध दे और बीच का बन्धन खोल दे । तब ऐसा होगा कि जो पानी उस मशक के ऊपरी भाग में है, वह ऊपर के भाग में ही रहेगा, अर्थात् नीचे भरी हुई वायु के ऊपर ही वह पानी रहेगा, नीचे नहीं जा सकता । जैसे वह पानी नीचे भरी वायु के आधार पर ऊपर ही टिका रहता है, उसी प्रकार घनवात के ऊपर घनोदधि रह सकता है ।

दूसरा उदाहरण यह है कि जैसे कोई व्यक्ति हवा से भरे हुए डिब्बे या मशक को कमर पर बांधकर अथाह जल में प्रवेश करे तो वह जल के ऊपरी सतह पर ही रहेगा नीचे नहीं डूबेगा । वह जल के आधार पर स्थित रहेगा । उसी तरह घनाम्बु पर पृथ्वियां टिकी रह सकती हैं ।

ये सातों नरकभूमियां एक दूसरी के नीचे हैं, परन्तु बिलकुल सटी हुई नहीं हैं । इनके बीच में बहुत अन्तर है । इस अन्तर में घनोदधि, घनवात, तनुवात और शुद्ध आकाश नीचे-नीचे हैं । प्रथम

---

१. रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोधः पृथुतराः तत्त्वार्थ०
—तत्त्वार्थसूत्र अ. ३

नरकभूमि के नीचे घनोदधि है, इसके नीचे घनवात है, इसके नीचे तनुवात है और इसके नीचे आकाश है। आकाश के बाद दूसरी नरकभूमि है। दूसरी और तीसरी नरकभूमि के बीच में भी क्रमशः घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है। इसी तरह सातवीं नरकपृथ्वी तक सब भूमियों के नीचे उसी क्रम से घनोदधि आदि हैं।

अब सूत्रकार रत्नकाण्डादि का बाहल्य (मोटाई) बताते हैं—

रत्नादिकाण्डों का बाहल्य

७२. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाएपुढवीए खरकंडे केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?
गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।
इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाएपुढवीए रयणकंडे केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?
गोयमा ! एक्कं जोयणसहस्सं बाहल्लेणं पण्णत्ते। एवं जाव रिट्ठे।
इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाएपुढवीए पंकबहुले कंडे केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?
गोयमा ! चउरसीति जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।
इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए आवबहुल्ले कंडे केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?
गोयमा ! असीति जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।
इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोवही केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?
गोयमा ! वीसं जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।
इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवाए केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?
गोयमा ! असंखेज्जइं जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। एवं तणुवाए वि, ओवासंतरे वि।
सक्करप्पभाए णं पुढवीए घणोवही केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?
गोयमा ! वीसं जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।
सक्करप्पभाए णं पुढवीए घणवाए केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?
गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। एवं तणुवाए वि, ओवासंतरे वि।
जहा सक्करप्पभाए पुढवीए एवं जाव अहेसत्तमाए।

[७२] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का खरकाण्ड कितनी मोटाई वाला कहा गया है ?
गौतम ! सोलह हजार योजन की मोटाई वाला कहा गया है।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का रत्नकाण्ड कितनी मोटाई वाला है ?
गौतम ! वह एक हजार योजन की मोटाई वाला है।

इसी प्रकार रिष्टकाण्ड तक की मोटाई जानना।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का पंकबहुल कांड कितनी मोटाई का है ?
गौतम ! वह चौरासी हजार योजन की मोटाई वाला है।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का अप्‌बहुलकाण्ड कितनी मोटाई का है ?
गौतम ! वह अस्सी हजार योजन की मोटाई का है।
भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का घनोदधि कितना मोटा है ?
गौतम ! वह बीस हजार योजन की मोटाई का है।
भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का घनवात कितना मोटा है ?
गौतम ! वह असंख्यात हजार योजन का मोटा है।
इसी प्रकार तनुवात भी और आकाश भी असंख्यात हजार योजन की मोटाई वाले हैं।
भगवन् ! शर्कराप्रभापृथ्वी का घनोदधि कितना मोटा है ?
गौतम ! बीस हजार योजन का है।
भगवन् ! शर्कराप्रभा का घनवात कितना मोटा है ?
गौतम ! असंख्यात हजार योजन की मोटाई वाला है।
इसी प्रकार तनुवात और आकाश भी असंख्यात हजार योजन की मोटाई वाले हैं।

जैसी शर्कराप्रभा के घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश की मोटाई कही है, वही शेष सब पृथ्वियों की (सातवीं पृथ्वी तक) जाननी चाहिए।

विवेचन—पहले नरकपृथ्वियों का बाहल्य कहा गया था। इस सूत्र में रत्नप्रभापृथ्वी के तीन काण्डों का और घनोदधि, घनवात, तनुवात तथा आकाश का बाहल्य बताया गया है। काण्ड केवल रत्नप्रभापृथ्वी में ही हैं। खरकाण्ड के सोलह विभाग हैं और प्रत्येक विभाग का बाहल्य एक हजार योजन का बताया है। सोलह काण्डों का कुल बाहल्य सोलह हजार योजन का है। पंकबहुल दूसरे काण्ड का बाहल्य चौरासी हजार और अप्‌बहुल तीसरे काण्ड का बाहल्य अस्सी हजार योजन है। इस प्रकार रत्नप्रभा के तीनों काण्डों का बाहल्य मिलाने से रत्नप्रभा की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन की है।

प्रत्येक पृथ्वी के नीचे क्रमशः घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है। अतः उनका बाहल्य भी बता दिया गया है। घनोदधि का बाहल्य बीस हजार योजन का है। घनवात का बाहल्य असंख्यात हजार योजन का है। तनुवात और आकाश का बाहल्य भी प्रत्येक असंख्यात हजार योजन का है। सभी पृथ्वियों के घनोदधि आदि का बाहल्य समान है।

रत्नप्रभादि में द्रव्यों की सत्ता

७३. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभापुढवीए असीउत्तर जोयणसयसहस्सबाहल्लाए खेत्तच्छेएणं छिज्जमाणीए अत्थि दव्वाइं वण्णओ कालनीललोहितहालिद्दसुक्किलाइं, गंधओ, सुरभिगंधाइं दुब्भिगंधाइं, रसओ तित्तकडुयकसायअंबिलमहुराइं, फासओ कक्खड-मउय-गरुय-लहु-सीय-उसिण-णिद्ध-लुक्खाइं, संठाणओ परिमंडल-वट्ट-तंस-चउरंस--आयय संठाणपरिणयाइं अन्नमन्नबद्धाइं अन्नमन्न-पुट्ठाइं, अन्नमन्नओगाढाइं, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धाइं अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठन्ति ?

हंता अत्थि।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाएपुढवीए खरकंडस्स सोलसजोयणसहस्सबाहल्लस्स खेतच्छेएणं छिज्जमाणस्स अत्थि दव्वाइं वण्णओ काल जाव परिणयाइं।

हंता अत्थि।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाएपुढवीए रयणनामगस्स कंडस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स खेतच्छेएणं छिज्जमाणस्स तं चेव जाव हंता अत्थि।

एवं जाव रिट्ठस्स।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाएपुढवीए पंकबहुलस्स कंडस्स चउरासीति जोयणसहस्सबाहल्लस्स खेत्तच्छेएण छिज्जमाणस्स० तं चेव। एवं जाव बहुलस्स वि असीतिजोयणसहस्सबाहल्लस्स।

इमीसे णं भंते। रयणप्पभापुढवीए घणोवधिस्स वीसं जोयणसहस्सबाहल्लस्स खेत्तच्छेएणं तहेव। एवं घणवातस्स असंखेज्जजोयणसहस्सबाहल्लस्स तहेव। ओवासंतरस्स वि तं चेव।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लस्स खेत्तच्छेएण छिज्जमाणीए अत्थि दव्वाइं वण्णओ जाव घडत्ताए चिट्ठंति ?

हंता अत्थि।

एवं घणोदहिस्स वीसजोयणसहस्सबाहल्लस्स घणवातस्स असंखेज्जजोयणसहस्सबाहल्लस्स, एवं जाव ओवासंतरस्स। जहा सक्करप्पभाए एवं जाव अहेसत्तमाए।

[७३] भगवन् ! एक लाख अस्सी हजार योजन बाहल्य वाली और प्रतर-काण्डादि रूप में (बुद्धि द्वारा) विभक्त इस रत्नप्रभापृथ्वी में वर्ण से काले-नीले-लाल-पीले और सफेद, गंध से सुरभिगंध वाले और दुर्गन्ध वाले, रस से तिक्त-कटुक-कसैले-खट्टे-मीठे तथा स्पर्श से कठोर-कोमल-भारी-हल्के-शीत-उष्ण-स्निग्ध और रूक्ष, संस्थान से परिमंडल (लड्डू की तरह गोल), वृत्त (चूडी के समान गोल), त्रिकोण, चतुष्कोण और आयात (लम्बे) रूप में परिणत द्रव्य एक-दूसरे से बँधे हुए, एक दूसरे से स्पृष्ट—छुए हुए, एक दूसरे में अवगाढ़, एक दूसरे से स्नेह द्वारा प्रतिबद्ध और एक दूसरे से सम्बद्ध हैं क्या ?

हाँ, गौतम ! हैं।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के सोलह हजार योजन बाहल्य वाले और बुद्धि द्वारा प्रतरादि रूप में विभक्त खरकांड में वर्ण-गंध-रस-स्पर्श और संस्थान रूप में परिणत द्रव्य यावत् एक दूसरे से सम्बद्ध हैं क्या ?

हाँ, गौतम ! हैं।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के एक हजार योजन बाहल्य वाले और प्रतरादि रूप में बुद्धि-द्वारा विभक्त रत्न नामक काण्ड में पूर्व विशेषणों से विशिष्ट द्रव्य हैं क्या ?

हाँ, गौतम ! हैं।

इसी प्रकार रिष्ट नामक काण्ड तक कहना चाहिए।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के पंकबहुल काण्ड में जो चौरासी हजार योजन बाहल्य वाला और बुद्धि द्वारा प्रतरादि रूप में विभक्त है, (उसमें) पूर्ववर्णित द्रव्यादि हैं क्या ?

हाँ, गौतम ! हैं।

इसी प्रकार अस्सी हजार योजन बाहल्य वाले अप्बहुल काण्ड में भी पूर्वविशिष्ट द्रव्यादि हैं।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के बीस हजार योजन बाहल्य वाले और बुद्धि से विभक्त घनोदधि में पूर्व विशेषण वाले द्रव्य हैं ?

हाँ, गौतम ! हैं।

इसी प्रकार असंख्यात हजार योजन बाहल्य वाले घनवात और तनुवात में तथा आकाश में भी उसी प्रकार द्रव्य हैं।

हे भगवन् ! एक लाख बत्तीस हजार योजन बाहल्य वाली और बुद्धि द्वारा प्रतरादि रूप में विभक्त शर्कराप्रभा पृथ्वी में पूर्व विशेषणों से विशिष्ट द्रव्य यावत् परस्पर सम्बद्ध हैं क्या ?

हाँ, गौतम ! हैं।

इसी तरह बीस हजार योजन बाहल्य वाले घनोदधि, असंख्यात हजार योजन बाहल्य वाले घनवात और आकाश के विषय में भी समझना चाहिए।

शर्कराप्रभा की तरह इसी क्रम से सप्तम पृथ्वी तक वक्तव्यता समझनी चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सातों नरकपृथ्वियों में, रत्नप्रभापृथ्वी के तीनों काण्डों में, घनोदधियों में, घनवातों में, तनुवातों में और अवकाशान्तरों में द्रव्यों की सत्ता का कथन किया गया है। सब जगह वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा विविध पर्यायों में परिणत द्रव्यों का सद्भाव बताया गया है। प्रश्नोत्तर का क्रम इस प्रकार है—

सर्वप्रथम रत्नप्रभापृथ्वी में द्रव्यों का सद्भाव कहा है। इसके बाद क्रमशः खरकाण्ड, रत्नकाण्ड से लेकर रिष्टकाण्ड तक, पंकबहुलकाण्ड, अप्बहुलकाण्ड, घनोदधि, घनवात, तनुवात, अवकाशान्तरों में द्रव्यों का सद्भाव कहा है। इसके पश्चात् शर्करापृथ्वी में, उसके घनोदधि-घनवात-तनुवात और अवकाशान्तरों में द्रव्यों का सद्भाव बताया है। शर्करापृथ्वी की तरह ही सातों पृथ्वियों की वक्तव्यता कही है।

सूत्र में आये हुए 'अन्नमन्नबद्धाइं' आदि पदों का अर्थ इस प्रकार है—

अन्नमन्नबद्धाइं—एक दूसरे से सम्बन्धित।

अन्नमन्नपुट्ठाइं—एक दूसरे को स्पर्श किये हुए—छुए हुए।

अन्नमन्नोगाढाइं—जहाँ एक द्रव्य रहा है, वहीं देश या सर्व से दूसरे द्रव्य भी रहे हुए हैं।

अन्नमन्नसिणेहपडिबद्धाइं—स्नेह गुण के कारण परस्पर मिले हुए रहते हैं, जिससे एक के चलायमान होने पर दूसरा भी चलित होता है, एक के गृहीत होने पर दूसरा भी गृहीत होता है।

अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति—क्षीर-नीर की तरह एक दूसरे में प्रगाढरूप से मिले हुए या समुदित रहते हैं।

नरकों का संस्थान

७४. इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किंसंठिता पण्णत्ता ?

गोयमा ! झल्लरिसंठिया पण्णत्ता ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! झल्लरिसंठिए पण्णत्ते ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडे किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! झल्लरिसंठिए पण्णत्ते । एवं जाव रिट्ठे । एवं पंकबहुले वि एवं आवबहुले वि, घणोदधी वि, घणवाए वि, तणुवाए वि, ओवासंतरे वि । सव्वे झल्लरिसंठिए पण्णत्ते ।

सक्करप्पभा णं भंते ! पुढवी किंसंठिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! झल्लरिसंठिए पण्णत्ते । एवं जाव ओवासंतरे, जहा सक्करप्पभाए वत्तव्वया एवं जाव अहेसत्तमाए वि ।

[७४] हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का आकार कैसा है ?

गौतम ! झालर के आकार का है । अर्थात् विस्तृत वलयाकार है ।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वो के खरकांड का कैसा आकार है ?

गौतम ! झालर के आकार का है ।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के रत्नकाण्ड का क्या आकार है ?

गौतम ! झालर के आकार का है । इसी प्रकार रिष्टकाण्ड तक कहना चाहिए । इसी तरह पंकबहुलकांड, अप्बहुलकांड, घनोदधि, घनवात, तनुवात और अवकाशान्तर भी सब झालर के आकार के हैं ।

भगवन् ! शर्कराप्रभापृथ्वी का आकार कैसा है ?

गौतम ! झालर के आकार का है ।

भगवन् ! शर्कराप्रभापृथ्वी के घनोदधि का आकार कैसा है ?

गौतम ! झालर के आकार का है । इसी प्रकार अवकाशान्तर तक कहना चाहिए ।

शर्कराप्रभा की वक्तव्यता के अनुसार शेष पृथ्वियों की अर्थात् सातवीं पृथ्वी तक की वक्तव्यता जाननी चाहिए ।

सातों पृथ्वियों की अलोक से दूरी

७५. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्लाओ उवरिमंताओ केवइयं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुवालसहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते, एवं दाहिणिल्लाओ, पच्चत्थिमिल्लाओ, उत्तरिल्लाओ ।

सक्करप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्लाओ चरिमंताओ केवइयं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिभागूणेहिं तेरसहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते। एवं चउद्दिसिं वि।

बालुयप्पभाए पुढविए पुरत्थिमिल्लाओ पुच्छा ?

गोयमा ! सतिभागेहिं तेरसहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते। एवं चउद्दिसिं पि; एवं सव्वासि चउसु दिसासु पुच्छियव्वं।

पंकप्पभापुढवीए चोद्दसहिं जोयणेहिं अबाहाए लोयंते पण्णत्ते। पंचमाए तिभागूणेहिं पन्नरसहिं जोयणेहिं अबाहाए लोयंते पण्णत्ते। छट्ठीए सतिभागेहिं पन्नरसहिं जोयणेहिं अबाहाए लोयंते पण्णत्ते। सत्तमीए सोलसहिं जोयणेहिं अबाहाए लोयंते पण्णत्ते। एवं जाव उत्तरिल्लाओ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरिमंते कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तंजहा—घणोदधिवलए, घणवायवलए, तणुवायवलये।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए दाहिणिल्ले चरिमंते कतिविधे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तंजहा—एवं जाव उत्तरिल्ले, एवं सव्वासि जाव अधेसत्तमाए उत्तरिल्ले।

[७५] हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के पूर्वदिशा के उपरिमान्त से कितने अपान्तराल के बाद लोकान्त कहा गया है ?

गौतम ! बारह योजन के अपान्तराल के बाद लोकान्त कहा गया है। इसी प्रकार दक्षिण-दिशा के, पश्चिमदिशा के और उत्तरदिशा के उपरिमान्त से बारह योजन अपान्तराल के बाद लोकान्त कहा गया है।

हे भगवन् ! शर्कराप्रभा पृथ्वी के पूर्वदिशा के चरमांत से कितने अपान्तराल के बाद लोकान्त कहा गया है ?

गौतम ! त्रिभाग कम तेरह योजन के अपान्तराल के बाद लोकान्त कहा गया है। इसी प्रकार चारों दिशाओं को लेकर कहना चाहिए।

हे भगवन् ! बालुकाप्रभा पृथ्वी के पूर्वदिशा के चरमांत से कितने अपान्तराल के बाद लोकान्त कहा गया है ?

गौतम ! त्रिभाग सहित तेरह योजन के अपान्तराल बाद लोकान्त है। इस प्रकार चारों दिशाओं को लेकर कहना चाहिए। सब नरकपृथ्वियों की चारों दिशाओं को लेकर प्रश्न करना चाहिए।

पंकप्रभा में चौदह योजन के अपान्तराल के बाद लोकान्त है। पांचवीं धूमप्रभा में त्रिभाग कम पन्द्रह योजन के अपान्तराल के बाद लोकान्त है। छठी तमप्रभा में त्रिभाग सहित पन्द्रह योजन के अपान्तराल के बाद लोकान्त है। सातवीं पृथ्वी में सोलह योजन के अपान्तराल के बाद लोकान्त कहा गया है। इसी प्रकार उत्तरदिशा के चरमान्त तक जानना चाहिए।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के पूर्वदिशा का चरमान्त कितने प्रकार का कहा गया है ?

गौतम ! तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—घनोदधिवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय ।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के दक्षिणदिशा का चरमान्त कितने प्रकार का है ।

गौतम ! तीन प्रकार का कहा गया है, यथा घनोदधिवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय ।

इसी प्रकार उत्तरदिशा के चरमान्त तक कहना चाहिए ।

इसी प्रकार सातवीं पृथ्वी तक की सब पृथ्वियों के उत्तरी चरमान्त तक सब दिशाओं के चरमान्तों के प्रकार कहने चाहिए ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नरकपृथ्वियों के चरमान्त से अलोक कितना दूर है, यह प्रतिपादित किया है । रत्नप्रभापृथ्वी के पूर्वदिशा के चरमान्त से अलोक बारह योजन की दूरी पर है । अर्थात् रत्नप्रभापृथ्वी के पूर्वदिशा वाले चरमान्त और अलोक के बीच में बारह योजन का अपान्तराल है । इसी तरह रत्नप्रभापृथ्वी के दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के चरमान्त से भी बारह योजन की दूरी पर अलोक है । यहाँ दिशा का ग्रहण उपलक्षण है अतः चारों विदिशाओं के चरमान्त से भी अलोक बारह योजन की दूरी पर है और बीच में अपान्तराल है ।

शर्कराप्रभापृथ्वी के सब दिशाओं और विदिशाओं से चरमान्त से अलोक त्रिभागन्यून तेरह (१२$\frac{२}{३}$) योजन दूरी पर है । अर्थात् चरमान्त और अलोक के बीच इतना अपान्तराल है ।

बालुकाप्रभा के सब दिशा-विदिशाओं के चरमान्त से अलोक पूर्वोक्त त्रिभागसहित तेरह योजन (परिपूर्ण तेरह योजन) की दूरी पर है । बीच में इतना अपान्तराल है ।

पंकप्रभा और अलोक के बीच १४ योजन का अपान्तराल है । धूमप्रभा और अलोक के बीच त्रिभागन्यून १५ योजन का अपान्तराल है । तमःप्रभा और अलोक के बीच पूर्वोक्त त्रिभाग सहित पन्द्रह योजन का अपान्तराल है । अधःसप्तमपृथ्वी के चरमान्त और अलोक के बीच परिपूर्ण सोलह योजन का अपान्तराल है ।

इस प्रकार अपान्तराल बताने के पश्चात् प्रश्न किया गया है कि ये अपान्तराल आकाशरूप हैं या इनमें घनोदधि आदि व्याप्त हैं ? उत्तर में कहा गया है कि ये अपान्तराल घनोदधि, घनवात और तनुवात से व्याप्त हैं । यहाँ ये घनोदधि आदि वलयाकार हैं, अतएव ये घनोदधिवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय कहे जाते हैं । पहले सब नरकपृथ्वियों के नीचे घनोदधि आदि का जो बाहल्य-प्रमाण कहा गया है, वह उनके मध्यभाग का है । इसके बाद प्रदेश-हानि से घटते-घटते अपनी-अपनी पृथ्वी के पर्यन्त में तनुतर होकर अपनी-अपनी पृथ्वी को वलयाकार वेष्टित करके रहे हुए हैं, इसलिए इनको वलय कहते हैं । इन वलयों का उच्चत्व तो सर्वत्र अपनी-अपनी पृथ्वी के अनुसार ही है । तिर्यग् बाहल्य आगे बताया जायेगा । यहाँ तो अपान्तरालों का विभागमात्र बताया है ।

घनोदधिवलय का तिर्यग् बाहल्य

७६. (१) इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलए केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?

गोयमा ! छ जोयणाणि बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

सक्करप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलए केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?

गोयमा ! सतिभागाइं छ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। बालुयप्पभाए पुच्छा; गोयमा ! तिभागूणाइं सत्त जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। एवं एतेण अभिलावेणं पंकप्पभाए सत्तजोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

धूमप्पभाए सतिभागाइं सत्तजोयणाइं पण्णत्ते।

तमप्पभाए तिभागूणाइं अट्ठजोयणाइं।

तमतमप्पभाए अट्ठजोयणाइं।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवायवलए केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?

गोयमा ! अद्धपंचमाइं जोयणाइं बाहल्लेणं।

सक्करप्पभाए पुच्छा,

गोयमा ! कोसूणाइं पंचजोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

एवं एएणं अभिलावेणं बालुप्पभाए पंचजोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते, पंकप्पभाए सक्कोसाइं पंचजोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। धूमप्पभाए अद्धछट्ठाइं जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। तमप्पभाए कोसूणाइं छ जोयणाइं बाहल्लेणंपुण्णत्ते। अहेसत्तमाए छ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभापुढवीए तणुवायवलए केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?

गोयमा ! छक्कोसेणं बाहल्लेणं पण्णत्ते। एवं एएणं अभिलावेणं सक्करप्पभाए सतिभागे छक्कोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते। बालुयप्पभाए तिभागूणे सत्तकोसं बाहल्लेणं पण्णत्ते। पंकप्पभाए पुढवीए सत्तकोसं बाहल्लेणं पण्णत्ते। धूमप्पभाए सतिभागे सत्तकोसे। तमप्पभाए तिभागूणे अट्ठकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते। अधेसत्तमाए पुढवीए अट्ठकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते।

[७६-१] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का घनोदधिवलय कितना मोटा है ?

गौतम ! छह योजन की मोटाई वाला है।

भंते ! शर्कराप्रभापृथ्वी का घनोदधिवलय कितना मोटा है ?

गौतम ! त्रिभागसहित छह योजन मोटा है।

बालुकाप्रभा की पृच्छा—गौतम ! त्रिभागन्यून सात योजन का है। इसी अभिलाप से पंकप्रभा का घनोदधिवलय सात योजन का, धूमप्रभा का त्रिभागसहित सात योजन का, तमःप्रभा का त्रिभागन्यून आठ योजन का और तमस्तमःप्रभा का आठ योजन का है।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का घनवातवलय कितनी मोटाई वाला है ?

गौतम ! साढ़े चार योजन का मोटा है। शर्कराप्रभा का एक कोस कम पांच योजन का है। इसी प्रकार बालुकाप्रभा का पांच योजन का, पंकप्रभा का एक कोस अधिक पांच योजन का, धूमप्रभा का साढ़े पांच योजन का और तमस्तमःप्रभापृथ्वी का एक कोस कम छह योजन का बाहल्य है।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का तनुवातवलय कितनी मोटाई वाला कहा गया है ?

गौतम ! छह कोस की मोटाई का है। इसी प्रकार शर्कराप्रभा का त्रिभागसहित छह कोस, बालुकाप्रभा का त्रिभागन्यून सात कोस, पंकप्रभा का सात कोस, धूमप्रभा का त्रिभागसहित सात-

कोस का, तमःप्रभा का त्रिभागन्यून आठ कोस और अधःसप्तमपृथ्वी का तनुवातवलय आठ कोस बाहल्य वाला है।

अपान्तराल और बाहल्य का यन्त्र

पृथ्वी का नाम	अपान्तराल का प्रमाण	घनोदधिवलय का बाहल्य	घनवातवलय का बाहल्य	तनुवातवलय का बाहल्य
१ रत्नप्रभा	बारह योजन	६ योजन	४।। योजन	६ कोस
२ शर्कराप्रभा	त्रिभाग कम १३ योजन	त्रिभागसहित ६ योजन	कोस कम ५ योजन	६⅓ कोस
३ बालुकाप्रभा	१३ योजन	त्रिभागन्यून ७ योजन	५ योजन	त्रिभागन्यून ७ कोस
४ पंकप्रभा	१४ योजन	७ योजन	१ कोस ५ योजन	७ कोस
५ धूमप्रभा	त्रिभागन्यून १५ योजन	त्रिभागसहित ७ योजन	५।। योजन	७⅓ कोस
६ तमःप्रभा	१५ योजन	त्रिभागन्यून ८ योजन	कोस कम ६ योजन	त्रिभागन्यून ८ कोस
७ तमस्तमःप्रभा	१६ योजन	८ योजन	६ योजन	८ कोस

[२] इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलयस्स छ जोयणबाहल्लस्स खेत्तच्छेएणं छिज्जमाणस्स अत्थि दव्वाइं वण्णओ काल जाव हंता अत्थि।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधिवलयस्स सतिभागछज्जोयण बाहल्लस्स खेत्तच्छेएणं छिज्जमाणस्स जाव हंता अत्थि। एवं जाव अधेसत्तमाए जं जस्स बाहल्लं।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवातवलयस्स अद्धपंचम जोयणबाहल्लस्स खेत्तछेएणं छिज्जमाणस्स जाव हंता अत्थि। एवं जाव अहेसत्तमाए जं जस्स बाहल्लं।

एवं तणुवायवलयस्स वि जाव अहेसत्तमा जं जस्स बाहल्लं।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलए किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए पण्णत्ते। जे णं इमं रयणप्पभं पुढविं सव्वओ

संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठइ, एवं जाव अधेसत्तमाए पुढवीए घणोदधिवलए; णवरं अप्पणप्पणं पुढविं संपरिक्खिवित्ताणं चिट्ठति।

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए घणवातवलए किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! वट्टे वलयागारे तहेव जाव जे णं इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलयं सव्वओ समंता संपरिक्खिवित्ताणं चिट्ठइ एवं जाव अहेसत्तमाए घणवातवलए।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तणुवातवलए किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए जाव जे णं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणवातवलयं सव्वओ समंता संपरिक्खिवित्ताणं चिट्ठइ। एवं जाव अहेसत्तमाए तणुवातवलए।

इमा णं भंते ! रयणप्पभापुढवी केवइ आयामविक्खंभेण पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेण पण्णत्ता। एवं जाव अधेसत्तमा।

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी अंते य मज्झे य सव्वत्थ समा बाहल्लेणं पण्णत्ता ?

हंता गोयमा ! इमा णं रयणप्पभापुढवी अंते य मज्झे य सव्वत्थ समा बाहल्लेणं, एवं जाव अधेसत्तमा।

[७६-२] हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के छह योजन बाहल्य वाले और बुद्धिकल्पित प्रतरादि विभाग वाले घनोदधिवलय में वर्ण से काले आदि द्रव्य हैं क्या ?

हाँ, गौतम ! हैं।

हे भगवन् ! इस शर्कराप्रभापृथ्वी के त्रिभागसहित छह योजन बाहल्य वाले और प्रतरादि विभाग वाले घनोदधिवलय में वर्ण से काले आदि द्रव्य हैं क्या ?

हाँ, गौतम ! हैं। इस प्रकार जितना बाहल्य है, वह विशेषण लगाकर सप्तमपृथ्वी के घनोदधिवलय तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के साढ़े चार योजन बाहल्य वाले और प्रतरादि रूप में विभक्त घनवातवलय में वर्णादि परिणत द्रव्य हैं क्या ?

हाँ, गौतम हैं ! इसी प्रकार जिसका जितना बाहल्य है, वह विशेषण लगाकर सातवीं पृथ्वी तक कहना चाहिए।

इसी प्रकार तनुवातवलय के सम्बन्ध में भी अपने-अपने बाहल्य का विशेषण लगाकर सप्तम पृथ्वी तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के घनोदधिवलय का आकार कैसा कहा गया है ?

गौतम ! वर्तुल और वलयाकार कहा गया है, क्योंकि वह इस रत्नप्रभा पृथ्वी को चारों ओर से घेरकर रहा हुआ है। इसी प्रकार सातों पृथ्वियों के घनोदधिवलय का आकार समझना चाहिए। विशेषता यह है कि वे सब अपनी-अपनी पृथ्वी को घेरकर रहे हुए हैं।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के घनवातवलय का आकार कैसा कहा गया है ?

गौतम ! वर्तुल और वलयाकार कहा गया है, क्योंकि वह इस रत्नप्रभा पृथ्वी के घनोदधिवलय को चारों ओर से घेरकर रहा हुआ है । इसी तरह सातों पृथ्वियों के घनवातवलय का आकार जानना चाहिए ।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तनुवातवलय का आकार कैसा कहा गया है ?

गौतम ! वर्तुल और वलयाकार कहा गया है, क्योंकि वह घनवातवलय को चारों ओर से घेरकर रहा हुआ है । इसी प्रकार सप्तमपृथ्वी तक के तनुवातवलय का आकार जानना चाहिए ।

हे भगवन् ! यह रत्नप्रभा पृथ्वी कितनी लम्बी-चौड़ी कही गई है ?

गौतम ! असंख्यात हजार योजन लम्बी और चौड़ी तथा असंख्यात हजार योजन की परिधि (घेराव) वाली है । इसी प्रकार सप्तमपृथ्वी तक कहना चाहिए ।

हे भगवन् ! यह रत्नप्रभापृथ्वी अन्त में और मध्य में सर्वत्र समान बाहल्य वाली कही गई है ?

हाँ, गौतम ! यह रत्नप्रभा पृथ्वी अन्त में, मध्य में सर्वत्र समान बाहल्य वाली कही गई है । इसी प्रकार सातवीं पृथ्वी तक कहना चाहिए ।

सर्व जीव-पुद्गलों का उत्पाद

७७. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सव्वजीवा उववण्णपुव्वा ? सव्वजीवा उववण्णा ?

गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए सव्वजीवा उववण्णपुव्वा, नो चेव णं सव्वजीवा उववण्णा ।

एवं जाव अहेसत्तमाए पुढवीए ।

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा सव्वजीवेहिंविजढा ?

गोयमा ! इमा णं रयणप्पभापुढवी सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा, नो चेव णं सव्वजीवविजढा ।

एवं जाव अधेसत्तमा ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सव्वपोग्गला पविट्ठपुव्वा, सव्वपोग्गला पविट्ठा ।

गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए सव्वपोग्गला पविट्ठपुव्वा, नो चेव णं सव्वपोग्गला पविट्ठा ।

एवं जाव अधेसत्तमाए पुढवीए ।

इमा णं भंते ! रयणप्पभापुढवी सव्वपोग्गलेहिं विजढपुव्वा ? सव्वपोग्गला विजढा ?

गोयमा ! इमा णं रयणप्पभापुढवी सव्वपोग्गलेहिं विजढपुव्वा, नो चेव णं सव्वपोग्गलेहिं विजढा ।

एवं जाव अधेसत्तमा ।

[७७] हे भगवन् ! क्या इस रत्नप्रभापृथ्वी में सब जीव पहले काल-क्रम से उत्पन्न हुए हैं तथा युगपत् (एक साथ) उत्पन्न हुए हैं ?

गौतम ! इस रत्नप्रभापृथ्वी में कालक्रम से सब जीव पहले उत्पन्न हुए हैं किन्तु सब जीव एक साथ रत्नप्रभा में उत्पन्न नहीं हुए।

इसी प्रकार सप्तम पृथ्वी तक प्रश्न और उत्तर कहने चाहिए।

हे भगवन् ! यह रत्नप्रभापृथ्वी कालक्रम से सब जीवों के द्वारा पूर्व में परित्यक्त है क्या ? तथा सब जीवों के द्वारा पूर्व में एक साथ छोड़ी गई है क्या ?

गौतम ! यह रत्नप्रभापृथ्वी कालक्रम से सब जीवों के द्वारा पूर्व में परित्यक्त है परन्तु सब जीवों ने पूर्व में एक साथ इसे नहीं छोड़ा है।

इसी प्रकार सप्तम पृथ्वी तक प्रश्नोत्तर कहने चाहिए।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी में कालक्रम से सब पुद्‌गल पहले प्रविष्ट हुए हैं क्या ? तथा क्या एक साथ सब पुद्‌गल इसमें पूर्व में प्रविष्ट हुए हैं ?

गौतम ! इस रत्नप्रभापृथ्वी में कालक्रम से सब पुद्‌गल पहले प्रविष्ट हुए हैं परन्तु एक साथ सब पुद्‌गल पूर्व में प्रविष्ट नहीं हुए हैं।

इसी प्रकार सातवीं पृथ्वी तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! यह रत्नप्रभापृथ्वी कालक्रम से सब पुद्‌गलों के द्वारा पूर्व में परित्यक्त है क्या ? तथा सब पुद्‌गलों ने एक साथ इसे छोड़ा है क्या ?

गौतम ! यह रत्नप्रभापृथ्वी कालक्रम से सब पुद्‌गलों द्वारा पूर्व में परित्यक्त है परन्तु सब पुद्‌गलों द्वारा एक साथ पूर्व में परित्यक्त नहीं है।

इस प्रकार सप्तम पृथ्वी तक कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्रश्न किया गया है कि क्या संसार के सब जीवों और सब पुद्‌गलों ने रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों में गमन और परिणमन किया है ? प्रश्न का आशय यह है कि क्या सब जीव रत्नप्रभा आदि में कालक्रम से उत्पन्न हुए हैं या एक साथ सब जीव उत्पन्न हुए हैं ? पुद्‌गलों के सम्बन्ध में भी रत्नप्रभादि के रूप में कालक्रम से या युगपत् परिणमन को लेकर प्रश्न समझना चाहिए।

भगवान् ने कहा—गौतम ! इस रत्नप्रभापृथ्वी में सब जीव कालक्रम से—अलग-अलग समय में पहले उत्पन्न हुए हैं। यहाँ सब जीवों से तात्पर्य संव्यवहार राशि वाले जीव ही समझने चाहिए, अव्यवहार राशि के जीव नहीं। संसार अनादिकालीन होने से अलग-अलग समय में सब जीव रत्नप्रभा आदि में उत्पन्न हुए हैं। परन्तु सब जीव एक साथ रत्नप्रभादि में उत्पन्न नहीं हुए। यदि सब जीव एक साथ रत्नप्रभादि में उत्पन्न हो जाएँ तो देव, तिर्यंच, मनुष्यादि का अभाव प्राप्त हो जावेगा। ऐसा कभी नहीं होता। जगत् का स्वभाव ही ऐसा है। तथाविध जगत्-स्वभाव से चारों गतियां शाश्वत हैं। अतः एक साथ सब जीव रत्नप्रभादि में उत्पन्न नहीं हो सकते।

पहला प्रश्न उत्पाद को लेकर है। निर्गम को लेकर दूसरा प्रश्न किया है कि हे भगवन्! सब जीवों ने पूर्व में कालक्रम से रत्नप्रभादि पृथ्वियों को छोड़ा है या सब जीवों ने पूर्व में एक साथ रत्नप्रभादि को छोड़ा है?

भगवान् ने कहा—गौतम! सब जीवों ने भूतकाल में कालक्रम से, अलग-अलग समय में रत्नप्रभादि भूमियों को छोड़ा है परन्तु सब जीवों ने एक साथ उन्हें नहीं छोड़ा। सब जीव एक साथ रत्नप्रभादि का परित्याग कर ही नहीं सकते। क्योंकि तथाविध निमित्त ही नहीं है। यदि एक साथ सब जीवों द्वारा रत्नप्रभादि का त्याग किया जाना माना जाय तो रत्नप्रभादि में नारकों का अभाव हो जायगा। ऐसा कभी नहीं होता।

जीवों को लेकर हुए प्रश्नोत्तर के पश्चात् पुद्गल सम्बन्धी प्रश्न हैं। क्या सब पुद्गल भूतकाल में रत्नप्रभादि के रूप में कालक्रम से परिणत हुए हैं या एक साथ सब पुद्गल रत्नप्रभादि के रूप में परिणत हुए हैं? भगवान् ने कहा—सब पुद्गल कालक्रम से अलग-अलग समय में रत्नप्रभादि के रूप में परिणत हुए हैं, क्योंकि संसार अनादिकाल से है और उसमें ऐसा परिणमन हो सकता है। परन्तु सब पुद्गल एक साथ रत्नप्रभादि के रूप में परिणत नहीं हो सकते। सब पुद्गलों के तद्रूप में परिणत होने पर रत्नप्रभादि को छोड़कर अन्यत्र सब जगह पुद्गलों का अभाव हो जावेगा। ऐसा तथाविध जगत्-स्वभाव के कारण कभी नहीं होता।

इसी प्रकार सब पुद्गलों ने कालक्रम से रत्नप्रभादि रूप परिणमन का परित्याग किया है। क्योंकि संसार अनादि है, किन्तु सब पुद्गलों ने एक साथ रत्नप्रभादि रूप परिणमन का त्याग नहीं किया है। क्योंकि यदि वैसा माना जाय तो रत्नप्रभादि के स्वरूप का अभाव हो जावेगा। ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि तथाविध जगत्-स्वभाव से रत्नप्रभादि शाश्वत हैं।

शाश्वत या अशाश्वत

७८. इमा णं भंते! रयणप्पभापुढवी किं सासया असासया?

गोयमा! सिय सासया, सिय असासया।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—सिय सासया, सिय असासया?

गोयमा! दव्वट्ठयाए सासया, वण्णपज्जवेहिं, गंधपज्जवेहिं, रसपज्जवेहिं, फासपज्जवेहिं असासया; से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—तं चेव जाव सिय असासया।

एवं जाव अधेसत्तमा।

इमा णं भंते! रयणप्पभापुढवी कालओ केवच्चिरं होइ?

गोयमा! न कयाइ ण आसि, न कयाइ णत्थि, न कयाइ न भविस्सइ; भुविं च भवइ य भविस्सइ य; धुवा, णियया, सासया, अक्खया, अव्वया, अवट्ठिआ णिच्चा। एवं चेव अधेसत्तमा।

[७८] हे भगवन्! यह रत्नप्रभापृथ्वी शाश्वत है या अशाश्वत?

गौतम! कथञ्चित् शाश्वत है और कथञ्चित् अशाश्वत है।

भगवन्! ऐसा क्यों कहा जाता है—कथंचित् शाश्वत है, कथंचित् अशाश्वत है?

गौतम ! द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से शाश्वत है और वर्ण-पर्यायों से, गंधपर्यायों से, रस-पर्यायों से, स्पर्शपर्यायों से अशाश्वत है। इसलिए गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि यह रत्नप्रभापृथ्वी कथंचित् शाश्वत है और कथंचित् अशाश्वत है।

इसी प्रकार अधःसप्तमपृथ्वी तक कहना चाहिए।

भगवन् ! यह रत्नप्रभापृथ्वी काल से कितने समय तक रहने वाली है ?

गौतम ! यह रत्नप्रभापृथ्वी 'कभी नहीं थी', ऐसा नहीं, 'कभी नहीं है', ऐसा भी नहीं और 'कभी नहीं रहेगी', ऐसा भी नहीं। यह अतीतकाल में थी, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगी। यह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।

इसी प्रकार अधःसप्तमपृथ्वी तक जाननी चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में रत्नप्रभापृथ्वी को शाश्वत भी कहा है और अशाश्वत भी कहा है। इस पर शंका होती है कि शाश्वतता और अशाश्वतता परस्पर विरोधी धर्म हैं तो एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म कैसे रह सकते हैं ? यदि वह शाश्वत है तो अशाश्वत नहीं हो सकती और अशाश्वत है तो शाश्वत नहीं हो सकती। जैसे शीतत्व और उष्णत्व एकत्र नहीं रह सकते। एकान्तवादी दर्शनों की ऐसी ही मान्यता है। अतएव नित्यैकान्तवादी अनित्यता का अपलाप करते हैं और अनित्यैकान्तवादी नित्यता का अपलाप करते हैं। सांख्य आदि दर्शन एकान्त नित्यता का समर्थन करते हैं जबकि बौद्धादि दर्शन एकान्त क्षणिकता-अनित्यता का समर्थन करते हैं। जैनसिद्धान्त इन दोनों एकान्तों का निषेध करता है और अनेकान्त का समर्थन करता है। जैनआगम और जैनदर्शन प्रत्येक वस्तु को विविध दृष्टिकोणों से देखकर उसकी विविधरूपता और एकरूपता को स्वीकार करता है। वस्तु भिन्न-भिन्न विवक्षाओं और अपेक्षाओं से भिन्न रूप वाली है और उस भिन्नरूपता में भी उसका एकत्व रहा हुआ है। एकान्तवादी दर्शन केवल एक धर्म को ही समग्र वस्तु मान लेते हैं। जबकि वास्तव में वस्तु विविध पहलुओं से विभिन्न रूप वाली है। अतएव एकान्तवाद अपूर्ण है, एकांगी है। वह वस्तु के समग्र और सही स्वरूप को प्रकट नहीं करता। जैनसिद्धान्त वस्तु को समग्र रूप में देख कर प्ररूपणा करता है कि प्रत्येक वस्तु अपेक्षाभेद से नित्य भी है, अनित्य भी है, सामान्यरूप भी है, विशेषरूप भी है, एकरूप भी है और अनेकरूप भी है। भिन्न भी है और अभिन्न भी है। ऐसा मानने पर एकान्तवादी दर्शन जो विरुद्धधर्मता का दोष देते हैं वह यथार्थ नहीं है। क्योंकि विरोध दोष तो तब हो जब एक ही अपेक्षा या एक ही विवक्षा से उसे नित्यानित्य आदि कहा जाय। अपेक्षा या विवक्षा के भेद से ऐसा मानने पर कोई दोष या असंगति नहीं है। जैसे एक ही व्यक्ति विविध रिश्तों को लेकर पिता, पुत्र, मामा, काका आदि होता ही है। इसमें क्या विरोध है ? यह तो अनुभव-सिद्ध और व्यवहारसिद्ध तथ्य है।

जैनसिद्धान्त अपने इस अनेकान्तवादी दृष्टिकोण को नयों के आधार से प्रमाणित करता है। संक्षेप में नय दो प्रकार के हैं--१. द्रव्यार्थिकनय और २. पर्यायार्थिकनय। द्रव्यनय वस्तु के सामान्य स्वरूप को ग्रहण करता है और पर्यायनय वस्तु के विशेषस्वरूप को ग्रहण करता है। प्रत्येक वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है।[1]

---

१. उत्पादव्ययध्रौव्यमुक्तं सत्। —तत्वार्थसूत्र
द्रव्य-पर्यायात्मकं वस्तु।

वस्तु न एकान्त द्रव्यरूप है और न एकान्त पर्याय रूप है। वह उभयात्मक है।[1] द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं रहते और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रहता। द्रव्य, पर्यायों का आधार है और पर्याय द्रव्य का आधेय हैं। आधेय के बिना आधार और आधार के बिना आधेय की स्थिति ही नहीं है। द्रव्य के बिना पर्याय और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रह सकता। अतएव कहा जा सकता है कि परपरिकल्पित एकान्त द्रव्य असत् है क्योंकि वह पर्यायरहित है। जो पर्यायरहित है वह द्रव्य असत् है जैसे बालत्वादिपर्याय से शून्य वन्ध्यापुत्र। इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि परपरिकल्पित एकान्त पर्याय असत् है क्योंकि वह द्रव्य से भिन्न है। जो द्रव्य से भिन्न है वह असत् है जसे वन्ध्यापुत्र की बालत्व आदि पर्याय। अतएव सिद्ध होता है कि वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है और उभयदृष्टि से उसका समग्र विचार करना चाहिए।

उक्त अनेकान्तवादी एवं प्रमाणित दृष्टिकोण को लेकर ही सूत्र में कहा गया है कि रत्नप्रभा-पृथ्वी द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है। अर्थात् रत्नप्रभापृथ्वी का आकारादि भाव उसका अस्तित्व आदि सदा से था, है और रहेगा। अतएव वह शाश्वत है। परन्तु उसके कृष्णादि वर्ण पर्याय, गंधादि पर्याय, रस पर्याय, स्पर्श पर्याय आदि प्रतिक्षण पलटते रहते हैं अतएव वह अशाश्वत भी है। इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से रत्नप्रभापृथ्वी शाश्वत है और पर्यायार्थिक नय से वह अशाश्वत है। इसी प्रकार सातों नरकपृथ्वियों की वक्तव्यता जाननी चहिए।

रत्नप्रभादि की शाश्वतता द्रव्यापेक्षया कही जाने पर शंका हो सकती है कि यह शाश्वतता सकलकालावस्थिति रूप है या दीर्घकाल-अवस्थितिरूप है, जैसा कि अन्यतीर्थी कहते हैं—यह पृथ्वी आकल्प शाश्वत है?[2] इस शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि यह पृथ्वी अनादिकाल से सदा से थी, सदा है और सदा रहेगी। यह अनादि-अनन्त है। त्रिकालभावी होने से यह ध्रुव है, नियत स्वरूप वाली होने से धर्मस्तिकाय की तरह नियत है, नियत होने से शाश्वत है, क्योंकि इसका प्रलय नहीं होता। शाश्वत होने से अक्षय है और अक्षय होने से अव्यय है और अव्यय होने से स्वप्रमाण में अवस्थित है। अतएव सदा रहने के कारण नित्य है। अथवा ध्रुवादि शब्दों को एकार्थक भी समझा जा सकता है। शाश्वतता पर विशेष भार देने हेतु विविध एकार्थक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार सातों पृथ्वियों की शाश्वतता जाननी चाहिए।

पृथ्वियों का विभागवार अन्तर

७९. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लाओ चरिमंताओ हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ?

गोयमा ! असिउत्तरं जोयणसयसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लाओ चरिमंताओ खरस्स कंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवइयं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ?

गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते।

---

१. द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिता। क्व कदा केन किंरूपा, दृष्टा मानेन केन वा।

२. 'आकप्पट्ठाई पुढवी सासया।'

इमीसे णं भंते ! रयण० पु० उवरिल्लाओ चरिमंताओ रयणकंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवइयं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एक्कं जोयणसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ?

इमीसे णं भंते ! रयण० पु० उवरिल्लाओ चरिमंताओ वइरस्स कंडस्स उवरिल्ले चरिमंते एस णं केवइयं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एक्कं जोयणसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ?

इमीसे णं रयण० पु० उवरिल्लाओ चरिमंताओ वइरस्स कंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं भंते ! केवइयं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दो जोयणसहस्साइं इमीसे णं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते । एवं जाव रिट्ठस्स उवरिल्ले पन्नरस जोयणसहस्साइं, हेट्ठिल्ले चरमंते सोलस जोयणसहस्साइं ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लाओ चरमंताओ पंकबहुलस्स कंडस्स उवरिल्ले चरिमंते एस णं अबाहाए केवइयं अंतरे पण्णत्ते ?

गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते । हेट्ठिल्ले चरमंते एक्कं जोयणसयसहस्सं।आवबहुलस्स उवरि एक्कं जोयणसयसहस्सं हेट्ठिल्ले चरिमंते असीउत्तरं जोयणसयसहस्सं ।

घणोदधि उवरिल्ले असिउत्तर जोयणसयसहस्सं, हेट्ठिल्ले चरिमंते दो जोयणसयसहस्साइं ।

इमीसे णं भंते ! रयण० पु० घणवातस्स उवरिल्ले चरिमंते दो जोयणसयसहस्साइं । हेट्ठिल्ले चरिमंते असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं ।

इमीसे णं भंते ! रयण० पु० तणुवायस्स उवरिल्ले चरमंते असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं अबाधाए अंतरे, हेट्ठिल्ले वि असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं । एवं ओवासंतरे वि ।

दोच्चाए णं भंते ! पुढवीए उवरिल्लाओ चरिमंताओ हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवइयं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ?

गोयमा ! बत्तीसुत्तर जोयणसयसहस्सं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

सक्करप्पभाए पुढवीए उवरि घणोदधिस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते बावण्णुत्तरं जोयणसयसहस्सं अबाधाए । घणवातस्स असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं पण्णत्ताइं । एवं जाव ओवासंतरस्स वि । जाव अधेसत्तमाए, णवरं जीसे जं बाहल्लं तेण घणोदधि संबंधेयव्वो बुद्धीए ।

सक्करप्पभाए अणुसारेणं घणोदधिसहियाणं इमं पमाणं--तच्चाए णं भंते ! अडयालीसुत्तरं जोयणसयसहस्सं । पंकप्पभाए पुढवीए चत्तालीसुत्तरं जोयणसयसहस्सं । धूमप्पभाए पुढवीए अट्ठतीसुत्तरं जोयणसयसहस्सं । तमाए पुढवीए छत्तीसुत्तरं जोयणसयसहस्सं । अहेसत्तमाए पुढवीए अट्ठावीसुत्तरं जोयणसयसहस्सं जाव अधेसत्तमाए । एस णं भंते ! पुढवीए उवरिल्लाओ चरिमंताओ ओवासंतरस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते केवइयं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ?

गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ।

[७९] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर के चरमांत से नीचे के चरमान्त के बीच कितना अन्तर कहा गया है ?

गौतम ! एक लाख अस्सी हजार योजन का अन्तर है ।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से खरकांड के नीचे के चरमान्त के बीच कितना अन्तर है ?

गौतम ! सोलह हजार योजन का अन्तर है ।]

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से रत्नकांड के नीचे के चरमान्त के बीच कितना अन्तर है ?

गौतम ! एक हजार योजन का अन्तर है ।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से वज्रकांड के ऊपर के चरमान्त के बीच कितना अन्तर है ?

गौतम ! एक हजार योजन का अन्तर है ।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से वज्रकांड के नीचे के चरमान्त के बीच कितना अन्तर है ?

गौतम ! दो हजार योजन का अन्तर है । इस प्रकार रिष्टकाण्ड के ऊपर के चरमान्त के बीच पन्द्रह हजार योजन का अन्तर है और नीचे के चरमान्त तक सोलह हजार का अन्तर है ।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से पंकबहुलकाण्ड के ऊपर के चरमान्त के बीच कितना अन्तर है ?

गौतम ! सोलह हजार योजन का अन्तर है । नीचे के चरमान्त तक एक लाख योजन का अन्तर है । अप्बहुलकाण्ड के ऊपर के चरमान्त तक एक लाख योजन का और नीचे के चरमान्त तक एक लाख अस्सी हजार योजन का अन्तर है ।

घनोदधि के ऊपर के चरमान्त तक एक लाख अस्सी हजार और नीचे के चरमान्त तक दो लाख योजन का अन्तर है ।

इस रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से घनवात के ऊपर के चरमान्त तक दो लाख योजन का अन्तर है और नीचे के चरमान्त तक असंख्यात लाख योजन का अन्तर है ।

इस रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से तनुवात के ऊपर के चरमान्त तक असंख्यात लाख योजन का अन्तर है और नीचे के चरमान्त तक भी असंख्यात लाख योजन का अन्तर है । इसी प्रकार अवकाशान्तर के दोनों चरमान्तों का भी अन्तर समझना चाहिए ।

हे भगवन् ! दूसरी पृथ्वी (शर्कराप्रभा) के ऊपर के चरमान्त से नीचे के चरमान्त के बीच कितना अन्तर है ?

गौतम ! एक लाख बत्तीस हजार योजन का अन्तर है । घनोदधि के उपरि चरमान्त के बीच एक लाख बत्तीस हजार योजन का अन्तर है । नीचे के चरमान्त तक एक लाख बावन हजार योजन का

अन्तर है। घनवात के उपरितन चरमान्त का अन्तर भी इतना ही है। घनवात के नीचे के चरमान्त तक तथा तनुवात और अवकाशान्तर के ऊपर और नीचे के चरमान्त तक असंख्यात लाख योजन का अन्तर है। इस प्रकार सप्तम पृथ्वी तक कहना चाहिए। विशेषता यह है कि जिस पृथ्वी का जितना बाहल्य है उससे घनोदधि का संबंध बुद्धि से जोड़ लेना चाहिए। जैसे कि तीसरी पृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से घनोदधि के चरमान्त तक एक लाख अड़तालीस हजार योजन का अन्तर है। पंकप्रभा पृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से उसके घनोदधि के चरमान्त तक एक लाख चवालीस हजार का अन्तर है। धूमप्रभा के ऊपरी चरमान्त से उसके घनोदधि के चरमान्त तक एक लाख अड़तीस हजार योजन का अन्तर है। तमःप्रभा में एक लाख छत्तीस हजार योजन का अन्तर तथा अधःसप्तम पृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से उसके घनोदधि का चरमान्त एक लाख अट्ठावीस हजार योजन है।

इसी प्रकार घनवात के अधस्तन चरमान्त की पृच्छा में तनुवात और अवकाशान्तर के उपरितन और अधस्तन की पृच्छा में असंख्यात लाख योजन का अन्तर कहना चाहिए।

बाहल्य की अपेक्षा तुल्यतादि

८०. इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला, विसेसाहिया, संखेज्जगुणा ? वित्थरेणं किं तुल्ला विसेसहीणा संखेज्जगुणहीणा ?

गोयमा ! इमा णं रयणप्पभा पुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं नो तुल्ला, विसेसाहिया नो संखेज्जगुणा, वित्थारेणं नो तुल्ला, विसेसहीणा, णो संखेज्जगुणहीना।

दोच्चा णं भंते ! पुढवी तच्चं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला ? एवं चेव भाणियव्वं। एवं तच्चा चउत्थी पंचमी छट्ठी। छट्ठी णं भंते ! पुढवी सत्तमं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला, विसेसाहिया, संखेज्जगुणा ?

एवं चेव भाणियव्वं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! नेरइयउद्देसओ पढमो।

[८०] हे भगवन् ! यह रत्नप्रभापृथ्वी दूसरी नरकपृथ्वी की अपेक्षा मोटाई में क्या तुल्य है, विशेषाधिक है या संख्येयगुण है ? और विस्तार की अपेक्षा क्या तुल्य है, विशेषहीन है या संख्येयगुणहीन है ?

गौतम ! यह रत्नप्रभापृथ्वी दूसरी नरकपृथ्वी की अपेक्षा मोटाई में तुल्य नहीं है, विशेषाधिक है, संख्यातगुणहीन है। विस्तार की अपेक्षा तुल्य नहीं है, विशेषहीन है, संख्यातगुणहीन नहीं है।

भगवन् ! दूसरी नरकपृथ्वी तीसरी नरकपृथ्वी की अपेक्षा मोटाई में क्या तुल्य है इत्यादि उसी प्रकार कहना चाहिए। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पांचवीं और छठी नरक पृथ्वी के विषय में समझना चाहिए।

भगवन् ! छठी नरकपृथ्वी सातवीं नरकपृथ्वी की अपेक्षा बाहल्य में क्या तुल्य है, विशेषाधिक है या संख्येयगुण है ? उसी प्रकार कहना चाहिए।

हे भगवन् ! (जैसा आपने कहा) वह वैसा ही है, वह वैसा ही है। इस प्रकार प्रथम नैरयिक उद्देशक पूर्ण हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नरकपृथ्वियों के बाहल्य और विस्तार को लेकर आपेक्षिक तुल्यता, विशेषाधिकता या विशेषहीनता अथवा संख्यातगुणविशेषाधिकता या संख्यातगुणहीनता को लेकर प्रश्न किये गये हैं। यहाँ यह शंका हो सकती है कि पूर्वसूत्रों में नरकपृथ्वियों का बाहल्य बता दिया गया है, उससे अपने आप यह बात ज्ञात हो जाती है तो फिर इन प्रश्नों की क्या उपयोगिता है ? यह शंका यथार्थ है परन्तु समाधान यह है—यह प्रश्न स्वयं जानते हुए भी दूसरे मंदमतियों की अज्ञान-निवृत्ति हेतु और उन्हें समझाने हेतु किया गया है। प्रश्न दो प्रकार के हैं—एक ज्ञ-प्रश्न और दूसरा अज्ञ-प्रश्न। स्वयं जानते हुए भी जो दूसरों को समझाने की दृष्टि से प्रश्न किया जाय वह ज्ञ-प्रश्न है और जो अपनी जिज्ञासा के लिए किया जाता है वह अज्ञ-प्रश्न है। ऊपर जो प्रश्न किया गया है वह ज्ञ- प्रश्न है जो मंदमतियों के लिए किया गया है। यह कैसे कहा जा सकता है कि यह ज्ञ-प्रश्न है ? क्योंकि इसके आगे जो प्रश्न किया गया है वह स्व-अवबोध के लिए है।

सूत्र में प्रश्न किया गया है कि दूसरी नरकपृथ्वी की अपेक्षा यह रत्नप्रभापृथ्वी मोटाई में तुल्य है, विशेषाधिक है या संख्येयगुण है ? उत्तर में कहा गया है तुल्य नहीं है, विशेषाधिक है किन्तु संख्येयगुण नहीं हैं। क्योंकि रत्नप्रभा की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन की है और दूसरी शर्करापृथ्वी की मोटाई एक लाख बत्तीस हजार योजन है। दोनों में अड़तालीस हजार योजन का अन्तर है। इतना ही अन्तर होने के कारण विशेषाधिकता ही घटती है तुल्यता और संख्येयगुणता घटित नहीं होती। सब पृथ्वियों की मोटाई यहाँ उद्धृत कर देते हैं ताकि स्वयमेव यह प्रतीत हो जावेगा कि दूसरी पृथ्वी की अपेक्षा प्रथम पृथ्वी बाहल्य में विशेषाधिक है और तीसरी की अपेक्षा दूसरी विशेषाधिक है तथा चौथी की अपेक्षा तीसरी विशेषाधिक है, इसी तरह सातवीं की अपेक्षा छठी पृथ्वी मोटाई में विशेषाधिक है। सब पृथ्वियों की मोटाई इस प्रकार है—

प्रथम पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन की है।

दूसरी पृथ्वी की मोटाई एक लाख बत्तीस हजार योजन की है।

तीसरी पृथ्वी की एक लाख अट्ठाईस हजार योजन की है।

चौथी पृथ्वी की एक लाख बीस हजार योजन की है।

पांचवीं पृथ्वी की एक लाख अठारह हजार योजन की है।

छठी पृथ्वी की मोटाई एक लाख सोलह हजार योजन की है।

सातवीं पृथ्वी की मोटाई एक लाख आठ हजार योजन की है।

अतएव बाहल्य की अपेक्षा से पूर्व-पूर्व की पृथ्वी अपनी पिछली पृथ्वी की अपेक्षा विशेषाधिक ही है, तुल्य या संख्येयगुण नहीं।

विस्तार की अपेक्षा पिछली-पिछली पृथ्वी की अपेक्षा पूर्व-पूर्व की पृथ्वी विशेषहीन है, तुल्य या संख्येयगुणहीन नहीं। रत्नप्रभा में प्रदेशादि की वृद्धि से प्रवर्धमान होने पर उतने ही क्षेत्र में शर्कराप्रभादि में भी वृद्धि होती है, अतएव विशेषहीनता ही घटित होती है।

इस प्रकार भगवान् के द्वारा प्रश्नों के उत्तर दिये जाने पर श्री गौतमस्वामी भगवान् के प्रति अपनी अटूट और अनुपम श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहते हैं कि भगवन्! आपने जो कुछ फरमाया, वह पूर्णतया वैसा ही है, सत्य है, यथार्थ है। ऐसा कह कर गौतमस्वामी भगवान् को वन्दन-नमस्कार करके संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं।

इस प्रकार जीवाजीवाभिगम की तीसरी प्रतिपत्ति का
प्रथम नरक-उद्देशक समाप्त।

□□

तृतीय प्रतिपत्ति

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में नरक-पृथ्वियों के नाम, गोत्र, बाहल्य आदि विविध जानकारियां दी गई हैं। अब क्रमप्राप्त द्वितीय उद्देशक में नरक पृथ्वियों के किस प्रदेश में कितने नरकावास हैं और वे कैसे हैं, इत्यादि वर्णन किया जा रहा है। उसका आदि सूत्र यह है—

८१. कइ णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—रयणप्पभा जाव अहेसत्तमा।

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तर जोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवइयं ओगाहित्ता हेट्ठा केवइयं वज्जित्ता मज्झे केवइए केवइया निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तर जोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता हेट्ठावि एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अडसत्तरी जोयणसयसहस्सा, एत्थ णं रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं तीसं निरयावाससयसहस्साइं भवंति त्ति मक्खाया।

ते णं णरग अंतोवट्टा बाहिं चउरंसा जाव असुभा णरएसु वेयणा। एवं एएणं अभिलावेणं उवजुंजिऊण भाणियव्वं ठाणप्पयाणुसारेण, जत्थ जं बाहल्लं जत्थ जत्तिया वानिरयावाससयसहस्सा जाव अहे सत्तमाए पुढवीए- अहे सत्तमाए मज्झिमं केवइए कति अणुत्तरा महइमहालया महाणिरया पण्णत्ता, एवं पुच्छियव्वं वागरेयव्वं पि तहेव।

[८१] हे भगवन् ! पृथ्वियां कितनी कही गई हैं ?

गौतम ! सात पृथ्वियां कही गई हैं—जैसे कि रत्नप्रभा यावत् अधःसप्तम पृथ्वी।

भगवन् ! एक लाख अस्सी हजार योजन प्रमाण बाहल्य वाली इस रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर से कितनी दूर जाने पर और नीचे के कितने भाग को छोड़कर मध्य के कितने भाग में कितने लाख नरकावास कहे गये हैं ?

गौतम ! इस एक लाख अस्सीहजार योजनप्रमाण बाहल्यवाली रत्नप्रभापृथ्वी के एक हजार योजन का ऊपरी भाग छोड़ कर और नीचे का एक हजार योजन का भाग छोड़कर मध्य में एक लाख अठहत्तर हजार योजनप्रमाणक्षेत्र में तीस लाख नरकावास हैं, ऐसा कहा गया है।

ये नरकावास अन्दर से मध्य भाग में गोल हैं बाहर से चौकोन है यावत् इन नरकावासों में अशुभ वेदना है। इसी अभिलाप के अनुसार प्रज्ञापना के स्थानपद के मुताबिक सब वक्तव्यता कहनी चाहिए। जहाँ जितना बाहल्य है और जहाँ जितने नरकावास हैं, उन्हें विशेषण के रूप में जोड़कर सप्तम पृथ्वी पर्यन्त कहना चाहिए, यथा—अधःसप्तमपृथ्वी के मध्यवर्ती कितने क्षेत्र में कितने अनुत्तर, बड़े से बड़े महानरक कहे गये हैं, ऐसा प्रश्न करके उसका उत्तर भी पूर्ववत् कहना चाहिए।

विवेचन—पृथ्वियां कितनी हैं ? यह प्रश्न पहले किया जा चुका है और उसका उत्तर भी पूर्व में दिया जा चुका है कि पृथ्वियां सात हैं—यथा रत्नप्रभा से लगाकर अधःसप्तम पृथ्वी तक। फिर यह प्रश्न दुबारा क्यों किया गया है, यह शंका सहज होती है। इसका समाधान करते हुए पूर्वाचार्यों ने कहा है कि[1] 'जो पूर्ववर्णित विषय पुनः कहा जाता है वह किसी विशेष कारण को लेकर होता है। वह विशेष कारण प्रतिषेध या अनुज्ञारूप भी हो सकता है और पूर्व विषय में विशेषता प्रतिपादन रूप भी हो सकता है।' यहां दुबारा किया गया यह प्रश्न और पूर्ववर्णित विषय में अधिक और विशेष जानकारी देने के अभिप्राय से समझना चाहिए।

यहां विशेष प्रश्न यह है कि नरकावासों की स्थिति नरक-पृथ्वियों के कितने भाग में है तथा उन नरकावासों का आकार कैसा है तथा वहां के नारक जीव कैसी वेदना भोगते हैं ?

इन प्रश्नों के संदर्भ में प्रभु ने फरमाया कि एक लाख अस्सी हजार योजन प्रमाण बाहल्य (मोटाई) वाली रत्नप्रभापृथ्वी के उपरी भाग से एक हजार योजन की दूरी पार करने पर और अन्तभाग का एक हजार योजन प्रमाण भाग छोड़कर मध्य के एक लाख अठहत्तर हजार योजन प्रमाण क्षेत्र में तीस लाख नरकावास कहे गये हैं। यह कथन जैसे मैं कर रहा हूँ वैसा ही अतीत काल के तीर्थंकरों ने भी किया है। सब तीर्थंकरों के वचनों में अविसंवादिता और एकरूपता होती है।

ये नरकावास मध्य में गोल हैं और बाहर से चतुष्कोण हैं। पीठ के ऊपर वर्तमान जो मध्य-भाग है उसको लेकर गोलाकृति कही गई है तथा सकलपीठादि की अपेक्षा से तो आवलिका प्रविष्ट नरकावास तिकोण, चतुष्कोण संस्थान वाले कहे गये हैं और जो पुष्पावकीर्ण नरकावास हैं वे अनेक प्रकार के हैं—सूत्र में आये हुए 'जाव असुभा' पद से[2] टिप्पण में दिये पाठ का संग्रह हुआ है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

अहेखुरप्पसंठाणा—ये नरकावास नीचे के भाग से क्षुरा (उस्तरा) के समान तीक्ष्ण आकार के हैं। इसका अर्थ यह है कि इन नरकावासों का भूमितल चिकना या मुलायम नहीं है किन्तु कंकरों से युक्त है, जिनके स्पर्शमात्र से नारकियों के पांव कट जाते हैं—छिल जाते हैं और वे वेदना का अनुभव करते हैं।

णिच्चंधयारतमसा—उन नरकावासों में सदा गाढ अन्धकार बना रहता है। तीर्थंकरादि के जन्मादि प्रसंगों के अतिरिक्त वहाँ प्रकाश का सर्वथा अभाव होने से जात्यन्ध की भांति या मेघाच्छन्न अर्धरात्रि के अन्धकार से भी अतिघना अन्धकार वहाँ सदाकाल व्याप्त रहता है, क्योंकि वहाँ प्रकाश करने वाले सूर्यादि हैं ही नहीं। इसी को विशेष स्पष्ट करने के लिए आगे और विशेषण दिया है—

ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा—उन नरकावासों में ग्रह-चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र-तारा आदि ज्योतिष्कों का पथ संचार रास्ता नहीं है अर्थात् ये प्रकाश करने वाले तत्त्व वहाँ नहीं हैं।

---

१. पुव्वभणियं पि जं पुण भण्णइ तत्थ कारणमत्थि।
पडिसेहो य अणुण्णा कारणविसेसोवलंभो वा॥

२. 'अहे खुरप्पसंठाणसंठिया, णिच्चंधयारतमसा, ववगयगह-चंद-सूर-नक्खत्तजोइसपहा, मेयवसापूयरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला, असुहबीभच्छा, परमदुब्भिगंधा काऊअगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुहा नरएसा वियणा।'

मेयवसापूयरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला—उन नरकावासों का भूमितल मेद, चर्बी, पूति (पीप), खून और मांस के कीचड़ से सना हुआ है, पुनः पुनः अनुलिप्त है।

असुइबीभच्छा—मेदादि के कीचड़ के कारण अशुचिरूप होने से अत्यन्त घृणोत्पादक और बीभत्स हैं। उन्हें देखने मात्र से ही अत्यन्त ग्लानि होती है।

परमदुब्भिगंधा—वे नरकावास अत्यन्त दुर्गन्ध वाले हैं। उनसे वैसी दुर्गन्ध निकलती रहती है जैसे मरे हुए जानवरों के कलेवरों से निकलती है।

काउअगणिवण्णाभा—लोहे को धमधमाते समय जैसे अग्नि की ज्वाला का वर्ण बहुत काला हो जाता है—इस प्रकार के वर्ण के वे नरकावास हैं। अर्थात् वर्ण की अपेक्षा से अत्यन्त काले हैं।

कक्खडफासा—उन नरकावासों का स्पर्श अत्यन्त कर्कश है। असिपत्र (तलवार की धार) की तरह वहाँ का स्पर्श अति दुःसह है।

दुरहियासा—वे नरकावास इतने दुःखदायी हैं कि उन दुःखों को सहन करना बहुत ही कठिन होता है।

असुभा वेयणा—वे नरकावास बहुत ही अशुभ हैं। देखने मात्र से ही उनकी अशुभता मालूम होती है। वहाँ के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और शब्द—सब अशुभ ही अशुभ हैं तथा वहाँ जीवों को जो वेदना होती है वह भी अतीव असातारूप होती है अतएव 'अशुभवेदना' ऐसा विशेषण दिया गया है। नरकावासों में उक्त प्रकार की तीव्र एवं दुःसह वेदनाएँ होती हैं।

रत्नप्रभापृथ्वी को लेकर जो वक्तव्यता कही है, वही वक्तव्यता शर्करापृथ्वी के सम्बन्ध में भी है। केवल शर्करापृथ्वी की मोटाई तथा उसके नरकावासों की संख्या का विशेषण उसके साथ जोड़ना चाहिए। उदाहरण के लिए शर्कराप्रभा-पृथ्वी संबंधी पाठ इस प्रकार होगा—

'सक्करप्पमाए णं भंते! पुढवीए बत्तीसुत्तर-जोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवइयं ओगाहित्ता हेट्ठा केवइयं वज्जेत्ता मज्झे चेव केवइए केवइया णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता?

गोयमा! सक्करप्पभाए बत्तीसुत्तर-जोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्स-मोगाहित्ता हेट्ठा एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे तीसुत्तर जोयणसयसहस्से, एत्थ णं सक्करप्पभाए पुढविनेरइयाणं पणवीसा नरयावाससय सहस्सा भवंति ति मक्खाय, ते णं णरगा अंतो वट्टा जाव असुभा-नरएसु वेयणा।'

इसी प्रकार बालुकाप्रभा, पंकप्रभा धूमप्रभा, और तमःप्रभा तथा अधः सप्तमपृथ्वी तक का पाठ कहना चाहिए। सब पृथ्वियों का बाहल्य और नरकावासों की संख्या निम्न कोष्ठक से जानना चाहिए[1]—

---

१. इस संबंध में निम्न संगहणी गाथाएँ उपयोगी हैं—
आसीयं बत्तीसं अट्ठावीसं तहेव वीसं च। अट्ठारस सोलसगं अट्ठुत्तरमेव हिट्ठिमया ॥१॥ अट्ठुत्तरं च तीसं छव्वीसं चेव सयसहस्सं तु। अट्ठारस सोलसगं चोद्दसमहियं तु छट्ठीए ॥२॥ अद्धतिवण्णसहस्सा उवरिमहे वज्जिऊण भणिया। मज्झे तिसु सहस्सेसु होंति निरया तमतमाए ॥३॥ तीसा य पण्णवीसा पण्णरस दस चेव सयसहस्साइ। तिन्नि य पंचूणेगं पंचेव अणुत्तरा निरया ॥४॥

संख्या	पृथ्वीनाम	बाहल्य (योजन)	मध्यभाग पोलार (योजन)	नरकावास संख्या
१	रत्नप्रभा	१,८००००	१,७८०००	तीस लाख
२	शर्कराप्रभा	१,३२०००	१,३००००	पच्चीस लाख
३	बालुकाप्रभा	१,२८०००	१,२६०००	पन्द्रह लाख
४	पंकप्रभा	१,२००००	१,१८०००	दस लाख
५	धूमप्रभा	१,१८०००	१,१६०००	तीन लाख
६	तमःप्रभा	१,१६०००	१,१४०००	निन्यानवै हजार नौ सौ पिच्यानवै
७	अधःसप्तम पृ.	१,०८०००	३०००	पांच

नरकावासों का संस्थान

८२. [१] **इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरका किंसंठिया पण्णत्ता ?**

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—आवलियपविट्ठा य आवलियबाहिरा य। तत्थ णं जे ते आवलियपविट्ठा ते तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—वट्टा, तंसा, चउरंसा। तत्थ णं जे ते आवलियबाहिरा ते णाणासंठाणसंठिया पण्णत्ता, तंजहा—अयकोट्ठसंठिया, पिट्ठपयणगसंठिया, कंडूसंठिया, लोही-संठिया, कडाहसंठिया, थालीसंठिया, पिहडगसंठिया, किमियडसंठिया, किन्नपुडगसंठिया, उडव संठिया, मुरयसंठिया, मुयंगसंठिया, नंदिमुयंगसंठिया, आलिंगकसंठिया, सुघोससंठिया, दद्दरय-संठिया, पणवसंठिया, पडहसंठिया, भेरीसंठिया, झल्लरिसंठिया, कुतुंबकसंठिया, नालिसंठिया, एवं जाव तमाए।

अहे सत्तमाए णं भंते ! पुढवीए णरका किंसंठिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—वट्टे य तंसा य।

[८२-१] हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नरकावासों का आकार कैसा कहा गया है ?

गौतम ! ये नरकावास दो तरह के हैं—१ आवलिकाप्रविष्ट और २ आवलिकाबाह्य। इनमें जो आवलिकाप्रविष्ट (श्रेणीबद्ध) हैं वे तीन प्रकार के हैं—१. गोल, २. त्रिकोण और ३. चतुष्कोण। जो आवलिका से बाहर (पुष्पावकीर्ण) हैं वे नाना प्रकार के आकारों के हैं, जैसे कोई लोहे की कोठी के आकार के हैं, कोई मदिरा बनाने हेतु पिष्ट आदि पकाने के बर्तन के आकार के हैं, कोई कंदू—हलवाई के पाकपात्र जैसे हैं, कोई लोही-तवा के आकार के हैं, कोई कडाही के आकार के हैं, कोई थाली- ओदन पकाने के बर्तन जैसे हैं, कोई पिठरक (जिसमें बहुत से मनुष्यों के लिए भोजन पकाया जाता है वह बर्तन) के आकार के हैं, कोई कृमिक (जीवविशेष) के आकार के हैं, कोई कीर्णपुटक जैसे हैं, कोई तापस के आश्रम जैसे, कोई मुरज (वाद्यविशेष) जैसे, कोई मृदंग के आकार के, कोई नन्दिमृदंग (बारह प्रकार के वाद्यों में से एक) के आकार के, कोई आलिंगक (मिट्टी का मृदंग) के जैसे, कोई सुघोषा घंटे के समान, कोई दर्दर (वाद्यविशेष) के समान, कोई पणव (ढोलविशेष) जैसे, कोई

पटह (ढोल) जैसे, भेरी जैसे, झल्लरी जैसे, कोई कुस्तुम्बक (वाद्य-विशेष) जैसे और कोई नाडी-घटिका जैसे हैं। इस प्रकार छठी नरक पृथ्वी तक कहना चाहिए।

भगवन्! सातवीं पृथ्वी के नरकावासों का संस्थान कैसा है?
गौतम वे दो प्रकार के हैं—वृत्त (गोल) और त्रिकोण।

[२] इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए नरका केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ता?

गोयमा! तिण्णि जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ता, तंजहा—हेट्ठा घणा सहस्सं मज्झे झुसिरा सहस्सं, उप्पि संकुइया सहस्सं; एवं जाव अहेसत्तमाए।

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए नरका केवइयं आयाम-विक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ता?

गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संखेज्जवित्थडा य असंखेज्जवित्थडा य। तत्थ णं जे ते संखेज्जवित्थडा ते णं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ता। तत्थ णं जे ते असंखेज्जवित्थडा ते णं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ता, एवं जाव तमाए।

अहेसत्तमाए णं भंते! पुच्छा; गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संखेज्जवित्थडे य, असंखेज्जवित्थडा य। तत्थ णं जे ते संखेज्जवित्थडे से णं एक्कं जोयणसहस्सं आयाम-विक्खंभेणं तिन्नि जोयणसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोन्नि य सत्तावीसे जोयणसए तिन्नि कोसे य अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलयं च किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ता; तत्थ णं जे ते असंखेज्जवित्थडा ते णं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाइं जाव परिक्खेवेणं पण्णत्ता।

[८२-२] हे भगवन्! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नरकावासों की मोटाई कितनी कही गई है?

गौतम! तीन हजार योजन की मोटाई है। वे नीचे एक हजार योजन तक घन हैं, मध्य में एक हजार योजन तक झुषिर (खाली) हैं और ऊपर एक हजार योजन तक संकुचित हैं। इसी प्रकार सप्तम पृथ्वी तक कहना चाहिए।

भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नरकावासों की लम्बाई-चौड़ाई तथा परिक्षेप (परिधि) कितनी है?

गौतम! वे नरकावास दो प्रकार के हैं। यथा—१. संख्यात योजन के विस्तार वाले और २. असंख्यात योजन के विस्तार वाले। इनमें जो संख्यात योजन विस्तार वाले हैं, उनका आयाम-विष्कंभ संख्यात हजार योजन है और परिधि भी संख्यात हजार योजन की है। उनमें जो असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं, उनका आयाम-विष्कंभ असंख्यात हजार योजन और परिधि भी असंख्यात हजार योजन की है।

इसी तरह छठी पृथ्वी तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! सातवीं नरकपृथ्वी के नरकावासों का आयाम-विष्कंभ और परिधि कितनी है ?

गौतम ! सातवीं पृथ्वी के नरकावास दो प्रकार के हैं—(१) संख्यात हजार योजन विस्तार वाले और (२) असंख्यात हजार योजन विस्तार वाले। इनमें जो संख्यात हजार योजन विस्तार वाला है वह एक लाख योजन आयाम-विष्कंभ वाला है उसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्तावीस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठावीस धनुष, साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक है। जो असंख्यात हजार योजन विस्तार वाले हैं, उनका आयाम-विष्कंभ असंख्यात हजार योजन का और परिधि भी असंख्यात हजार योजन की है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नरकावासों के संस्थान और आयाम-विष्कम्भ तथा परिधि बताई गई है। नरकावास दो प्रकार के हैं—आवलिकाप्रविष्ट और आवलिकाबाह्य। आठों दिशाओं में जो समश्रेणी में (श्रेणीबद्ध-कतारबद्ध) हैं, वे आवलिकाप्रविष्ट कहलाते हैं। वे तीन प्रकार के हैं, वृत्त, तिकोन और चौकोन। जो पुष्पों की तरह बिखरे-बिखरे हैं वे नरकावास नाना प्रकार के हैं। उन नाना प्रकारों को दो संग्रहणी गाथाओं में बताया गया है[1]—

लोहे की कोठी, मदिरा बनाने हेतु आटे को पकाने का बर्तन, हलवाई की भट्टी, तवा, कढाई, स्थाली (डेगची), पिठरक (बड़ा चरु), तापस का आश्रम, मुरज, नन्दीमृदंग, आलिंगक मिट्टी का मृदंग, सुघोषा, दर्दर (वाद्यविशेष), पणव (भाण्डों का ढोल), पटह (सामान्य ढोल), झालर, भेरी, कुस्तुम्बक (वाद्यविशेष) और नाडी (घटिका) के आकार के नरकावास हैं। ऊपर से संकुचित और नीचे से विस्तीर्ण है वह मृदंग है और ऊपर और नीचे दोनों जगह सम हो वह मुरज है।

उक्त वक्तव्यता रत्नप्रभा से लेकर तमप्रभा नरकपृथ्वी के लिए समझनी चाहिए। सातवीं पृथ्वी के नरकावास आवलिकाप्रविष्ट ही हैं, आवलिकाबाह्य नहीं। आवलिकाप्रविष्ट ये नरकावास पांच हैं। चारों दिशाओं में चार हैं और मध्य में एक है। मध्य का अप्रतिष्ठान नरकावास गोल है और शेष ४ नरकावास तिकोने हैं।

रत्नप्रभादि के नरकावासों का बाहल्य तीन हजार योजन का है। एक हजार योजन का नीचे का भाग घन है, एक हजार योजन का मध्यभाग झुषिर है और ऊपर का एक हजार योजन का भाग संकुचित है। इसी तरह सातों पृथ्वियों के नरकावासों का बाहल्य है। आयाम-विष्कम्भ और परिधि मूलपाठ से ही स्पष्ट है।

नरकावासों के वर्णादि

८३. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरया केरिसया वण्णेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! काला कालावभासा गंभीरलोमहरिसा भीमा उत्तासणया परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता, एवं जाव अहे सत्तमाए।

---

१. अय कोट्ठ पिट्ठपयणग कंडूलोही कडाह संठाणा।
थालीपिहडग किण्ह(ग) उडए मुखे मुयंगे य ॥१॥
नंदिमुइंगे आलिंग सुघोसे दद्दरे य पणवे य।
पडहगझल्लरि भेरी कुत्थुंबग नाडिसंठाणा ॥२॥

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा केरिसगा गंधेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहाणामए अहिमडेइ वा गोमडेइ वा, सुणगमडेइ वा मज्जारमडेइ वा मणुस्समडेइ वा महिसमडेइ वा मूसगमडेइ वा आसमडेइ वा हत्थिमडेइ वा सीहमडेइ वा वग्घमडेइ वा विगमडेइ वा दीवियमडेइ वा मयकुहियचिरविणट्ठकुणिम-वावण्णदुब्भिगंधे असुइविलीणविगय-बीभत्थदरिसणिज्जे किमिजालाउलसंसत्ते, भवेयारूवे सिया ?

णो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा एत्तो अणिट्ठतरका चेव अकंततरका चेव जाव अमणामतरा चेव गंधेणं पण्णत्ता । एवं जाव अहे सत्तमाए पुढवीए ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा केरिसया फासेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहानामए असिपत्तेइ वा खुरपत्तेइ वा कलंबचीरियापत्तेइ वा, सत्तग्गेइ वा कुंतग्गेइ वा तोमरग्गेइ वा नारायग्गेइ वा सूलग्गेइ वा लउडग्गेइ वा भिंडिपालग्गेइ वा सूचिकलावेइ वा कवियच्छूइ वा विंचुयकंटएइ वा, इंगालेइ वा जालेइ वा मुम्मुरेइ वा अच्चिइ वा अलाएइ वा सुद्धागणी इवा भवे एतारूवे सिया ?

णो तिणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा एत्तो अणिट्ठतरा चेव जाव अमणामतरका चेव फासेणं पण्णत्ता । एवं जाव अहे सत्तमाए पुढवीए ।

[८३] हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नरकवास वर्ण की अपेक्षा कैसे कहे गये हैं ?

गौतम ! वे नरकावास काले हैं, अत्यन्तकाली कान्तिवाले हैं, नारक जीवों के रोंगटे खड़े कर देने वाले हैं, भयानक हैं, नारक जीवों को अत्यन्त त्रास करने वाले हैं और परम काले हैं—इनसे बढ़कर और अधिक कालिमा कहीं नहीं है। इसी प्रकार सातों पृथ्वियों के नारकवासों के विषय में जानना चाहिए।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नरकावास गंध की अपेक्षा कैसे कहे गये हैं ?

गौतम ! जैसे सर्प का मृतकलेवर हो, गाय का मृतकलेवर हो, कुत्ते का मृतकलेवर हो, बिल्ली का मृतकलेवर हो, इसी प्रकार मनुष्य का, भैंस का, चूहे का, घोड़े का, हाथी का, सिंह का व्याघ्र का, भेड़िये का, चीते का मृतकलेवर हो जो धीरे-धीरे सूज-फूलकर सड़ गया हो और जिसमें से दुर्गन्ध फूट रही हो, जिसका मांस सड़-गल गया हो, जो अत्यन्त अशुचिरूप होने से कोई उसके पास फटकना तक न चाहे ऐसा घृणोत्पादक और बीभत्सदर्शन वाला और जिसमें कीड़े बिलबिला रहे हों ऐसे मृतकलेवर होते हैं—(ऐसा कहते ही गौतम बोले कि) भगवन् ! क्या ऐसे दुर्गन्ध वाले नरकावास हैं ? तो भगवान् ने कहा कि नहीं गौतम ! इससे अधिक अनिष्टतर, अकांततर यावत् अमनोज्ञ उन नरकावासों की गन्ध है।

इसी प्रकार अधःसप्तमपृथ्वी तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नरकावासों का स्पर्श कैसा कहा गया है ?

गौतम ! जैसे तलवार की धार का, उस्तरे की धार का, कदम्बचीरिका (तृणविशेष जो बहुत तीक्ष्ण होता है) के अग्रभाग का, शक्ति (शस्त्रविशेष) के अग्रभाग का, भाले के अग्रभाग का, तोमर के अग्रभाग का, बाण के अग्रभाग का, शूल के अग्रभाग का, लगुड़ के अग्रभाग का, भिण्डीपाल

के अग्रभाग का, सूइयों के समूह के अग्रभाग का, कपिकच्छु (खुजली पैदा करने वाली, वल्ली), बिच्छू का डंक, अंगार, ज्वाला, मुर्मुर (भोभर की अग्नि), अर्चि, अलात (जलती लकड़ी), शुद्धाग्नि (लोह-पिण्ड की अग्नि) इन सबका जैसा स्पर्श होता है, क्या वैसा स्पर्श नरकावासों का है ? भगवान् ने कहा कि ऐसा नहीं है। इनसे भी अधिक अनिष्टतर यावत् अमणाम उनका स्पर्श होता है। इसी तरह अधःसप्तमपृथ्वी तक के नरकावासों का स्पर्श जानना चाहिए।

नरकावास कितने बड़े हैं ?

८४. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरगा केमहालिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए सव्वखुड्डाए वट्टे, तेल्लापूय-संठाणसंठिए वट्टे, रयचक्कवालसंठिए वट्टे, पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए वट्टे, पडिपुण्णचंदसंठाण-संठिए एक्कं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं जाव किंचि विसेसाहिए परिक्खेवे णं, देवे णं महिड्ढिए जाव महाणुभागे जाव इणामेव इणामेव त्ति कट्टु इमं केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छरानिवाएहिं तिसत्तक्खुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए सिग्घाए उद्धुयाए जयणाए छेगाए दिव्वाए दिव्वगईए वीइवयमाणे वीइवयमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा तिआहं वा, उक्कोसेणं छम्मासेणं वीतिवएज्जा, अत्थेगइए वीइवएज्जा अत्थेगइए नो वीइवएज्जा, एमहालया णं गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा पण्णत्ता; एवं जाव अहेसत्तमाए, णवरं अहेसत्तमाए अत्थेगइयं नरगं वीइवएज्जा, अत्थेगइए नरगे नो वीतिवएज्जा।

[८४] हे भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नरकावास कितने बड़े कहे गये हैं ?

गौतम ! यह जम्बूद्वीप नाम का द्वीप जो सबसे आभ्यन्तर—अन्दर है, जो सब द्वीप-समुद्रों में छोटा है, जो गोल है क्योंकि तेल में तले पूए के आकार का है, यह गोल है क्योंकि रथ के पहिये के आकार का है, यह गोल है क्योंकि कमल की कणिका के आकार का है, यह गोल हैं क्योंकि परिपूर्ण चन्द्रमा के आकार का है, जो एक लाख योजन का लम्बा-चौड़ा है, जिसकी परिधि (३ लाख १६ हजार २ सौ २७ योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाबीस धनुष और साढे तेरह अंगुल से) कुछ अधिक है। उसे कोई देव जो महर्द्धिक यावत् महाप्रभाव वाला है, 'अभी-अभी' कहता हुआ (अवज्ञा से) तीन चुटकियाँ बजाने जितने काल में इस सम्पूर्ण जम्बू द्वीप के २१ चक्कर लगाकर आ जाता है, वह देव उस उत्कृष्ट, त्वरित, चपल, चण्ड, शीघ्र, उद्धत वेगवाली, निपुण, ऐसी दिव्य देवगति से चलता हुआ एक दिन, दो दिन, तीन यावत् उत्कृष्ट छह मास पर्यन्त चलता रहे तो भी वह उन नरकावासों में से किसी को पार कर सकेगा और किसी को पार नहीं कर सकेगा। हे गौतम ! इतने विस्तार वाले इस रत्नप्रभापृथ्वी के नरकावास कहे गये हैं। इस प्रकार सप्तम पृथ्वी के नरकावासों के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए। विशेषता यह है कि वह उसके किसी नरकावास को पार कर सकता है शेष चार किसी को पार नहीं कर सकता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नरकावासों का विस्तार उपमा द्वारा बताया गया है। नरकावासों के विस्तार के सम्बन्ध में पहले प्रश्न किया जा चुका है और उसका उत्तर देते हुए कहा गया हैं कि कोई नरकावास असंख्येय हजार योजन विस्तार वाले हैं। असंख्येय हजार योजन कहने से यह स्पष्ट

नहीं होता कि यह असंख्येयता कितनी है ? अतः उस असंख्येयता को स्पष्ट करते हुए भगवान् ने एक उपमा के द्वारा उसे स्पष्ट किया है। वह उपमा इस प्रकार है—

हम जहाँ रह रहे हैं वह द्वीप जम्बूद्वीप है। आठ योजन ऊँचे रत्नमय जम्बूवृक्ष को लेकर इस द्वीप का यह नामकरण है। यह जम्बूद्वीप सर्व द्वीपों और सर्व समुद्रों में आभ्यन्तर है अर्थात् आदिभूत है और उन सब द्वीप-समुद्रों में छोटा है। क्योंकि आगे के सब लवणादि समुद्र और घातकीखण्डादि द्वीप क्रमशः इस जम्बूद्वीप से दूने-दूने आयाम-विष्कम्भ वाले हैं। यह जम्बूद्वीप गोलाकार है क्योंकि यह तेल में तले हुए पूए के समान आकृति वाला है। यहाँ 'तेल से तले हुए' विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि तेल में तला हुआ पूआ प्रायः जैसा गोल होता है वैसा घी में तला हुआ पूआ गोल नहीं होता। वह रथ के पहिये के समान, कमल को कणिका के समान तथा परिपूर्ण चन्द्रमा के समान गोल है। नाना देश के विनेयों को समझाने के लिए विविध प्रकार से उपमान-उपमेय बताये हैं। इस जम्बूद्वीप का आयाम-विष्कम्भ एक लाख योजन है। इसकी परिधि (घेराव) तीन लाख, सोलह हजार दो सौ सत्तावीस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठावीस धनुष और साढे तेरह अंगुल से कुछ अधिक है।

इतने विस्तारवाले इस जम्बूद्वीप को कोई देव जो बहुत बड़ी ऋद्धि का स्वामी है, महाद्युति वाला है, महाबल वाला है, महायशस्वी है, महा ईश है अर्थात् बहुत सामर्थ्य वाला है अथवा महा सुखी है अथवा महाश्वास है—जिसका मन और इन्द्रियां बहुत व्यापक और स्वविषय को भलीभांति ग्रहण करने वाली हैं, तथा जो विशिष्ट विक्रिया करने में अचिन्त्य शक्तिवाला है, वह अवज्ञापूर्वक (हेलया) 'अभी पार कर लेता हूँ अभी पार कर लेता हूँ' ऐसा कहकर तीन चुटुकियां बजाने में जितना समय लगता है उतने मात्र समय में उक्त जम्बूद्वीप के २१ चक्कर लगाकर वापस आ जावे—इतनी तीव्र गति से, इतनी उत्कृष्ट गति से, इतनी त्वरित गति से, इतनी चपल गति से, इतनी प्रचण्ड गति से, इतने वेग वाली गति से, इतनी उद्धत गति से, इतनी दिव्य गति से यदि वह देव एक दिन से लगाकर छह मास पर्यन्त निरन्तर चलता रहे तो भी रत्नप्रभादि के नरकावासों में किसी को तो वह पार पा सकता है और किसी को पार नहीं पा सकता। इतने विस्तार वाले वे नरकावास हैं। इसी तरह तमःप्रभा तक ऐसा ही कहना चाहिए। सातवीं पृथ्वी में ५ नरकावास हैं। उनमें से मध्यवर्ती एक अप्रतिष्ठान नामक नरकावास लाख योजन विस्तार वाला है अतः उसका पार पाया जा सकता है। शेष चार नरकावास असंख्यात कोटि-कोटि योजन प्रमाण होने से उनका पार पाना सम्भव नहीं है। इस तरह उपमान प्रमाण द्वारा नरकावासों का विस्तार कहा गया है।

नरकावासों में विकार

८५. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा किंमया ?

गोयमा ! सव्ववइरामया पण्णत्ता; तत्थ णं णरएसु बहवे जीवा य पोग्गला य अवक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति सासया णं ते णरगा दव्वट्ठयाए; वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासया। एवं जाव अहेसत्तमाए।

[८५] हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नरकावास किसके बने हुए हैं ?

गौतम ! वे नरकावास सम्पूर्ण रूप से वज्र के बने हुए हैं। उन नरकावासों में बहुत से

(खरबादर पृथ्वीकायिक) जीव और पुद्गल च्यवते हैं और उत्पन्न होते हैं, पुराने निकलते हैं और नये आते हैं। द्रव्यार्थिकनय से वे नरकावास शाश्वत हैं परन्तु वर्णपर्यायों से, गंधपर्यायों से, रसपर्यायों से और स्पर्शपर्यायों से वे अशाश्वत हैं। ऐसा अधःसप्तमपृथ्वी तक कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्रश्न है कि रत्नप्रभादि के नरकावास किंमय हैं अर्थात् किस वस्तु के बने हुए हैं? उत्तर में कहा गया है कि वे सर्वथा वज्रमय हैं अर्थात् वज्र से बने हुए हैं। उनमें खरबादर पृथ्वीकाय के जीव और पुद्गल च्यवते हैं और उत्पन्न होते हैं। अर्थात् पहले वाले जीव निकलते हैं और नये जीव आकर उत्पन्न होते हैं। इसी तरह पुद्गल भी कोई च्यवते हैं और कोई नये आकर मिलते हैं। यह आने-जाने की प्रक्रिया वहाँ निरन्तर चलती रहती है। इसके बावजूद भी रत्नप्रभादि नरकों की रचना शाश्वत है। इसलिए द्रव्यनय की अपेक्षा से वे नित्य हैं, सदाकाल से थे, सदाकाल से हैं और सदाकाल रहेंगे। इस प्रकार द्रव्य से शाश्वत होते हुए भी उनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श बदलते रहते हैं, इस अपेक्षा से वे अशाश्वत हैं। जैनसिद्धान्त विविध अपेक्षाओं से वस्तु को विविधरूप में मानता है। इनमें कोई विरोध नहीं है। अपेक्षाभेद से शाश्वत और अशाश्वत मानने में कोई विरोध नहीं है। स्याद्वाद सर्वथा सुसंगत सिद्धान्त है।

उपपात

८६. [१] **इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया कओहिंतो उववज्जंति? किं असण्णीहिंतो उववज्जंति, सरीसिवेहिंतो उववज्जंति पक्खीहिंतो उववज्जंति चउप्पएहिंतो उववज्जंति उरगेहिंतो उववज्जंति इत्थियाहिंतो उववज्जंति मच्छमणुएहिंतो उववज्जंति?**

गोयमा! असण्णीहिंतो उववज्जंति जाव मच्छमणुएहिंतो वि उववज्जंति,[1]

असण्णी खलु पढमं दोच्चं च सरीसिवा ततिय पक्खी।
सीहा जंति चउत्थि उरगा पुण पंचमिं जंति ॥१॥
छट्ठि च इत्थियाओ मच्छा मणुया य सत्तमिं जंति।

जाव अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइया णो असण्णीहिंतो उववज्जंति जाव णो इत्थियाहिंतो उववज्जंति, मच्छमणुस्सेहिंतो उववज्जंति।

[८६] (१) भगवन्! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं? क्या असंज्ञी जीवों से आकर उत्पन्न होते हैं, सरीसृपों से आकर उत्पन्न होते हैं, पक्षियों से आकर उत्पन्न होते हैं, चौपदों से आकर उत्पन्न होते हैं, (सर्पादि) उरगों से आकर उत्पन्न होते हैं, स्त्रियों से आकर उत्पन्न होते हैं या मत्स्यों और मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं?

गौतम! असंज्ञी जीवों से आकर भी उत्पन्न होते हैं और यावत् मत्स्य और मनुष्यों से आकर भी उत्पन्न होते हैं। (यहाँ यह गाथा अनुसरणीय है)

असंज्ञी जीव प्रथम नरक तक, सरीसृप दूसरी नरक तक, पक्षी तीसरी नरक तक, सिंह चौथी

---

१. सेसासु इमाए गाहाए अणुगंतव्वा, एवं एतेणं अभिलावेणं इमा गाथा घोसेयव्वा।

नरक तक, उरग पांचवीं नरक तक, स्त्रियां छठी नरक तक और मत्स्य एवं मनुष्य सातवीं नरक तक जाते हैं।

विवेचन—उपपात का वर्णन करते हुए इस सूत्र में जो दो गाथाएं दी गई हैं, उनका अर्थ यह समझना चाहिए कि असंज्ञी जीव प्रथम नरक तक ही जाते हैं, न कि असंज्ञीजीव ही प्रथम नरक में जाते हैं। इसी तरह सरीसृप—गोधा नकुल आदि दूसरी पृथ्वी तक ही जाते हैं, न कि सरीसृप ही दूसरी नरक में जाते हैं। पक्षी तीसरी नरक तक जाते हैं, न कि पक्षी ही तीसरी नरक में जाते हैं। इसी तरह आगे भी समझना चाहिए।

शर्कराप्रभा आदि नरकपृथ्वी को लेकर पाठ इस प्रकार होगा—

'सक्करप्पभाए णं भंते! पुढवीए नेरइया किं असण्णीहिंतो उववज्जंति जाव मच्छमणुएहिंतो उववज्जंति? गोयमा! नो असन्नीहिंतो उववज्जंति सरीसिवेहिंतो उववज्जंति जाव मच्छमणुस्सेहिंतो उववज्जंति। बालुयप्पभाए णं भंते! पुढवीए नेरइया किं असण्णीहिंतो उववज्जंति जाव मच्छमणुस्सेहिंतो उववज्जंति? गोयमा! नो असण्णीहिंतो उववज्जंति नो सरीसिवेहिंतो उववज्जंति, पक्खीहिंतो उववज्जंति जाव मच्छमणुस्सेहिंतो उववज्जंति।'

उक्त रीति से उत्तर-उत्तर पृथ्वी में पूर्व-पूर्व के प्रतिषेध सहित उत्तरप्रतिषेध तब तक कहना चाहिए जब तक कि सप्तम पृथ्वी में स्त्री का भी प्रतिषेध हो जाए। वह पाठ इस प्रकार होगा—'अहेसत्तमाए णं भंते पुढवीए नेरइया किं असण्णीहिंतो उववज्जंति जाव मच्छमणुस्सेहिंतो उववज्जंति? गोयमा! नो असण्णीहिंतो उववज्जंति जाव नो इत्थीहिंतो उववज्जंति, मच्छमणुस्सेहिंतो उववज्जंति।'

संख्याद्वार

८६. [२] **इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइया एक्कसमयेणं केवइया उववज्जंति?**

गोयमा! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखिज्जा वा उववज्जंति, एवं जाव अहेसत्तमाए।

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइया समए समए अवहीरमाणा अवहीरमाणा केवइकालेणं अवहिया सिया?

गोयमा! ते णं असंखेज्जा समए समए अवहीरमाणा अवहीरमाणा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति नो चेव णं अवहिया सिया। जाव अहेसत्तमाए।

[८६] (२) हे भगवन्! इस रत्नप्रभापृथ्वी में नारकजीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं?

गौतम! जघन्य से एक, दो, तीन, उत्कृष्ट से संख्यात या असंख्यात भी उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सप्तमपृथ्वी तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों का प्रतिसमय एक-एक का अपहार करने पर कितने काल में यह रत्नप्रभापृथ्वी खाली हो सकती है ?

गौतम ! नैरयिक जीव असंख्यात हैं । प्रतिसमय एक-एक नैरयिक का अपहार किया जाय तो असंख्यात उत्सर्पिणियां असंख्यात अवसर्पिणियां बीत जाने पर भी यह खाली नहीं हो सकते ।

इसी प्रकार सातवीं पृथ्वी तक कहना चाहिए ।

विवेचन—नारकजीवों की संख्या बताने के लिए असत्कल्पना के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रतिसमय एक-एक नारक का अपहार किया जाय तो असंख्यात उत्सर्पिणियां और असंख्यात अवसर्पिणियां बीतने पर उनका अपहार होता है । इस प्रकार का अपहार न तो कभी हुआ, न होता है और न होगा ही । यह केवल कल्पना मात्र है, जो नारक जीवों की संख्या बताने के लिए की गई है ।

अवगाहनाद्वार

८६. [३] इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा सरीरोगाहणा पण्णत्ता, तंजहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्य असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्त धणूइं तिण्णि य रयणीओ छच्च अंगुलाइं ।

तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विए से जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं पण्णरस धणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ ।

दोच्चाए, भवधारणिज्जे जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पण्णरस धणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ,

उत्तरवेउव्विया जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं, उक्कोसेणं एक्कतीसं धणूइं एक्कारयणी ।

तच्चाए, भवधारणिज्जे एक्कतीसं धणू एक्का रयणी,

उत्तरवेउव्विया बासट्ठि धणूइं दोण्णि रयणीओ ।

चउत्थीए, भवधारणिज्जे बासट्ठ धणूइं दोण्णि य रयणीओ,

उत्तरवेउव्विया पणवीसं धणुसयं ।

पंचमीए भवधारणिज्जे पणवीसं धणुसयं,

उत्तरवेउव्विया अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं ।

छट्ठीए भवधारणिज्जा अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं,

उत्तरवेउव्विया पंच धणुसयाइं ।

सत्तमाए भवधारणिज्जा पंच धणुसयाइं,
उत्तरवेउव्विए धणुसहस्सं ।

[८६] (३) हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों की शरीर-अवगाहना कितनी कही गई है ?

गौतम ! दो प्रकार की शरीरावगाहना कही गई हैं, यथा—भवधारणीय और उत्तर-वैक्रिय । भवधारणीय अवगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट से सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल है । उत्तरवैक्रिय अवगाहना जघन्य से अंगुल का संख्यातवां भाग, उत्कृष्ट से पन्द्रह धनुष, अढाई हाथ है ।

दूसरी शर्कराप्रभा के नैरयिकों की भवधारणीय अवगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट पन्द्रह धनुष अढाई हाथ है । उत्तरवैक्रिय जघन्य से अंगुल का संख्यातवां भाग, उत्कृष्ट से इकतीस धनुष एक हाथ है ।

तीसरी नरक में भवधारणीय इकतीस धनुष, एक हाथ और उत्तरवैक्रिय बासठ धनुष दो हाथ है ।

चौथी नरक में भवधारणीय बासठ धनुष दो हाथ है और उत्तरवैक्रिय एक सौ पचीस धनुष है ।

पांचवीं नरक में भवधारणीय एक सौ पचीस धनुष और उत्तरवैक्रिय अढाई सौ धनुष है ।

छठी नरक में भवधारणीय अढाई सौ धनुष और उत्तरवैक्रिय पांच सौ धनुष है ।

सातवीं नरक में भवधारणीय पांच सौ धनुष है और उत्तरवैक्रिय एक हजार धनुष है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नैरयिकों के शरीर की अवगाहना का कथन किया गया है । इनके शरीर की अवगाहना दो प्रकार की है । एक भवधारण के समय होने वाली और दूसरी वैक्रियलब्धि से की जाने वाली उत्तरवैक्रियिकी । दोनों प्रकार की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से दो प्रकार की है । इस तरह प्रत्येक नरक के नारक की चार तरह की अवगाहना का प्ररूपण किया गया है ।

(१) रत्नप्रभा के नैरयिकों की भवधारणीय अवगाहना जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग है और उत्कृष्ट से सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल है । उत्तरवैक्रिय जघन्य से अंगुल का संख्येय भाग और उत्कर्ष से पन्द्रह धनुष, दो हाथ और एक वेंत (दो वेंत का एक हाथ होता है) अतः मूल में ढाई हाथ कहा गया है ।

(२) शर्कराप्रभा में भवधारणीय जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कर्ष से १५ धनुष, २।। हाथ है । उत्तरवैक्रिय जघन्य से अंगुल का संख्यातवां भाग और उत्कर्ष से ३१ धनुष १ हाथ है ।

इसी प्रकार आगे की पृथ्वियों में भी भवधारणीय जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्तरवैक्रिय जघन्य से अंगुल का संख्यातवां भाग कहना चाहिए । क्योंकि तथाविध प्रयत्न के अभाव

में उत्तरविक्रिया प्रथम समय में ही अंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण ही होती है। इस प्रकार अतिदेश समझना चाहिए। अतः आगे की पृथ्वियों में उत्कृष्ट भवधारणीय और उत्कृष्ट उत्तरवैक्रिय अवगाहना का कथन मूल पाठ में किया गया है।

(३) तीसरी बालुकाप्रभा में भवधारणीय उत्कृष्ट ३१ धनुष १ हाथ है और उत्तरवैक्रिय ६२।। धनुष है।

(४) चौथी पंकप्रभा में उत्कृष्ट भवधारणीय ६२।। धनुष है और उत्तरवैक्रिय १२५ धनुष है।

(५) पांचवीं धूमप्रभा में उत्कृष्ट भवधारणीय १२५ धनुष है और उत्तरवैक्रिय २५० धनुष है।

(६) छठी तमःप्रभा में उत्कृष्ट भवधारणीय २५० धनुष है और उत्तरवैक्रिय पांच सौ धनुष है।

(७) सातवीं तमस्तमःप्रभा में उत्कृष्ट भवधारणीय पांच सौ धनुष है और उत्तरवैक्रिय एक हजार धनुष है।

प्रत्येक नरकपृथ्वी की उत्कृष्ट भवधारणीय अवगाहना पूर्व पृथ्वी से दुगुनी-दुगुनी है तथा प्रत्येक पृथ्वी के नैरयिकों की भवधारणीय अवगाहना से उनकी उत्तरवैक्रिय अवगाहना दुगुनी-दुगुनी है। निम्न यंत्र से अवगाहना जानने में सहूलियत होगी—

अवगाहना का यंत्र

पृथ्वी का नाम	भवधारणीय		उत्तरवैक्रिय	
	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट
१. रत्नप्रभा	अंगुल का असंख्यातवां	७ धनुष ३ हाथ ६ अंगु.	अंगुल का	१५ ध २।। हाथ
२. शर्कराप्रभा	भाग	१५ धनुष २।। हाथ	सं. भाग	३१ ध. १ हाथ
३. बालुकाप्रभा	,,	३१ ध. १ हाथ	,,	६२ ध. २ हाथ
४. पंकप्रभा	,,	६२ ध. २ हाथ	,,	१२५ धनुष
५. धूमप्रभा	,,	१२५ धनुष	,,	२५० धनुष
६. तमःप्रभा	,,	२५० धनुष	,,	५०० धनुष
७. तमस्तमःप्रभा	,,	५०० धनुष	,,	१००० धनुष

रत्नप्रभादि के प्रस्तटों में अवगाहना का प्रमाण इस प्रकार है—रत्नप्रभा के १३ प्रस्तट हैं। पहले प्रस्तट में उत्कृष्ट अवगाहना ३ हाथ की है। इसके बाद प्रत्येक प्रस्तट में ५६।। अंगुल की वृद्धि कहनी चाहिए। इस मान से १३ प्रस्तटों की अवगाहना निम्न है—

रत्नप्रभा के प्रस्तटों में अवगाहना

प्रस्तट	धनुष	हाथ	अंगुल
१	०	३	०
२	१	१	८॥
३	१	३	१७
४	२	२	१॥
५	३	०	१०
६	३	२	१८॥
७	४	१	३
८	४	३	११॥
९	५	१	२०
१०	६	०	४॥
११	६	२	१३
१२	७	०	२१॥
१३	७	३	६

शर्कराप्रभा के ११ प्रस्तट हैं। इसके पहले प्रस्तट में वही अवगाहना है जो रत्नप्रभा के १३ वें प्रस्तट में है अर्थात् ७ धनुष ३ हाथ और ६ अंगुल। इसके बाद प्रत्येक प्रस्तट में ३ हाथ ३ अंगुल की वृद्धि कहनी चाहिए तो उसका प्रमाण इस प्रकार होगा—

शर्कराप्रभा के प्रस्तटों में अवगाहना

	धनुष	हाथ	अंगुल
१	७	३	६
२	८	२	९
३	९	१	१२
४	१०	०	१५
५	१०	३	१८
६	११	२	२१
७	१२	२	०
८	१३	१	३
९	१४	०	६
१०	१४	३	९
११	१५	२	१२

इसी प्रकार बालुकाप्रभा के प्रथम प्रस्तट में वही अवगाहना है जो दूसरी पृथ्वी के अन्तिम प्रस्तट में है—अर्थात् १५ धनुष २ हाथ और १२ अंगुल। इसके बाद प्रत्येक प्रस्तट में ७ हाथ १९।। अंगुल की वृद्धि कहनी चाहिए। उसका प्रमाण इस प्रकार होगा—

पहले प्रस्तट में	१५ धनुष	२ हाथ	१२ अंगुल
दूसरे में	१७ धनुष	२ हाथ	७।। अंगुल
तीसरे में	१९ धनुष	२ हाथ	३ अंगुल
चौथे में	२१ धनुष	१ हाथ	२२।। अंगुल
पांचवें में	२३ धनुष	१ हाथ	१८ अंगुल
छठे में	२५ धनुष	१ हाथ	१३।। अंगुल
सातवें में	२७ धनुष	१ हाथ	९ अंगुल
आठवें में	२९ धनुष	१ हाथ	४।। अंगुल
नौवें में	३१ धनुष	१ हाथ	० अंगुल

पंकप्रभा में सात प्रस्तट हैं। उनमें से प्रथम प्रस्तट में वही अवगाहना है जो पूर्व की बालुकाप्रभा के नौवें प्रस्तट की है। इसके आगे प्रत्येक में ५ धनुष २० अंगुल की वृद्धि कहनी चाहिए। प्रत्येक प्रस्तट की अवहगाहना का प्रमाण इस प्रकार होगा—

पहले प्रस्तट में	३१ धनुष	१ हाथ	
दूसरे में	३६ धनुष	१ हाथ	२० अंगुल
तीसरे में	४१ धनुष	२ हाथ	१६ अंगुल
चौथे में	४६ धनुष	३ हाथ	१२ अंगुल
पांचवें में	५२ धनुष	० हाथ	८ अंगुल
छठे में	५७ धनुष	१ हाथ	४ अंगुल
सातवें में	६२ धनुष	२ हाथ	० अंगुल

धूमप्रभा के पांच प्रस्तट हैं। प्रथम प्रस्तट में वही अवगाहना है जो पूर्व की पृथ्वी के अन्तिम प्रस्तट की है। इसके बाद १५ धनुष २।। हाथ प्रत्येक प्रस्तट में वृद्धि कहनी चाहिए। वह प्रमाण इस प्रकार होगा—

पहले प्रस्तट में	६२ धनुष	२ हाथ
दूसरे में	७८ धनुष	१ वितस्ति (बेंत—आधा हाथ)
तीसरे में	९३ धनुष	३ हाथ
चौथे में	१०९ धनुष	१ हाथ १ वितस्ति
पांचवें में	१२५ धनुष	

तमःप्रभापृथ्वी के तीन प्रस्तट हैं। प्रथम प्रस्तट की वही अवगाहना है जो इसके पूर्व की पृथ्वी के अन्तिम प्रस्तट की है। इसके पश्चात् प्रत्येक प्रस्तट में ६२।। धनुष की वृद्धि कहनी चाहिए। वह प्रमाण इस प्रकार होता है—

पहले प्रस्तट में	१२५ धनुष
दूसरे में	१८७॥ धनुष
तीसरे में	२५० धनुष

तमस्तमा:पृथ्वी में प्रस्तट नहीं है। उनकी भवधारणीय उत्कृष्ट अवगाहना ५०० धनुष की है उत्तरवैक्रिय एक हजार योजन है।

संहनन-संस्थान-द्वार

८७. [१] **इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयाणं सरीरया किंसंघयणी पण्णत्ता ?**

गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असंघयणा, णेवट्ठी, णेव छिरा, णवि ण्हारु, णेव संघयणमत्थि, जे पोग्गला अणिट्ठा जाव अमणामा ते तेसिं सरीरसंघायत्ताए परिणमंति। एवं जाव अहेसत्तमाए।

[८७] (१) हे भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों के शरीरों का संहनन क्या है ?

गौतम ! छह प्रकार के संहननों में से उनके कोई संहनन नहीं है, क्योंकि उनके शरीर में हड्डियां नहीं हैं, शिराएं नहीं हैं, स्नायु नहीं हैं। जो पुद्गल अनिष्ट और अमणाम होते हैं वे उनके शरीर रूप में एकत्रित हो जाते हैं। इसी प्रकार सप्तम पृथ्वी तक कहना चाहिए।

८७. [२] **इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं सरीरा किंसंठिया पण्णत्ता ?**

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया पण्णत्ता, तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पण्णत्ता। एवं जाव अहेसत्तमाए।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयाणं सरीरगा केरिसया वण्णेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! काला कालोभासा जाव परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता। एवं जाव अहेसत्तमाए।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं सरीरया केरिसया गंधेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहानामए अहिमडेइ वा तं चेव जाव अहेसत्तमा।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं सरीरया केरिसया फासेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! फुडितच्छविविच्छविया खरफरुस झामझुसिरा फासेणं पण्णत्ता। एवं जाव अहेसत्तमा।

[८७] (२) हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों के शरीरों का संस्थान कैसा है ?

गौतम ! उनके संस्थान दो प्रकार के हैं—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। भवधारणीय की अपेक्षा वे हुंडकसंस्थान वाले हैं और उत्तरवैक्रिय की अपेक्षा भी वे हुंडकसंस्थान वाले ही हैं। इसी प्रकार सप्तमपृथ्वी तक के नैरयिकों के संस्थान हैं।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों के शरीर वर्ण की अपेक्षा कैसे कहे गये हैं ?

गौतम ! काले, काली छाया (कान्ति) वाले यावत् अत्यन्त काले कहे गये हैं। इसी प्रकार सप्तमपृथ्वी तक के नैरयिकों का वर्ण जानना चाहिए।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों के शरीर की गन्ध कैसी कही गई है ?

गौतम ! जैसे कोई मरा हुआ सर्प हो, इत्यादि पूर्ववत् कथन करना चाहिए। सप्तमीपृथ्वी तक के नारकों की गन्ध इसी प्रकार जाननी चाहिए।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों के शरीरों का स्पर्श कैसा कहा गया है ?

गौतम ! उनके शरीर की चमड़ी फटी हुई होने से तथा झुर्रियां होने से कान्तिरहित है, कर्कश है, कठोर है, छेद वाली है और जली हुई वस्तु की तरह खुरदरी है। (पकी हुई ईंट की तरह खुरदरे शरीर हैं)। इसी प्रकार सप्तमपृथ्वी तक कहना चाहिए।

विवेचन—इनका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है।

८८. [१] **इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयाणं केरिसया पोग्गला उसासत्ताए परिणमंति ?**

गोयमा ! जे पोग्गला अणिट्ठा जाव अमणामा ते तेसिं उसासत्ताए परिणमंति। एवं जाव अहेसत्तमाए। एवं आहारस्सवि सत्तसु वि।

[८८] (१) भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों के श्वासोच्छ्वास के रूप में कैसे पुद्गल परिणत होते हैं ?

गौतम ! जो पुद्गल अनिष्ट यावत् अमणाम होते हैं वे नैरयिकों के श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत होते हैं।

इसी प्रकार सप्तमपृथ्वी तक के नैरयिकों का कथन करना चाहिए।

इसी प्रकार जो पुद्गल अनिष्ट एवं अमणाम होते हैं, वे नैरयिकों के आहार रूप में परिणत होते हैं। ऐसा ही कथन रत्नप्रभादि सातों नरकपृथ्वियों के नारकों के सम्बन्ध में जानना चाहिए।

लेश्याविहार

८८. [२] **इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयाणं कति लेसाओ पण्णत्ताओ ?**

गोयमा ! एक्का काउलेसा पण्णत्ता। एवं सक्करप्पभाए वि।

वालुयप्पभाए पुच्छा, दो लेसाओ पण्णत्ताओ, तंजहा नीललेसा कापोतलेसा य। तत्थ जे काउलेसा ते बहुतरा,

जे णीललेसा पण्णत्ता ते थोवा।

पंकप्पभाए पुच्छा, एक्का नीललेसा पण्णत्ता,

धूमप्पभाए पुच्छा, गोयमा ! दो लेस्साओ पण्णत्ताओ,

तंजहा—किण्हलेस्सा य नीललेस्सा य। ते बहुयरगा जे नीललेस्सा, ते थोवतरगा जे किण्हलेसा।

तमाए पुच्छा, गोयमा ! एक्का किण्हलेसा।

अधेसत्तमाए एक्का परमकिण्हलेस्सा।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइया किं सम्मदिट्ठी मिच्छदिट्ठी सम्मामिच्छदिट्ठी ?

गोयमा ! सम्मदिट्ठी वि मिच्छदिट्ठी वि सम्मामिच्छदिट्ठी वि, एवं जाव अहेसत्तमाए ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइया किं णाणी अण्णाणी ?

गोयमा ! णाणी वि अण्णाणि वि । जे णाणी ते णियमा तिणाणी, तंजहा—आभिणिबोहिय-णाणी, सुयणाणी, अवधिणाणी ।

जे अण्णाणी ते अत्थेगइया दु अण्णाणि, [अत्थेगइया ति अन्नाणी । जे दु अन्नाणि ते णियमा मतिअन्नाणी य सुय-अण्णाणी य ।

जे ति अन्नाणि ते णियमा मति-अण्णाणी, सुय-अण्णाणी, विभंगणाणी वि,

सेसा णं णाणी वि अण्णाणि वि तिण्णि, जाव अहेसत्तमाए ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइया किं मणजोगी वइजोगी कायजोगी ? तिण्णि वि एवं जाव अहेसत्तमाए ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइया किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ?

गोयमा ! सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि एवं जाव अहेसत्तमाए पुढवीए ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया ओहिणा केवइयं खेत्तं जाणंति पासंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं अद्धुट्ठगाउयाइं उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं । सक्करप्पभाए पु०, जहन्नेणं तिन्नि गाउयाइं, उक्कोसेणं अद्धुट्ठाइं । एवं अद्धद्धगाउयं पारिहायइ जाव अधेसत्तमाए जहन्नेणं अद्ध-गाउयं उक्कोसेणं गाउयं ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं कति समुग्घाता पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि समुग्घाता पण्णत्ता, तंजहा—

वेदणासमुग्घाए, कसायसमुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए । एवं जाव अहे-सत्तमाए ।

[८८] (२) हे भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में कितनी लेश्याएँ कही गई हैं ?

गौतम ! एक कापोतलेश्या कही गई है । इसी प्रकार शर्कराप्रभा में भी कापोतलेश्या है । बालुकाप्रभा में दो लेश्याएँ हैं—नीललेश्या और कापोतलेश्या । कापोतलेश्या वाले अधिक हैं और नीललेश्या वाले थोड़े हैं । पंकप्रभा के प्रश्न में एक नीललेश्या कही गई है । धूमप्रभा के प्रश्न में दो लेश्याएँ कही गई हैं—कृष्णलेश्या और नीललेश्या । नीललेश्या वाले अधिक हैं और कृष्णलेश्या वाले थोड़े हैं । तमःप्रभा में एक कृष्णलेश्या है । सातवीं पृथ्वी में एक परमकृष्णलेश्या है ।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक क्या सम्यग्दृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि हैं या सम्यग्-मिथ्यादृष्टि हैं ?

गौतम ! सम्यग्दृष्टि भी हैं, मिथ्यादृष्टि भी हैं और सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी हैं । इसी प्रकार सप्तमपृथ्वी तक कहना चाहिए ।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

गौतम ! ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। जो ज्ञानी हैं वे निश्चय से तीन ज्ञान वाले हैं— आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी। जो अज्ञानी हैं उनमें कोई दो अज्ञान वाले हैं और कोई तीन अज्ञान वाले हैं। जो दो अज्ञान वाले हैं वे नियम से मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी हैं और जो तीन अज्ञान वाले हैं वे नियम से मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी हैं।

शेष शर्कराप्रभा आदि पृथ्वियों के नारक ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। जो ज्ञानी हैं वे तीनों ज्ञान वाले हैं और जो अज्ञानी हैं वे तीनों अज्ञान वाले हैं। सप्तमपृथ्वी तक के नारकों के लिए ऐसा ही कहना चाहिए।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक मनयोग वाले हैं, वचनयोग वाले हैं या काययोग वाले हैं ?

गौतम ! तीनों योग वाले हैं। सप्तमपृथ्वी तक ऐसा ही कहना चाहिए।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नारक साकार उपयोग वाले हैं या अनाकार उपयोग वाले हैं ?

गौतम ! साकार उपयोग वाले भी हैं और अनाकार उपयोग वाले भी हैं। सप्तमपृथ्वी तक ऐसा ही कहना चाहिए।

[हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक अवधि से कितना क्षेत्र जानते हैं, देखते हैं ?

गौतम ! जघन्य से साढ़े तीन कोस, उत्कृष्ट से चार कोस क्षेत्र को जानते हैं, देखते हैं। शर्कराप्रभा के नैरयिक जघन्य तीन कोस, उत्कर्ष से साढ़े तीन कोस जानते-देखते हैं। इस प्रकार आधा-आधा कोस घटाकर कहना चाहिए यावत् अधःसप्तमपृथ्वी के नैरयिक जघन्य आधा कोस और उत्कर्ष से एक कोस क्षेत्र जानते-देखते हैं।]

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों के कितने समुद्घात कहे गये हैं ?

गौतम ! चार समुद्घात कहे गये हैं—वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, मारणांतिकसमुद्घात और वैक्रियसमुद्घात। ऐसा ही सप्तमपृथ्वी तक के नारकों का कथन करना चाहिए।

विवेचन—टीकाकार ने उल्लेख किया है कि यहाँ कई प्रतियों में कई तरह का पाठ है। उन सबका वाचनाभेद भी पूरा पूरा नहीं बताया जा सकता। केवल जो पाठ बहुतसी प्रतियों में पाया गया और जो अविसंवादी है वही लिया गया है। पाठभेद होते हुए भी आशयभेद नहीं है। मूलपाठ में कोष्ठक के अन्तर्गत दिया गया पाठ टीका में नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रतिपाद्य विषय पूर्व में स्पष्ट किये जा चुके हैं। लेश्याद्वार में श्री भगवतीसूत्र में कही हुई एक संग्रहणी गाथा इस प्रकार है—

'काऊ दोसु तइयाए मीसिया नीलिया चउत्थीए।
पंचमियाए मीसा कण्हा तत्तो परमकण्हा ॥

अज्ञानद्वार में किन्हीं में दो अज्ञान और किन्हीं में तीन अज्ञान कहे गये हैं, उसका तात्पर्य यह है कि जो असंज्ञी पंचेन्द्रियों से आकर उत्पन्न होते हैं उनके अपर्याप्त अवस्था में विभंगज्ञान नहीं होता अतएव दो ही अज्ञान सम्भव हैं। शेषकाल में तीनों अज्ञान होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रियों से आकर जो उत्पन्न होते हैं उनके तो अपर्याप्त अवस्था में भी विभंग होता है, अतएव तीनों अज्ञान सदा सम्भव हैं।

शर्कराप्रभा आदि आगे की नरकपृथ्वियों में संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ही उत्पन्न होते हैं। अतएव पहली रत्नप्रभापृथ्वी को छोड़कर शेष पृथ्वियों में तीनों अज्ञान पाये जाते हैं। शेष सब मूलपाठ से ही स्पष्ट है।

नारकों की भूख-प्यास

८८. [१] इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसयं खुहप्पिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ?

गोयमा ! एगमेगस्स णं रयणप्पभापुढविनेरइयस्स असब्भावपट्ठवणाए सव्वोदधी वा सव्वपोग्गले वा आसगंसि पक्खिवेज्जा णो चेव णं से रयणप्पभापुढवीए नेरइए तित्ते वा सिया, वितण्हे वा सिया, एरिसिया णं गोयमा ! रयणप्पभाए णेरइया खुहप्पिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति एवं जाव अहेसत्तमाए।

[८९] (१) हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक भूख और प्यास की कैसी वेदना का अनुभव करते हैं ?

गौतम ! असत्कल्पना के अनुसार यदि किसी एक रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक के मुख में सब समुद्रों का जल तथा सब खाद्यपुद्‌गलों को डाल दिया जाय तो भी उस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक की भूख तृप्त नहीं हो सकती और न उसकी प्यास ही शान्त हो सकती है। हे गौतम ! ऐसी तीव्र भूख-प्यास की वेदना उन रत्नप्रभा नारकियों को होती है। इसी तरह सप्तमपृथ्वी तक के नैरयिकों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

एक-अनेक-विकुर्वणा

८९. [२] इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया किं एगत्तं पभू विउव्वित्तए पुहुत्तं पि पभू विउव्वित्तए ?

गोयमा ! एगत्तं पि पभू पुहुत्तं पि पभू विउव्वित्तए। एगत्तं विउव्वेमाणा एगं महं मोग्गररूवं वा एवं मुसुंढि करवत असि सत्ती हल गया मुसल चक्कणाराय कुंत तोमर सूल लउड भिंडमाला य जाव भिंडमालरूवं वा पुहुत्तं विउव्वेमाणा, मोग्गररूवाणि वा जाव भिंडमालरूवाणि वा ताइं संखेज्जाइं णो असंखेज्जाइं, संबद्धाइं नो असंबद्धाइं, सरिसाइं नो असरिसाइं विउव्वंति, विउव्वित्ता अण्णमण्णस्स कायं अभिहणमाणा अभिहणमाणा वेयणं उदीरेंति उज्जलं विउलं पगाढं कक्कसं कडुयं फरुसं निट्ठुरं चंडं तिव्वं दुक्खं दुग्गं दुरहियासं एवं जाव धूमप्पभाए पुढवीए। छट्ठसत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया बहु

महंताइं लोहियकुंथुरूवाइं वइरामयतुंडाइं गोमयकीडसमाणाइं विउव्वंति, विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा खायमाणा खायमाणा सयपोरागकिमिया विव चालेमाणा चालेमाणा अंतो अंतो अणुप्पविसमाणा अणुप्पविसमाणा वेयणं उदीरंति उज्जलं जाव दुरहियासं।

[८९] (२) हे भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक क्या एक रूप बनाने में समर्थ हैं या बहुत से रूप बनाने में समर्थ हैं ?

गौतम ! वे एक रूप भी बना सकते हैं और बहुत रूप भी बना सकते हैं। एक रूप बनाते हुए वे एक मुद्गर रूप बनाने में समर्थ हैं, इसी प्रकार एक भुसंडी (शस्त्रविशेष), करवत, तलवार, शक्ति, हल, गदा, मूसल, चक्र, बाण, भाला, तोमर, शूल, लकुट (लाठी) और भिण्डमाल (शस्त्रविशेष) बनाते हैं और बहुत रूप बनाते हुए बहुत से मुद्गर भुसंढी यावत् भिण्डमाल बनाते हैं। इन बहुत शस्त्र रूपों की विकुर्वणा करते हुए वे संख्यात शस्त्रों की ही विकुर्वणा कर सकते हैं, असंख्यात की नहीं। अपने शरीर से सम्बद्ध की विकुर्वणा कर सकते हैं, असम्बद्ध की नहीं, सदृश की रचना कर सकते हैं, असदृश की नहीं। इन विविध शस्त्रों की रचना करके एक दूसरे नैरयिक पर प्रहार करके वेदना उत्पन्न करते हैं। वह वेदना उज्ज्वल अर्थात् लेशमात्र भी सुख न होने से जाज्वल्यमान होती है—उन्हें जलाती है, वह विपुल है—सकल शरीरव्यापी होने से विस्तीर्ण है, वह वेदना प्रगाढ है—मर्मदेशव्यापी होने से अतिगाढ होती है, वह कर्कश होती है (जैसे पाषाणखंड का संघर्ष शरीर के अवयवों को तोड़ देता है उसी तरह से वह वेदना आत्मप्रदेशों को तोड़-सी देती है। वह कटुक औषधिपान की तरह कड़वी होती है, वह परुष—कठोर (मन में रूक्षता पैदा करने वाली) होती है, निष्ठुर होती है (अशक्य प्रतीकार होने से दुर्भेद्य होती है) चण्ड होती है (रौद्र अध्यवसाय का कारण होने से), वह तीव्र होती है (अत्यधिक होने से) वह दुःखरूप होती है, वह दुर्लंघ्य और दुःसह्य होती है। इस प्रकार धूमप्रभापृथ्वी (पांचवीं नरक) तक कहना चाहिए।

छठी और सातवीं पृथ्वी के नैरयिक बहुत और बड़े (गोबर के कीट के समान) लाल कुन्थुओं की रचना करते हैं, जिनका मुख मानो वज्र जैसा होता है और जो गोबर के कीड़े जैसे होते हैं। ऐसे कुन्थुरूप की विकुर्वणा करके वे एक दूसरे के शरीर पर चढ़ते हैं, उनके शरीर को बार बार काटते हैं और सौ पर्व वाले इक्षु के कीड़ों की तरह भीतर ही भीतर सनसनाहट करते हुए घुस जाते हैं और उनको उज्ज्वल यावत् असह्य वेदना उत्पन्न करते हैं।

८९. [३] इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया किं सीयवेयणं वेयंति, उसिणवेयणं वेदंति, सीओसिणवेयणं वेदेंति ?

गोयमा ! णो सीयं वेयणं वेदेंति, उसिणं वेयणं वेदेंति, णो सीयोसिणं, एवं जाव वालुयप्पभाए।

पंकप्पभाए पुच्छा—गोयमा ! सीयं पि वेयणं वेदेंति, उसिणं पि वेयणं वेयंति, नो सीओसिणवेयणं वेयंति। ते बहुतरगा जे उसिणं वेयणं वेदेंति, ते थोवयरगा जे सीतं वेयणं वेयंति।

१, यहाँ प्रतियों में ('ते अप्पयरा उण्हजोणिया वेदेंति') पाठ अधिक है जो संगत नहीं है। भूल से लिखा गया प्रतीत होता है।—संपादक

धूमप्पभाए पुच्छा। गोयमा! सीतं पि वेयणं वेदेंति उसिणं पि वेयणं वेयंति णो सीतोसिणं वेयणं वेदेंति। ते बहुतरगा जे सीयवेयणं वेदेंति, ते थोवयरगा जे उसिणवेयणं वेयंति।

तमाए पुच्छा[1]। गोयमा! सीयं वेयणं वेदेंति णो उसिणं वेदणं वेदिंति णो सीतोसिणं वेयणं वेदेंति। एवं अहेसत्तमाए णवरं परमसीयं।

[८६] (३) हे भगवन्! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक क्या शीत वेदना वेदते हैं, उष्ण वेदना वेदते हैं या शीतोष्ण वेदना वेदते हैं?

गौतम! वे शीत वेदना नहीं वेदते हैं, उष्ण वेदना वेदते हैं, शीतोष्ण वेदना नहीं वेदते हैं। इस प्रकार शर्कराप्रभा और बालुकाप्रभा के नैरयिकों के संबंध में भी जानना चाहिए।

पंकप्रभा के विषय में प्रश्न करने पर गौतम! वे शीतवेदना भी वेदते हैं, उष्ण वेदना भी वेदते हैं, शीतोष्ण वेदना नहीं वेदते हैं। वे नैरयिक बहुत हैं जो उष्णवेदना वेदते हैं और वे कम हैं जो शीत वेदना वेदते हैं।

धूमप्रभा के विषय में प्रश्न किया तो हे गौतम! वे सीत वेदना भी वेदते हैं और उष्ण वेदना भी वेदते हैं, शीतोष्ण वेदना नहीं वेदते हैं। वे नारकजीव अधिक हैं जो शीत वेदना वेदते हैं और वे थोड़े हैं जो उष्ण वेदना वेदते हैं।

तमः प्रभा के प्रश्न पर हे गौतम! वे शीत वेदना वेदते हैं, उष्ण वेदना नहीं वेदते हैं और शीतोष्ण वेदना नहीं वेदते हैं।

तमस्तमा पृथ्वी की पुच्छा में गौतम! परमशीत वेदना वेदते हैं उष्ण या शीतोष्ण वेदना नहीं वेदते हैं।

८९. [४] इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइया केरिसयं णिरयभवं पच्चणुभवमाणा विहरंति?

गोयमा! ते णं तत्थ णिच्चं भीता णिच्चं तसिया णिच्चं छुहिया णिच्चं उव्विग्गा निच्चं उवप्पुआ णिच्चं वहिया निच्चं परममसुभमउलमणुबद्धं निरयभवं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

एवं जाव अधेसत्तमाए णं पुढवीए पंच अणुत्तरा महतिमहालया महाणरगा पण्णत्ता, तंजहा— काले महाकाले रोरुए महारोरुए अप्पतिट्ठाणे। तत्थ इमे पंच महापुरिसा अणुत्तरेहिं दंडसमादाणेहिं कालमासे कालं किच्चा अप्पइट्ठाणे णरए णेरइयत्ताए उववण्णा, तंजहा—१ रामे जमदग्गिपुत्ते २ दढाउ लच्छइपुत्ते ३ वसु उवरिचरे ४ सुभूमे कोरव्वे ५ बंभदत्ते चुलणिसुए। ते णं तत्थ नेरइया जाया काला कालोभासा जाव परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता, तंजहा—ते णं तत्थ वेदणं वेदेंति उज्जलं विउलं जाव दुरहियासं।

[८९] (४) हे भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नैरयिक किस प्रकार के नरक भव का अनुभव करते हुए विचरते हैं?

---

१. 'णिच्चं वहिया' यह पाठ टीका में नहीं है।—संपादक

गौतम ! वे वहाँ नित्य डरे हुए रहते हैं, नित्य त्रसित रहते हैं, नित्य भूखे रहते हैं, नित्य उद्विग्न रहते हैं, नित्य उपद्रवग्रस्त रहते हैं, नित्य वधिक के समान क्रूर परिणाम वाले, नित्य परम अशुभ, अनन्य सदृश अशुभ और निरन्तर अशुभ रूप से उपचित नरकभव का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार सप्तम पृथ्वी तक कहना चाहिए।

सप्तम पृथ्वी में पांच अनुत्तर बड़े से बड़े महानरक कहे गये हैं, यथा—काल, महाकाल, रौरव, महारौरव और अप्रतिष्ठान। वहाँ ये पांच महापुरुष सर्वोत्कृष्ट हिंसादि पाप कर्मों को एकत्रित कर मृत्यु के समय मर कर अप्रतिष्ठान नरक में नैरयिक के रूप में उत्पन्न हुए,—१. जमदग्नि का पुत्र परशुराम, २. लच्छतिपुत्र दृढायु, ३. उपरिचर वसुराज, ४. कौरव्य सुभूम और ५ चुलणिसुत ब्रह्मदत्त।

ये वहाँ नैरयिक के रूप में उत्पन्न हुए जो वर्ण से काले, काली छवि वाले यावत् अत्यन्त काले हैं, इत्यादि वर्णन करना चाहिए यावत् वे वहाँ अत्यन्त जाज्वल्यमान विपुल एवं यावत् असह्य वेदना को वेदते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नारक जीवों की भूख-प्यास संबंधी वेदना, एक-अनेक शस्त्रों की विकुर्वणा कर परस्पर दी गई वेदना, शीतवेदना, उष्णवेदना और नरकभव से होने वाली वेदनाओं का वर्णन किया है।

भूखवेदना—नारक जीवों की भूख-प्यास को असत् कल्पना के द्वारा व्यक्त करते हुए कहा गया है कि यदि किसी एक नारक जीव के मुख में सर्व खाद्य पुद्गलों को डाल दिया जाय और सारे समुद्रों का पानी पिला दिया जाय तो भी न तो उसकी भूख शान्त होगी और न प्यास ही बुझ पायगी। इसकी थोड़ी-सी कल्पना हमें इस मनुष्यलोक में प्रबलतम भस्मक व्याधि वाले पुरुष की दशा से आ सकती है। ऐसी तीव्र भूख-प्यास की वेदना वे नारक जीव सहने को बाध्य हैं।

शस्त्रविकुर्वणवेदना—वे नारक जीव एक प्रकार के और बहुत प्रकार के नाना शस्त्रों की विकुर्वणा करके एक दूसरे नारक जीव पर तीव्र प्रहार करते हैं। वे परस्पर में तीव्र वेदना देते हैं, इसलिए परस्परोदीरित वेदना वाले हैं। पाठ में आया हुआ 'पुहुत्त' शब्द बहुत्व का वाचक है। इस विक्रिया द्वारा वे दूसरों को उज्ज्वल, विपुल, प्रगाढ, कर्कश, कटुक, परुष, निष्ठुर, चण्ड, तीव्र, दुःखरूप, दुर्लंघ्य और दुःसह्य वेदना देते हैं। यह विकुर्वणा रूप वेदना पांचवीं नरक तक समझना चाहिए। छठी और सातवीं नरक में तो नारक जीव वज्रमय मुखवाले लाल और गोबर के कीड़े के समान, बड़े कुन्थुओं का रूप बनाकर एक दूसरे के शरीर पर चढ़ते हैं और काट-काट कर दूसरे नारक के शरीर में अन्दर तक प्रवेश करके इक्षु का कीड़ा जैसे इक्षु को खा-खाकर छलनी कर देता है, वैसे वे नारक के शरीर को छलनी करके वेदना पहुँचाते हैं।

शीतादि वेदना—रत्नप्रभापृथ्वी के नारक शीतवेदना नहीं वेदते हैं, उष्णवेदना वेदते हैं, शीतोष्णवेदना नही वेदते हैं। वे नारक शीतयोनि वाले हैं। योनिस्थान के अतिरिक्त समस्त भूमि खैर के अंगारों से भी अधिक प्रतप्त है, अतएव वे नारक उष्णवेदना वेदते हैं; शीतवेदना नहीं। शीतोष्णस्वभाव वाली सम्मिलित वेदना का नरकों में मूल से ही अभाव है।

शर्कराप्रभा और बालुकाप्रभा में भी उष्णवेदना ही है। पंकप्रभा में शीतवेदना भी और

उष्णवेदना भी है। नरकावासों के भेद से कतिपय नारक शीतवेदना वेदते हैं और कतिपय नारक उष्णवेदना वेदते हैं। उष्णवेदना वाले नारक जीव अधिक हैं और शीतवेदना वाले कम हैं।

धूमप्रभा में भी दोनों प्रकार की वेदनाएँ हैं परन्तु वहाँ शीतवेदना वाले अधिक हैं और उष्ण-वेदना वाले कम हैं।

छठी नरक में शीत वेदना है। क्योंकि वहाँ के नारक उष्णयोनिक हैं। योनिस्थानों को छोड़कर सारा क्षेत्र अत्यन्त बर्फ की तरह ठंडा है, अतएव उन्हें शीतवेदना भोगनी पड़ती है। सातवीं पृथ्वी में अतिप्रबल शीतवेदना है।

भवानुभववेदना—रत्नप्रभा आदि नरक भूमियों के नारक जीव क्षेत्रस्वभाव से ही अत्यन्त गाढ अन्धकार से व्याप्त भूमि को देखकर नित्य डरे हुए और शंकित रहते हैं। परमाधार्मिक देव तथा परस्परोदीरित दुःखसंघात से नित्य त्रस्त रहते हैं। वे नित्य दुःखानुभव के कारण उद्विग्न रहते हैं, वे नित्य उपद्रवग्रस्त होने से तनिक भी साता नहीं पाते हैं, वे सदा अशुभ, अशुभ रूप से अनन्य-सदृश तथा अशुभरूप से निरन्तर उपचित नरकभव का अनुभव करते हैं। यह वक्तव्यता सब नरकों में है।

सप्तमपृथ्वी के अप्रतिष्ठान नरकावास में अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाले जीव ही उत्पन्न होते हैं, अन्य नहीं। उदाहरण के रूप में यहाँ पांच महापुरुषों का उल्लेख किया गया है जो अत्यन्त उत्कृष्ट स्थिति के और उत्कृष्ट अनुभाग का बन्ध कराने वाले क्रूर कर्मों को बाँधकर सप्तमपृथ्वी के प्रति-ष्ठान नरकावास में उत्पन्न हुए हैं। वे हैं—१. जमदग्नि का पुत्र परशुराम, २. लच्छति पुत्र दृढायु (टीकाकार के अनुसार छातीसुत दाढादाल), ३. उपरिचर वसुराजा, ४. कोरव्य गोत्रवाला अष्टम-चक्रवर्ती सुभूम और ५. चुलनीसुत ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती।

ऐसा कहा जाता है कि परशुराम ने २१ बार क्षत्रियों का नाश करके क्षत्रियहीन पृथ्वी कर दी थी। सुभूम आठवाँ चक्रवर्ती हुआ, इसने सात बार पृथ्वी को ब्राह्मणरहित किया। ऐसी किंवदन्ती है। तीव्र क्रूर अध्यवसायों से ही ऐसा हो सकता है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती अत्यन्त भोगासक्त था तथा उसके अध्यवसाय अत्यन्त क्रूर थे। वसु राजा उपरिचर के विषय में प्रसिद्ध है कि वह बहुत सत्यवादी था और इस कारण देवताधिष्ठित स्फटिक सिंहासन पर बैठा हुआ भी वह स्फटिक सिंहासन जनता को दृष्टिगोचर न होने से ऐसी बात फैल गई थी कि राजा प्राण जाने पर भी असत्य भाषण नहीं करता। इसके प्रताप से वह भूमि से ऊपर उठकर अधर में स्थित होता है। एक बार पर्वत और नारद में वेद में आये हुए 'अज' शब्द के विषय में विवाद हुआ। पर्वत अज का अर्थ बकरा करता था और उससे यज्ञ करने का हिंसामय प्रतिपादन करता था। जबकि सम्यग्दृष्टि नारद 'अज' का अर्थ 'न उगने वाला धान्य' करता था। दोनों न्याय के लिए वसु राजा के पास आये। किन्हीं कारणों से वसु राजा ने पर्वत का पक्ष लिया, हिंसामय यज्ञ को प्रोत्साहित किया। इस झूठ के कारण देवता कुपित हुआ और उसे चपेटा मार कर सिंहासन से गिरा दिया। वह रौद्रध्यान और क्रूर परिणामों से मरकर सप्तम पृथ्वी के अप्रतिष्ठान नरकावास में उत्पन्न हुआ।

उक्त पंच महापुरुष और ऐसे ही अन्य अत्यन्त क्रूरकर्मा प्राणी सर्वोत्कृष्ट पाप कर्म का उपार्जन करके वहाँ उत्पन्न हुए और अशुभ वर्ण-गंध-स्पर्शादिक की उज्ज्वल, विपुल और दुःसह्य वेदना को भोग रहे हैं।

उष्णवेदना का स्वरूप

८९. [५] उसिणवेदणिज्जेसु णं भंते ! णरएसु णेरइया केरिसयं उसिणवेयणं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ?

गोयमा ! से जहानामए कम्मारदारए सिया तरुणे बलवं जुगवं अप्पायंके थिरग्गहत्थे दढपाणिपायपास पिट्ठंतरोरु [संघाय] परिणए लंघण-पवण-जवण-वग्गण-पमद्दणसमत्थे तलजमलजुयल (फलिहणिभ) बाहू घणणिचियवलियवट्टखंधे, चम्मेट्ठगदुहणमुट्ठियसमाहयणिचितगत्तगत्ते उरस्सबल समण्णागए छेए दक्खे पट्ठे कुसले णिउणे मेहावी णिउणसिप्पोवगए एगं महं अयपिंडं उदगवारसमाणं गहाय तं ताविय ताविय कोट्टिय कोट्टिय उब्भिंदिय उब्भिंदिय चुण्णिय चुण्णिय जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं अद्धमासं संहणेज्जा, से णं तं सीतं सीतीभूतं अओमएणं संदंसएणं गहाय असब्भावपट्ठवणाए उसिणवेदणिज्जेसु णरएसु पक्खिवेज्जा, से णं तं उम्मिसिय णिमिसियंतरेण पुणरवि पच्चुद्धरिस्सामित्तिकट्टु पविरायमेव पासेज्जा, पविलीणमेव पासेज्जा, पविद्धत्थमेव पासेज्जा णो चेव णं संचाएति अविरायं वा अविलीणं वा अविद्धत्थं वा पुणरवि पच्चुद्धरित्तए।

से जहा वा मत्तमातंगे दिवे कुंजरे सट्ठिहायणे पढमसरयकालसमयंसि वा चरमनिदाघकालसमयंसि वा उण्हाभिहए तण्हाभिहए दवग्गिजालाभिहए आउरे सुसिए पिवासिए दुब्बले किलंते एक्कं महं पुक्खरिणिं पासेज्जा चाउक्कोणं समतीरं अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीतलजलं संछण्णपत्त भिसमुणालं बहुउप्पलकुमुदणलिण-सुभग-सोगंधिय-पुंडरीय-महपुंडरीय-सयपत्त-सहस्सपत्त-केसर फुल्लोवचियं छप्पयपरिभुज्जमाणकमलं अच्छविमलसलिलपुण्णं परिहत्थभमंत मच्छ कच्छभं अणेगसउणिगणमिहुणय विरइय सद्दुन्नइयमहुरसरनाइयं तं पासइ, तं पासित्ता तं ओगाहइ, ओगाहित्ता से णं तत्थ उण्हंपि पविणेज्जा तिण्हंपि पविणेज्जा खुहं पि पविणिजा जरंपि पविणेज्जा दाहं पि पविणेज्जा णिद्दाएज्ज वा पयलाएज्ज वा सइं वा रइं वा धिइं वा मतिं वा उवलभेज्जा, सीए सीयभूए संकममाणे संकममाणे सायासोक्खबहुले यावि विहरिज्जा, एवामेव गोयमा ! असब्भावपट्ठवणाए उसिणवेयणिज्जेहिंतो णरएहिंतो णेरइए उव्वट्टिए समाणे जाइं इमाइं मणुस्सलोयंसि भवंति गोलियालिछाणि वा सोंडियालिछाणि वा भिंडियालिछाणि वा अयागराणि वा तंबागराणि वा तउयागराणि वा सीसागराणि वा रूप्पागराणि वा सुवण्णागराणि वा हिरण्णागराणि वा कुंभारागणीइ वा मुसागणी वा इट्टयागणी वा कवेल्लुयागणी वा लोहारंबरीसे इवा जंतवाडचुल्ली वा हंडियलित्थाणि वा सोंडियलित्थाणि वा णलागणी इवा तिलागणी वा तुसागणी ति वा तत्ताइं समज्जोईभूयाइं फुल्लकिंसुय-समाणाइं उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाणाइं जालासहस्साइं पमुच्चमाणाइं इंगालसहस्साइं पविक्खरमाणाइं अंतो अंतो हुहुयमाणाइं चिट्ठंति ताइं पासइ, ताइं पासित्ता ताइं ओगाहइ, ताइं ओगाहित्ता से णं तत्थ उण्हं पि पविणेज्जा तण्हं पि पविणेज्जा खुहं पि पविणेज्जा जरंपि पविणेज्जा दाहंपि पविणेज्जा णिद्दाएज्जा वा

पयलाएज्जा वा सइं वा रइं वा धिइं वा मइं वा उवलभेज्जा, सीए सीयभूयए संकममाणे संकममाणे सायासोक्खबहुले या वि विहरेज्जा, भवेयारूवे सिया ? णो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! उसिणवेयणिज्जेसु नरएसु नेरइया एत्तो अणिट्ठतरियं चेव उसिण वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति ।

[८९] (५) हे भगवन् ! उष्णवेदना वाले नरकों में नारक किस प्रकार की उष्णवेदना का अनुभव करते हैं ?

गौतम ! जैसे कोई लुहार का लड़का, जो तरुण (युवा—विशिष्ट अभिनव वर्णादि वाला) हो, बलवान हो, युगवान् (कालादिजन्य उपद्रवों से रहित) हो, रोग रहित हो, जिसके दोनों हाथों का अग्रभाग स्थिर हो, जिसके हाथ, पांव, पसलियां, पीठ और जंघाए सुदृढ और मजबूत हों, जो लांघने में, कूदने में, वेग के साथ चलने में, फांदने में समर्थ हो और जो कठिन वस्तु को भी चूर-चूर कर सकता हो, जो दो ताल वृक्ष जैसे सरल लंबे पुष्ट बाहु वाला हो, जिसके कंधे घने पुष्ट और गोल हों, (व्यायाम के समय) चमडे की बेंत, मुदगर तथा मुट्ठी के आघात से घने और पुष्ट बने हुए अवयवों वाला हो, जो आन्तरिक उत्साह से युक्त हो, जो छेक (बहत्तर कला निपुण), दक्ष (शीघ्रता से काम करने वाला), प्रष्ठ—हितमितभाषी, कुशल (कार्य कुशल), निपुण, बुद्धिमान, निपुणशिल्पयुक्त हो, वह एक छोटे घड़े के समान बड़े लोहे के पिण्ड को लेकर उसे तपा-तपा कर कूट कूट कर काट-काट कर उसका चूर्ण बनावे, ऐसा एक दिन, दो दिन, तीन दिन यावत् अधिक से अधिक पन्द्रह दिन तक ऐसा ही करता रहे । (चूर्ण का गोला बनाकर उसी क्रम से चूर्णादि करता रहे और गोला बनाता रहे, ऐसा करने से वह मजबूत फौलाद का गोला बन जावेगा) फिर उसे ठंडा करे । उस ठंडे लोहे के गोले को लोहे की संडासी से पकड़ कर असत् कल्पना से उष्णवेदना वाले नरकों में रख दे, इस विचार के साथ कि मैं एक उन्मेष-निमेष में (पलभर में) उसे फिर निकाल लूंगा । परन्तु वह क्षण भर में ही उसे फूटता हुआ देखता है, मक्खन की तरह पिघलता हुआ देखता है, सर्वथा भस्मीभूत होते हुए देखता है । वह लुहार का लड़का उस लोहे के गोले को अस्फुटित, अगलित और अविध्वस्त रूप में पुनः निकाल लेने में समर्थ नहीं होता । (तात्पर्य यह है कि वह फौलाद का गोला वहाँ की उष्णता से क्षणभर में पिघल कर नष्ट हो जाता है , इतनी भीषण वहाँ की उष्णता है ।)

(दूसरा दृष्टान्त) जैसे कोई मद वाला मातंग हाथी द्विप कुंजर जो साठ वर्ष का है प्रथम शरत् काल समय में (आश्विन मास में) अथवा अन्तिम ग्रीष्मकाल समय में (ज्येष्ठ मास में) गरमी से पीड़ित होकर, तृषा से बाधित होकर, दावाग्नि की ज्वालाओं से झुलसता हुआ, आतुर, शुषित, पिपासित, दुर्बल, और क्लान्त बना हुआ एक बड़ी पुष्करिणी (सरोवर) को देखता है, जिसके चार कोने हैं, जो समान किनारे वाली है, जो क्रमशः आगे-आगे गहरी है, जिसका जलस्थान अथाह है, जिसका जल शीतल है, जो कमलपत्र कंद और मृणाल से ढंकी हुई है । जो बहुत से खिले हुए केसर-प्रधान उत्पल, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगंधिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र आदि विविध कमल की जातियों से युक्त है, जिसके कमलों पर भ्रमर रसपान कर रहे हैं, जो स्वच्छ निर्मल जल से भरी हुई है, जिसमें बहुत से मच्छ और कछुए इधर-उधर घूम रहे हों, अनेक पक्षियों के जोड़ों के चहचहाने के शब्दों के कारण से जो मधुर स्वर से सुनिनादित (शब्दायमान) हो रही है, ऐसी पुष्प-करिणी को देखकर वह उसमें प्रवेश करता है, प्रवेश करके अपनी गरमी को शान्त करता है, तृषा को दूर करता है, भूख को मिटाता है, तापजनित ज्वर को नष्ट करता है और दाह को उपशान्त

करता है। इस प्रकार उष्णता आदि के उपशान्त होने पर वह वहां निद्रा लेने लगता है, आंखें मूंदने लगता है, उसकी स्मृति, रति (आनन्द), धृति (धैर्य) तथा मति (चित्त की स्वस्थता) लौट आती है, वह इस प्रकार शीतल और शान्त होकर धीरे-धीरे वहाँ से निकलता-निकलता अत्यन्त साता-सुख का अनुभव करता है।

इसी प्रकार हे गौतम ! असत्कल्पना के अनुसार उष्णवेदनीय नरकों से निकल कर कोई नैरयिक जीव इस मनुष्यलोक में जो गुड पकाने की भट्टियां, शराब बनाने की भट्टियां, बकरी की लिण्डियों की अग्निवाली भट्टियां, लोहा गलाने की भट्टियां, ताँबा गलाने की भट्टियां, इसी तरह रांगा सीसा, चांदी, सोना हिरण्य को गलाने की भट्टियां, कुम्भकार के भट्टे की अग्नि, मूस की अग्नि, ईंटें पकाने के भट्टे की अग्नि, कवेलु पकाने के भट्टे की अग्नि, लोहार के भट्टे की अग्नि, इक्षुरस पकाने की चूल की अग्नि, तिल की अग्नि, तुष की अग्नि, नड—बांस की अग्नि आदि जो अग्नि और अग्नि के स्थान हैं, जो तप्त हैं और तपकर अग्नि-तुल्य हो गये हैं, फूले हुए पलास के फूलों की तरह लाल-लाल हो गये हैं, जिनमें से हजारों चिनगारियां निकल रही हैं, हजारों ज्वालाएँ निकल रही हैं, हजारों अंगारे जहाँ बिखर रहे हैं और जो अत्यन्त जाज्वल्यमान हैं, जो अन्दर ही अन्दर धू-धू धधकते हैं, ऐसे अग्निस्थानों और अग्नियों को वह नारक जीव देखे और उनमें प्रवेश करे तो वह अपनी उष्णता को (नरक की उष्णता को) शान्त करता है, तृषा, क्षुधा और दाह को दूर करता है और ऐसा होने से वह वहाँ नींद भी लेता है, आंखें भी मूंदता है, स्मृति, रति, धृति और मति (चित्त की स्वस्थता) प्राप्त करता है और ठंडा होकर अत्यन्त शान्ति का अनुभव करता हुआ धीरे-धीरे वहाँ से निकलता हुआ अत्यन्त सुख-साता का अनुभव करता है। भगवान् के ऐसा कहने पर गौतम ने पूछा कि भगवन् ! क्या नारकों की ऐसी उष्णवेदना है ? भगवान् ने कहा—नहीं, यह बात नहीं है; इससे भी अनिष्टतर उष्णवेदना को नारक जीव अनुभव करते हैं।

शीतवेदना का स्वरूप

८९. [५] सीयवेदणिज्जेसु णं भंते ! णरएसु णेरइया केरिसियं सीयवेयणं पच्चणुभव-माणा विहरंति ?

गोयमा ! से जहानामए कम्मारदारए सिया तरुणे जुगवं बलवं जाव सिप्पोवगए एगं महं अयपिंडं दगवारसमाणं गहाय ताविय कोट्टिय कोट्टिय जहन्नेणं एगाहं वा दुआहं वा तियाहं वा उक्को-सेणं मासं हणेज्जा, से णं तं उसिणं उसिणभूतं अयोमएणं संदंसएणं गहाय असब्भावपट्ठवणाए सीय-वेदणिज्जेसु णरएसु पक्खिवेज्जा, तं [उमिसियनिमिसियंतरेणं पुणरवि पच्चुद्धरिस्सामि त्तिकट्टु पवि-रायमेव पासेज्जा, तं चेव णं जाव णो चेव णं संचाएज्जा पुणरवि पच्चुद्धरित्तए। से णं से जहाणामए मत्तमायंगे तहेव जाव सोक्खबहुले यावि विहरेज्जा] एवामेव गोयमा ! असब्भावपट्ठवणाए सीय-वेदणेहितो णरएहितो नेरइए उव्वट्टिए समाणे जाइं इमाइं इहं माणुस्सलोए हवंति, तंजहा—हिमा-णि वा हिमपुंजाणि वा हिमपडलाणि वा हिमपडलपुंजाणि वा, तुसाराणि वा, तुसारपुंजाणि वा, हिमकुंडाणि वा हिमकुंडपुंजाणि वा सीयाणि वा ताइं पासइ, पासित्ता ताइं ओगाहति, ओगाहित्ता से णं तत्थ सीयंपि पविणेज्जा, तण्हंपि पविणेज्जा खुहंपि प० जरंपि प० दाहं पि पविणेज्जा निद्दाएज्ज

वा पयलाएज्ज वा जाव उसिणे उसिणभूए संकसमाणे संकसमाणे सायासोक्खबहुले यावि विहरेज्जा।

गोयमा ! सीयवेयणिज्जेसु नरएसु नेरइया एत्तो अणिट्ठतरियं चेव सीयवेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

[८९] (५) हे भगवन् ! शीतवेदनीय नरकों में नैरयिक जीव कैसी शीतवेदना का अनुभव करते हैं ?

गौतम ! जैसे कोई लुहार का लड़का जो तरुण, युगवान् बलवान् यावत् शिल्पयुक्त हो, एक बड़े लोहे के पिण्ड को जो पानी के छोटे घड़े के बराबर हो, लेकर उसे तपा-तपाकर, कूट-कूटकर जघन्य एक दिन, दो दिन, तीन दिन उत्कृष्ट से एक मास तक पूर्ववत् सब क्रियाएँ करता रहे तथा उस उष्ण और पूरी तरह उष्ण गोले को लोहे की संडासी से पकड़ कर असत् कल्पना द्वारा उसे शीतवेदनीय नरकों में डाले (मैं अभी उन्मेष-निमेष मात्र समय में उसे निकाल लूंगा, इस भावना से डाले परन्तु वह पल-भर बाद उसे फूटता हुआ, गलता हुआ, नष्ट होता हुआ देखता है, वह उसे अस्फुटित रूप से निकालने में समर्थ नहीं होता है। इत्यादि वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए। तथा मस्त हाथी का उदाहरण भी वैसे ही कहना चाहिए यावत् वह सरोवर से निकलकर सुखशान्ति से विचरता है।) इसी प्रकार हे गौतम ! असत् कल्पना से शीतवेदना वाले नरकों से निकला हुआ नैरयिक इस मनुष्यलोक में शीतप्रधान जो स्थान हैं जैसे कि हिम, हिमपुंज, हिमपटल, हिमपटल के पुंज, तुषार, तुषार के पुंज, हिमकुण्ड, हिमकुण्ड के पुंज, शीत और शीतपुंज आदि को देखता है, देखकर उनमें प्रवेश करता है; वह वहाँ अपने नारकीय शीत को, तृषा को, भूख को, ज्वर को, दाह को मिटा लेता है और शान्ति के अनुभव से नींद भी लेता है, नींद से आंखें बंद कर लेता है यावत् गरम होकर अति गरम होकर वहाँ से धीरे धीरे निकल कर साता-सुख का अनुभव करता है। हे गौतम ! शीतवेदनीय नरकों में नैरयिक इससे भी अनिष्टतर शीतवेदना का अनुभव करते हैं।

नैरयिकों की स्थिति

९०. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि ठिई भाणियव्वा जाव अहेसत्तमाए।

[९०] हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों की स्थिति कितनी कही गई है ?

गौतम ! जघन्य से और उत्कर्ष से पन्नवणा के स्थितिपद के अनुसार अधःसप्तमीपृथ्वी तक स्थिति कहनी चाहिए।

उद्वर्तना

९१. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए णेरइया अणंतरं उव्वट्टिय कहिं गच्छंति ? कहिं उववज्जंति ? किं नेरइएसु उववज्जंति, किं तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, एवं उव्वट्टणा भाणियव्वा जहा वक्कंतीए तहा इह वि जाव अहेसत्तमाए।

[९१] हे भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक वहाँ से निकलकर सीधे कहाँ जाते हैं ? कहाँ

उत्पन्न होते हैं ? क्या नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं, तिर्यक्योनिकों में उत्पन्न होते हैं ? इस प्रकार उद्वर्तना कहनी चाहिए जैसी कि प्रज्ञापना के व्युत्क्रान्तिपद में कहा गया है वैसा यहाँ भी अधःसप्तम-पृथ्वी तक कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नैरयिकों की स्थिति और उद्वर्तना के विषय में प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार वक्तव्यता जाननी चाहिए, ऐसा कहा गया है। प्रज्ञापना में क्या कहा गया है, वह यहाँ उल्लेखित किया जाना आवश्यक है। वह कथन इस प्रकार का है—

	पृथ्वी का नाम	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१.	रत्नप्रभा	दस हजार वर्ष	एक सागरोपम
२.	शर्कराप्रभा	एक सागरोपम	तीन सागरोपम
३.	बालुकाप्रभा	तीन सागरोपम	सात सागरोपम
४.	पंकप्रभा	सात सागरोपम	दस सागरोपम
५.	धूमप्रभा	दस सागरोपम	सत्रह सागरोपम
६.	तमःप्रभा	सत्रह सागरोपम	बावीस सागरोपम
७.	तमस्तमःप्रभा	बावीस सागरोपम	तेतीस सागरोपम

प्रस्तट के अनुसार स्थिति

१. रत्नप्रभा के १३ प्रस्तट हैं, उनकी स्थिति इस प्रकार है—

प्रस्तट	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
(१) प्रथम प्रस्तट	दस हजार वर्ष	नब्बे हजार वर्ष
(२) दूसरा प्रस्तट	दस लाख वर्ष	नब्बे लाख वर्ष
(३) तीसरा प्रस्तट	नब्बे लाख वर्ष	पूर्व कोटि
(४) चौथा प्रस्तट	पूर्वकोटि	सागरोपम का दसवां भाग
(५) पांचवां प्रस्तट	सागरोपम का दसवां भाग	सागरोपम के दो दशभाग
(६) छठा प्रस्तट	सागरोपम के दो दशभाग	सागरोपम के तीन दशभाग
(७) सातवां प्रस्तट	सागरोपम के तीन दशभाग	सागरोपम के चार दशभाग
(८) आठवां प्रस्तट	सागरोपम के चार दशभाग	सागरोपम के पांच दशभाग
(९) नौवां प्रस्तट	सागरोपम के पांच दशभाग	सागरोपम के छह दशभाग
(१०) दसवां प्रस्तट	सागरोपम के छह दशभाग	सागरोपम के सात दशभाग
(११) ग्यारहवां प्रस्तट	सागरोपम के सात दशभाग	सागरोपम के आठ दशभाग
(१२) बारहवां प्रस्तट	सागरोपम के आठ दशभाग	सागरोपम के नौ दशभाग
(१३) तेरहवां प्रस्तट	सागरोपम के नौ दशभाग	सागरोपम के दस दशभाग अर्थात् पूरा एक सागरोपम

२. शर्कराप्रभा की प्रस्तट के अनुसार स्थिति

प्रस्तट	जघन्य	उत्कृष्ट
पहला प्रस्तट	एक सागरोपम	एक सागरोपम और २/११ सागरोपम
दूसरा ,,	१ २/११ ,,	१ ४/११ ,,
तीसरा ,,	१ ४/११ ,,	१ ६/११ ,,
चौथा ,,	१ ६/११ ,,	१ ८/११ ,,
पांचवां ,,	१ ८/११ ,,	१ १०/११ ,,
छठा ,,	१ १०/११ ,,	२ १/११ ,,
सातवां ,,	२ १/११ ,,	२ ३/११ ,,
आठवां ,,	२ ३/११ ,,	२ ५/११ ,,
नौवां ,,	२ ५/११ ,,	२ ७/११ ,,
दसवां ,,	२ ७/११ ,,	२ ९/११ ,,
ग्यारहवां ,,	२ ९/११ ,,	३ सागरोपम पूर्ण

३. बालुकाप्रभा

	जघन्य	उत्कृष्ट
प्रथम प्रस्तट	३ सागरोपम	३ ४/९ सागरोपम
द्वितीय ,,	३ ४/९ ,,	३ ८/९ ,,
तृतीय ,,	३ ८/९ ,,	४ ३/९ ,,
चतुर्थ ,,	४ ३/९ ,,	४ ७/९ ,,
पंचम ,,	४ ७/९ ,,	५ २/९ ,,
छठा ,,	५ २/९ ,,	५ ६/९ ,,
सप्तम ,,	५ ६/९ ,,	६ १/९ ,,
अष्टम ,,	६ १/९ ,,	६ ५/९ ,,
नवम ,,	६ ५/९ ,,	७ सागरोपम पूर्ण

४. पंकप्रभा

	जघन्य	उत्कृष्ठ
प्रथम प्रस्तट	७ सागरोपम	७ ३/७ सागरोपम
द्वितीय ,,	७ ३/७ ,,	७ ६/७ ,,
तृतीय ,,	७ ६/७ ,,	८ २/७ ,,
चतुर्थ ,,	८ २/७ ,,	८ ५/७ ,,
पंचम ,,	८ ५/७ ,,	९ १/७ ,,
षष्ठ ,,	९ १/७ ,,	९ ४/७ ,,
सप्तम ,,	९ ४/७ ,,	१० सागरोपम परिपूर्ण

५. धूमप्रभा

	जघन्य	उत्कृष्ट
प्रथम प्रस्तट	१० सागरोपम	११$\frac{२}{५}$ सागरोपम
दूसरा ,,	११$\frac{२}{५}$,,	१२$\frac{४}{५}$,,
तीसरा ,,	१२$\frac{४}{५}$,,	१४$\frac{१}{५}$,,
चौथा ,,	१४$\frac{१}{५}$,,	१५$\frac{३}{५}$,,
पांचवां ,,	१५$\frac{३}{५}$,,	१७ सागरोपम प्रतिपूर्ण

६. तमःप्रभा

		जघन्य	उत्कृष्ट
१.	प्रथम प्रस्तट	१७ सागरोपम	१८$\frac{२}{३}$ सागरोपम
२.	द्वितीय ,,	१८$\frac{२}{३}$,,	२०$\frac{१}{३}$ सागरोपम
३.	तृतीय ,,	२०$\frac{१}{३}$,,	२२ सागरोपम प्रतिपूर्ण

तमस्तमःप्रभा

	जघन्य	उत्कृष्ट
एक ही प्रस्तट है	२२ सागरोपम	तेंतीस सागरोपम

उद्वर्तना

प्रज्ञापना के व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार उद्‌वर्तना कहनी चाहिए। वह बहुत विस्तृत है अतः वहीं से जानना चाहिए। संक्षेप में भावार्थ यह है कि प्रथम नरक पृथ्वी से लेकर छठी नरक पृथ्वी के नैरयिक वहाँ से सीधे निकलकर नैरयिक, देव, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संमूर्छिम पंचेन्द्रिय और असंख्येय वर्षायु वाले तिर्यंच मनुष्य को छोड़कर शेष तिर्यञ्चों और मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। सप्तम पृथ्वी नैरयिक गर्भज तिर्यक् पंचेन्द्रियों में ही उत्पन्न होते हैं, शेष में नहीं।

नरकों में पृथ्वी आदि का स्पर्शादि प्ररूपण

९२. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसयं पुढविफासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ?

गोयमा ! अणिट्ठं जाव अमणामं। एवं जाव अहेसत्तमाए।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसयं आउफासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ?

गोयमा ! अणिट्ठं जाव अमणामं। एवं जाव अहेसत्तमाए। एवं जाव वणप्फइफासं अहेसत्तमाए पुढवीए।

इमा णं भंते ! रयणप्पभापुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय सव्वमहंतिया बाहल्लेणं सव्वक्खुड्डिया सव्वंतेसु ?

हंता ! गोयमा ! इमा णं रयणप्पभापुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय जाव सव्वक्खुड्डिया सव्वंतेसु।

दोच्चा णं भंते ! पुढवी तच्चं पुढविं पणिहाय सव्वमहंतिया बाहल्लेणं पुच्छा ?

हंता गोयमा ! दोच्चा णं पुढवी जाव सव्वक्खुड्डिया सव्वंतेसु। एवं एएणं अभिलावेणं जाव छट्ठिया पुढवी अहेसत्तमं पुढविं पणिहाय सव्वक्खुड्डिया सव्वंतेसु।

[९२] हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक किस प्रकार के भूमिस्पर्श का अनुभव करते हैं ?

गौतम ! वे अनिष्ट यावत् अमणाम भूमिस्पर्श का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार सप्तम पृथ्वी तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक किस प्रकार के जलस्पर्श का अनुभव करते हैं ?

गौतम ! अनिष्ट यावत् अमणाम जलस्पर्श का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार सप्तम पृथ्वी तक कहना चाहिए।

इसी प्रकार तेजस्, वायु और वनस्पति के स्पर्श के विषय में रत्नप्रभा से लेकर सप्तम पृथ्वी तक के नैरयिकों के विषय में जानना चाहिए।

हे भगवन् ! क्या यह रत्नप्रभापृथ्वी दूसरी पृथ्वी की अपेक्षा बाहल्य (मोटाई) में बड़ी है और सर्वान्तों में लम्बाई-चौड़ाई में सबसे छोटी है ?

हाँ, गौतम ! यह रत्नप्रभापृथ्वी दूसरी पृथ्वी की अपेक्षा बाहल्य में बड़ी है और लम्बाई-चौड़ाई में छोटी है।

भगवन् ! क्या शर्कराप्रभा नामक दूसरी पृथ्वी तीसरी पृथ्वी से बाहल्य में बड़ी और सर्वान्तों में छोटी है ?

हाँ, गौतम ! दूसरी पृथ्वी तीसरी पृथ्वी से बाहल्य में बड़ी और लम्बाई-चौड़ाई में छोटी है।

इसी प्रकार तब तक कहना चाहिए यावत् छठी पृथ्वी सातवीं पृथ्वी की अपेक्षा बाहल्य में बड़ी और लम्बाई-चौड़ाई में छोटी है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नरक-पृथ्वियों के भूमिस्पर्श, जलस्पर्श, तेजस्-स्पर्श, वायुस्पर्श और वनस्पतिस्पर्श के विषय को लेकर नैरयिकों के अनुभव की चर्चा है। नैरयिक जीवों को तनिक भी सुख के निमित्त नहीं हैं अतएव उनको वहाँ की भूमि का स्पर्श आदि सब अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अमनोज्ञ और अमणाम लगते हैं। यद्यपि नरकपृथ्वियों में साक्षात् बादरअग्निकाय नहीं है, तथापि उष्णरूपता में परिणत नरकभित्तियों का स्पर्श तथा परोदीरित वैक्रियरूप उष्णता वहाँ समझनी चाहिए।

साथ ही इस सूत्र में यह भी बताया गया है कि यह रत्नप्रभापृथ्वी बाहल्य की अपेक्षा सबसे बड़ी है क्योंकि इसकी मोटाई १ लाख ८० हजार योजन है और आगे-आगे की पृथ्वियों की मोटाई कम है। दूसरी की १ लाख बत्तीस हजार, तीसरी की एक लाख अट्ठावीस हजार, चौथी की एक लाख बीस हजार, पांचवीं की एक लाख अठारह हजार, छठी की एक लाख सोलह हजार और सातवीं की मोटाई एक लाख आठ हजार है। लम्बाई-चौड़ाई में रत्नप्रभापृथ्वी सबसे छोटी है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई एक राजू है। दूसरी पृथ्वी की लम्बाई-चौड़ाई दो राजू की है। तीसरी की तीन राजू, चौथी की ४ राजू, पांचवीं की ५ राजू, छठी की छह राजू और सातवीं की सात राजू लम्बाई-चौड़ाई है। बाहल्य में आगे-आगे की पृथ्वी छोटी है और लम्बाई-चौड़ाई में आगे-आगे की पृथ्वी बड़ी है।

९३. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए नरयावास-सयसहस्सेसु इक्कमिक्कंसि निरयावासंसि सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता पुढवीकाइयत्ताए जाव वणस्सइकाइयत्ताए नेरइयत्ताए उववन्नपुव्वा ?

हंता गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो। एवं जाव अहेसत्तमाए पुढवीए णवरं जत्थ जत्तिया णरका।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए निरयपरिसामंतेसु जे पुढविकाइया जाव वणप्फइ-काइया, ते णं भंते ! जीवा महाकम्मतरा चेव महाकिरियतरा चेव महाआसवतरा चेव महावेयणतरा चेव ?

हंता गोयमा ! इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए निरयपरिसामंतेसु तं चेव जाव महा-वेयणतरका चेव। एवं जाव अधेसत्तमाए।

[९३] हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में से प्रत्येक में सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व पृथ्वीकायिक रूप में अप्कायिक रूप में वायुकायिक रूप में वनस्पतिकायिक रूप में और नैरयिक रूप में पूर्व में उत्पन्न हुए हैं क्या ?

हाँ गौतम ! अनेक बार अथवा अनंत बार उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार सप्तम पृथ्वी तक कहना चाहिए। विशेषता यह है—जिस पृथ्वी में जितने नरकावास हैं उनका उल्लेख वहाँ करना चाहिए।

भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नरकावासों के पर्यन्तवर्ती प्रदेशों में जो पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक जीव हैं, वे जीव महाकर्म वाले, महाक्रिया वाले और महाआस्रव वाले और महावेदना वाले हैं क्या ?

हाँ, गौतम ! वे रत्नप्रभापृथ्वी के पर्यन्तवर्ती प्रदेशों के पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक जीव महाकर्म वाले, महाक्रिया वाले, महाआस्रव वाले और महावेदना वाले हैं।

इसी प्रकार सप्तम पृथ्वी तक कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न और उनके उत्तर हैं। पहला प्रश्न है कि भगवन् ! उक्त प्रकार के नरकावासों में सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व पहले उत्पन्न हुए हैं क्या ? भगवान् ने कहा—हाँ गौतम ! सब संसारी जीव इन नरकावासों में से प्रत्येक में अनेक बार अथवा अनन्त बार पूर्व में उत्पन्न हो चुके हैं। संसार अनादिकाल से है और अनादिकाल से सब संसारी जीव जन्म-मरण करते चले आ रहे हैं। अतएव वे बहुत बार अथवा अनन्त बार इन नरकावासों में उत्पन्न हुए हैं। कहा है—

'न सा जाई न सा जोणी जत्थ जीवो न जायइ' ऐसी कोई जाति और ऐसी कोई योनि नहीं है जहाँ इस जीव ने अनन्तबार जन्म-मरण न किया हो।

मूल पाठ में प्राण, भूत, जीव और सत्त्व शब्द आये हैं, इनका स्पष्टीकरण आचार्यों ने इस प्रकार किया है[1]—

'द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों का ग्रहण 'प्राण' शब्द से, वनस्पति का ग्रहण 'भूत' शब्द से, पंचेन्द्रियों का ग्रहण 'जीव' शब्द से, शेष रहे पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के जीव 'सत्त्व' शब्द से गृहीत होते हैं।'[1]

प्रस्तुत सूत्र में 'पुढवीकाइयात्ताए जाव' वणस्सइकाइयत्ताए' पाठ है। इससे सामान्यतया पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों का ग्रहण होता है। यहाँ रत्नप्रभादि में तत् तत् रूप में उत्पन्न होने वाले जीवों के विषय में पृच्छा है। बादर तेजस्कायिक के रूप में जीव इन नरकपृथ्वियों में उत्पन्न नहीं होते अतएव उनको छोड़कर शेष के विषय में यह समझना चाहिए। वृत्तिकार ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।[2] अतएव मूलार्थ में ऐसा ही अर्थ किया है।

दूसरा प्रश्न यह कि क्या वे रत्नप्रभादि के पर्यन्तवर्ती पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक जीव महाकर्म वाले, महाक्रिया वाले, महाआश्रव वाले और महावेदना वाले हैं ? भगवान् ने कहा—हाँ गौतम ! वे महाकर्म वाले यावत् महावेदना वाले हैं।

प्रस्तुत प्रश्न का उद्भव इस शंका से होता है कि वे जीव अभी एकेन्द्रिय अवस्था में हैं। अभी वे इस स्थिति में नहीं हैं और न ऐसे साधन उनके पास हैं जिनसे वे महा पापकर्म और महारम्भ आदि कर सकें तो वे महाकर्म, महाक्रिया, महाआश्रव और महावेदना वाले कैसे हैं ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि उन जीवों ने पूर्वजन्म में जो प्राणातिपात आदि महाक्रिया की है उसके अध्यवसायों से वे निवृत्त नहीं हुए हैं। अतएव वे वर्तमान में भी महाक्रिया वाले हैं। महाक्रिया का हेतु महाआश्रव है। वह महाआश्रव भी पूर्वजन्म में उनके था इससे वे निवृत्त नहीं हुए अतएव

---

१. प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः भूताश्च तरवः स्मृताः।
जीवाः पंचेन्द्रिया ज्ञेयाः शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥

२. 'पृथ्वीकायिकतया अप्कायिकतया वायुकायिकतया वनस्पतिकायिकतया नैरयिकतया उत्पन्नाः उत्पन्नपूर्वाः ? भगवानाह-हंतेत्यादि। —मलयवृत्ति

महाआश्रव भी उनके मौजूद है। महाआश्रव और महाक्रिया के कारण असातावेदनीयकर्म उनके प्रचुरमात्रा में है, अतएव वे महाकर्म वाले हैं और इसी कारण वे महावेदना वाले भी हैं।

उद्देशकार्थसंग्रहणिगाथाएँ

९४. पुढवि ओगाहित्ता नरगा संठाणमेव बाहल्लं।
विक्खंभपरिक्खेवे वण्णो गंधो य फासो य ॥१॥

तेसिं महालयाए उवमा देवेण होइ कायव्वा।
जीवा य पोग्गला वक्कमंति तह सासया निरया ॥२॥

उववायपरीमाणं अवहारुच्चत्तमेव संघयणं।
संठाण वण्ण गंधा फासा ऊसासमाहारे ॥३॥

लेसा दिट्ठी नाणे जोगुवओगे तहा समुग्घाया।
तत्तो खुहा पिवासा विउव्वणा वेयणा य भए ॥४॥

उववाओ पुरिसाणं ओवम्मं वेयणाए दुविहाए।
उव्वट्टण पुढवी उ उववाओ सव्वजीवाणं ॥५॥
एयाओ संगहणिगाहाओ।

॥ बीओ उद्देसओ समत्तो ॥

[९४] इस उद्देशक में निम्न विषयों का प्रतिपादन हुआ है—पृथ्वियों की संख्या, कितने क्षेत्र में नरकवास हैं, नारकों के संस्थान, तदनन्तर मोटाई, विष्कम्भ, परिक्षेप (लम्बाई-चौड़ाई और परिधि) वर्ण, गन्ध, स्पर्श, नरकों की विस्तीर्णता बताने हेतु देव की उपमा, जीव और पुद्गलों की उनमें व्युत्क्रान्ति, शाश्वत् अशाश्वत प्ररूपणा, उपपात (कहाँ से आकर जन्म लेते हैं), एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं, अपहार, उच्चत्व, नारकों के संहनन, संस्थान, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, उच्छ्वास, आहार, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग, समुद्घात, भूख-प्यास, विकुर्वणा, वेदना, भय, पांच महापुरुषों का सप्तम पृथ्वी में उपपात, द्विविध वेदना—उष्णवेदना शीतवेदना, स्थिति, उद्वर्तना, पृथ्वी का स्पर्श और सर्वजीवों का उपपात।

॥ द्वितीय उद्देशक सम्पूर्ण ॥

□□

तृतीय प्रतिपत्ति

तृतीय उद्देशक

नैरयिकों के विषय में और अधिक प्रतिपादन करने के लिए तृतीय उद्देशक का आरम्भ किया गया है। उसका आदिसूत्र इस प्रकार है—

नारकों का पुद्गलपरिणाम

९५. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसयं पोग्गलपरिणामं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ?

गोयमा ! अणिट्ठं जाव अमणामं। एवं जाव अहेसत्तमाए एवं नेयव्वं।

एत्थ किर अतिवयंति नरवसभा केसवा जलचरा य।
मंडलिया रायाणो जे य महारंभ कोडुंबी ॥१॥

भिन्नमुहुत्तो नरएसु होई तिरियमणुएसु चत्तारि।
देवेसु अद्धमासो उक्कोस विउव्वणा भणिया ॥२॥

जे पोग्गला अणिट्ठा नियमा सो तेसि होइ आहारो।
संठाणं तु जहण्णं नियमा हुंडं तु नायव्वं ॥३॥

असुभा विउव्वणा खलु नेरइयाणं उ होइ सव्वेसिं।
वेउव्वियं सरीरं असंघयण हुंडसंठाणं ॥४॥

अस्साओ उववण्णो अस्साओ चेव चयइ निरयभवं।
सव्वपुढवीसु जीवो सव्वेसु ठिइ विसेसेसुं ॥५॥

उववाएण व सायं नेरइओ देव-कम्मुणा वावि।
अज्झवसाण निमित्तं अहवा कम्माणुभावेणं ॥६॥

नेरइयाणुप्पाओ उक्कोसं पंचजोयणसयाइं।
दुक्खेणाभिद्दुयाणं वेयणसय संपगाढाणं ॥७॥

अच्छिनिमीलियमेत्तं नत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं।
नरए नेरइयाणं अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥८॥

तेयाकम्मसरीरा सुहुमसरीरा य जे अपज्जत्ता।
जीवेण मुक्कमेत्ता वच्चंति सहस्ससो भेयं ॥९॥

अतिसीयं अतिउण्हं अतिखुहा अतिभयं वा ।
निरये नेरइयाणं दुक्खसयाइं अविस्सामं ॥१०॥

एत्थ य भिन्नमुहुत्तो पोग्गल असुहा य होई अस्साओ ।
उववाओ उप्पाओ अच्छिसरीरा उ बोद्धव्वा ॥११॥

नारयउद्देसओ तइओ । से तं नेरइया ॥

[९५] हे भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक किस प्रकार के पुद्गलों के परिणमन का अनुभव करते हैं ?

गौतम ! अनिष्ट यावत् अमनाम पुद्गलों के परिणमन का अनुभव करते हैं ।

इसी प्रकार सप्तम पृथ्वी के नैरयिकों तक कहना चाहिए ।

इस सप्तमपृथ्वी में प्रायः करके नरवृषभ (लौकिक दृष्टि से बड़े समझे जाने वाले और अति भोगासक्त) वासुदेव, जलचर, मांडलिक राजा और महा आरम्भ वाले गृहस्थ उत्पन्न होते हैं । १ ॥

नारकों में अन्तर्मुहूर्त, तिर्यक् और मनुष्य में चार अन्तर्मुहूर्त और देवों में पन्द्रह दिन का उत्तर विकुर्वणा का उत्कृष्ट अवस्थानकाल है ॥ २ ॥

जो पुद्गल निश्चित रूप से अनिष्ट होते हैं, उन्हीं का नैरयिक आहार (ग्रहण) करते हैं । उनके शरीर की आकृति अति निकृष्ट और हुंडसंस्थान वाली होती है । ३ ॥

सब नैरयिकों की उत्तरविक्रिया भी अशुभ ही होती है । उनका वैक्रियशरीर असंहनन वाला और हुंडसंस्थान वाला होता है । ४ ॥

नारक जीवों का—चाहे वे किसी भी नरकपृथ्वी के हों और चाहे जैसी स्थिति वाले हों—जन्म असातावाला होता है, उनका सारा नारकीय जीवन दुःख में ही बीतता है । (सुख का लेश भी वहाँ नहीं है ।) ॥ ५ ॥

(उक्त कथन का अपवाद बताते हैं—) नैरयिक जीवों में से कोई जीव उपपात (जन्म) के समय ही साता का वेदन करता है, पूर्व सांगतिक देव के निमित्त से कोई नैरयिक थोड़े समय के लिए साता का वेदन करता है, कोई नैरयिक सम्यक्त्व-उत्पत्तिकाल में शुभ अध्यवसायों के कारण साता का वेदन करता है अथवा कर्मानुभाव से—तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा, ज्ञान तथा निर्वाण कल्याणक के निमित्त से साता का वेदन करते हैं ॥ ६ ॥

सैकड़ों वेदनाओं से अवगाढ होने के कारण दुःखों से सर्वात्मना व्याप्त नैरयिक (दुःखों से छटपटाते हुए) उत्कृष्ट पांच सौ योजन तक ऊपर उछलते हैं ॥ ७ ॥

रात-दिन दुःखों से पचते हुए नैरयिकों को नरक में पलक मूंदने मात्र काल के लिए भी सुख नहीं है किन्तु दुःख ही दुःख सदा उनके साथ लगा हुआ है ॥ ८ ॥

तैजस-कार्मण शरीर, सूक्ष्मशरीर और अपर्याप्त जीवों के शरीर जीव के द्वारा छोड़े जाते ही तत्काल हजारों खण्डों में खण्डित होकर बिखर जाते हैं । ९ ॥

नरक में नैरयिकों को अत्यन्त शीत, अत्यन्त उष्णता, अत्यन्त भूख, अत्यन्त प्यास और अत्यन्त भय और सैकड़ों दुःख निरन्तर (बिना रुके हुए लगातार) बने रहते हैं ।। १० ।।

इन गाथाओं में विकुर्वणा का अवस्थानकाल, अनिष्ट पुद्‌गलों का परिणमन, अशुभ विकुर्वणा, नित्य असाता, उपपात काल में क्षणिक साता, ऊपर छटपटाते हुए उछलना, अक्षिनिमेष के लिए भी साता न होना, वैक्रियशरीर का बिखरना तथा नारकों को होने वाली सैकड़ों प्रकार की वेदनाओं का उल्लेख किया गया है ।। ११ ।।

तृतीय नारक उद्देशक पूरा हुआ । नैरयिकों का वर्णन समाप्त हुआ ।

विवेचन—इस सूत्र एवं गाथाओं में नैरयिक जीवों के आहारादि पुद्‌गलों के परिणाम के विषय में उल्लेख किया गया है । नारक जीव जिन पुद्‌गलों को ग्रहण करते हैं उनका परिणमन अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ और अमनाम रूप में ही होता है । रत्नप्रभा से लेकर तमस्तमःप्रभा तक के नैरयिकों द्वारा गृहीत पुद्‌गलों का परिणमन अशुभ रूप में ही होता है ।

इसी प्रकार वेदना, लेश्या, नाम, गोत्र, अरति, भय, शोक, भूख, प्यास, व्याधि, उच्छ्‌वास, अनुताप, क्रोध, मान, माया, लोभ, आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा सम्बन्धी सूत्र भी कहने चाहिए । अर्थात् इन बीस का परिणमन भी नारकियों के लिए अशुभ होता है अर्थात् अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ और अमनाम रूप होता है ।[1]

यहाँ परिग्रहसंज्ञा परिणाम की वक्तव्यता में चरमसूत्र सप्तम पृथ्वी विषयक है और इसके आगे प्रथम गाथा कही गई है अतएव गाथा में आये हुए 'एत्थ' पद से सप्तम पृथ्वी का ग्रहण करना चाहिए । इस सप्तम पृथ्वी में प्रायः कैसे जीव जाते हैं, उसका उल्लेख प्रथम गाथा में किया गया है ।

जो नरवृषभ वासुदेव—जो बाह्य भौतिक दृष्टि से बहुत महिमा वाले, बल वाले, समृद्धि वाले, कामभोगादि में अत्यन्त आसक्त होते हैं, वे बहुत युद्ध आदि संहाररूप प्रवृत्तियों में तथा परिग्रह एवं भोगादि में आसक्त होने के कारण प्रायः यहाँ सप्तम पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं । इसी तरह तन्दुलमत्स्य जैसे भावहिंसा और क्रूर अध्यवसाय वाले, वसु आदि माण्डलिक राजा तथा सुभूम जैसे चक्रवर्ती तथा महारम्भ करने वाले कालसौकरिक सरीखे गृहस्थ प्रायः इस सप्तम पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं । गाथा में आया हुआ 'अतिवयंति' शब्द 'प्रायः' का सूचक है । (१)

दूसरी गाथा में नैरयिकों की तथा प्रसंगवश अन्य की भी विकुर्वणा का उत्कृष्ट काल बताया है—नारकों की उत्कृष्ट विकुर्वणा अन्तर्मुहुर्त काल तक रहती है । तिर्यञ्च और मनुष्यों की विकुर्वणा उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त रहती है तथा देवों की विकुर्वणा उत्कृष्ट पन्द्रह दिन (अर्धमास) तक रहती है । (२)

---

१. संग्रहणी गाथाएँ—पोग्गलपरिणामे वेयणा य लेसा य नाम गोए य ।
अरई भए य सोगे, खुहा पिवासा य वाही य ।। १ ।।
उस्सासे अणुतावे कोहे माणे य मायलोभे य ।
चत्तारि य सण्णाओ नेरइयाणं तु परिणामा ।। २ ।।

जो पुद्गल अनिष्ट होते हैं वे ही नैरयिकों के द्वारा आहारादि रूप में ग्रहण किये जाते हैं। उनके शरीर का संस्थान हुंडक होता है और वह भी निकृष्टतम होता है। यह भवधारणीय को लेकर है क्योंकि उत्तरवैक्रिय संस्थान के विषय में आगे की गाथा में कहा गया है। (३)

सब नैरयिकों की विकुर्वणा अशुभ ही होती है। यद्यपि वे अच्छी विक्रिया बनाने का विचार करते हैं तथापि प्रतिकूल कर्मोदय से उनकी वह विकुर्वणा निश्चित ही अशुभ होती है। उनका उत्तर-वैक्रिय शरीर और उपलक्षण से भवधारणीय शरीर संहनन रहित होता है, क्योंकि उनमें हड्डियों का ही अभाव है तथा उत्तरवैक्रिय शरीर भी हुंडसंस्थान वाला है, क्योंकि उनके भवप्रत्यय से ही हुण्डसंस्थान नामकर्म का उदय होता है ।। ४ ।।

रत्नप्रभादि सब नरकभूमियों में कोई जीव चाहे वह जघन्यस्थिति का हो या उत्कृष्ट-स्थिति का हो, जन्म के समय भी असाता का ही वेदन करता है। पहले के भव में मरणकाल में अनुभव किये हुए महादु:खों की अनुवृत्ति होने के कारण वह जन्म से ही असाता का वेदन करता है, उत्पत्ति के पश्चात् भी असाता का ही अनुभव करता है और पूरा नारक का भव असाता में ही पूरा करता है। सुख का लेशमात्र भी नहीं है ।। ५ ।।

यद्यपि ऊपर की गाथा में नारकियों को सदा दु:ख ही दु:ख होना कहा है, परन्तु उसका थोड़ा-सा अपवाद भी है। वह इस छठी गाथा में बताया है—

उपपात से—कोई नारक जीव उपपात के समय में साता का वेदन करता है। जो पूर्व के भव में दाह या छेद आदि के बिना सहज रूप में मृत्यु को प्राप्त हुआ हो वह अधिक संक्लिष्ट परिणाम वाला नहीं होता है। उस समय उसके न तो पूर्वभव में बांधा हुआ आधिरूप (मानसिक) दु:ख है और न क्षेत्रस्वभाव से 'होने वाली पीड़ा है और न परमाधार्मिक कृत या परस्परोदीरित वेदना ही है। इस स्थिति में दु:ख का अभाव होने से कोई जीव साता का वेदन करता है।

देवप्रभाव से—कोई जीव देव के प्रभाव से थोड़े समय के लिए साता का वेदन करता है। जैसे कृष्ण वासुदेव की वेदना के उपशम के लिए बलदेव नरक में गये थे। इसी प्रकार पूर्वसांगतिक देव के प्रभाव से थोड़े समय के लिए नैरयिकों को साता का अनुभव होता है। उसके बाद तो नियम से क्षेत्र-स्वभाव से होने वाली या अन्य-अन्य वेदनाएँ उन्हें होती ही हैं।

अध्यवसाय से—कोई नैरयिक सम्यक्त्व उत्पत्ति के काल में अथवा उसके बाद भी कदाचित् तथाविध विशिष्ट शुभ अध्यवसाय से बाह्य क्षेत्रज आदि वेदनाओं के होते हुए भी साता का अनुभव करता है। आगम में कहा है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय जीव को वैसा ही प्रमोद होता है जैसे किसी जन्मान्ध को नेत्रलाभ होने से होता है। इसके बाद भी तीर्थंकरों के गुणानुमोदन आदि विशिष्ट भावना भाते हुए बाह्य क्षेत्रज वेदना के सहभाव में भी वे सातोदय का अनुभव करते हैं।

कर्मानुभव से—तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा, ज्ञान तथा निर्वाण कल्याणक आदि बाह्य निमित्त को लेकर तथा तथाविध साता वेदनीयकर्म के विपाकोदय के निमित्त से नैरयिक जीव क्षणभर के लिए साता का अनुभव करते हैं ।।६।।

नैरयिक जीव कुंभियों में पकाये जाने पर तथा भाले आदि से भिद्यमान होने पर भय से त्रस्त होकर छटपटाते हुए पांच सौ योजन तक ऊपर उछलते हैं। जघन्य से एक कोस और उत्कर्ष से पांच सौ योजन उछलते हैं। ऐसा भी कहीं पाठ है[1] ।।७।।

नैरयिक जीवों को, जो रात-दिन नरकों में पचते रहते हैं, उन्हें आंख मूंदने जितने काल के लिए (निमेषमात्र के लिए) भी सुख नहीं है। वहाँ सदा दु:ख ही दु:ख है, निरन्तर दु:ख है ।।८।।

नैरयिकों के वैक्रिय शरीर के पुद्गल उन जीवों द्वारा शरीर छोड़ते ही हजारों खण्डों में छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाते हैं। इस प्रकार बिखरने वाले अन्य शरीरों का कथन भी प्रसंग से कर दिया है। तैजस कार्मण शरीर, सूक्ष्म शरीर अर्थात् सूक्ष्म नामकर्म के उदय वाले पर्याप्त और अपर्याप्त जीवों के शरीर, औदारिक शरीर, वैक्रिय और आहारक शरीर भी चर्मचक्षुओं द्वारा ग्राह्य न होने से सूक्ष्म हैं तथा अपर्याप्त जीवों के शरीर जीवों द्वारा छोड़े जाते ही बिखर जाते हैं। उनके परमाणुओं का संघात छिन्न-भिन्न हो जाता है ।।९।।

उन नारक जीवों को नरकों में अति शीत, अति उष्णता, अति तृषा, अति भूख, अति भय आदि सैकड़ों प्रकार के दु:ख निरन्तर होते रहते हैं ।।१०।।

उक्त दस गाथाओं के पश्चात् ग्यारहवीं गाथा में पूर्वोक्त सब गाथाओं में कही गई बातों का संकलन किया गया है जो मूलार्थ से ही स्पष्ट है।

इस प्रकार नारक वर्णन का तृतीय उद्देशक पूर्ण।

इसके साथ ही नैरयिकों का वर्णन भी पूरा हुआ।।

□□

---

१. 'नेरइयाणुप्पाओ गाउय उक्कोस पंचजोयणसयाइं' इति क्वचित् पाठः।

तृतीय प्रतिपत्ति

तिर्यग् अधिकार

तृतीय प्रतिपत्ति के नरकोद्देशक में तीन उद्देशक कहे गये हैं। उक्त तीन उद्देशकों में नरक और नारक के सम्बन्ध में विविध प्रकार की जानकारियां दी गई हैं। चार प्रकार के संसारसमापन्नक जीवों की प्रतिपत्ति में प्रथम भेदरूप नारक का वर्णन करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त तिर्यञ्चों का अधिकार कहते हैं—

तिर्यक्योनिकों के भेद

९६. [१] से किं तं तिरिक्खजोणिया ?

तिरिक्खजोणिया पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा—

एगिंदिय-तिरिक्खजोणिया, बेइंदिय-तिरिक्खजोणिया, तेइंदिय-तिरिक्खजोणिया, चउरिंदिय-तिरिक्खजोणिया, पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिया।

से किं तं एगिंदिय-तिरिक्खजोणिया ?

एगिंदिय-तिरिक्खजोणिया पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा—

पुढविकाइय-एगिंदिय-तिरिक्खजोणिया जाव वणस्सइकाइय-एगिंदिय-तिरिक्खजोणिया।

से किं तं पुढविकाइय-एगिंदिय-तिरिक्खजोणिया ?

पुढविकाइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—सुहुमपुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया, बादर-पुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया य।

से किं तं सुहुम पुढविकाइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिया ?

सुहुम पुढविकाइय एगिंदिय० दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

पज्जत्त सुहुम० अपज्जत्त सुहुम पुढवि०। से तं सुहुमा।

से किं तं बादर पुढविकाइय० ?

बादर पुढविकाइय० दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्त बादर पु०, अपज्जत्त बादर पुढविकाइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिया। से तं पुढविकाइय एगिंदिया।

से किं तं आउक्काइय एगिंदिय तिरिक्खजोणिया ?

आउक्काइय एगिंदिय० दुविहा पण्णत्ता, एवं जहेव पुढविकाइयाणं तहेव चउक्कओ भेदो जाव वणस्सइकाइया। से तं वणस्सइकाइयएगिंदिया।

[९६] (१) तिर्यक्योनिक जीवों का क्या स्वरूप है ?

तिर्यंक्योनिक जीव पांच प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

१. एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिक, २. द्वीन्द्रिय तिर्यक्योनिक, ३. त्रीन्द्रिय तिर्यक्योनिक, ४. चतुरिन्द्रिय तिर्यंक्योनिक और ५. पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक।

एकेन्द्रिय तिर्यंक्योनिक का क्या स्वरूप है ?

एकेन्द्रिय तिर्यंक्योनिक पांच प्रकार के हैं, यथा—

पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय ति. यावत् वनस्पतिकायिक तिर्यक्योनिक।

पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय ति. का क्या स्वरूप है ?

वे दो प्रकार के हैं, यथा—सूक्ष्म पृथ्वीकायिक ए. ति. और बादर पृथ्वीकायिक ए. ति.।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय तिर्यंक्योनिक क्या हैं ?

वे दो प्रकार के हैं, यथा—पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक ए. ति. और अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक ए. तिर्यंचयोनिक। यह सूक्ष्मपृथ्वीकाय का वर्णन हुआ।

बादर पृथ्वीकायिक क्या हैं ?

वे दो प्रकार के हैं—पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक और अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक। यह बादर पृथ्वीकायिक ए. ति. का वर्णन हुआ। यह पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय तिर्यक्योनिकों का वर्णन हुआ।

अप्कायिक एकेन्द्रिय तिर्यंक्योनिक क्या हैं ?

वे दो प्रकार के हैं, इस प्रकार पृथ्वीकायिक की तरह चार भेद कहने चाहिए। वनस्पतिकायिक एके. तिर्यक्योनिक पर्यन्त ऐसे ही भेद कहने चाहिए। यह वनस्पतिकायिक एके. तिर्यक्योनिकों का कथन हुआ।

९६. [२] से किं तं बेइंदिय तिरिक्खजोणिया ?

बेइंदिय तिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

पज्जत्त बेइंदिय तिरिक्खजोणिया, अपज्जत्त बेइंदिय तिरिक्खजोणिया।

से तं बेइंदिय तिरिक्खजोणिया एवं जाव चउरिंदिया।

पंचिंदिय तिरिक्खजोणिया तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—

जलयर पंचिंदिय ति. थलयर पंचिंदिय ति. खहयर पंचिंदिय तिरिक्खजोणिया।

से किं तं जलयर पंचिंदिय तिरिक्खजोणिया ?

जलयर पंचि ति० जोणिया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

संमुच्छिमजलयरपंचिंदिय तिरिक्खजोणिया य गब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदिय तिरिक्खजोणिया य।

से किं तं सम्मुच्छिम जलयर पंचि० ति० जोणिया ?

संमुच्छिम जलयर पंचि० ति० जोणिया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

पज्जत्तगसंमुच्छिम०, अपज्जत्तसंमुच्छिम० जलयरा, से तं संमुच्छिम जलयर पंचि. ति. जोणिया।

से किं तं गब्भवक्कंतिय जलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया ?

गब्भवक्कंतिय जलयर० दुविधा पण्णत्ता, तंजहा—

पज्जत्तग गब्भवक्कंतिय०, अपज्जत्तग गब्भवक्कंतिय०। से तं गब्भवक्कंतिय जलयरा। से तं जलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया।

से किं तं थलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया ?

थलयर पंचिदिय ति. जो. दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

चउप्पयथलयरपंचिदिय०, परिसप्प थलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया।

से किं तं चउप्पयथलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया ?

चउप्पयथलयर पं० ति० जो० दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

संमुच्छिम चउप्पयथलयर पंचिदिय० गब्भवक्कंतिय चउप्पयथलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया य। जहेव जलयराणं तहेव चउक्कओ भेदो, से तं चउप्पयथलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया।

से किं तं परिसप्प थलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया ?

परिसप्पथलयर० दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—उरगपरिसप्पथलयर पंचिदिय ति०, भुयगपरिसप्प थलयर पंचिदिय ति०।

से किं तं उरगपरिसप्प थल० पं० तिरिक्खजोणिया ?

उरगपरिसप्प० दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—जहेव जलयराणं तहेव चउक्कओ भेदो। एवं भुयगपरिसप्पाण वि भाणियव्वं। से तं भुयग परिसप्प०, से तं थलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया।

से किं तं खहयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया ?

खहयर० दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संमुच्छिम खहयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया, गब्भवक्कंतिय खहयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया य।

से किं तं संमुच्छिमखहयर० ?

संमुच्छिमखहयर० दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—

पज्जत्तग संमुच्छिम खह०, अपज्जत्तग संमु० खह० य। एवं गब्भवक्कंतिया वि।

खहयर पंचिदिय तिरिक्खजोणिया णं भंते ! कइविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते, तंजहा—अंडया पोयया संमुच्छिमा।

अंडया तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा।

पोतया तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा।

तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे णपुंसगा।

९६. [२] द्वीन्द्रिय तिर्यक्योनिक जीवों का स्वरूप क्या है ?

वे दो प्रकार के हैं, यथा—पर्याप्त द्वीन्द्रिय और अपर्याप्त द्वीन्द्रिय। यह द्वीन्द्रिय तिर्यक्-योनिकों का कथन हुआ।

इसी प्रकार चतुरिन्द्रियों तक कहना चाहिए।

पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक क्या हैं ?

वे तीन प्रकार के हैं, यथा—जलचर पंचेन्द्रिय ति., स्थलचर पंचेन्द्रिय ति. और खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक।

जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यकयोनिक क्या हैं ?

वे दो प्रकार के हैं, यथा—सम्मूर्छिम जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच और गर्भव्युत्क्रान्तिक जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च।

सम्मूर्छिम जलचर पंचे. ति. क्या हैं ?

वे दो प्रकार के हैं, यथा—पर्याप्त संमूर्छिम और अपर्याप्त सम्मूर्छिम जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यक्-योनिक। यह संम्मूर्छिम जलचरों का कथन हुआ।

गर्भव्युत्क्रांतिक जलचर पंचेन्द्रिय ति. क्या हैं ?

वे दो प्रकार के है, यथा—पर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्तिक और अपर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्तिक जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च। यह गर्भव्युत्क्रान्तिक जलचरों का वर्णन हुआ।

स्थलचरपंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक क्या हैं ?

वे दो प्रकार के हैं, यथा—चतुष्पदस्थलचर पंचेन्द्रिय और परिसर्पस्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक।

चतुष्पद स्थलचर पंचेन्द्रिय क्या हैं ?

वे दो प्रकार के हैं, यथा—सम्मूर्च्छिम चतुष्पदस्थलचर पंचेन्द्रिय और गर्भव्युत्क्रांतिक चतुष्पदस्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च। जैसा जलचरों के विषय में कहा वैसे चार भेद इनके भी जानने चाहिए। यह चतुष्पदस्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का कथन हुआ।

परिसर्पस्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच क्या हैं ?

वे दो प्रकार के हैं, यथा—उरगपरिसर्पस्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच और भुजगपरिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच।

उरगपरिसर्पस्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक क्या हैं ?

वे दो प्रकार के हैं, यथा—जैसे जलचरों के चार भेद कहे वैसे यहाँ भी कहने चाहिए। इसी तरह भुजगपरिसर्पों के भी चार भेद कहने चाहिए। यह भुजगपरिसर्पों का कथन हुआ। इसके साथ ही स्थलचरपंचेन्द्रिय तिर्यंचों का कथन भी पूरा हुआ।

खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिक क्या हैं ?

वे दो प्रकार के हैं, यथा—सम्मूर्छिम खेचर पं. ति. और गर्भव्युत्क्रांतिक खेचर पं. तिर्यंक्योनिक।

सम्मूर्छिम खेचर पं. ति. क्या हैं ?

वे दो प्रकार के हैं, यथा—पर्याप्तसम्मूर्छिम खेचर पं. ति. और अपर्याप्तसम्मूर्छिम खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंक्योनिक। इसी प्रकार गर्भव्युत्क्रान्तिकों के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए।

हे भगवन् ! खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंक्योनिकों का योनिसंग्रह कितने प्रकार का कहा गया है ?

गौतम ! तीन प्रकार का योनि-संग्रह कहा गया है, यथा—अण्डज, पोतज और सम्मूर्छिम[1]। अण्डज तीन प्रकार के कहे गये हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। पोतज तीन प्रकार के हैं स्त्री, पुरुष और नपुंसक। सम्मूर्छिम सब नपुंसक होते हैं।

विवेचन—तिर्यंक्योनिकों के भेद पाठसिद्ध ही हैं, अतएव स्पष्टता की आवश्यकता नहीं है। केवल योनिसंग्रह की स्पष्टता इस प्रकार है—

योनिसंग्रह का अर्थ है—योनि (जन्म) को लेकर किया गया भेद। पक्षियों के जन्म तीन प्रकार के हैं—अण्ड से होने वाले, यथा मोर आदि; पोत से होने वाले वागुली आदि और सम्मूर्छिम जन्म वाले पक्षी हैं—खञ्जरीट आदि।

वैसे सामान्यतया चार प्रकार का योनिसंग्रह है—१. जरायुज २. अण्डज २. पोतज और ४. सम्मूर्छिम। पक्षियों में जरायुज की प्रसिद्धि नहीं है। फिर भी अण्डज को छोड़कर शेष सब जरायुज अजरायुज गर्भजों का पोतज में समावेश करने पर तीन प्रकार का योनिसंग्रह संगत होता है।

अण्डज तीनों प्रकार के हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। पोतज भी तीनों लिंग वाले हैं। सम्मूर्छिम जन्म वाले नपुंसक ही होते हैं, क्योंकि उनके नपुंसकवेद का उदय अवश्य ही होता है।

द्वारप्ररूपणा

९७. [१] एएसि णं भंते ! जीवाणं कतिलेसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा।

ते णं भंते ! जीवा किं सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी ?

गोयमा ! सम्मदिट्ठी वि मिच्छदिट्ठी वि सम्मामिच्छदिट्ठी वि।

ते णं भंते ! जीवा किं णाणी अण्णाणी ?

गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि, तिण्णि णाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

ते णं भंते ! जीवा किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ?

---

१. अण्डज को छोड़कर शेष सब जरायु वाले या बिना जरायु वाले गर्भव्युत्क्रान्तिक पंचेन्द्रियों का पोतज में समावेश किया गया है। अतएव तीन प्रकार का योनिसंग्रह कहा है, चार प्रकार का नहीं। वैसे पक्षियों में जरायुज होते ही नहीं हैं, अतएव यहाँ तीन प्रकार का योनिसंग्रह कहा है।

गोयमा ! तिविहा वि ।

ते णं भंते ! जीवा किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ?

गोयमा ! सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि ।

ते णं भंते ! जीवा कओ उववज्जंति, किं नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएहिं उववज्जंति ? पुच्छा ।

गोयमा ! असंखेज्ज वासाउय अकम्मभूमग अंतरदीवग वज्जेहिंतो उववज्जंति ।

तेसि णं भंते ! जीवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागं ।

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति समुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच समुग्घाया पण्णत्ता, तंजहा—वेयणासमुग्घाए जाव तेयासमुग्घाए ।

ते णं भंते ! जीवा मारणांतियसमुग्घाएणं किं समोहया मरंति, असमोहया मरंति ?

गोयमा ! समोहया वि मरंति, असमोहया वि मरंति ।

ते णं भंते ! जीवा अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति ? कहिं उववज्जंति ? किं नेरइएसु उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति । पुच्छा ?

गोयमा ! एवं उव्वट्टणा भाणियव्वा जहा वक्कंतीए तहेव ।

तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ जातिकुलकोडिजोणिपमुह सयसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! बारस जातिकुलकोडिजोणिपमुह सयसहस्सा ।

[९७] (१) हे भगवन् ! इन जीवों (पक्षियों) के कितनी लेश्याएँ हैं ?

गौतम ! छह लेश्याएँ हो सकती हैं—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या । (द्रव्य और भाव से छहों लेश्याओं का सम्भव है, क्योंकि वैसे परिणाम हो सकते हैं ।)

हे भगवन् ! ये जीव सम्यग्दृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि हैं या सम्यग् मिथ्यादृष्टि हैं ।

गौतम ! सम्यग्दृष्टि भी हैं, मिथ्यादृष्टि भी हैं और मिश्रदृष्टि भी हैं ।

भगवन् ! वे जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

गौतम ! ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं । जो ज्ञानी हैं वे दो या तीन ज्ञान वाले हैं और जो अज्ञानी हैं वे दो या तीन अज्ञान वाले हैं ।

भगवन् ! वे जीव क्या मनयोगी हैं, वचनयोगी हैं, काययोगी हैं ?

गौतम ! वे तीनों योग वाले हैं ।

भगवन् ! वे जीव साकार-उपयोग वाले हैं या अनाकार-उपयोग वाले हैं ?

गौतम ! साकार-उपयोग वाले भी हैं और अनाकार-उपयोग वाले भी हैं ।

भगवन् ! वे जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? क्या नैरयिकों से आते हैं या तिर्यक्योनि से आते हैं इत्यादि प्रश्न कहना चाहिए ।

गौतम ! असंख्यात वर्ष की आयु वालों, अकर्मभूमिकों और अन्तर्द्वीपिकों को छोड़कर सब जगह से उत्पन्न होते हैं।

हे भगवन् ! उन जीवों की स्थिति कितने काल की है ?
गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवां भाग-प्रमाण स्थिति है।

भगवन् ! उन जीवों के कितने समुद्घात कहे गये हैं ?
गौतम ! पांच समुद्घात कहे गये हैं, यथा—वेदनासमुद्घात यावत् तैजससमुद्घात।

भगवन् ! वे जीव मारणांतिकसमुद्घात से समवहत होकर मरते हैं या असमवहत होकर मरते हैं ?

गौतम ! समवहत होकर भी मरते हैं और असमवहत होकर भी मरते हैं।

भगवन् ! वे जीव मरकर अनन्तर कहाँ उत्पन्न होते हैं ? कहाँ जाते हैं ? क्या नैरयिकों में पैदा होते हैं, तिर्यक्योनिकों में पैदा होते हैं ? आदि प्रश्न करना चाहिए।

गौतम ! जैसे प्रज्ञापना के व्युत्क्रांतिपद में कहा गया है, वैसा यहाँ कहना चाहिए। (दूसरी प्रतिपत्ति में वह कहा गया है, वहाँ देखें।)

हे भगवन् ! उन जीवों की कितने लाख योनिप्रमुख जातिकुलकोटि कही गई हैं ?
गौतम ! बारह लाख योनिप्रमुख जातिकुलकोटि कही गई हैं।

विवेचन—खेचर (पक्षियों) में पाये जाने वाले लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग आदि द्वारों की स्पष्टता मूल पाठ से ही सिद्ध है। व्युत्क्रांतिपद से उद्वर्तना समझनी चाहिए, ऐसी सूचना यहाँ की गई है। प्रज्ञापनासूत्र में व्युत्क्रांतिपद है और उसमें जो उद्वर्तना कही गई है वह यहाँ समझनी है। इसी जीवाभिगम सूत्र की द्वितीय प्रतिपत्ति में उसको बताया गया है सो जिज्ञासु वहाँ भी देख सकते हैं।

इस सूत्र में खेचर की योनिप्रमुख जातिकुलकोडी बारह लाख कही है। जातिकुलयोनि का स्थूल उदाहरण पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार बताया है—जाति से भावार्थ है तिर्यग्जाति, उसके कुल हैं—कृमि, कीट, वृश्चिक आदि। ये कुल योनिप्रमुख हैं अर्थात् एक ही योनि में अनेक कुल होते हैं, जैसे छगण योनि में कृमिकुल, कीटकुल, वृश्चिककुल आदि। अथवा 'जातिकुल' को एक पद माना जा सकता है। जातिकुल और योनि में परस्पर यह विशेषता है कि एक ही योनि में अनेक जातिकुल होते हैं—यथा एक ही छःगण योनि में कृमिजातिकुल, कीटजातिकुल और वृश्चिकजातिकुल इत्यादि। इस प्रकार एक ही योनि में अवान्तर जातिभेद होने से अनेक योनिप्रमुख जातिकुल होते हैं। द्वारों के सम्बन्ध में संग्रहणी गाथा इस प्रकार है—

जोणीसंगह लेस्सा दिट्ठी नाणे य जोग उवओगे।
उववाय ठिई समुग्घाय चयणं जाई-कुलविही उ ॥

पहले योनिसंग्रह, फिर लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग, उपपात, स्थिति, समुद्घात, च्यवन, जातिकुलकोटि का इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है।

९७. [२] भुयगपरिसप्पथलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणियाणं भंते ! कतिविहे जोणीसंगहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते, तंजहा—अंडया, पोयया संमुच्छिमा; एवं जहा खहयराणं तहेव; णाणत्तं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी । उव्वट्टित्ता दोच्चं पुढविं गच्छंति, नव जातिकुलकोडी जोणीपमुह सयसहस्सा भवंतीति मक्खायं, सेसं तहेव ।

उरगपरिसप्पथलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणियाणं भंते ! पुच्छा, जहेव भुयगपरिसप्पाणं तहेव, नवरं ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी, उव्वट्टित्ता जाव पंचमिं पुढविं गच्छंति, दसजातिकुलकोडी ।

चउप्पयथलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणियाणं पुच्छा, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—जराउया (पोयया) य सम्मुच्छिमा य ।

से किं तं जराउया (पोयया) ? तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा । तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे नपुंसया ।

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति लेस्साओ पण्णत्ताओ ? से जहा पक्खीणं । णाणत्तं ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं; उव्वट्टित्ता चउत्थिं पुढविं गच्छंति, दस जातिकुलकोडी ।

जलयरपंचिदिय तिरिक्खजोणियाणं पुच्छा, जहा भुयगपरिसप्पाणं, णवरं उव्वट्टित्ता जाव अहेसत्तमं पुढविं, अद्धतेरस जातिकुलकोडी जोणिपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता ।

चउरिंदियाणं भंते ! कइ जातिकुलकोडी जोणीपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! नव जाइकुलकोडी जोणिपमुहसयसहस्सा समक्खाया ।

तेइंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! अट्ठ जाइकुल जाव समक्खाया ।

बेइंदियाणं भंते ! कइ जाइकुल पुच्छा,

गोयमा ! सत्त जाइकुलकोडी जोणिपमुहसयसहस्सा, पण्णत्ता ।

[९७] (२) हे भगवन् ! भुजपरिसर्पस्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिकों का कितने प्रकार का योनिसंग्रह कहा गया है ?

गौतम ! तीन प्रकार का योनिसंग्रह कहा गया है, यथा अण्डज, पोतज और सम्मूर्च्छिम । इस तरह जैसा खेचरों में कहा वैसा, यहाँ भी कहना चाहिए । विशेषता यह है—इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि है । ये मरकर चारों गति में जाते हैं । नरक में जाते हैं तो दूसरी पृथ्वी तक जाते हैं । इनकी नौ लाख जातिकुलकोडी कही गई हैं । शेष पूर्ववत् ।

भगवन् ! उरपरिसर्पस्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिकों का योनिसंग्रह कितने प्रकार का है ? इत्यादि प्रश्न कहना चाहिए ।

गौतम ! जैसे भुजपरिसर्प का कथन किया, वैसा यहाँ भी कहना चाहिए । विशेषता यह है

कि इनकी स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि है। ये मरकर यदि नरक में जावें तो पांचवीं पृथ्वी तक जाते हैं। इनकी दस लाख जातिकुलकोडी हैं।

चतुष्पदस्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिकों की पृच्छा ?

गौतम ! इनका योनिसंग्रह दो प्रकार का है, यथा जरायुज (पोतज) और सम्मूर्च्छिम। जरायुज तीन प्रकार के हैं, यथा—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। जो सम्मूर्च्छिम हैं वे सब नपुंसक हैं। हे भगवन् ! उन जीवों के कितनी लेश्याएँ कही गई हैं, इत्यादि सब खेचरों की तरह कहना चाहिए। विशेषता इस प्रकार है—इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट तीन पल्योपम है। मरकर यदि ये नरक में जावें तो चौथी नरकपृथ्वी तक जाते हैं। इनकी दस लाख जातिकुलकोडी हैं।

जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिकों की पृच्छा ?

गौतम ! जैसे भुजपरिसर्पों का कहा वैसे कहना। विशेषता यह है कि ये मरकर यदि नरक में जावें तो सप्तम पृथ्वी तक जाते हैं। इनकी साढे बारह लाख जातिकुलकोडी कही गई हैं।

हे भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीवों की कितनी जातिकुलकोडी कही गई हैं ?
गौतम ! नौ लाख जातिकुलकोडी कही गई हैं।

हे भगवन् ! त्रीन्द्रिय जीवों की कितनी जातिकुलकोडी हैं ?
गौतम ! आठ लाख जातिकुलकोडी कही हैं।

भगवन् ! द्वीन्द्रियों की कितनी जातिकुलकोडी हैं ?
गौतम ! सात लाख जातिकुलकोडी हैं।

विवेचन—अन्य सब कथन पाठसिद्ध ही है। केवल चतुष्पदस्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनिकों का योनिसंग्रह दो प्रकार का कहा है, यथा—पोयया य सम्मुच्छिमा य। यहाँ पोतज में अण्डजों से भिन्न जितने भी जरायुज या अजरायुज गर्भज जीव हैं उनका समावेश कर दिया गया है। अतएव दो प्रकार का योनिसंग्रह कहा है, अन्यथा गो आदि जरायुज हैं और सर्पादि अण्डज हैं—ये दो प्रकार और एक सम्मूर्च्छिम यों तीन प्रकार का योनिसंग्रह कहा जाता। लेकिन यहाँ दो ही प्रकार का कहा है, अतएव पोतज में जरायुज अजरायुज सब गर्भजों का समावेश समझना चाहिए।

यहाँ तक योनि जातीय जातिकुलकोटि का कथन किया, अब भिन्न जातीय का अवसर प्राप्त है अतएव भिन्न जातीय गंधांगों का प्ररूपण करते हैं—

गंधांग प्ररूपण

९८. कइ णं भंते ! गंधा पण्णत्ता ? कइ णं भंते ! गंधसया पण्णत्ता ?

गोयमा ! सत्तगंधा सत्तगंधसया पण्णत्ता।

कइ णं भंते ! पुप्फजाइ-कुलकोडीजोणिपमुह-सयसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! सोलस पुप्फजातिकुलकोडी जोणीपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता, तंजहा—चत्तारि जलयाणं, चत्तारि थलयाणं, चत्तारि महारुक्खियाणं, चत्तारि महागुम्मियाणं।

कइ णं भंते ! वल्लीओ कइ वल्लिसया पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि वल्लीओ चत्तारि वल्लिसया पण्णत्ता ।

कइ णं भंते ! लयाओ कति लयासया पण्णत्ता ?

गोयमा ! अट्ठलयाओ, अट्ठलयासया पण्णत्ता ।

कइ णं भंते ! हरियकाया हरियकायसया पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ हरियकाया तओ हरियकायसया पण्णत्ता—फलसहस्सं च बिंटबद्धाणं, फलसहस्सं य नालबद्धाणं, ते सव्वे हरितकायमेव समोयरंति । ते एवं समणुगम्ममाणा समणुगम्ममाणा एवं समणुगाहिज्जमाणा २, एवं समणुपेहिज्जमाणा २, एवं समणुचिंतिज्जमाणा २, एएसु चेव दोसु काएसु समोयरंति, तंजहा—तसकाए चेव थावरकाए चेव । एवमेव सपुव्वावरेणं आजीवियदिट्ठतेणं चउरासीति जातिकुलकोडी जोणिपमुहसयसहस्सा भवंतीति मक्खाया ।

[९८] हे भगवन् ! गंध (गंधांग) कितने कहे गये हैं ? हे भगवन् ! गन्धशत कितने हैं ?

गौतम ! सात गंध (गंधांग) हैं और सात ही गन्धशत हैं ।

हे भगवन् ! फूलों की कितनी लाख जातिकुलकोडी कही गई हैं ?

गौतम ! फूलों की सोलह लाख जातिकुलकोडी कही गई हैं, यथा—चार लाख जलज पुष्पों की, चार लाख स्थलज पुष्पों की, चार लाख महावृक्षों के फूलों की और चार लाख महागुल्मिक फूलों की ।

हे भगवन् ! वल्लियां और वल्लिशत कितने प्रकार के हैं ?

गौतम ! वल्लियों के चार प्रकार हैं और चार वल्लिशत हैं । (वल्लियों के चार सौ अवान्तर भेद हैं ।)

हे भगवन् ! लताएँ कितनी हैं और लताशत कितने हैं ?

गौतम ! आठ प्रकार की लताएँ हैं और आठ लताशत हैं । अर्थात् (आठ सौ लता के अवान्तर भेद हैं ।)

भगवन् ! हरितकाय कितने हैं और हरितकायशत कितने हैं ?

गौतम ! हरितकाय तीन प्रकार के हैं और तीन ही हरितकायशत हैं । (अर्थात् हरितकाय की तीन सौ अवान्तर जातियां हैं ।) बिंटबद्ध फल के हजार प्रकार और नालबद्ध फल के हजार प्रकार, ये सब हरितकाय में ही समाविष्ट हैं । इस प्रकार सूत्र के द्वारा स्वयं समझे जाने पर, दूसरों द्वारा सूत्र से समझाये जाने पर, अर्थालोचन द्वारा चिन्तन किये जाने पर और युक्तियों द्वारा पुनः पुनः पर्यालोचन करने पर सब दो कायों में त्रसकाय और स्थावरकाय में समाविष्ट होते हैं । इस प्रकार पूर्वापर विचारणा करने पर समस्त संसारी जीवों की (आजीविक दृष्टान्त से) चौरासी लाख योनि-प्रमुख जातिकुलकोडी होती हैं, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है ।

विवेचन—यहां मूलपाठ में 'गंधा' पाठ है, यह पद के एकदेश में पदसमुदाय के उपचार से 'गंधाङ्ग' का वाचक समझना चाहिए । अर्थात् 'गंधांग' कितने हैं, यह प्रश्न का भावार्थ है । दूसरा प्रश्न है कि गन्धांग की कितनी सौ अवान्तर जातियां हैं ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! सात गंधाङ्ग हैं और सातसौ गन्धांग की उपजातियां हैं। मोटे रूप में सात गंधांग इस प्रकार बताये हैं—१. मूल, २. त्वक्, ३. काष्ठ, ४. निर्यास, ५. पत्र, ६. फूल और ७. फल।

मुस्ता, वालुका, उसीर आदि 'मूल' शब्द से गृहीत हुए हैं। सुवर्ण छाल आदि त्वक् हैं। चन्दन, अगुरु आदि काष्ठ से लिये गये हैं। कपूर आदि निर्यास हैं। पत्र से जातिपत्र, तमालपत्र, का ग्रहण है। पुष्प से प्रियंगु, नागर का ग्रहण है। फल से जायफल, इलायची, लौंग आदि का ग्रहण हुआ है। ये सात मोटे रूप में गंधांग हैं।

इन सात गंधांगों को पांच वर्ण से गुणित करने पर पैंतीस भेद हुए। ये सुरभिगंध वाले ही हैं अतः एक से गुणित करने पर (३५ × १ = ३५) पैंतीस ही हुए। एक-एक वर्णभेद में द्रव्यभेद से पांच रस पाये जाते हैं अतः पूर्वोक्त ३५ को ५ से गुणित करने पर १७५ (३५ × ५ = १७५) हुए। वैसे स्पर्श आठ होते हैं किन्तु यथोक्तरूप गंधांगों में प्रशस्त स्पर्शरूप मृदु-लघु-शीत-उष्ण ये चार स्पर्श ही व्यवहार से परिगणित होते हैं अतएव पूर्वोक्त १७५ भेदों को ४ से गुणित करने पर ७०० (१७५ × ४ = ७००) गंधांगों की अवान्तर जातियां होती हैं।[1]

इसके पश्चात् पुष्पों की कुलकोटि के विषय में प्रश्न किया गया है। उत्तर में प्रभु ने कहा कि फूलों की १६ लाख कुलकोटियां हैं। जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदि फूलों की चार लाख कुलकोटि हैं। कोरण्ट आदि स्थलज फूलों की चार लाख कुलकोटि (उपजातियां) हैं। महुवा आदि महावृक्षों के फूलों की चार लाख कुलकोटि हैं और जाती आदि महागुल्मों के फूलों की चार लाख कुलकोटी हैं। इस प्रकार फूलों की सोलह लाख कुलकोटि गिनाई हैं।

वल्लियों के चार प्रकार और चारसौ उपजातियां कही हैं। मूल रूप से वल्लियों के चार प्रकार हैं और अवान्तर जातिभेद से चारसौ प्रकार हैं। चार प्रकारों की स्पष्टता उपलब्ध नहीं है। मूल टीकाकार ने भी इनकी स्पष्टता नहीं की है।

लता के मूलभेद आठ और उपजातियां आठसौ हैं हरितकाय के मूलतः तीन प्रकार और अवान्तर तीनसौ भेद हैं। हरितकाय तीन प्रकार के हैं—जलज, स्थलज और उभयज। प्रत्येक की सौ-सौ उपजातियां हैं, इसलिए हरितकाय के तीनसौ अवान्तर भेद कहे हैं।

बैंगन आदि बींट वाले फलों के हजार प्रकार कहे हैं और नालबद्ध फलों के भी हजार प्रकार हैं। ये सब तीन सौ ही प्रकार और अन्य भी तथाप्रकार के फलादि सब हरितकाय के अन्तर्गत आते

---

१. मूलतयकट्ठनिज्जासपत्तपुप्फफलमेव गंधंगा।
वण्णादुत्तरभेया गंधरसया मुणेयव्वा ॥१॥
अस्य व्याख्यानरूपं गाथाद्वयं—
मुत्थासुवण्णछल्ली अगुरु वाला तमालपत्तं च।
तह य पियंगू जाईफलं च जाईए गंधंगा ॥१॥
गुणणाए सत्तसया पंचहिं वण्णेहिं सुरभिगंधेणं।
रसपणएणं तह फासेहिं य चउहिं पसत्थेहिं ॥२॥

हैं। हरितकाय वनस्पतिकाय के अन्तर्गत और वनस्पति स्थावरकाय में और स्थावरकाय का जीवों में समावेश हो जाता है। इस प्रकार सूत्रानुसार स्वयं समझने से या दूसरों के द्वारा समझाया जाने से अर्थालोचन रूप से विचार करने से, युक्ति आदि द्वारा गहन चिन्तन करने से, पूर्वापर पर्यालोचन से सब संसारी जीवों का इन दो—त्रसकाय और स्थावरकाय में समवतार होता है। इस विषय में आजीव दृष्टान्त समझना चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार 'जीव' शब्द में समस्त त्रस, स्थावर, सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त और षट्काय आदि का समावेश होता है, उसी प्रकार इन चौरासी लाख जीवयोनियों में समस्त संसारवर्ती जीवों का समावेश समझना चाहिए।

यहाँ जो चौरासी लाख योनियों का उल्लेख किया है, यह उपलक्षण है। इससे अन्यान्य भी जातिकुलकोटि समझना चाहिए। क्योंकि पक्षियों की बारह लाख, भुजपरिसर्प की नौ लाख, उर-परिसर्प की दश लाख, चतुष्पदों की दश लाख, जलचरों की साढे बारह लाख, चतुरिन्द्रियों की नौ लाख, त्रीन्द्रियों की आठ लाख, द्वीन्द्रियों की सात लाख, पुष्पजाति की सोलह लाख—इनको मिलाने से साढे तिरानवै लाख होती हैं, अतः यहाँ जो चौरासी लाख योनियों का कथन किया गया है वह उपलक्षणमात्र है। अन्यान्य भी कुलकोटियां होती हैं।

अन्यत्र कुलकोटियां इस प्रकार गिनाई हैं—

पृथ्वीकाय की १२ लाख, अप्काय की सात लाख, तेजस्काय की तीन लाख, वायुकाय की सात लाख, वनस्पति की अट्ठावीस लाख, द्वीन्द्रिय की सात लाख, त्रीन्द्रिय की आठ लाख, चतुरिन्द्रिय की नौ लाख, जलचर की साढे बारह लाख, स्थलचर की दस लाख, खेचर की बारह लाख, उरपरिसर्प की दस लाख, भुजपरिसर्प की नौ लाख, नारक की पच्चीस लाख, देवता की छव्वीस लाख, मनुष्य की बारह लाख—कुल मिलाकर एक करोड़ साढे सित्याणु लाख कुलकोटियां हैं।

चौरासीलाख जीवयोनियों की परिगणना इस प्रकार भी संगत होती है, त्रस जीवों की जीवयोनियां ३२ लाख हैं। वह इस प्रकार—दो लाख द्वीन्द्रिय की, दो लाख त्रीन्द्रिय की, दो लाख चतुरिन्द्रिय की, चार लाख तिर्यक्पंचेन्द्रिय की, चार लाख नारक की, चार लाख देव की और चौदह लाख मनुष्यों की—ये कुल मिलाकर ३२ त्रसजीवों की योनियां हैं। स्थावरजीवों की योनियां ५२ लाख हैं—सात लाख पृथ्वीकाय की, सात लाख अप्काय की, ७ लाख तेजस्काय की, ७ लाख वायुकाय की, २४ लाख वनस्पति की—यों ५२ लाख स्थावरजीवों की योनियां हैं। त्रस की ३२ लाख और स्थावर की ५२ लाख मिलकर ८४ लाख जीवयोनियां हैं।

विमानों के विषय में प्रश्न

९९. अत्थि णं भंते ! विमाणाइं[1] सोत्थियाणि सोत्थियावत्ताइं सोत्थियपभाइं सोत्थिय-कन्ताइं, सोत्थियवन्नाइं, सोत्थियलेसाइं सोत्थियज्झयाइं सोत्थियसिंगाराइं, सोत्थियकूडाइं, सोत्थिय-सिट्ठाइं सोत्थियउत्तरवडिंसगाइं ?

हंता अत्थि।

---

१. टीकाकार के अनुसार 'अच्चियाइं अच्चियावत्ताइं' इत्यादि पाठ है।

ते णं विमाणा केमहालया पण्णत्ता ?

गोयमा ! जावइए णं सूरिए उवेइ जावइएणं य सूरिए अत्थमइ एवइया तिण्णोवासंतराइं अत्थेगइयस्स देवस्स एक्के विक्कमे सिया । से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए जाव दिव्वाए देवगइए वीइवयमाणे वीइवयमाणे जाव एगाहं वा दुयाहं वा उक्कोसेणं छम्मासा वीइवएज्जा, अत्थेगइया विमाणं वीइवएज्जा अत्थेगइया विमाणं नो वीइवएज्जा, एमहालया णं गोयमा । ते विमाणा पण्णत्ता ।

अत्थि णं भंते ! विमाणाइं[1] अच्चीणि अच्चिरावत्ताइं तहेव जाव अच्चुत्तरवडिंसगाइं ?

हंता अत्थि ।

ते विमाणा केमहालया पण्णत्ता ?

गोयमा ! एवं जहा सोत्थियाईणि णवरं एवइयाइं पंच उवासंतराइं अत्थेगइयस्स देवस्स एगे विक्कमे सिया, सेसं तं चेव ।

अत्थि णं भंते ! विमाणाइं कामाइं कामावत्ताइं जाव कामुत्तरवडिंसगाइं ? हंता अत्थि ।

ते णं भंते ! विमाणा केमहालया पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहा सोत्थीणि णवरं सत्त उवासंतराइं विक्कमे, सेसं तहेव ।

अत्थि णं भंते ! विमाणाइं विजयाइं वेजयंताइं जयंताइं अपराजिताइं ? हंता अत्थि ।

ते णं भंते ! विमाणा केमहालिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! जावइए सूरिए उवेइ एवइयाइं नव ओवासंतराइं, सेसं तं चेव; नो चेव णं ते विमाणे वीइवएज्जा एमहालया णं विमाणा पण्णत्ता, समणाउसो !

तिरिक्खजोणियउद्देसओ समत्तो ।

[९९] हे भगवन् ! क्या स्वस्तिक नामवाले, स्वस्तिकावर्त नामवाले, स्वस्तिकप्रभ, स्वस्तिककान्त, स्वस्तिकवर्ण, स्वस्तिकलेश्य, स्वस्तिकध्वज, स्वस्तिकशृंगार, स्वस्तिककूट, स्वस्तिकशिष्ट और स्वस्तिकोत्तरावतंसक नामक विमान हैं ?

हाँ, गौतम ! हैं ।

भगवन् ! वे विमान कितने बड़े हैं ?

गौतम ! जितनी दूरी से सूर्य उदित होता दीखता है और जितनी दूरी से सूर्य अस्त होता दीखता है (यह एक अवकाशान्तर है), ऐसे तीन अवकाशान्तरप्रमाण क्षेत्र किसी देव का एक विक्रम (पदन्यास) हो और वह देव उस उत्कृष्ट, त्वरित यावत् दिव्य देवगति से चलता हुआ यावत् एक दिन, दो दिन उत्कृष्ट छह मास तक चलता जाय तो किसी विमान का तो पार पा सकता है और किसी विमान का पार नहीं पा सकता है । हे गौतम ! इतने बड़े वे विमान कहे गये हैं ।

हे भगवन् ! क्या अर्चि, अर्चिरावर्त आदि यावत् अर्चिरुत्तरावतंसक नाम के विमान हैं ?

हाँ, गौतम ! हैं ।

---

१. टीकाकार के अनुसार 'सोत्थियाइं' आदि पाठ यहाँ है ।

भगवन् ! वे विमान कितने बड़े कहे गये हैं ?

गौतम ! जैसी वक्तव्यता स्वस्तिक आदि विमानों की कही है, वैसी ही यहाँ कहना चाहिए। विशेषता यह है कि यहाँ वैसे पांच अवकाशान्तर प्रमाण क्षेत्र किसी देव का एक पदन्यास (एक विक्रम) कहना चाहिए। शेष वही कथन है।

हे भगवन् ! क्या काम, कामावर्त यावत् कामोत्तरावतंसक विमान हैं ?

हाँ, गौतम ! हैं।

भगवन् ! वे विमान कितने बड़े हैं ?

गौतम ! जैसी वक्तव्यता स्वस्तिकादि विमानों की कही है वैसी ही कहना चाहिये। विशेषता यह है कि यहाँ वैसे सात अवकाशान्तर प्रमाण क्षेत्र किसी देव का एक विक्रम (पदन्यास) कहना चाहिए। शेष सब वही कथन है।

हे भगवन् ! क्या विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित नाम के विमान हैं ?

हाँ, गौतम ! हैं।

भगवन् ! वे विमान कितने बड़े हैं ?

गौतम ! वही वक्तव्यता कहनी चाहिए यावत् यहाँ नौ अवकाशान्तर प्रमाण क्षेत्र किसी एक देव का एक पदन्यास कहना चाहिए। इस तीव्र और दिव्यगति से वह देव एक दिन, दो दिन उत्कृष्ट छह मास तक चलता रहे तो किन्हीं विमानों के पार पहुंच सकता है और किन्हीं विमानों के पार नहीं पहुंच सकता है। हे आयुष्मन् श्रमण ! इतने बड़े विमान वे कहे गये हैं।

प्रथम तिर्यक्योनिक उद्देशक पूर्ण ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में विशेष नाम वाले विमानों के विषय में तथा उनके विस्तार के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर हैं। 'विमान' शब्द की व्युत्पत्ति वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—जहाँ वि—विशेषरूप से पुण्यशाली जीवों के द्वारा मन्यन्ते—तद्गत सुखों का अनुभव किया जाता है वे विमान हैं।[1]

विमानों के नामों में यहाँ प्रथम स्वस्तिक आदि नाम कहे गये हैं, जबकि वृत्तिकार मलयगिरि ने पहले अर्चि, अर्चिरावर्त आदि पाठ मानकर व्याख्या की है। उन्होंने स्वस्तिक, स्वस्तिकावर्त आदि नामों का उल्लेख दूसरे नम्बर पर किया है। इस प्रकार नाम के क्रम में अन्तर है। वक्तव्यता एक ही है।

विमानों की महत्ता को बताने के लिए देव की उपमा का सहारा लिया गया है। जैसे कोई देव सर्वोत्कृष्ट दिन में जितने क्षेत्र में सूर्य उदित होता है और जितने क्षेत्र में वह अस्त होता है इतने क्षेत्र को अवकाशान्तर कहा जाता है, ऐसे तीन अवकाशान्तर जितने क्षेत्र को (वह देव) एक पदन्यास से पार कर लेता है। इस प्रकार की उत्कृष्ट, त्वरित और दिव्यगति से लगातार एक दिन, दो दिन और उत्कृष्ट छह मास तक चलता रहे तो भी वह किसी विमान के पार पहुंच जाता है और किसी विमान को पार नहीं कर सकता है। इतने बड़े वे विमान हैं।

१. विशेषतः पुण्यप्राणिभिर्मन्यन्ते—तद्गतसौख्यानुभवनेनानुभूयन्ते इति विमानानि।

जम्बूद्वीप में सर्वोत्कृष्ट दिन में कर्कसंक्रान्ति के प्रथम दिन में सूर्य सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन और एक योजन के २१/६० भाग (इक्कीस साठिया भाग) जितनी दूरी से उदित होता हुआ दीखता है।[1] ४७२६३ २१/६० योजन उसका उदयक्षेत्र है और इतना ही उसका अस्तक्षेत्र है। उदयक्षेत्र और अस्तक्षेत्र मिलकर ९४५२६ ४२/६० योजन क्षेत्र का परिमाण होता है। यह एक अवकाशान्तर का परिमाण है। यहाँ ऐसे तीन अवकाशान्तर होने से उसका परिमाण अट्ठाईस लाख तीन हजार पांच सौ अस्सी योजन और एक योजन के ६/६० भाग (२८,०३,५८० ६/६०) इतना उस देव के एक पदन्यास का परिमाण होता है। इतने सामर्थ्यवाला कोई देव लगातार एक दिन, दो दिन उत्कृष्ट छह मास तक चलता रहे तो भी उन विमानों में से किन्हीं का पार पा सकता है और किन्हीं का नहीं। इतने बड़े वे विमान हैं। स्वस्तिक आदि विमानों की महत्ता के विषय में यह उपमा है।

अर्चि:, अर्चिरावर्त आदि की महत्ता के उत्तर में वही सब जानना चाहिए—अन्तर यह है कि यहाँ पांच अवकाशान्तर जितना क्षेत्र उस देव के एक पदन्यास का प्रमाण समझना चाहिए।

काम, कामावर्त आदि विमानों की महत्ता में भी वही सब जानना चाहिए, केवल देव के पदन्यास का प्रमाण सात अवकाशान्तर समझना चाहिए।

विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजितों के विषय में भी वही जानना चाहिए। अन्तर यह है कि यहाँ नौ अवकाशान्तर जितना क्षेत्र उस देव के एक पदन्यास का प्रमाण समझना चाहिए। हे आयुष्मन् श्रमण ! वे विमान इतने बड़े हैं।[2]

॥ प्रथम तिर्यक् उद्देशक पूर्ण ॥

□

---

१. जावइ उदेइ सूरो जावइ सो अत्थमेइ अवरेणं।
तियपणसत्तनवगुणं काउं पत्तेयं पत्तेयं ॥१॥
सीयालीस सहस्सा दो य सया जोयणाण तेवट्ठा।
इगवीस सट्ठिभागा कक्खडमाइंमि पेच्छ नरा ॥२॥

२. एवं दुगुणं काउं गुणिज्जए तिपणसत्तमाईहिं।
आगयफलं च जं तं कमपरिमाणं वियाणाहि ॥३॥
चत्तारि वि सकम्मेहिं, चंडाइगईहिं जंति छम्मासं।
तहवि य न जंति पारं केसिंचि सुरा विमाणाइं ॥४॥

तृतीय प्रतिपत्ति

तिर्यंच्योनिक अधिकार का द्वितीयोद्देशक

तिर्यंक्योनि अधिकार में प्रथम उद्देशक कहने के बाद क्रमप्राप्त द्वितीय उद्देशक का अवसर है। उसका आदि सूत्र इस प्रकार है—

[१००.] कइविहा णं भंते ! संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ?

गोयमा ! छव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया।

से किं तं पुढविकाइया ?

पुढविकाइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—सुहुमपुढविकाइया य बादरपुढविकाइया य।

से किं तं सुहुमपुढविकाइया ?

सुहुमपुढविकाइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य। से तं सुहुम-पुढविकाइया।

से किं तं बादरपुढविक्काइया ?

बादरपुढविक्काइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य। एवं जहा पण्णवणापदे, सण्हा सत्तविहा पण्णत्ता, खरा अणेगविहा पण्णत्ता, जाव असंखेज्जा, से तं बादर-पुढविकाइया। से तं पुढविकाइया।

एवं जहा पण्णवणापदे तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव वणप्फइकाइया, एवं जाव जत्थेको तत्थ सिया संखेज्जा सिया असंखेज्जा सिया अणंता। से तं बादरवणप्फइकाइया, से तं वणस्सइकाइया।

से किं तं तसकाइया ?

तसकाइया चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया।

से किं तं बेइंदिया ?

बेइंदिया अणेगविधा पण्णत्ता, एवं जं चेव पण्णवणापदे तं चेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव सव्वट्ठसिद्धगदेवा, से तं अणुत्तरोववाइया, से तं देवा, से तं पंचेंदिया, से तं तसकाइया।

[१००] हे भगवन् ! संसारसमापन्नक जीव कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

गौतम ! छह प्रकार के कहे गये हैं, यथा—पृथ्वीकायिक यावत् त्रसकायिक।

पृथ्वीकायिक जीव कितने प्रकार के हैं ?

पृथ्वीकायिक जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्मपृथ्वीकायिक और बादरपृथ्वीकायिक।

सूक्ष्मपृथ्वीकायिक कितने प्रकार के हैं ?

सूक्ष्मपृथ्वीकायिक दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। यह सूक्ष्मपृथ्वीकायिक का कथन हुआ।

बादरपृथ्वीकायिक क्या हैं ?

बादरपृथ्वीकायिक दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। इस प्रकार जैसा प्रज्ञापनापद में कहा, वैसा कहना चाहिए। श्लक्ष्ण (मृदु) पृथ्वीकायिक सात प्रकार के हैं और खरपृथ्वीकायिक अनेक प्रकार के कहे गये हैं, यावत् वे असंख्यात हैं। यह बादरपृथ्वीकायिकों का कथन हुआ। यह पृथ्वीकायिकों का कथन हुआ। इस प्रकार जैसा प्रज्ञापनापद में कहा वैसा पूरा कथन करना चाहिए। वनस्पतिकायिक तक ऐसा ही कहना चाहिए, यावत् जहाँ एक वनस्पतिकायिक जीव है वहाँ कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त वनस्पतिकायिक जानना चाहिए। यह बादर-वनस्पतिकायिकों का कथन हुआ। यह वनस्पतिकायिकों का कथन हुआ।

त्रसकायिक जीव क्या हैं ?

वे चार प्रकार के कहे गये हैं, यथा—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

द्वीन्द्रिय जीव क्या हैं ? वे अनेक प्रकार के कहे गये हैं। इस प्रकार जैसा प्रज्ञापनापद में कहा गया है, वह सम्पूर्ण कथन तब तक करना चाहिए जब तक सर्वार्थसिद्ध देवों का अधिकार है। यह अनुत्तरोपपातिक देवों का कथन हुआ। इसके साथ ही देवों का कथन हुआ, इसके साथ ही पंचेन्द्रियों का कथन हुआ और साथ ही त्रसकाय का कथन भी पूरा हुआ।

विवेचन—यहाँ छह प्रकार के संसारसमापन्नक जीव हैं, ऐसा प्रतिपादन करनेवाले आचार्यों का मन्तव्य बताया गया है। १. पृथ्वीकाय, २. अप्काय, ३. तेजस्काय, ४. वायुकाय, ५. वनस्पतिकाय और ६. त्रसकाय—इन छह भेदों में सब संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। इस प्रसंग पर वही सब कहा गया है जो पहले त्रस और स्थावर की प्रतिपत्ति में कहा गया है। अतएव इनके विषय में प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद में कही गई वक्तव्यता के अनुसार वक्तव्यता जाननी चाहिए, ऐसी सूचना सूत्रकार ने यहाँ प्रदान की है। जिज्ञासु जन वहाँ से विशेष जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

पृथ्वीकायिकों के विषय में विशेष जानकारी

१०१. कइविहा णं भंते ! पुढवी पण्णत्ता ?

गोयमा ! छव्विहा पुढवी पण्णत्ता, तं जहा—सण्हापुढवी, सुद्धपुढवी, वालुयापुढवी, मणोसिला-पुढवी, सक्करापुढवी, खरपुढवी।

सण्हा पुढवी णं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं एगं वाससहस्सं।

सुद्धपुढवीए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बारसवाससहस्साइं।

वालुयापुढवीए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चोद्दसवाससहस्साइं।

मणोसिलापुढवीए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सोलसवाससहस्साइं।

सक्करापुढवीए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अट्ठारसवाससहस्साइं।

खरपुढवीए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं ।

नेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई; एवं सव्वं भाणियव्वं जाव सव्वट्ठसिद्धदेव त्ति ।

जीवे णं भंते ! जीवे त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! सव्वद्धं ।

पुढविकाइए णं भंते ! पुढविकाइएत्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! सव्वद्धं । एवं जाव तसकाइए ।

[१०१] हे भगवन् ! पृथ्वी कितने प्रकार की कही है ?

गौतम ! पृथ्वी छह प्रकार की कही गई है; यथा—श्लक्ष्ण (मृदु) पृथ्वी, शुद्धपृथ्वी, बालुकापृथ्वी, मनःशिलापृथ्वी, शर्करापृथ्वी और खरपृथ्वी ।

हे भगवन् ! श्लक्ष्णपृथ्वी की कितनी स्थिति है ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एकहजारवर्ष ।

हे भगवन् ! शुद्धपृथ्वी की स्थिति कितनी है ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बारहहजारवर्ष ।

भगवन् ! बालुकापृथ्वी की पृच्छा ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट चौदहहजारवर्ष ।

भगवन् ! मनःशिलापृथ्वी की पृच्छा ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सोलहहजारवर्ष ।

भगवन् ! शर्करापृथ्वी की पृच्छा ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अठारहहजारवर्ष ।

भगवन् ! खरपृथ्वी की पृच्छा ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बावीसहजारवर्ष ।

भगवन् ! नैरयिकों की कितनी स्थिति कही है ?

गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की स्थिति है । इस प्रकार सर्वार्थसिद्ध के देवों तक की स्थिति (प्रज्ञापना के स्थितिपद के अनुसार) कहनी चाहिए ।

भगवन् ! जीव, जीव के रूप में कब तक रहता है ?

गौतम ! सब काल तक जीव जीव ही रहता है ।

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव पृथ्वीकायिक के रूप में कब तक रहता है ?

गौतम ! (पृथ्वीकाय सामान्य की अपेक्षा) सर्वकाल तक रहता है । इस प्रकार त्रसकाय तक कहना चाहिए ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वीकायिक आदि के विषय में कई विशिष्ट विषयों का उल्लेख करने के लिए पुनः पृथ्वीविषयक प्रश्न किये गये हैं। पृथ्वी के प्रकारों के सम्बन्ध में किये गये प्रश्न के उत्तर में प्रभु ने फरमाया है कि पृथ्वी छह प्रकार की है—

१. श्लक्ष्णापृथ्वी—यह मृदु मुलायम मिट्टी का वाचक है। यह चूर्णित आटे के समान मुलायम होती है।
२. शुद्धपृथ्वी—पर्वतादि के मध्य में जो मिट्टी है वह शुद्धपृथ्वी है।
३. बालुकापृथ्वी—बारीक रेत बालुकापृथ्वी है।
४. मनःशिलापृथ्वी—मैनशिल आदि मनःशिलापृथ्वी है।
५. शर्करापृथ्वी—कंकर, मुरुण्ड आदि शर्करापृथ्वी है।
६. खरापृथ्वी—पाषाण रूप पृथ्वी खरापृथ्वी है।

उक्त छह प्रकार की पृथ्वी का निरूपण करने के पश्चात् उनकी कालस्थिति के विषय में प्रश्न किये गये हैं। उत्तर में कहा गया है कि—

१. श्लक्ष्णापृथ्वी की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक हजार वर्ष है।
२. शुद्धपृथ्वी की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बारह हजार वर्ष है।
३. बालुकापृथ्वी की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट चौदह हजार वर्ष है।
४. मनः शिलापृथ्वी की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सोलह हजार वर्ष है।
५. शर्करापृथ्वी की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अठारह हजार वर्ष है।
६. खरपृथ्वी की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बावीस हजार वर्ष है।[1]

पृथ्वीस्थिति यन्त्र

पृथ्वी का प्रकार	जघन्य	उत्कृष्ट स्थिति
१. श्लक्ष्णापृथ्वी	अन्तर्मुहूर्त	एक हजार वर्ष
२. शुद्धपृथ्वी	,,	बारह हजार वर्ष
३. बालुकापृथ्वी	,,	चौदह हजार वर्ष
४. मनःशिलापृथ्वी	,,	सोलह हजार वर्ष
५. शर्करापृथ्वी	,,	अठारह हजार वर्ष
६. खरपृथ्वी	,,	बावीस हजार वर्ष

स्थितिनिरूपण का प्रसंग होने से चोवीस दण्डक के क्रम से नैरयिकों आदि की स्थिति के विषय में प्रश्न हैं। ये प्रश्न और उनके उत्तर प्रज्ञापनापद के चतुर्थ स्थितिपद के अनुसार सर्वार्थसिद्ध के देवों तक की स्थिति तक समझ लेना चाहिए। वहां विस्तार के साथ स्थिति का वर्णन है। अतएव यहां उसका उल्लेख न करते हुए वहां से जान लेने की सूचना की गई है। यह भवस्थिति विषयक कथन करने के पश्चात् कायस्थितिविषयक प्रश्न है कि जीव कितने समय तक जीवरूप में

१. सण्हा य सुद्ध बालुय मणोसिला सक्करा य खरपुढवी।
इग बार चोद्दस सोलढार बावीस समसहस्सा ॥१॥

रहता है। कायस्थिति का अर्थ है—जीव की सामान्यरूप अथवा विशेषरूप से जो विवक्षित पर्याय है उसमें स्थित रहना। भवस्थिति में वर्तमान भव की स्थिति गृहीत होती है और कायस्थिति में जब तक जीव अपने जीवनरूप पर्याय से युक्त रहता है तब तक की स्थिति विवक्षित है। प्रकृत प्रसंग में जीव की कायस्थिति पूछी गई है। जो प्राणों को धारण करे वह जीव है। प्राण दो प्रकार के हैं—द्रव्यप्राण और भावप्राण। पांच इन्द्रियां, मन-वचन-काय ये तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस द्रव्यप्राण हैं और ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ये चार भावप्राण हैं।[1] यहां दोनों प्रकार के प्राणों का ग्रहण है। अतः प्रश्न का भाव यह हुआ कि जीव प्राण धारणरूप जीवत्व की अपेक्षा से कब तक रहता है? भगवान् ने उत्तर दिया कि सर्वकाल के लिए जीवरूप में रहता है। वह संसारी अवस्था में द्रव्य-भावप्राणों को लेकर और मुक्तावस्था में भावप्राणों को लेकर जीवित रहता है, अतएव सर्वाद्धा के लिए जीव जीवरूप में रहता है। एक भी क्षण ऐसा नहीं है कि जीव अपनी इस जीवनावस्था से रहित हो जाय।

अथवा 'जीव' पद से यहां किसी एक खास जीव का ग्रहण नहीं हुआ किन्तु जीव सामान्य का ग्रहण हुआ है। अतएव प्राणधारण लक्षण जीवत्व मानने में भी कोई दोष नहीं है। अर्थात् जीव जीव के रूप में सदा रहेगा ही। वह सदा जिया है, जीता है और जीता रहेगा। इस प्रकार जीव को लेकर सामान्य जीव की अपेक्षा कायस्थिति कही गई है। इसी प्रकार पृथ्वीकाय आदि के विषय में भी सामान्य विवक्षा ही जाननी चाहिए। पृथ्वीकाय भी पृथ्वीकायरूप में सामान्यरूप से सदैव रहेगा ही, कोई भी समय ऐसा नहीं होगा जब पृथ्वीकायिक जीव नहीं रहेंगे। इसलिए उनकी कायस्थिति सर्वाद्धा कही गई है। इस प्रकार गति, इन्द्रिय, कायादि द्वारों से जिस प्रकार प्रज्ञापना के अठारहवें 'कायस्थिति' नामक पद में कायस्थिति कही गई है, वह सब यहां कह लेनी चाहिए। वे द्वार बावीस हैं[2]—

१. जीव, २. गति, ३. इन्द्रिय, ४. काय, ५. योग, ६. वेद, ७. कषाय, ८. लेश्या, ९. सम्यक्त्व, १०. ज्ञान, ११. दर्शन, ११. संयत, १३. उपयोग, १४. आहार, १५. भाषक, १६. परित्त, १७. पर्याप्ति, १८. सूक्ष्म. १९. संज्ञी, २०. भवसिद्धिक, २१. अस्तिकाय और २२. चरम।

इस प्रकार पृथ्वीकाय की तरह अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रसकाय सम्बन्धी सूत्र भी समझ लेने चाहिए।

निर्लेप सम्बन्धी कथन

१०१-२. पडुप्पन्नपुढविकाइया णं भंते! केवइकालस्स णिल्लेवा सिया?

गोयमा! जहण्णपवे असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीहिं उक्कोसपए असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणी ओसप्पिणीहिं, जहन्नपवओ उक्कोसपए असंखेज्जगुणो, एवं जाव पडुप्पन्नवाउक्काइया।

---

१. पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वास-निःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥१॥
'ज्ञानादयस्तु भावप्राणा, मुक्तोऽपि जीवति स तेहिं।'

२. जीव गइंदिय काए जोए वेए कसाय लेस्सा य।
सम्मत्त नाणदंसण संजय उवओग आहारे ॥१॥
भासग परित्तपज्जत्त सुहुमसण्णी भवत्थि चरिमे य।
एएसिं तु पयाणं कायठिई होइ नायव्वा ॥२॥

पडुप्पन्नवणप्फइकाइया णं भंते ! केवइकालस्स णिल्लेवा सिया ?

गोयमा ! पडुप्पन्नवणप्फइकाइया जहण्णपदे अपदा उक्कोसपदे अपदा, पडुप्पन्नवणप्फइकाइया णं णत्थि निल्लेवणा ।

पडुप्पन्नतसकाइयाणं पुच्छा,

जहण्णपदे सागरोवमसयपुहुत्तस्स, उक्कोसपए सागरोवमसयपुहुत्तस्स, जहण्णपदा उक्कोसपए विसेसाहिया ।

[१०१-२] भगवन् ! अभिनव (तत्काल उत्पद्यमान) पृथ्वीकायिक जीव कितने काल में निर्लेप हो सकते हैं ?

गौतम ! जघन्य से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में और उत्कृष्ट से भी असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में निर्लेप (खाली) हो सकते हैं । यहाँ जघन्य पद से उत्कृष्ट पद में असंख्यातगुण अधिकता जाननी चाहिए । इसी प्रकार अभिनव वायुकायिक तक की वक्तव्यता जाननी चाहिए ।

भगवन् ! अभिनव (तत्काल उत्पद्यमान) वनस्पतिकायिक जीव कितने समय में निर्लेप हो सकते हैं ?

गौतम ! प्रत्युत्पन्नवनस्पतिकायिकों के लिए जघन्य और उत्कृष्ट दोनों पदों में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ये इतने समय में निर्लेप हो सकते हैं । इन जीवों की निर्लेपना नहीं हो सकती । (क्योंकि ये अनन्तानन्त हैं ।)

भगवन् ! प्रत्युत्पन्नत्रसकायिक जीव कितने काल में निर्लेप हो सकते हैं ?

गौतम ! जघन्य पद में सागरोपम शतपृथक्त्व और उत्कृष्ट पद में भी सागरोपम शतपृथक्त्व काल में निर्लेप हो सकते हैं । जघन्यपद से उत्कृष्टपद में विशेषाधिकता समझनी चाहिए ।

विवेचन—निर्लेपता का अर्थ है—यदि प्रतिसमय एक-एक जीव का अपहार किया जाय तो कितने समय में वे जीव सबके सब अपहृत हो जायें अर्थात् वह आधारस्थान उन जीवों से खाली हो जाय । प्रत्युत्पन्न अर्थात् अभिनव उत्पद्यमान पृथ्वीकायिक जीवों का यदि प्रतिसमय एक-एक के मान से अपहार किया जाय तो कितने समय में वे सबके सब अपहृत हो सकेंगे, यह प्रश्न का आशय है । इसके उत्तर में कहा गया है कि जघन्य से अर्थात् जब एक समय में कम से कम उत्पन्न होते हैं, उस अपेक्षा से यदि प्रत्येक समय में एक-एक जीव अपहृत किया जावे तो उनके पूरे अपहरण होने में असंख्यात उत्सर्पिणियां और असंख्यात अवसर्पिणियां समाप्त हो जावेंगी । इसी प्रकार उत्कृष्ट से एक ही काल में जब वे अधिक से अधिक उत्पन्न होते हैं उस अपेक्षा से भी यदि उनमें से एक-एक समय में एक-एक जीव का अपहार किया जावे तो भी उनके पूरे अपहरण में असंख्यात उत्सर्पिणियां और असंख्यात अवसर्पिणियां समाप्त हो जावेगीं तब वे पूरे अपहृत होंगे । जघन्य पद वाले अभिनव उत्पद्यमान पृथ्वीकायिक जीवों की अपेक्षा जो उत्कृष्ट पदवर्ती अभिनव पृथ्वीकायिक जीव उत्पन्न होते हैं वे असंख्यातगुण अधिक हैं । क्योंकि जघन्य पदोक्त असंख्यात से उत्कृष्ट पदोक्त असंख्यात असंख्यातगुण अधिक है ।

इसी तरह अभिनव अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों की निर्लेपना समझनी चाहिए।

अभिनव वनस्पतिकायिक जीवों की निर्लेपना सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि उन जीवों की न तो जघन्यपद में और न उत्कृष्टपद में निर्लेपना सम्भव है। क्योंकि वे जीव अनन्तानन्त हैं। अतएव वे 'इतने समय में निर्लिप्त या अपहृत हो जावेंगे' ऐसा कहना सम्भव नहीं है। उक्त पद द्वारा वे नहीं कहे जा सकते, अतएव उन्हें 'अपद' कहा गया है।

प्रत्युत्पन्न त्रसकायिक जीवों की निर्लेपना का काल जघन्यपद में सागरोपमशतपृथक्त्व है अर्थात् दो सौ सागरोपम से लेकर नौ सौ सागरोपम जितने काल में उन अभिनव त्रसकायिक जीवों का अपहार सम्भव है। उत्कृष्टपद में भी यही सागरोपमशतपृथक्त्व निर्लेपना का काल जानना चाहिए, परन्तु यह उत्कृष्टपदोक्त काल जघन्यपदोक्त काल से विशेषाधिक जानना चाहिए।

अविशुद्ध-विशुद्ध लेश्या वाले अनगार का कथन

१०३. अविसुद्धलेस्से णं भंते! अणगारे असमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ पासइ?

गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे।

अविसुद्धलेस्से णं भंते! अणगारे असमोहएणं अप्पाणेणं विसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ पासइ?

गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे।

अविसुद्धलेस्से णं भंते! अणगारे समोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ पासइ?

गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे।

अविसुद्धलेस्से अणगारे समोहएणं अप्पाणेणं विसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ पासइ?

नो तिणट्ठे समट्ठे।

अविसुद्धलेस्से णं भंते! अणगारे समोहयासमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ पासइ?

नो तिणट्ठे समट्ठे।

अविसुद्धलेस्से अणगारे समोहयासमोहएणं अप्पाणेणं विसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ पासइ?

नो तिणट्ठे समट्ठे।

विसुद्धलेस्से णं भंते! अणगारे असमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ पासइ?

हंता, जाणइ पासइ। जहा अविसुद्धलेस्से णं आलावगा एवं विसुद्धलेस्सेणं वि छ आलावगा भाणियव्वा जाव विसुद्धलेस्से णं भंते ! अणगारे समोहयासमोहएणं अप्पाणेणं विसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ पासइ ?

हंता ! जाणइ पासइ।

[१०३] हे भगवन् ! अविशुद्धलेश्या वाला अनगार वेदनादि समुद्घात से विहीन आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव को, देवी को और अनगार को जानता-देखता है क्या ?

हे गौतम ! यह अर्थ समर्थित नहीं है अर्थात् नहीं जानता-देखता है।

भगवन् ! अविशुद्धलेश्या वाला अनगार वेदनादि विहीन आत्मा द्वारा विशुद्धलेश्या वाले देव को, देवी को और अनगार को जानता-देखता है क्या ?

गौतम ! यह अर्थ समर्थित नहीं है।

भगवन् ! अविशुद्ध लेश्या वाला अनगार वेदनादि समुद्घातयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्या वाले देव को, देवी को और अनगार को जानता-देखता है क्या ?

गौतम ! यह अर्थ समर्थित नहीं है।

हे भगवन् ! अविशुद्धलेश्या वाला अनगार वेदनादि समुद्घातयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्या वाले देव को, देवी को और अनगार को जानता-देखता है क्या ?

गौतम ! यह अर्थ ठीक नहीं है।

हे भगवन् ! अविशुद्धलेश्या वाला अनगार जो वेदनादि समुद्घात से न तो पूर्णतया युक्त है और न सर्वथा विहीन है, ऐसी आत्मा द्वारा अविशुद्धलेश्या वाले देव, देवी और अनगार को जानता-देखता है क्या ?

गौतम ! यह अर्थ समर्थित नहीं है।

भगवन् ! अविशुद्धलेश्या वाला अनगार समवहत-असमवहत आत्मा द्वारा विशुद्धलेश्या वाले देव, देवी और अनगार को जानता-देखता है क्या ?

गौतम ! यह अर्थ समर्थित नहीं है।

भगवन् ! विशुद्धलेश्या वाला अनगार वेदनादि समुद्घात द्वारा असमवहत आत्मा द्वारा अविशुद्धलेश्या वाले देव, देवी और अनगार को जानता-देखता है क्या ?

हाँ, गौतम ! जानता-देखता है। जैसे अविशुद्धलेश्या वाले अनगार के लिए छह आलापक कहे हैं वैसे छह आलापक विशुद्धलेश्या वाले अनगार के लिए भी कहने चाहिए यावत्—

हे भगवन् ! विशुद्धलेश्या वाला अनगार समवहत-असमवहत आत्मा द्वारा विशुद्धलेश्या वाले देव, देवी और अनगार को जानता-देखता है क्या ?

हाँ, गौतम ! जानता-देखता है।

विवेचन—पूर्व सूत्र में स्थिति तथा निर्लेपना आदि का कथन किया गया। उस कथन को विशुद्धलेश्या वाला अनगार सम्यक् रूप से समझता है तथा अविशुद्धलेश्या वाला उसे सम्यक् रूप

से नहीं समझता है। इस सम्बन्ध से यहां शुद्धलेश्या वाले और अशुद्धलेश्या वाले अनगार को लेकर ज्ञान-दर्शनविषयक प्रश्न किये गये हैं। अविशुद्धलेश्या से तात्पर्य कृष्ण-नील-कापोत लेश्या से है। असमवहत का अर्थ है वेदनादि समुद्घात से रहित और समवहत का अर्थ है वेदनादि समुद्घात से युक्त। समवहत-असमवहत का मतलब है वेदनादि समुद्घात से न तो पूर्णतया युक्त और न सर्वथा विहीन।

अविशुद्धलेश्या वाले अनगार के विषय में छह आलापक इस प्रकार कहे गये हैं—

(१) असमवहत होकर अविशुद्धलेश्या वाले देवादि को जानना,
(२) असमवहत होकर विशुद्धलेश्या वाले देवादि को जानना,
(३) समवहत होकर अविशुद्धलेश्या वाले देवादि को जानना,
(४) समवहत होकर विशुद्धलेश्या वाले देवादि को जानना,
(५) समवहत-असमवहत होकर अविशुद्धलेश्या वाले देवादि को जानना।
(६) समवहत-असमवहत होकर विशुद्धलेश्या वाले देवादि को जानना।

उक्त छहों आलापकों में अविशुद्धलेश्या वाले अनगार के जानने-देखने का निषेध किया गया है। क्योंकि अविशुद्धलेश्या होने से वह अनगार किसी वस्तु को सम्यक् रूप से नहीं जानता है और नहीं देखता है।

विशुद्धलेश्या वाले अनगार को लेकर भी पूर्वोक्त रीति से छह आलापक कहने चाहिए और उन सब में देवादि पदार्थों को जानना-देखना कहना चाहिए। विशुद्धलेश्या वाला अनगार पदार्थों को सम्यक् रूप से जानता और देखता है। विशुद्धलेश्या वाला होने से यथावस्थित ज्ञान-दर्शन होता है अन्यथा नहीं।

मूल टीकाकार ने कहा है कि विशुद्धलेश्या वाला शोभन या अशोभन वस्तु को यथार्थ रूप में जानता है। समुद्घात भी उसका प्रतिबन्धक नहीं होता। उसका समुद्घात भी अत्यन्त अशोभन नहीं होता।[1]

तात्पर्य यह है कि अविशुद्धलेश्या वाला पदार्थों को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं जानता और नहीं देखता जबकि विशुद्धलेश्या वाला पदार्थों को सही रूप में जानता है और देखता है।

सम्यग्-मिथ्याक्रिया का एक साथ न होना

१०४. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति एवं भासेंति, एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति— एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तंजहा—सम्मत्तकिरियं च मिच्छत्तकिरियं च। जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ। सम्मत्तकिरियापकरणताए मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरिया-

---

१. शोभनमशोभनं वा वस्तु यथावद् विशुद्धलेश्यो जानाति। समुद्घातोऽपि तस्याप्रतिबन्धक एव।
—मूलटीकायाम्।

पकरणताए सम्मत्तकिरियं पकरेइ; एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तं जहा—सम्मत्तकिरियं च मिच्छत्तकिरियं च। से कहमेयं भंते! एवं ?

गोयमा! जण्णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ तहेव जाव सम्मत्तकिरियं च मिच्छत्तकिरियं च, जे ते एवमाहंसु तं णं मिच्छा; अहं पुण गोयमा! एवं आइक्खामि जाव परूवेमि—

एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेई, तं जहा—सम्मत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा। जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ नो तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ। तं चेव जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ नो तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ। सम्मत्तकिरियापकरणयाए नो मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए नो सम्मत्तकिरियं पकरेइ। एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ, तं जहा—सम्मत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा।

से त्तं तिरिक्खजोणिय—उद्देसओ बीओ समत्तो।

[१०४] हे भगवन्! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार बोलते हैं, इस प्रकार प्रज्ञापना करते हैं, इस प्रकार प्ररूपणा करते हैं कि 'एक जीव एक समय में दो क्रियाएँ करता है, यथा सम्यक्क्रिया और मिथ्याक्रिया। जिस समय सम्यक्क्रिया करता है उसी समय मिथ्याक्रिया भी करता है, और जिस समय मिथ्याक्रिया करता है, उस समय सम्यक्क्रिया भी करता है। सम्यक्-क्रिया करते हुए (उसके साथ ही) मिथ्याक्रिया भी करता है और मिथ्याक्रिया करने के साथ ही सम्यक्क्रिया भी करता है। इस प्रकार एक जीव एक समय में दो क्रियाएँ करता है, यथा—सम्यक्-क्रिया और मिथ्याक्रिया।'

हे भगवन्! उनका यह कथन कैसा है ?

हे गौतम! जो वे अन्यतीर्थिक ऐसा कहते हैं, ऐसा बोलते हैं, ऐसी प्रज्ञापना करते हैं और ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि एक जीव एक समय में दो क्रियाएँ करता है—सम्यक्क्रिया और मिथ्या-क्रिया। जो अन्यतीर्थिक ऐसा कहते हैं वे मिथ्या कथन करते हैं।

गौतम! मैं ऐसा कहता हूँ यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि एक जीव एक समय में एक ही क्रिया करता है, यथा सम्यक्क्रिया अथवा मिथ्याक्रिया। जिस समय सम्यक्क्रिया करता है उस समय मिथ्याक्रिया नहीं करता और जिस समय मिथ्याक्रिया करता है उस समय सम्यक्क्रिया नहीं करता है और मिथ्याक्रिया करने के साथ सम्यक्क्रिया नही करता। इस प्रकार एक जीव एक समय में एक ही क्रिया करता है, यथा—सम्यक्क्रिया अथवा मिथ्याक्रिया।

॥ तिर्यक्योनिक अधिकार का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सम्यक्क्रिया और मिथ्याक्रिया एक साथ एक जीव नहीं कर सकता, इस विषय को अन्यतीर्थिकों की मान्यता का पूर्वपक्ष के रूप में कथन करके उसका खण्डन किया गया है। अन्यतीर्थिक कहते हैं, विस्तार से व्यक्त करते हैं, अपनी बात दूसरों को समझाते हैं और निश्चित रूप से निरूपण करते हैं कि 'एक जीव एक समय में एक साथ सम्यक्क्रिया भी करता

है और मिथ्याक्रिया भी करता है। सुन्दर अध्यवसाय वाली क्रिया सम्यक्क्रिया है और असुन्दर अध्यवसाय वाली क्रिया मिथ्याक्रिया है। जिस समय जीव सम्यक्क्रिया करता है उसके साथ मिथ्याक्रिया भी करता है और जिस समय मिथ्याक्रिया करता है उस समय सम्यक्क्रिया भी करता है। क्योंकि जीव का स्वभाव उभयक्रिया करने का है। दोनों क्रियाओं को संवलित रूप में करने का जीव का स्वभाव है। अतः जीव जिस किसी भी अच्छी या बुरी क्रिया में प्रवृत्त होता है तो उसका उभय-क्रिया करने का स्वभाव विद्यमान रहता है। उभयक्रिया करने का स्वभाव होने से उसकी क्रिया भी उभयरूप होती है। दूध और पानी मिला हुआ होने पर उसे उभयरूप कहना होगा, एकरूप नहीं। अतएव जिस समय जीव सम्यक्क्रिया कर रहा है उस समय उसके उभयक्रियाकरणस्वभाव की प्रवृत्ति भी हो रही है, अन्यथा सर्वात्मना प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उभयकरणस्वभाव की प्रवृत्ति होने से जिस समय सम्यक्क्रिया हो रही है उस समय मिथ्याक्रिया भी हो रही है और जिस समय मिथ्याक्रिया हो रही है उस समय सम्यक्क्रिया भी हो रही है अतः एक जीव एक समय में एक साथ दोनों क्रियाएं कर सकता है—सम्यक्क्रिया भी और मिथ्याक्रिया भी।'

उक्त अन्यतीर्थिकों की मान्यता मिथ्या है। प्रभु फरमाते हैं कि गौतम ! एक जीव एक समय में एक ही क्रिया कर सकता है—सम्यक्क्रिया अथवा मिथ्याक्रिया। वह इन दोनों क्रियाओं को एक साथ नहीं कर सकता क्योंकि इन दोनों में परस्परपरिहाररूप विरोध है। सम्यक्क्रिया हो रही है तो मिथ्याक्रिया नहीं हो सकती और मिथ्याक्रिया हो रही है तो सम्यक्क्रिया नहीं हो सकती। जीव का उभयकरणस्वभाव है ही नहीं। यदि उभयकरणस्वभाव माना जाय तो मिथ्यात्व की कभी निवृत्ति नहीं होगी और ऐसी स्थिति में मोक्ष का अभाव हो जावेगा।

अतएव यह सिद्ध होता है कि सम्यक्क्रिया करते समय मिथ्याक्रिया नहीं करता और मिथ्याक्रिया करते समय सम्यक्क्रिया नहीं करता। सम्यक्क्रिया और मिथ्याक्रिया एक दूसरे को छोड़कर रहती हैं, एक साथ नहीं रह सकती। अतएव यही सही सिद्धान्त है कि एक जीव एक समय में एक समय में एक ही क्रिया कर सकता है—सम्यक्त्वक्रिया या मिथ्याक्रिया, दोनों क्रियाएँ एक साथ कदापि सम्भव नहीं हैं।

।। तृतीय प्रतिपत्ति के तिर्यक्योनिक अधिकार में
द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

□

तृतीय प्रतिपत्ति

मनुष्य का अधिकार

तिर्यक्योनिकों का कथन करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त मनुष्य का अधिकार चलता है। उसका आदिसूत्र है—

१०५. से किं तं मणुस्सा ?

मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संमुच्छिममणुस्सा य गब्भवक्कंतियमणुस्सा य।

[१०५] हे भगवन् ! मनुष्य कितने प्रकार के हैं ?

गौतम ! मनुष्य दो प्रकार के हैं, यथा—१. सम्मूर्च्छिममनुष्य और २. गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्य।

१०६. से किं तं संमुच्छिममणुस्सा ?

संमुच्छिममणुस्सा एगागारा पण्णत्ता।

कहिं णं भंते ! संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति ?

गोयमा ! अंतोमणुस्सखेत्ते जहा पण्णवणाए जाव से त्तं संमुच्छिममणुस्सा।

[१०६] भगवन् ! सम्मूर्च्छिममनुष्य कितने प्रकार के हैं ?

गौतम ! सम्मूर्च्छिममनुष्य एक ही प्रकार के कहे गये हैं।

भगवन् ! ये सम्मूर्छिममनुष्य कहाँ पैदा होते हैं ?

गौतम ! मनुष्यक्षेत्र में (१४ अशुचिस्थानों में उत्पन्न होते हैं) इत्यादि जो वर्णन प्रज्ञापना-सूत्र में किया गया है, वह सम्पूर्ण यहाँ कहना चाहिए यावत् यह सम्मूर्च्छिममनुष्यों का कथन हुआ।

विवेचन—सम्मूर्च्छिममनुष्यों के उत्पत्ति के १४ अशुचिस्थान तथा उनकी अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु आदि के सम्बन्ध में प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद में विस्तृत वर्णन है तथा इसी जीवाजीवाभिगमसूत्र की द्वितीय प्रतिपत्ति में पहले इनका वर्णन किया जा चुका है। जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं।

१०७. से किं तं गब्भवक्कंतियमणुस्सा ?

गब्भवक्कंतियमणुस्सा तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—१. कम्मभूमगा, २. अकम्मभूमगा, ३. अंतर-दीवगा।

[१०७] हे भगवन् ! गर्भव्युत्क्रांतिकमनुष्य कितने प्रकार के हैं ?

गौतम ! गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्य तीन प्रकार के हैं, यथा—१. कर्मभूमिक, २. अकर्मभूमिक और ३. आन्तर्द्वीपिक।

१०८. से किं तं अंतरदीवगा ?

अंतरदीवगा अट्ठावीसइविहा पण्णत्ता, तंजहा—एगुरुया आभासिया वेसाणिया णांगोली हयकण्णगा० आयंसमुहा० आसमुहा० आसकण्णा० उक्कामुहा० घणदंता जाव सुद्धदंता ।

[१०८] हे भगवन् ! आन्तर्द्वीपिक मनुष्य कितने प्रकार के हैं ?

गौतम ! आन्तर्द्वीपिक अट्ठवीस प्रकार के हैं, जैसे कि एकोरुक, आभाषिक, वेषाणिक, नांगोलिक, हयकर्ण आदि, आदर्शमुख आदि, अश्वमुख आदि, अश्वकर्ण आदि, उलकामुख आदि, घनदन्त आदि यावत् शुद्धदंत ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में गर्भज मनुष्यों के तीन प्रकार कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तर्द्वीपिकों का कथन करने के पश्चात् 'अस्त्यनानुपूर्व्यपि' अर्थात् अननुक्रम से भी कथन किया जाता है, इस न्याय से अन्तर्द्वीपिकों के विषय में प्रश्न और उत्तर दिये गये हैं ।

लवणसमुद्र के अन्दर अन्तर्-अन्तर् पर द्वीप होने से ये अन्तर्द्वीप कहलाते हैं और इनमें रहने वाले मनुष्य 'तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः' इस न्याय से अन्तर्द्वीपिक कहे जाते हैं, जैसे पंजाब में रहने वाले पुरुष पंजाबी कहे जाते हैं ।

आन्तर्द्वीपिक मनुष्य अट्ठावीस प्रकार के हैं, यथा—१. एकोरुक, २. आभाषिक, ३. वैषाणिक, ४. नांगोलिक, ५. हयकर्ण, ६. गजकर्ण, ७. गोकर्ण, ८. शष्कुलीकर्ण, ९. आदर्शमुख, १०. मेण्ढमुख, ११. अयोमुख, १२. गोमुख, १३. अश्वमुख, १४. हस्तिमुख, १५. सिंहमुख, १६. व्याघ्रमुख, १७. अश्वकर्ण, १८. सिंहकर्ण, १९. अकर्ण, २०. कर्णप्रावरण, २१. उल्कामुख, २२. मेघमुख, २३. विद्युत्दंत, २४. विद्युत्जिह्व, २५. घनदन्त, २६. लष्टदन्त, २७. गूढदन्त और २८. शुद्धदन्त ।

इन द्वीपों में रहने वाले मनुष्य भी उसी नाम से जाने जाते हैं ।

इन आन्तर्द्वीपिकों का आगे के सूत्र में विस्तार से वर्णन किया जा रहा है ।

एकोरुक मनुष्यों के एकोरुकद्वीप का वर्णन

१०९. कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं एगोरुयमणुस्साणं एगोरुयदीवे णामं दीवे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासधरपव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं दाहिणिल्लाणं एगोरुयमणुस्साणं एगोरुयदीवे णामं दीवे पण्णत्ते तिन्नि जोयणसयाइं आयाम-विक्खंभेणं णवएगूणपण्णजोयणसए किंचि विसेसेण परिक्खेवेणं एगाए पउमवरवेदियाए एगेणं च वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते ।

सा णं पउमवरवेदिया अट्ठजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसयाइं विक्खंभेणं एगोरुयदीवं समंता परिक्खेवेणं पण्णत्ता । तीसेणं पउमवरवेदियाए अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—वइरामया निम्मा एवं वेदियावण्णओ जहा रायपसेणइए तहा भाणियव्वो ।

[१०९] हे भगवन् ! दक्षिण दिशा के एकोरुक मनुष्यों का एकोरुक नामक द्वीप कहाँ रहा हुआ है ?

हे गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मेरुपर्वत के दक्षिण में क्षुल्ल (चुल्ल) हिमवंत नामक वर्षधर पर्वत के उत्तरपूर्व के चरमान्त से लवणसमुद्र में तीन सौ योजन जाने पर दक्षिणदिशा के एकोरुक मनुष्यों का एकोरुक नामक द्वीप कहा गया है। वह द्वीप तीन सौ योजन की लम्बाई-चौड़ाई वाला तथा नौ सौ उनपचास योजन से कुछ अधिक परिधि वाला है। उसके चारों ओर एक पद्मवरवेदिका और एक वनखंड है। वह पद्मवरवेदिका आठ योजन ऊँची, पांच सौ धनुष चौडाई वाली और एकोरुक द्वीप को सब तरफ से घेरे हुए है। उस पद्मवरवेदिका का वर्णन इस प्रकार है, यथा—उसकी नींव वज्रमय है आदि वेदिका का वर्णन राजप्रश्नीयसूत्र की तरह कहना चाहिए।

विवेचन—यहाँ दक्षिण दिशा के एकोरुकमनुष्यों के एकोरुक द्वीप के विषय में कथन है। एकोरुकमनुष्य शिखरीपर्वत पर भी हैं किन्तु वे मेरुपर्वत के उत्तरदिशा में हैं। उनका व्यवच्छेद करने के लिए यहाँ 'दक्षिणदिशा के' ऐसा विशेषण दिया गया है। दक्षिणदिशा के एकोरुकमनुष्यों का एकोरुकद्वीप कहाँ है ? यह प्रश्न का भाव है। उत्तर में कहा गया है कि इसी जंबूद्वीप नामक द्वीप के मेरुपर्वत के दक्षिण में तथा चुल्लहिमवान नामक वर्षधर पर्वत के उत्तरपूर्व (ईशानकोण) के चरमान्त से लवणसमुद्र में तीन सौ योजन आगे जाने पर दक्षिणात्य एकोरुकमनुष्यों का एकोरुकद्वीप है।

वह एकोरुकद्वीप तीन सौ योजन की लम्बाई-चौड़ाई वाला और नौ सौ उनपचास योजन से कुछ अधिक परिधि वाला है। उसके आसपास चारों ओर एक पद्मवरवेदिका है, उसके चारों ओर एक वनखण्ड है। वह पद्मवरवेदिका आठ योजन ऊँची, पांच सौ धनुष चौड़ी है। उसका वर्णन राजप्रश्नीय सूत्र में किये गये पद्मवरवेदिका के समान जानना चाहिए, जैसेकि उसकी नींव वज्ररत्नों की है, आदि-आदि। पद्मवरवेदिका और वनखण्ड का वर्णन आगे स्वयं सूत्रकार द्वारा कथित जंबूद्वीप की जगती के आगे की पद्मवरवेदिका और वनखण्ड के वर्णन के समान समझना चाहिए। अतएव यहाँ वह वर्णन नही दिया जा रहा है।

११०. सा णं पउमवरवेइया एगेणं वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता। से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं वेइयासमेणं परिक्खेवेणं पण्णत्ते। ते णं वणसंडे किण्हे किण्होभासे एवं जहा रायपसेणइए वणसंडवण्णओ तहेव निरवसेसं भाणियव्वं, तणाण य वण्णगंधफासो सद्दो वावीओ उप्पायपव्वया पुढविसिलापट्टगा य भाणियव्वा जाव एत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति जाव विहरंति।

[११०] वह पद्मवरवेदिका एक वनखण्ड से सब ओर से घिरी हुई है। वह वनखण्ड कुछ कम दो योजन गोलाकार विस्तार वाला और वेदिका के तुल्य परिधि वाला है। वह वनखण्ड बहुत हरा-भरा और सघन होने से काला और कालीकान्ति वाला प्रतीत होता है, इस प्रकार राजप्रश्नीयसूत्र के अनुसार वनखण्ड का सब वर्णन जान लेना चाहिए। तृणों का वर्ण, गंध, स्पर्श, शब्द तथा बावड़ियाँ, उत्पातपर्वत, पृथ्वीशिलापट्टक आदि का भी वर्णन कहना चाहिए। यावत् वहाँ बहुत से वानव्यन्तर देव और देवियां उठते-बैठते हैं, यावत् सुखानुभव करते हुए विचरण करते हैं।

एकोरुकद्वीप का वर्णन

१११. [१] एगोरुयदीवस्स णं भंते ! दीवस्स केरिसए आगारभावपडोयारे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एगोरुयदीवस्स णं दीवस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा, एवं सयणिज्जे भाणियव्वे जाव पुढविसिलापट्टगंसि तत्थ णं बहवे एगोरुयदीवया मणुस्सा य मणुस्सीओ य आसयंति जाव विहरंति।

[१११] (१) हे भगवन् ! एकोरुकद्वीप की भूमि आदि का स्वरूप किस प्रकार का कहा गया है ?

गौतम ! एकोरुकद्वीप का भीतरी भूमिभाग बहुत समतल और रमणीय कहा गया है। जैसे मुरज (मृदंग विशेष) का चर्मपुट समतल होता है वैसा समतल वहाँ का भूमिभाग है—आदि। इसी प्रकार शय्या की मृदुता भी कहनी चाहिए यावत् पृथ्वीशिलापट्टक का भी वर्णन करना चाहिए। उस शिलापट्टक पर बहुत से एकोरुकद्वीप के मनुष्य और स्त्रियां उठते-बैठते हैं यावत् पूर्वकृत शुभ कर्मों के फल का अनुभव करते हुए विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में एकोरुकद्वीप की भूमिरचना का वर्णन किया गया है। वहाँ का भूमिभाग एकदम समतल है। इस समतलता को बताने के लिए विविध उपमाओं का सहारा लिया गया है। सूत्र में साक्षात् रूप से 'आलिंगपुक्खरेइ वा' कहा गया है जिसका अर्थ है—आलिंग अर्थात् मुरज। मुरज मृदंग का ही एक प्रकार है। पुष्कर का अर्थ है—चर्मपुटक। जैसे मुरज और मृदंग का चर्मपुट एकदम समतल होता है उसी प्रकार एकोरुकद्वीप का भूमिभाग एकदम समतल और रमणीय है। यावत् शब्द से अन्य निम्न उपमाओं का ग्रहण समझना चाहिए—

जैसे मृदंग का मुख चिकना और समतल होता है, जैसे पानी से लबालब भरे हुए तालाब का पानी समतल होता है, जैसे हथेली का तलिया, चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, दर्पण का तल जैसे समतल होते हैं वैसे ही वहाँ का भूमिभाग समतल है। जैसे भेड़, बैल, सूअर, सिंह, व्याघ्र, वृक (भेड़िया) और चीता इनके चर्म को बड़ी-बड़ी कीलों द्वारा खींचकर अति समतल कर दिया जाता है वैसे ही वहाँ का भूमिभाग अति समतल और रमणीय है। वह भूमि आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणी, प्रश्रेणी, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्यमान, वर्द्धमान, मत्स्याण्ड, मकराण्ड, जार मार पुष्पावलि, पद्मपत्र, सागर-तरंग, वासन्तीलता, पद्मलता आदि नाना प्रकार के मांगलिक रूपों की रचना से चित्रित तथा सुन्दर दृश्य वाले, सुन्दर कान्ति, सुन्दर शोभा वाले, चमकती हुई उज्ज्वल किरणों वाले और प्रकाश वाले नाना प्रकार के पांच वर्णों वाले तृणों और मणियों से उपशोभित होती रहती है। वह भूमिभाग कोमलस्पर्श वाला है। उस कोमलस्पर्श को बताने के लिए शय्या का वर्णनक कहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि आजिनक (मृगचर्म), रूई, बूर (वनस्पतिविशेष), मक्खन, तूल जैसे मुलायम स्पर्श वाली वह भूमि है। वह भूमिभाग रत्नमय, स्वच्छ, चिकना, घृष्ट (घिसा हुआ), मृष्ट (मंजा हुआ), रजरहित, निर्मल, निष्पंक, कंकररहित, सप्रभ, सश्रीक, उद्योतवाला प्रसाद पैदा करनेवाला दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप है।

वहाँ पृथ्वीशिलापट्टक भी है जिसका वर्णन औपपातिकसूत्रानुसार जान लेना चाहिए। उस शिलापट्टक पर बहुत से एकोरुकद्वीपवासी स्त्री-पुरुष उठते-बैठते हैं, लेटते हैं, आराम करते हैं और पूर्वकृत शुभकर्मों के फल को भोगते हुए विचरण करते हैं।

द्रुमादि वर्णन

[२] एगोरुयदीवे णं दीवे तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे उद्दालका कोद्दालका कयमाला णयमाला णट्टमाला सिंगमाला संखमाला दंतमाला सेलमाला णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो! कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला मूलमंतो कंदमंतो जाव बीयमंतो पत्तेहिं य पुप्फेहिं य आच्छण्णपडिच्छण्णा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति।

एगोरुयदीवे णं दीवे रुक्खा बहवे हेरुयालवणा भेरुयालवणा मेरुयालवणा सेरुयालवणा सालवणा सरलवणा सत्तवण्णवणा पूयफलिवणा खज्जूरीवणा णालिएरिवणा कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति।

एगोरुयदीवे णं तत्थ तत्थ बहवे तिलया, लवया, नग्गोहा जाव रायरुक्खा णंदिरुक्खा कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति।

एगोरुयदीवे णं तत्थ बहूओ पउमलयाओ जाव सामलयाओ णिच्चं कुसुमियाओ एवं लयावण्णओ जहा उववाइए जाव पडिरूवाओ।

एगोरुयदीवे णं तत्थ तत्थ बहवे सेरियागुम्मा जाव महाजाइगुम्मा, ते णं गुम्मा दसद्धवण्णं कुसुमं कुसुमंति विहुयग्गसाहा जेण वायविधूयग्गसाला एगोरुयदीवस्स बहुसमरमणिज्जभूमिभागं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं करेंति।

एगोरुयदीवे णं तत्थ तत्थ बहूओ वणराईओ पण्णत्ताओ, ताओ णं वणराईओ किण्हाओ किण्होभासाओ जाव रम्माओ महामेहणिकुरंबभूयाओ जाव महती गंधद्धणिं मुयंतीओ पासाईयाओ।

[१११] (२) हे आयुष्मन् श्रमण! एकोरुक नामक द्वीप में स्थान-स्थान पर यहाँ-वहाँ बहुत से उद्दालक, कोद्दालक, कृतमाल, नतमाल, नृत्यमाल, शृंगमाल, शंखमाल, दंतमाल और शैलमाल नामक द्रुम (वृक्ष) कहे गये हैं। वे द्रुम कुश (दर्भ) और कांस से रहित मूल वाले हैं अर्थात् उनके आसपास दर्भ और कांस नहीं है। वे प्रशस्त मूल वाले, प्रशस्त कंद वाले यावत् प्रशस्त बीज वाले हैं और पत्रों तथा पुष्पों से आच्छन्न, प्रतिछन्न हैं अर्थात् पत्रों और फूलों से लदे हुए हैं और शोभा से अतीव-अतीव शोभायमान हैं।

उस एकोरुकद्वीप में जगह-जगह बहुत से वृक्ष हैं। साथ ही हेरुतालवन,[1] भेरुतालवन, मेरुतालवन, सेरुतालवन, सालवन, सरलवन, सप्तपर्णवन, सुपारी के वन, खजूर के वन और नारियल के वन हैं। ये वृक्ष और वन कुश और कांस से रहित यावत् शोभा से अतीव-अतीव शोभायमान हैं।

उस एगोरुकद्वीप में स्थान-स्थान पर बहुत से तिलक, लवक, न्यग्रोध यावत् राजवृक्ष, नंदिवृक्ष हैं जो दर्भ और कांस से रहित हैं यावत् श्री से अतीव शोभायमान हैं।

---

१. वृक्षों के समुदाय को वन कहते हैं।

उस एकोरुकद्वीप में जगह-जगह बहुत सी पद्मलताएँ यावत् श्यामलताएँ हैं जो नित्य कुसुमित रहती हैं—आदि लता का वर्णन औपपातिकसूत्र के अनुसार कहना चाहिए यावत् वे अत्यन्त प्रसन्नता उत्पन्न करने वाली, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं।

उस एकोरुकद्वीप में जगह-जगह बहुत से सेरिकागुल्म यावत् महाजातिगुल्म हैं। (जिनका स्कंध तो छोटा हो किन्तु शाखाएँ बड़ी-बड़ी हों और पत्र-पुष्पादि से लदे रहते हैं उन्हें गुल्म कहते हैं।) वे गुल्म पांच वर्णों के फूलों से नित्य कुसुमित रहते हैं। उनकी शाखाएँ पवन से हिलती रहती हैं जिससे उनके फूल एकोरुकद्वीप के भूमिभाग को आच्छादित करते रहते हैं। (ऐसा प्रतीत होता है मानो ये एकोरुकद्वीप के बहुसमरमणीय भूमि भाग पर फूलों की वर्षा कर रहे हों।)

एकोरुकद्वीप में स्थान-स्थान पर बहुत सी वनराजियाँ हैं। वे वनराजियाँ अत्यन्त हरी-भरी होने से काली प्रतीत होती हैं, काली ही उनकी कान्ति है यावत् वे रम्य हैं और महामेघ के समुदाय-रूप प्रतीत होती हैं यावत् वे बहुत ही मोहक और तृप्तिकारक सुगंध छोड़ती हैं और वे अत्यन्त प्रसन्नता पैदा करने वाली दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं। (वनों की पंक्तियों को वनराजि कहते हैं।)

मत्तांग कल्पवृक्ष का वर्णन

[३] एगोरुयदीवे तत्थ तत्थ बहवे मत्तंगा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो! जहा से चंदप्पभमणि सिलागवरसीधुपवरवारुणि सुजातफलपत्तपुप्फचोयणिज्जाससारबहुदव्वजुत्तिसंभारकाल संधियासवा महुमेरगरिट्ठाभदुद्धजातीपसन्नमेल्लगसयाउ खज्जूरमुद्दियासारकाविसायण सुपक्कखोयरस-वरसुरा वण्णरसगंधफरिसजुत्तबलवीरियपरिणामा मज्जविहित्थबहुप्पगारा तदेवं ते मत्तंगया वि दुमगणा अणेगबहुविविधवीससा परिणयाए मज्जविहीए उववेया फलेहिं पुण्णा विसट्टंति कुसविकुस-विसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति ॥१॥

[१११] (३) हे आयुष्मन् श्रमण! उस एकोरुकद्वीप में स्थान-स्थान पर मत्तांग नामक कल्पवृक्ष हैं। जैसे चन्द्रप्रभा, मणि-शलाका श्रेष्ठ सीधु, प्रवरवारुणी, जातिवंत फल-पत्र-पुष्प सुगंधित द्रव्यों से निकाले हुए सारभूत रस और नाना द्रव्यों से युक्त एवं उचित काल में संयोजित करके बनाये हुए आसव, मधु, मेरक, रिष्टाभ, दुग्धतुल्यस्वाद वाली प्रसन्न, मेल्लक, शतायु, खजूर और मृद्विका (दाख) के रस, कपिश (धूम्र) वर्ण का गुड़ का रस, सुपक्व क्षोद (काष्ठादि चूर्णों का) रस, वरसुरा आदि विविध मद्य प्रकारों में जैसे वर्ण, रस, गंध और स्पर्श तथा बलवीर्य पैदा करने वाले परिणमन होते हैं, वैसे ही वे मत्तांग वृक्ष नाना प्रकार के विविध स्वाभाविक परिणाम वाली मद्यविधि से युक्त और फलों से परिपूर्ण हैं एवं विकसित हैं। वे कुश और कांस से रहित मूल वाले तथा शोभा से अतीव-अतीव शोभायमान हैं ॥१॥

भृतांग कल्पवृक्ष का वर्णन

[४] एगोरुयदीवे तत्थ तत्थ बहवे भिंयगा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो! जहा से वारगघडकरगकलसकक्करिपायकंचणि-उदंक-वद्धणि-सुपतिट्ठगपारीचसकभिंगारकरोडि सरग थरग

पत्ती थाल मल्लग चवलिय दगवारक विचित्तवट्टक मणिवट्टक सुत्तिचारुपीणया कंचणमणिरयणभत्तिविचित्ता भायणविहिए बहुप्पगारा तहेव ते भिंगंगा वि दुमगणा अणेग बहुविविहवीससा परिणमाए भायणविहीए उववेया फलेहिं पुण्णा विसट्टंति कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति ।।२।।

[१११] (४) हे आयुष्मन् श्रमण ! उस एकोरुक द्वीप में जहाँ-तहाँ बहुत से भृत्तांग नामके कल्पवृक्ष हैं। जैसे वारक (मंगलघट), घट, करक, कलश, कर्करी (गगरी), पादकंचनिका (पांव धोने की सोने की पात्री), उदंक (उलचना), वद्धणि (लोटा), सुप्रतिष्ठक (फूल रखने का पात्र), पारी (घी-तेल का पात्र), चषक (पानपात्र-गिलास आदि), भिंगारक (भारी), करोटि (कटोरा), शरक, थरक (पात्रविशेष), पात्री, थाली, जलभरने का घड़ा, विचित्र वर्तक (भोजनकाल में घृतादि रखने के पात्रविशेष), मणियों के वर्तक, शुक्ति (चन्दनादि घिसकर रखने का छोटा पात्र) आदि बर्तन जो सोने, मणिरत्नों के बने होते हैं तथा जिन पर विचित्र प्रकार की चित्रकारी की हुई होती है वैसे ही ये भृत्तांग कल्पवृक्ष भाजनविधि में नाना प्रकार के विस्रसापरिणत भाजनों से युक्त होते हैं, फलों से परिपूर्ण और विकसित होते हैं। ये कुश-कास से रहित मूल वाले यावत् शोभा से अतीव शोभायमान होते हैं ।।२।।

त्रुटितांग कल्पवृक्ष

[५] **एगोरुयदीवे णं दीवे तत्थ तत्थ बहवे तुडियंगा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो ! जहा से आलिंग-मुयंग-पणव-पडह-दद्दरग-करडिडिंडिम-भंभाहोरंभ-कण्णियाखरमुहि-मुगुंद-संखिय-परिलीवच्चग परिवाइणिवंसावेणु-वीणा सुघोस-विवंचि महति कच्छभि रगसरा तलताल कंसताल सुसंपउत्ता आतोज्ज विहिणिउणगंधव्वसमयकुसलेहिं फंदिया तिट्ठाणसुद्धा तहेव ते तुडियंगा वि दुमगणा अणेग बहुविविध वीससापरिणामाए ततविततघणसुसिराए चउव्विहाए आतोज्जविहीए उववेया फलेहिं पुण्णा विसट्टंति कुस-विकुस विसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठन्ति ।।३।।**

[१११] (५) हे आयुष्मन् श्रमण ! एकोरुकद्वीप में जहाँ-तहाँ बहुत सारे त्रुटितांग नामक कल्पवृक्ष हैं। जैसे मुरज, मृदंग, प्रणव (छोटा ढोल), पटह (ढोल), दर्दरक (काष्ठ की चौकी पर रख कर बजाया जाने वाला तथा गोधादि के चमड़े से मढा हुआ वाद्य), करटी, डिंडिम, भंभा-ढक्का, होरंभ (महाढक्का), क्वणित (वीणाविशेष), खरमुखी (काहला), मुकुंद (मृदंगविशेष), शंखिका (छोटा शंख), परिली-वच्चक (घास के तृणों को गूंथकर बनाये जाने वाले वाद्यविशेष), परिवादिनी (सात तार वाली वीणा), वंश (बांसुरी), वीणा-सुघोषा-विपंची-महती कच्छपी (ये सब वीणाओं के प्रकार हैं), रिगसका (घिसकर बजाये जाने वाला वाद्य), तलताल (हाथ से बजाई जाने वाली ताली), कांस्यताल (कांसी का वाद्य जो ताल देकर बजाया जाता है) आदि वादित्र जो सम्यक् प्रकार से बजाये जाते हैं, वाद्यकला में निपुण एवं गन्धर्वशास्त्र में कुशल व्यक्तियों द्वारा जो स्पन्दित किये जाते हैं—बजाये जाते हैं, जो आदि-मध्य-अवसान रूप तीन स्थानों से शुद्ध हैं, वैसे ही ये त्रुटितांग कल्पवृक्ष नाना प्रकार के स्वाभाविक परिणाम से परिणत होकर तत-वितत-घन और शुषिर रूप चार प्रकार की वाद्य-विधि से युक्त होते हैं। ये फलादि से लदे होते हैं, विकसित होते हैं। ये वृक्ष कुश-विकुश से रहित मूल वाले यावत् श्री से अत्यन्त शोभायमान होते हैं ।।३।।

दीपशिखा नामक कल्पवृक्ष

[६] एगोरुयदीवे णं दीवे तत्थ तत्थ बहवे दीवसिहा णाम दुमगणा पण्णत्ता, समणाउसो! जहा से संझाविरागसमए नवनिहिपइणो दीविया चक्कवालविंदे पभूय वट्टिपलित्तणेहे धणि उज्जालियतिमिरमद्दए कणगनिकर कुसुमित पालि जातय वणप्पगासे कंचनमणिरयणविमल महरिह तवणिज्जुज्जल विचित्तदंडाहिं दीवियाहिं सहसा पज्जलियउसवियणिद्ध तेयदिप्पंतविमलगहगण समप्पहाहिं वितिमिरकरसूरपसरियउल्लोय चिल्लियाहिं जालुज्जल पहसियाभिरामेहिं सोभेमाणा तहेव ते दीवसिहा वि दुमगणा अणेग बहुविविह वीससा परिणामाए उज्जोयविहीए उववेया फलेहिं पुण्णा विसट्टंति कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति ॥४॥

[१११] (६) हे आयुष्मन् श्रमण! एकोरुक द्वीप में यहाँ-वहाँ बहुत-से दीपशिखा नामक कल्पवृक्ष हैं। जैसे यहाँ सन्ध्या के उपरान्त समय में नवनिधिपति चक्रवर्ती के यहाँ दीपिकाएं होती हैं जिनका प्रकाशमण्डल सब ओर फैला होता है तथा जिनमें बहुत सारी बत्तियाँ और भरपूर तैल भरा होता है, जो अपने घने प्रकाश से अन्धकार का मर्दन करती हैं, जिनका प्रकाश कनकनिका (स्वर्णसमूह) जैसे प्रकाश वाले कुसुमों से युक्त पारिजात (देववृक्ष) के वन के प्रकाश जैसा होता है सोना मणिरत्न से बने हुए, विमल, बहुमूल्य या महोत्सवों पर स्थापित करने योग्य, तपनीय—स्वर्ण के समान उज्ज्वल और विचित्र जिनके दण्ड हैं, जिन दण्डों पर एक साथ प्रज्वलित, बत्ती को उकेर कर अधिक प्रकाश वाली किये जाने से जिनका तेज खूब प्रदीप्त हो रहा है तथा जो निर्मल ग्रहगणों की तरह प्रभासित हैं तथा जो अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य की फैली हुई प्रभा जैसी चमकीली हैं, जो अपनी उज्ज्वल ज्वाला (प्रभा) से मानो हँस रही हैं—ऐसी वे दीपिकाएँ शोभित होती हैं वैसे ही वे दीपशिखा नामक वृक्ष भी अनेक और विविध प्रकार के विस्रसा परिणाम वाली उद्योतविधि से (प्रकाशों से) युक्त हैं। वे फलों से पूर्ण हैं, विकसित हैं, कुशविकुश से विशुद्ध उनके मूल हैं यावत् वे श्री से अतीव अतीव शोभायमान हैं ॥४॥

ज्योतिशिखा नामक कल्पवृक्ष

[७] एगोरुयदीवे णं दीवे तत्थ तत्थ बहवे जोतिसिहा[1] णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो! जहा से अचिरुग्गय सरयसूरमंडल पडंत उक्कासहस्सदिप्पंत विज्जुज्जालहुयवहनिद्धूमजलियनिद्धंत धोय तत्त तवणिज्ज किंसुयासोयजवाकुसुमविमउलिय पुंज मणिरयणकिरण जच्चहिंगुलुय निगररूवाइरेकरूवा तहेव ते जोतिसिहा वि दुमगणा अणेग बहुविविह वीससा परिणयाए उज्जोयविहीए उववेया सुहलेस्सा मंदलेस्सा मंदायवलेस्सा कूडाय इव ठाणठिया अन्नमन्नसमोगाढाहिं लेस्साए साए पभाए सपदेसे सव्वओ समंता ओभासेंति उज्जोवेंति पभासेंति; कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति ॥५॥

[१११] (७) हे आयुष्मन् श्रमण! एकोरुक द्वीप में जहाँ-तहाँ बहुत से ज्योतिशिखा (ज्योतिष्क) नाम के कल्पवृक्ष हैं। जैसे तत्काल उदित हुआ शरत्कालीन सूर्यमण्डल, गिरती हुई हजार उल्काएँ,

---

1. जोइसिया—इति पाठान्तरम्

चमकती हुई बिजली, ज्वालासहित निर्धूम प्रदीप्त अग्नि, अग्नि से शुद्ध हुआ तप्त तपनीय स्वर्ण, विकसित हुए किंशुक के फूलों, अशोकपुष्पों और जपा-पुष्पों का समूह, मणिरत्न की किरणें, श्रेष्ठ हिंगलू का समुदाय अपने-अपने वर्ण एवं आभारूप से तेजस्वी लगते हैं, वैसे ही वे ज्योतिशिखा (ज्योतिष्क) कल्पवृक्ष अपने बहुत प्रकार के अनेक विस्रसा परिणाम से उद्योत विधि से (प्रकाशरूप से) युक्त होते हैं। उनका प्रकाश सुखकारी है, तीक्ष्ण न होकर मंद है, उनका आताप तीव्र नहीं है, जैसे पर्वत के शिखर एक स्थान पर रहते हैं, वैसे ये अपने ही स्थान पर स्थित होते हैं, एक दूसरे से मिश्रित अपने प्रकाश द्वारा ये अपने प्रदेश में रहे हुए पदार्थों को सब तरफ से प्रकाशित करते हैं, उद्योतित करते हैं, प्रभासित करते हैं। ये कल्पवृक्ष कुश-विकुश आदि से रहित मूल वाले हैं यावत् श्री से अतीव शोभायमान हैं ॥५॥

चित्रांग नामक कल्पवृक्ष

[८] एगोरुयदीवे णं दीवे तत्थ तत्थ बहवे चित्तंगा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो! जहा से पेच्छाघरे विचित्ते रम्मे वरकुसुमदाममालुज्जले भासंत मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए विरल्लिय विचित्तमल्लसिरिदाम मल्लसिरिसमुदयप्पगब्भे गंथिम वेढिम पूरिम संघाइमेणं मल्लेणं छेयसिप्पियं विभागरइएणं सव्वतो चेव समणुबद्धे पविरललंबंतविप्पइट्ठेहिं पंचवण्णेहिं कुसुमदामेहिं सोभमाणेहिं सोभमाणे वणमालकयगाए चेव दिप्पमाणे, तहेव ते चित्तंगा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा-परिणयाए मल्लविहीए उववेया कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति ॥६॥

[१११] (८) हे आयुष्मन् श्रमण! उस एकोरुक द्वीप में यहाँ वहाँ बहुत सारे चित्रांग नाम के कल्पवृक्ष हैं। जैसे कोई प्रेक्षाघर (नाटयशाला) नाना प्रकार के चित्रों से चित्रित, रम्य, श्रेष्ठ फूलों की मालाओं से उज्ज्वल, विकसित-प्रकाशित बिखरे हुए पुष्प-पुंजों से सुन्दर, विरल—पृथक्-पृथक् रूप से स्थापित हुई एवं विविध प्रकार की गूंथी हुई मालाओं की शोभा के प्रकर्ष से अतीव मनमोहक होता है, ग्रथित-वेष्टित-पूरित-संघातिम मालाएं जो चतुर कलाकारों द्वारा गूंथी गई हैं उन्हें बड़ी ही चतुराई के साथ सजाकर सब ओर रखी जाने से जिसका सौन्दर्य बढ़ गया है, अलग अलग रूप से दूर दूर लटकती हुई पांच वर्णों वाली फूलमालाओं से जो सजाया गया हो तथा अग्रभाग में लटकाई गई वनमाला से जो दीप्तिमान हो रहा हो ऐसे-प्रेक्षागृह के समान वे चित्रांग कल्पवृक्ष भी अनेक-बहुत और विविध प्रकार के विस्रसा परिणाम से माल्यविधि (मालाओं) से युक्त हैं। वे कुश-विकुश से रहित मूल वाले यावत् श्री से अतीव सुशोभित हैं ॥६॥

चित्ररस नामक कल्पवृक्ष

[९] एगोरुयदीवे णं दीवे! तत्थ तत्थ बहवे चित्तरसा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो! जहा से सुगंधवरकलमसालिविसिट्ठणिरुवहत दुद्धरद्धे सारयघयगुडखंडमहुमेलिए अतिरसे परमण्णे होज्ज उत्तमवण्णगंधमंते, रण्णो जहा वा चक्कवट्टिस्स होज्ज निउणेहिं सूयपुरिसेहिं सज्जिएहिं चाउकप्पसेयसित्ते इव ओदणे कलमसालि णिव्वत्तिए विपक्के सवप्फमिउविसयसगलसित्थे अणेग-सालणगसंजुत्ते अहवा पडिपुण्ण दव्वुवक्खडेसु सक्कए वण्णगंधरसफरिसजुत्त बलवीरिय परिणामे

इंदियबलपुट्ठिवद्धणे खुप्पिवासमहणे पहाण-कुथियगुलखंडमच्छंडियघय-उवणीए पमोयगे सण्हसमियगब्मे हवेज्ज परमइट्ठंगसंजुत्ते तहेव ते चित्तरसा वि दुमगणा अणेग बहुविविहवीससापरिणयाए भोयण-विहीए उववेया कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति ।।७।।

[१११] (९) हे आयुष्मन् श्रमण ! उस एकोरुक द्वीप में जहाँ-तहाँ बहुत सारे चित्ररस नाम के कल्पवृक्ष हैं। जैसे सुगन्धित श्रेष्ठ कलम जाति के चावल और विशेष प्रकार की गाय से निसृत दोष रहित शुद्ध दूध से पकाया हुआ, शरद ऋतु के घी-गुड-शक्कर और मधु से मिश्रित अति स्वादिष्ट और उत्तम वर्ण-गंध वाला परमान्न (पायस—खीर या दूधपाक) निष्पन्न किया जाता है, अथवा जैसे चक्रवर्ती राजा के कुशल सूपकारों (रसोइयों) द्वारा निष्पादित चार उकालों से (कल्पों से) सिका हुआ, कलम जाति के ओदन जिनका एक-एक दाना वाष्प से सीझ कर मृदु हो गया है, जिसमें अनेक प्रकार के मेवा-मसाले डाले गये हैं, इलायची आदि भरपूर सुगंधित द्रव्यों से जो संस्कारित किया गया है, जो श्रेष्ठ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श से युक्त होकर बल-वीर्य रूप में परिणत होता है, इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाने वाला है, भूख-प्यास को शान्त करने वाला है, प्रधानरूप से चासनी रूप बनाये हुए गुड, शक्कर या मिश्री से युक्त किया हुआ है, गर्म किया हुआ घी डाला गया है, जिसका अन्दरूनी भाग एकदम मुलायम एवं स्निग्ध हो गया है, जो अत्यन्त प्रियकारी द्रव्यों से युक्त किया गया है, ऐसा परम आनन्ददायक परमान्न (कल्याण भोजन) होता है, उस प्रकार की (भोजन विधि सामग्री) से युक्त वे चित्ररस नामक कल्पवृक्ष होते हैं। उन वृक्षों में यह सामग्री नाना प्रकार के विस्रसा परिणाम से होती है। वे वृक्ष कुश-काश आदि से रहित मूल वाले और श्री से अतीव सुशोभित होते हैं ।।७।।

मण्यंग नामक कल्पवृक्ष

[१०] एगोरुयदीवे णं दीवे तत्थ तत्थ बहवे मणियंगा नाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो ! जहा से हारद्धहार वट्टणग मउड-कुंडल वामुत्तग हेमजाल मणिजाल कणगजालगसुत्तग उच्चियइय कटगा खुड्डिय एकावलि कंठसुत्त मकरिय उरत्थगेवेज्ज सोणि सुत्तग चूलामणि कणग तिलगफुल्लसिद्ध-त्थय कण्णवालि ससिसूर उसभ चक्कग तलभंग तुडिय हत्थमालग वलक्ख दीणारमालिया चंदसूर-मालिया हरिसय केयूर वलयपालंब अंगुलेज्जग कंची मेहला कलाव पयरगपायजाल घंटिय खिंखिणि रयणोरजालत्थिमिय वरणेउर चलणमालिया कणगनिगरमालिया कंचनमणि रयण भत्तिचित्ता भूसणविधी बहुप्पगारा तहेव ते मणियंगा वि दुमगणा अणेगबहुविविह वीससा परिणयाए भूसणविहीए उववेया, कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति ।।८।।

[१११] (१०) हे आयुष्मन् श्रमण ! एकोरुक द्वीप में यहाँ-वहाँ बहुत से मण्यंग नामक कल्पवृक्ष हैं। जिस प्रकार हार (अठारह लडियों वाला) अर्धहार (नौ लडियों वाला), वेष्टनक (कर्ण का आभूषण), मुकुट, कुण्डल, वामोत्तक (छिद्र—जाली वाला आभूषण), हेमजालमणिजाल-कनकजाल (ये कान के आभूषण हैं), सूत्रक (सोने का डोरा-उपनयन), उच्चयित कटक (उठा हुआ कड़ा या चूड़ी), मुद्रिका (अंगूठी), एकावली (मणियों की एक सूत्री माला), कण्ठसूत्र, मकराकार आभूषण, उरः स्कन्ध ग्रैवेयक (गले का आभूषण), श्रोणीसूत्र (करधनी-कंदोरा), चूडामणि (मस्तक का भूषण), सोने का तिलक

(टीका), पुष्प के आकार का ललाट का आभरण (बिंदिया), सिद्धार्थक (सर्षप प्रमाण सोने के दानों से बना भूषण), कर्णपाली (लटकन), चन्द्र के आकार का भूषण, सूर्य के आकार का भूषण, (ये बालों में लगाये जाने वाले पिन जैसे हैं), वृषभ के आकार के, चक्र के आकार के भूषण, तल भंगक-त्रुटिक (ये भुजा के आभूषण-भुजबंद हैं), मालाकार हस्ताभूषण, वलक्ष (गले का भूषण), दीनार की आकृति की मणिमाला, चन्द्र-सूर्यमालिका, हर्षक, केयूर, वलय, प्रालम्बनक (झूमका), अंगुलीयक (मुद्रिका) काञ्ची, मेखला, कलाप, प्रतरक, प्रातिहारिक, पाँव में पहने जाने वाले घुंघरू, किंकणी (बिच्छुडी), रत्नमय कन्दौरा, नूपुर, चरणमाला, कनकनिकर माला आदि सोना-मणि-रत्न आदि की रचना से चित्रित और सुन्दर आभूषणों के प्रकार हैं उसी तरह वे मण्यंग वृक्ष भी नाना प्रकार के बहुत से स्वाभाविक परिणाम से परिणत होकर नाना प्रकार के भूषणों से युक्त होते हैं। वे दर्भ, कास आदि से रहित मूल वाले हैं और श्री से अतीव शोभायमान हैं ।।९।।

गेहाकार कल्पवृक्ष

[१११] एगोरुय दीवे णं दीवे तत्थ तत्थ बहवे गेहागारा नाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो ! जहा से पागाराट्टालक चरियगोपुरपासायाकासतल मंडव एगसाल विसालगतिसालग चउरंस चउसाल-गब्भघर मोहणघर वलभिघर चित्तसाल मालय भत्तिघर वट्टतंस चउरंस णंदियावत्त संठियायत पंडुरतल मुंडमालहम्मियं अहव णं धवलहरअद्धमागहविब्भमसेलद्धसेल संठिय कूडागारड्ड सुविहिकोट्ठग-अणेगघर सरणलेण आवण विडंगजाल चंदणिज्जूहअपवरक दोवालि चंदसालियरूव विभत्तिकलिया भवणविही बहुविकप्पा तहेव ते गेहागारा वि दुमगणा अणेगबहुविविध वीससा परिणयाए सुहारूहणे सुहोत्ताराए सुहनिक्खमणप्पवेसाए दद्दरसोपाणपंति कलियाए पइरिक्काए सुहविहाराए मणोणुकूलाए भवणविहीए उववेया कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति ।।९।।

[१११] (११) हे आयुष्मन् श्रमण ! एकोरुक द्वीप में स्थान-स्थान पर बहुत से गेहाकार नाम के कल्पवृक्ष कहे गये हैं। जैसे—प्राकार (परकोटा) अट्टालक (अटारी) चरिका (प्राकार और शहर के बीच आठ हाथ प्रमाण मार्ग) द्वार (दरवाजा) गोपुर (प्रधानद्वार) प्रासाद (राजमहल) आकाश-तल (अगासी) मंडप (पाण्डाल) एक खण्ड वाले मकान, दो खण्ड वाले मकान, तीन खण्ड वाले मकान, चौकोने, चार खण्ड वाले मकान गर्भगृह (भोंहरा) मोहनगृह (शयनकक्ष) वलभिघर (छज्जा वाला घर) चित्रशाला से सज्जित प्रकोष्ठ गृह, भोजनालय, गोल, तिकोने, चौरस, नंदियावर्त आकार के गृह, पाण्डुर-तलमुण्डमाल (छत रहित शुभ्र आंगन वाला घर) हर्म्य (शिखररहित हवेली) अथवा धवल गृह (सफेद पुते सौध) अर्धगृह-मागधगृह-विभ्रमगृह (विशिष्ट प्रकार के गृह) पहाड़ के अर्धभाग जैसे आकार के, पहाड जैसे आकार के गृह, पर्वत के शिखर के आकार के गृह, सुविधिकोष्टक गृह (अच्छी तरह से बनाये हुए कोठों वाला गृह) अनेक कोठों वाला गृह, शरणगृह शयनगृह आपणगृह (दुकान) विडंग (छज्जा वाले गृह) जाली वाले घर निर्व्यूह (दरवाजे के आगे निकला हुआ काष्ठ-भाग) कमरों और द्वार वाले गृह और चाँदनी आदि से युक्त जो नाना प्रकार के भवन होते हैं, उसी प्रकार वे गेहाकार वृक्ष भी विविध प्रकार के बहुत से स्वाभाविक परिणाम से परिणत भवनों और गृहों से युक्त होते हैं। उन भवनों में सुखपूर्वक चढ़ा जा सकता है और सुखपूर्वक उतरा जा सकता है,

उनमें सुखपूर्वक प्रवेश और निष्क्रमण हो सकता है, उन भवनों के चढ़ाव के सोपान (पंक्तियां) समीप-समीप हैं, विशाल होने से उनमें सुखरूप गमनागमन होता है और वे मन के अनुकूल होते हैं। ऐसे नाना प्रकार के भवनों से युक्त वे गेहाकार वृक्ष हैं। उनके मूल कुश-विकुश से रहित हैं और वे श्री से अतीव शोभित होते हैं। ९।।

अनग्न कल्पवृक्ष

[११२] एगोरुयदीवे णं दीवे तत्थ तत्थ बहवे अणिगणा णामं दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो ! जहा से आजिणगखोम कंबल दुगुल्ल कोसेज्ज कालमिग पट्टचीणंसुय वरणातवार वणिगयतु आभरण चित्त सहिणग कल्लाणग भिंगिणीलकज्जल बहुवण्ण रत्तपीत सुक्किलमक्खय मिगलोम हेमरूप्पवण्णग-अवरुत्तग सिंधुओस दामिल बंगकलिंग नेलिण तंतुमयभत्तिचित्ता वत्थविही बहुप्पकारा हवेज्ज वरपट्ट-णुग्गया वण्णरागकलिया तहेव ते अणिगणावि दुमगणा अणेग बहुविविह वीससा परिणयाए वत्थ-विहीए उववेया कुसविकुस विसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति ।।१०।।

[१११] (१२) हे आयुष्मन् श्रमण ! उस एकोरुक द्वीप में जहाँ-तहाँ अनग्न नाम के कल्पवृक्ष हैं। जैसे—यहाँ नाना प्रकार के आजिनक-चर्मवस्त्र, क्षोम-कपास के वस्त्र, कंबल-ऊन के वस्त्र, दुकूल-मुलायम बारीक वस्त्र, कोशेय-रेशमी कीड़ों से निर्मित वस्त्र, काले मृग के चर्म से बने वस्त्र, चीनांशुक-चीन देश में निर्मित वस्त्र, (वरणात वारवाणिगयतु—यह पाठ अशुद्ध लगता है। नाना देश प्रसिद्ध वस्त्र का वाचक होना चाहिए।) आभूषणों के द्वारा चित्रित वस्त्र, श्लक्ष्ण-बारीक तन्तुओं से निष्पन्न वस्त्र, कल्याणक वस्त्र (महोत्सवादि पर पहनने योग्य उत्तमोत्तम वस्त्र) भंवरी नील और काजल जैसे वर्ण के वस्त्र, रंग-बिरंगे वस्त्र, लाल-पीले सफेद रंग के वस्त्र, स्निग्ध मृगरोम के वस्त्र, सोने चाँदी के तारों से बना वस्त्र, ऊपर-पश्चिम देश का बना वस्त्र, उत्तर देश का बना वस्त्र, सिन्धु-ऋषभ-तामिल बंग-कलिंग देशों में बना हुआ सूक्ष्म तन्तुमय बारीक वस्त्र, इत्यादि नाना प्रकार के वस्त्र हैं जो श्रेष्ठ नगरों में कुशल कारीगरों से बनाये जाते है, सुन्दर वर्ण-रंग वाले हैं—उसी प्रकार वे अनग्न वृक्ष भी अनेक और बहुत प्रकार के स्वाभाविक परिणाम से परिणत विविध वस्त्रों से युक्त हैं। वे वृक्ष कुश-काश से रहित मूल वाले यावत् श्री से अतीव अतीव शोभायमान हैं ।।१०।।

एकोरुक द्वीप के मनुष्यों का वर्णन

[११३] एगोरुयदीवे णं भंते ! दीवे मणुयाणं केरिसए आगारभावपडोयारे पण्णत्ते ?

गोयमा ! ते णं मणुस्सा अणुवमतरसोमचारुरूवा, भोगुत्तमगयलक्खणा भोगसस्सिरीया सुजाय सव्वंगसुंदरंगा, सुपइट्ठिय कुम्मचारुचलणा, रत्तुप्पल पत्तमउय सुकुमाल कोमलतला नगनगर सागर मगर चक्कंक वरंक लक्खणंकियचलणा अणुपुव्व सुसंहतंगुलीया उन्नत तणु तंबणिद्धणखा संठिय सुसि-लिट्ठगूढगुप्फा एणी कुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजंघा समुग्गणिमग्गगूढजाणू गयससणसुजाय सण्णिभोरु वरवारणमत्ततुल्ल विक्कम विलासियगई सुजातवरतुरग गुज्झदेसा आइण्णहओव्व णिरुवलेवा, पमुइय वर तुरियसीह अतिरेग वट्टियकडी साहयसोणिंद मूसल दप्पणणिगरित वरकणगच्छरुसरिस वर वइरवलिय मज्झा, उज्जुय समसहित सुजात जच्चतणुकसिणणिद्ध आदेज्ज लडह सुकुमाल मउय रमणि-

वज्जरोमराई, गंगावत्त पयाहिणावत्त तरंग भंगुर रविकिरण तरुण बोधित अकोसायंत पउम गंभीर वियडनाभी झसविहग सुजात पीणकुच्छी, झसोयरा सुइकरणा पम्हवियडनाभा सण्णयपासा संगतपासा सुजातपासा मितमाइय पीणरइयपासा अकरंडय कणगरुयगनिम्मल सुजाय निरुवहयदेहधारी पसत्थ बत्तीस लक्खणधरा कणगसिलातलुज्जल पसत्थ समतलोवचिय विच्छिन्न पिहुलवच्छा सिरिवच्छंकियवच्छा पुरवरफलिह वट्टिय भुजा, भुयगीसर विपुलभोग आयाण फलिह उच्छूढ दीहबाहू, जुगसन्निभ पीणरइय-पीवर पउट्ठसंठिय सुसिलिट्ठ विसिट्ठ घणथिर सुबद्ध निगूढ पव्वसंधी रत्ततलोवइय मउयमंसल पसत्थ लक्खण सुजाय अच्छिद्दजालपाणी, पीवरवट्टिय सुजाय कोमल वरंगुलीया तंबतलिन सुचिरुइरनिद्ध णक्खा चंदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा, चक्कपाणिलेहा दिसासोत्थिय पाणिलेहा चंदसूरसंख चक्कदिसासोत्थिय पाणिलेहा अणेगवर लक्खणुत्तम पसत्थरइय पाणिलेहा वरमहिस वराहसीह सद्दूल उसमणागवर पडिपुन्न विउल उन्नत खंधा, चउरंगुल सुप्पमाण कंबुवर सरिसगीवा अवट्ठित सुविभत्त सुजात चित्तमंसुमंसल संठिय पसत्थ सद्दूलविपुल हणुया, ओतविय सिलप्पवाल बिंबफल सन्निभाहरोट्ठा पंडुरससि सगल विमल निम्मल संखगोखीरफेण दगरय मुणालिया धवल दंतसेढी अखंडदंता अफुडियदंता अविरलदंता सुजातदंता एगदंतसेढिव्व अणेगदंता हुतवह निद्धंतधोत तत्तवणिज्जरत्ततलतालुजीहा गरुलायय उज्जुतुंग णासा अवदालिय पोंडरीयनयणा कोकासितधवलपत्तलच्छा आणामिय चावरुइर किण्हब्भराइय संठिय संगय आयत सुजात तणुकसिणनिद्ध भुमया अल्लीणप्पमाणजुत्त सवणा सुस्सवणा पीणमंसल कवोलदेसभागा अचिरुग्गय बालचंदसंठिय पसत्थ विच्छिन्नसमणिडाला, उडुवइपडिपुण्ण-सोमवदणा छत्तागारुत्तमं गदेसा, घणनिचिय सुबद्ध लक्खणुण्णय कूडागारणिभपिंडियसीसे दाडिमपुप्फ-पगास तवणिज्जसरिस निम्मल सुजाय केसंत केसभूमी सामलिय बोंड घणणिचिय छोडियमिउविसय-पसत्थ सुहुम लक्खण सुगंध सुन्दर भुयमोयग भिंगिणीलकज्जल पहट्ठ भमरगण णिद्धणिकुरंब निचिय-कुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसिरया, लक्खणवंजणगुणोववेया सुजाय सुविभत्त सुरूवगा पासाइया दरिस-णिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।

ते णं मणुया हंसस्सरा कोंचस्सरा नंदिघोसा सीहस्सरा सीहघोसा मंजुस्सरा मंजुघोसा सुस्सरा सुस्सरनिग्घोसा छायाउज्जोतियंगमंगा वज्जरिसभनारायसंघयणा, समचउरंससंठाणसंठिया सिणिद्धछवी निरायंका उत्तमपसत्थ अइसेसनिरुवमतणू जल्लमलकलंक सेयरयदोस वज्जियसरीरा निरुवमलेवा अणुलोमवाउवेगा कंकग्गहणी कवोतपरिणामा सउणिव्व पोसपिट्ठंतरोरुपरिणया विग्गहिय उन्नयकुच्छी पउमुप्पलसरिस गंधणिस्सास सुरभिवदणा अट्ठधणुसयं ऊसिया।

तेसिं मणुयाणं चउसट्ठि पिट्ठिकरंडगा पण्णत्ता समणाउसो ! ते णं मणुया पगइभद्दगा पगति-विणीयगा पगइउवसंता पगइपयणु कोहमाणमायालोभा मिउमद्दव संपण्णा अल्लीणा भद्दगा विणीया अप्पिच्छा असंनिहिसंचया अचंडा विडिमंतरपरिवसणा जहिच्छियकामगामिणो य ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो।

तेसि णं भंते ! मणुयाणं केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ?

गोयमा ! चउत्थभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ।

[१११] (१३) हे भगवन् ! एकोरुकद्वीप में मनुष्यों का आकार-प्रकारादि स्वरूप कैसा है ?

हे गौतम ! वे मनुष्य अनुपम सौम्य और सुन्दर रूप वाले हैं । उत्तम भोगों के सूचक लक्षणों वाले हैं, भोगजन्य शोभा से युक्त हैं । उनके अंग जन्म से ही श्रेष्ठ और सर्वांग सुन्दर हैं । उनके पांव सुप्रतिष्ठित और कछुए की तरह सुन्दर (उन्नत) हैं, उनके पांवों के तल लाल और उत्पल (कमल) के पत्ते के समान मृदु, मुलायम और कोमल हैं, उनके चरणों में पर्वत, नगर, समुद्र, मगर, चक्र, चन्द्रमा आदि के चिह्न हैं, उनके चरणों की अंगुलियां क्रमशः बड़ी छोटी (प्रमाणोपेत) और मिली हुई हैं, उनकी अंगुलियों के नख उन्नत (उठे हुए) पतले ताम्रवर्ण के एवं स्निग्ध (कांति वाले) हैं । उनके गुल्फ (टखने) संस्थित (प्रमाणोपेत) घने और गूढ हैं, हरिणी और कुरुविंद (तृणविशेष) की तरह उनकी पिण्डलियां क्रमशः स्थूल-स्थूलतर और गोल हैं, उनके घुटने संपुट में रखे हुए की तरह गूढ (अनुपलक्ष्य) हैं, उनकी उरू—जांघें हाथी की सूंड की तरह सुन्दर, गोल और पुष्ट हैं, श्रेष्ठ मदोन्मत्त हाथी की चाल की तरह उनकी चाल है, श्रेष्ठ घोड़े की तरह उनका गुह्यदेश सुगुप्त है, आकीर्णक अश्व की तरह मलमूत्रादि के लेप से रहित है, उनकी कमर यौवनप्राप्त श्रेष्ठ घोड़े और सिंह की कमर जैसी पतली और गोल है, जैसे संकुचित की गई तिपाई, मूसल दर्पण का दण्डा और शुद्ध किये हुए सोने की मूंठ बीच में से पतले होते हैं उसी तरह उनकी कटि (मध्यभाग) पतली है, उनकी रोमराजि सरल-सम-सघन-सुन्दर-श्रेष्ठ, पतली, काली, स्निग्ध, आदेय, लावण्यमय, सुकुमार, सुकोमल और रमणीय है, उनकी नाभि गंगा के आवर्त की तरह दक्षिणावर्त तरंग (त्रिवली) की तरह वक्र और सूर्य की उगती किरणों से खिले हुए कमल की तरह गंभीर और विशाल है । उनकी कुक्षि (पेट के दोनों भाग) मत्स्य और पक्षी की तरह सुन्दर और पुष्ट है, उनका पेट मछली की तरह कृश है, उनकी इन्द्रियां पवित्र हैं, इनकी नाभि कमल के समान विशाल है, इनके पार्श्वभाग नीचे नमे हुए हैं, प्रमाणोपेत हैं, सुन्दर हैं, जन्म से सुन्दर हैं, परिमित मात्रा युक्त, स्थूल और आनन्द देने वाले हैं, उनकी पीठ की हड्डी मांसल होने से अनुपलक्षित होती है, उनके शरीर कञ्चन की तरह कांति वाले निर्मल सुन्दर और निरुपहत (स्वस्थ) होते हैं, वे शुभ बत्तीस लक्षणों से युक्त होते हैं, उनका वक्षःस्थल कञ्चन की शिलातल जैसा उज्ज्वल, प्रशस्त, समतल, पुष्ट, विस्तीर्ण और मोटा होता है, उनकी छाती पर श्रीवत्स का चिह्न अंकित होता है, उनकी भुजा नगर की अर्गला के समान लम्बी होती है, इनके बाहु शेषनाग के विपुल-लम्बे शरीर तथा उठाई हुई अर्गला के समान लम्बे होते हैं । इनके हाथों की कलाइयां (प्रकोष्ठ) जूए के समान दृढ, आनन्द देने वाली, पुष्ट, सुस्थित, सुश्लिष्ट (सघन), विशिष्ट, घन, स्थिर, सुबद्ध और निगूढ पर्वसन्धियों वाली हैं । उनकी हथेलियां लाल वर्ण की, पुष्ट, कोमल, मांसल, प्रशस्त लक्षणयुक्त, सुन्दर और छिद्र जाल रहित अंगुलियां वाली हैं । उनके हाथों की अंगुलियां पुष्ट, गोल, सुजात और कोमल हैं । उनके नख ताम्रवर्ण के, पतले, स्वच्छ, मनोहर और स्निग्ध होते हैं । इनके हाथों में चन्द्ररेखा, सूर्यरेखा, शंखरेखा, चक्ररेखा, दक्षिणावर्त स्वस्तिकरेखा, चन्द्र-सूर्य-शंख-चक्र-दक्षिणावर्तस्वस्तिक की मिलीजुली रेखाएं होती हैं । अनेक श्रेष्ठ, लक्षण युक्त उत्तम, प्रशस्त, स्वच्छ, आनन्दप्रद रेखाओं से युक्त उनके हाथ हैं । उनके स्कंध श्रेष्ठ भैंस,

वराह, सिंह, शार्दूल (व्याघ्र), बैल और हाथी के स्कंध की तरह प्रतिपूर्ण, विपुल और उन्नत हैं। उनकी ग्रीवा चार अंगुल प्रमाण और श्रेष्ठ शंख के समान है, उनकी ठुड्डी (होठों के नीचे का भाग) अवस्थित—सदा एक समान रहने वाली, सुविभक्त—अलग-अलग सुन्दररूप से उत्पन्न दाढ़ी के बालों से युक्त, मांसल, सुन्दर संस्थान युक्त, प्रशस्त और व्याघ्र की विपुल ठुड्डी के समान है, उनके होठ परिकर्मित शिलाप्रवाल और बिबफल के समान लाल हैं। उनके दांत सफेद चन्द्रमा के टुकड़ों जैसे विमल-निर्मल हैं और शंख, गाय का दूध, फेन, जलकण और मृणालिका के तंतुओं के समान सफेद हैं, उनके दांत अखण्डित होते हैं, टूटे हुए नहीं होते, अलग-अलग नहीं होते, वे सुन्दर दांत वाले हैं, उनके दांत अनेक होते हुए भी एक पंक्तिबद्ध हैं। उनकी जीभ और तालु अग्नि में तपाकर धोये गये और पुन: तप्त किये गये तपनीय स्वर्ण के समान लाल हैं। उनकी नासिका गरुड़ की नासिका जैसी लम्बी, सीधी और ऊँची होती है। उनकी आँखें सूर्यकिरणों से विकसित पुण्डरीक कमल जैसी होती हैं तथा वे खिले हुए श्वेतकमल जैसी कोनों पर लाल, बीच में काली और धवल तथा पश्मपुट वाली होती हैं। उनकी भौंहें ईषत् आरोपित धनुष के समान वक्र, रमणीय, कृष्ण मेघराजि की तरह काली, संगत (प्रमाणोपेत), दीर्घ, सुजात, पतली, काली और स्निग्ध होती हैं। उनके कान मस्तक के भाग तक कुछ-कुछ लगे हुए और प्रमाणोपेत हैं। वे सुन्दर कानों वाले हैं अर्थात् भलीप्रकार श्रवण करने वाले हैं। उनके कपोल (गाल) पीन और मांसल होते हैं। उनका ललाट नवीन उदित बालचन्द्र (अष्टमी के चांद) जैसा प्रशस्त, विस्तीर्ण और समतल होता है। उनका मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसा सौम्य होता है। उनका मस्तक छत्राकार और उत्तम होता है। उनका सिर घन-निबिड-सुबद्ध, प्रशस्त लक्षणों वाला, कूटाकार (पर्वतशिखर) की तरह उन्नत और पाषाण की पिण्डी की तरह गोल और मजबूत होता है। उनकी खोपड़ी की चमड़ी (केशान्तभूमि) दाडिम के फूल की तरह लाल, तपनीय सोने के समान निर्मल और सुन्दर होती है। उनके मस्तक के बाल खुले किये जाने पर भी शाल्मलि के फल की तरह घने और निबिड होते हैं। वे बाल मृदु, निर्मल, प्रशस्त, सूक्ष्म, लक्षणयुक्त, सुगंधित, सुन्दर, भुजभोजक (रत्नविशेष), नीलमणि (मरकतमणि), भंवरी, नील और काजल के समान काले, हर्षित भ्रमरों के समान अत्यन्त काले, स्निग्ध और निचित—जमे हुए होते हैं, वे घुंघराले और दक्षिणावर्त होते हैं।

वे मनुष्य लक्षण, व्यंजन और गुणों से युक्त होते हैं। वे सुन्दर और सुविभक्त स्वरूप वाले होते हैं। वे प्रसन्नता पैदा करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप होते हैं।

ये मनुष्य हंस जैसे स्वर वाले, क्रौंच जैसे स्वर वाले, नंदी (बारह वाद्यों का समिश्रित स्वर) जैसे घोष करने वाले, सिंह के समान स्वर वाले और गर्जना करने वाले, मधुर स्वर वाले, मधुर घोष वाले, सुस्वर वाले, सुस्वर और सुघोष वाले, अंग-अंग में कान्ति वाले, वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले, समचतुरस्रसंस्थान वाले, स्निग्धछवि वाले, रोगादि रहित, उत्तम प्रशस्त अतिशययुक्त और निरुपम शरीर वाले, स्वेद (पसीना) आदि मैल के कलंक से रहित और स्वेद-रज आदि दोषों से रहित शरीर वाले, उपलेप से रहित, अनुकूल वायु वेग वाले, कंक पक्षी की तरह निर्लेप गुदाभाग वाले, कबूतर की तरह सब पचा लेने वाले, पक्षी की तरह मलोत्सर्ग के लेप से रहित अपानदेश वाले, सुन्दर पृष्टभाग, उदर और जंघा वाले, उन्नत और मुष्टिग्राह्य कुक्षि वाले और पद्मकमल और उत्पलकमल जैसी सुगंधयुक्त श्वासोच्छ्वास से सुगंधित मुख वाले वे मनुष्य हैं।

उनकी ऊँचाई आठ सौ धनुष की होती है। हे आयुष्मन् श्रमण ! उन मनुष्यों के चौसठ पृष्ठ-करंडक (पसलियां) हैं। वे मनुष्य स्वभाव से भद्र, स्वभाव से विनीत, स्वभाव से शान्त, स्वभाव से अल्प क्रोध-मान-माया, लोभ वाले, मृदुता और मार्दव से सम्पन्न होते हैं, अल्लीन (संयत चेष्टा वाले) हैं, भद्र, विनीत, अल्प इच्छा वाले, संचय-संग्रह न करने वाले, क्रूर परिणामों से रहित, वृक्षों की शाखाओं के अन्दर रहने वाले तथा इच्छानुसार विचरण करने वाले वे एकोरुकद्वीप के मनुष्य हैं।

हे भगवन् ! उन मनुष्यों को कितने काल के अन्तर से आहार की अभिलाषा होती है ?

हे गौतम ! उन मनुष्यों को चतुर्थभक्त अर्थात् एक दिन छोड़कर दूसरे दिन आहार की अभिलाषा होती है।

एकोरुकस्त्रियों का वर्णन

[१४] एगोरुयमणुई णं भंते ! केरिसए आगारभावपडोयारे पण्णत्ते ?

गोयमा ! ताओ णं मणुईओ सुजायसव्वंगसुंदरीओ पहाणमहिलागुणेहिं जुत्ता अच्चंत विसप्पमाण पउम सुमाल कुम्मसंठिय विसिट्ठ चलणाओ उज्जुमिउय पीवर निरंतर पुट्ठ सोहियंगुलीआ उन्नयरइय तलिणतंबसुइणिद्धणखा रोमरहित वट्टलट्ठ संठियअजहण्ण पसत्थ लक्खण अकोप्पजंघयुगला सुणिम्मिय सुगूढजाणुमंडलसुबद्धसंधी कयलिक्खंभातिरेग संठियणिव्वण सुकुमाल मउयकोमल अविरल समसहितसुजात वट्ट पीवरणिरंतरोरू अट्ठावयवीचिपट्टसंठिय पसत्थ विच्छिन्न पिहुलसोणी वदणाया-मप्पमाणदुगुणित विसाल मंसल सुबद्ध जहणवरधारणीओ वज्जविराइयपसत्थलक्खणणिरोदरा तिवलि वलियतणुणमिय मज्झिमाओ उज्जुय समसंहित जच्चतणु कसिण णिद्धआदेज्ज लडह सुविभत्त सुजात कंतसोभंत रुइल रमणिज्जरोमराई गंगावत्त पदाहिणावत्त तरंग भंगुररविकिरण तरुणबोधित अकोसायंत पउमवणगंभीरवियडनाभी अणुब्भडपसत्थ पीणकुच्छी सण्णयपासा संगयपासा सुजातपासा मितमाइयपीण रइयपासा अकरंडुय कणगरुयग निम्मल सुजाय णिरुवहय गायलट्ठी कंचणकलससम-पमाण समसंहितसुजात लट्ठ चूचुय आमेलग जमल जुगल वट्टिय अब्भुण्णयरइयसंठिय पयोधराओ भुयंगअणुपुव्वतणुयगोपुच्छ वट्ट समसंहिय णमिय आएज्ज ललिय बाहाओ तंबणहा मंसलग्गहत्था पीवर-कोमल वरंगुलीओ णिद्धपाणिलेहा रविससि संख चक्कसोत्थिय सुविभत्त सुविरइय पाणिलेहा पीणुण्णय कक्खवत्थिदेसा पडिपुण्णगल्लकवोला चउरंगुलप्पमाण कंबुवर सरिसगीवा मंसलसंठिय पसत्थ हणुया दाडिमपुप्फप्पगास पीवरकुंचियवराधरा सुंदरोत्तरोट्ठा दधिदगरय चंदकुंद वासंतिमउल अच्छिद्द-विमलदसणा रत्तुप्पल पत्तमउय सुकुमाल तालुजीहा कणयवरमुउल अकुडिल अब्भुग्गय उज्जुतुंगनासा सारदनवकमलकुमुदकुवलय विमुक्कदलणिगर सरिस लक्खण अंकियकंतणयणा पत्तल चवलायंतत्तं बलोयणाओ आणामिय चावरुइलकिण्हब्भराइसंठिय संगत आयय सुजाय कसिण णिद्धभमुया अल्लीण-पमाणजुत्तसवणा पीणमट्ठरमणिज्ज गंडलेहा चउरंस पसत्थसमणिडाला कोमुइरयणिकरविमल-

पडिपुन्नसोमवयणा छत्तुन्नयउत्तिमंगा कुडिलसुसिणिद्धदीहसिरया, छत्तज्झयजुगथूभदामिणि-कमंडलुकलसवाविसोत्थियपडागजवमच्छकुम्मरहवरमकरसुकथालअंकुसअट्ठावइवीइसुपइट्ठकमयूरसिरि-दामाभिसेयतोरणमेइणिउदधिवरभवणगिरिवरआयंसललियगयउसभसीहचमरउत्तमपसत्थबत्तीसलक्खण धराओ, हंससरिसगईओ कोइलमधुरगिरसुस्सराओ, कंता सव्वस्स अणुमयाओ, ववगतवलिपलिया, वंगदुव्वण्णवाहिदोभग्गसोगमुक्काओ उच्चत्तेणं य नराण थोवूणमूसियाओ सभावसिंगारागारचारुवेसा संगयगतहसितभणियचेट्ठियविलाससंलावणिउणजुत्तो वयारकुसला सुंदरथणजहणवदणकरचलणनयण-माला वण्णलावण्णजोवणविलासकलिया नंदणवण विवरचारिणीउव्व अच्छराओ अच्छेरगपेच्छणिज्जा पासाईयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ ।

तासि णं भंते ! मणुईणं केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ?

गोयमा ! चउत्थभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ।

[१११] (१४) हे भगवन् ! इस एकोरुक-द्वीप की स्त्रियों का आकार-प्रकार-भाव कैसा कहा गया है ?

गौतम ! वे स्त्रियां श्रेष्ठ अवयवों द्वारा सर्वांगसुन्दर हैं, महिलाओं के श्रेष्ठ गुणों से युक्त हैं। उनके चरण अत्यन्त विकसित पद्मकमल की तरह सुकोमल और कछुए की तरह उन्नत होने से सुन्दर आकार के हैं। उनके पांवों की अंगुलियां सीधी, कोमल, स्थूल, निरन्तर, पुष्ट और मिली हुई हैं। उनके नख उन्नत, रति देने वाले, तलिन-पतले, ताम्र जैसे रक्त, स्वच्छ एवं स्निग्ध हैं। उनकी पिण्डलियां रोम रहित, गोल, सुन्दर, संस्थित, उत्कृष्ट शुभलक्षणवाली और प्रीतिकर होती हैं। उनके घुटने सुनिर्मित, सुगूढ और सुबद्धसंधि वाले हैं, उनकी जंघाएं कदली के स्तम्भ से भी अधिक सुन्दर, व्रणादि रहित, सुकोमल, मृदु, कोमल, पास-पास, समान प्रमाणवाली, मिली हुई, सुजात, गोल, मोटी एवं निरन्तर हैं, उनका नितम्बभाग अष्टापद द्यूत के पट्ट के आकार का, शुभ, विस्तीर्ण और मोटा है, (बारह अंगुल) मुखप्रमाण से दूना चौवीस अंगुलप्रमाण, विशाल, मांसल एवं सुबद्ध उनका जघन-प्रदेश है, उनका पेट वज्र की तरह सुशोभित, शुभ लक्षणों वाला और पतला होता है, उनकी कमर त्रिवली से युक्त, पतली और लचीली होती है, उनकी रोमराजि सरल, सम, मिली हुई, जन्मजात पतली, काली, स्निग्ध, सुहावनी, सुन्दर, सुविभक्त, सुजात (जन्मदोषरहित), कांत, शोभायुक्त, रुचिर और रमणीय होती है। उनकी नाभि गंगा के आवर्त की तरह दक्षिणावर्त, तरंग भंगुर (त्रिवलि से विभक्त) सूर्य की किरणों से ताजे विकसित हुए कमल की तरह गंभीर और विशाल है। उनकी कुक्षि उग्रता रहित, प्रशस्त और स्थूल है। उनके पार्श्व कुछ झुके हुए हैं, प्रमाणोपेत हैं, सुन्दर हैं, जन्मजात सुन्दर हैं, परिमितमात्रायुक्त स्थूल और आनन्द देने वाले हैं। उनका शरीर इतना मांसल होता है कि उसमें पीठ की हड्डी और पसलियां दिखाई नहीं देतीं। उनका शरीर सोने जैसी कान्तिवाला, निर्मल, जन्मजात सुन्दर और ज्वरादि उपद्रवों से रहित होता है। उनके पयोधर (स्तन) सोने के कलश के समान प्रमाणोपेत, दोनों (स्तन) बराबर मिले हुए, सुजात और सुन्दर हैं, उनके चूचुक उन स्तनों पर मुकुट के समान लगते हैं। उनके दोनों स्तन एक साथ उत्पन्न होते हैं और एक साथ वृद्धि-गत होते हैं। वे गोल उन्नत (उठे हुए) और आकार-प्रकार से प्रीतिकारी होते हैं। उनकी दोनों बाहु

भुजंग की तरह क्रमशः नीचे की ओर पतली गोपुच्छ की तरह गोल, आपस में समान, अपनी-अपनी संधियों से सटी हुई, नम्र और अति आदेय तथा सुन्दर होती हैं। उनके नख ताम्रवर्ण के होते हैं। इनका पंजा मांसल होता है, उनकी अंगुलियां पुष्ट कोमल और श्रेष्ठ होती हैं। उनके हाथ की रेखायें स्निग्ध होती हैं। उनके हाथ में सूर्य, चंद्र, शंख-चक्र-स्वस्तिक की अलग-अलग और सुविरचित रेखाएँ होती हैं। उनके कक्ष और वस्ति (नाभि के नीचे का भाग) पीन और उन्नत होता है। उनके गाल—कपोल भरे-भरे होते हैं, उनकी गर्दन चार अंगुल प्रमाण और श्रेष्ठ शंख की तरह होती है। उनकी ठुड्डी मांसल, सुन्दर आकार की तथा शुभ होती है। उनका नीचे का होठ दाडिम के फूल की तरह लाल और प्रकाशमान, पुष्ट और कुछ-कुछ वलित होने से अच्छा लगता है। उनका ऊपर का होठ सुन्दर होता है। उनके दांत दही, जलकण, चन्द्र, कुंद, वासंतीकली के समान सफेद और छेदविहीन होते हैं, उनका तालु और जीभ लाल कमल के पत्ते के समान लाल, मृदु और कोमल होते हैं। उनकी नाक कनेर की कली की तरह सीधी, उन्नत, ऋजु और तीखी होती है। उनके नेत्र शरदऋतु के कमल और चन्द्रविकासी नीलकमल के विमुक्त पत्रदल के समान कुछ श्वेत, कुछ लाल और कुछ कालिमा लिये हुए और बीच में काली पुतलियों से अंकित होने से सुन्दर लगते हैं। उनके लोचन पक्ष्मपुटयुक्त, चंचल, कान तक लम्बे और ईषत् रक्त (ताम्रवत्) होते हैं। उनकी भौंहें कुछ नमे हुए धनुष की तरह टेढ़ी, सुन्दर, काली और मेघराजि के समान प्रमाणोपेत, लम्बी, सुजात, काली और स्निग्ध होती हैं। उनके कान मस्तक से कुछ लगे हुए और प्रमाणयुक्त होते हैं। उनको गंडलेखा (गाल और कान के बीच का भाग) मांसल, चिकनी और रमणीय होती है। उनका ललाट चौरस, प्रशस्त और समतल होता है, उनका मुख कार्तिकपूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह निर्मल और परिपूर्ण होता है। उनका मस्तक छत्र के समान उन्नत होता है। उनके बाल घुंघराले स्निग्ध और लम्बे होते हैं। वे निम्नांकित बत्तीस लक्षणों को धारण करने वाली हैं—

१ छत्र, २ ध्वज, ३ युग (जुआ), ४ स्तूप, ५ दामिनी (पुष्पमाला), ६ कमण्डलु, ७ कलश, ८ वापी (बावड़ी), ९ स्वस्तिक, १० पताका, ११ यव, १२ मत्स्य, १३ कुम्भ, १४ श्रेष्ठरथ, १५ मकर, १६ शुकस्थाल (तोते को चुगाने का पात्र), १७ अंकुश, १८ अष्टापदवीचिद्यूतफलक, १९ सुप्रतिष्ठक स्थापनक, २० मयूर, २१ श्रीदाम (मालाकार आभरण), २२ अभिषेक—लक्ष्मी का अभिषेक करते हुए हाथियों का चिह्न, २३ तोरण, २४ मेदिनीपति—राजा, २५ समुद्र, २६ भवन, २७ प्रासाद, २८ दर्पण, २९ मनोज्ञ हाथी, ३० बैल, ३१ सिंह और ३२ चमर।

वे एकोरुक द्वीप की स्त्रियां हंस के समान चाल वाली हैं। कोयल के समान मधुर वाणी और स्वर वाली, कमनीय और सबको प्रिय लगने वाली होती हैं। उनके शरीर में झुर्रिया नहीं पड़ती और बाल सफेद नहीं होते। वे व्यंग्य (विकृति), वर्णविकार, व्याधि, दौर्भाग्य और शोक से मुक्त होती हैं। वे ऊँचाई में पुरुषों की अपेक्षा कुछ कम ऊँची होती हैं। वे स्वाभाविक शृंगार और श्रेष्ठ वेश वाली होती हैं। वे सुन्दर चाल, हास, बोलचाल, चेष्टा, विलास, संलाप में चतुर तथा योग्य उपचार-व्यवहार में कुशल होती हैं। उनके स्तन, जघन, मुख, हाथ, पाँव और नेत्र बहुत सुन्दर होते हैं। वे सुन्दर वर्ण वाली, लावण्य वाली, यौवन वाली और विलासयुक्त होती हैं। नंदनवन में विचरण करने वाली अप्सराओं की तरह वे आश्चर्य से दर्शनीय हैं। वे स्त्रियां देखने पर प्रसन्नता उत्पन्न करती हैं, वे दर्शनीय हैं, अभिरूप हैं और प्रतिरूप हैं।

हे भगवन् ! उन स्त्रियों को कितने काल के अन्तर से आहार की अभिलाषा होती है ?

गौतम ! चतुर्थभक्त अर्थात् एक दिन छोड़कर दूसरे दिन आहार की इच्छा होती है।

१११. (१५) ते णं भंते ! मणुया किमाहारमाहारेंति ?

गोयमा ! पुढविपुप्फफलाहारा ते मणुयगणा पण्णत्ता, समणाउसो !

तीसे णं भंते ! पुढवीए केरिसए आसाए पण्णत्ते ?

गोयमा ! से जहानामए गुलेइ वा खंडेइ वा सक्कराइ वा मच्छंडियाइ वा भिसकंदेइ वा पप्पडमोयएइ वा, पुप्फउत्तराइ वा, पउमउत्तराइ वा, अकोसियाइ वा, विजयाइ वा, महाविजयाइ वा, आयंसोवमाइ वा, अणोवमाइ वा, चाउरक्के गोखीरे चउठाणपरिणए गुडखंडमच्छंडि उवणीए मंदग्गि-कढीए वण्णेणं उववेए जाव फासेणं, भवेयारूवे सिया ?

णो इणट्ठे समट्ठे। तीसे णं पुढवीए एत्तो इट्ठयराए चेव मणामतराए चेव आसाए णं पण्णत्ते।

तेसिं णं पुप्फफलाणं केरिसए आसाए पण्णत्ते ?

गोयमा ! से जहानामए चाउरंतचक्कवट्टिस्स कल्लाणे पवरभोयणे सयसहस्सनिप्फन्ने वण्णेणं उववेते गंधेणं उववेते रसेण उववेते फासेणं उववेते आसाइणिज्जे वीसाइणिज्जे दीवणिज्जे विंहणिज्जे दप्पणिज्जे मयणिज्जे सव्विंदियगायपल्हाणिज्जे भवेयारूवे सिया ?

णो तिणट्ठे समट्ठे। तेसि णं पुप्फफलाणं एत्तो इट्ठतराए चेव जाव आस्साए णं पण्णत्ते।

ते णं भंते ! मणुया तमाहारमाहारित्ता कहिं वसहिं उवेंति ?

गोयमा ! रुक्खगेहालया णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो !

ते णं भंते ! रुक्खा किंसंठिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! कूडागारसंठिया पेच्छाघरसंठिया, छत्तागारसंठिया झयसंठिया थूभसंठिया तोरण-संठिया गोपुरवेइयचोपालगसंठिया, अट्टालकसंठिया पासावसंठिया हम्मतलसंठिया गवक्खसंठिया वालग्गपोइयसंठिया वलभिसंठिया अण्णे तत्थ बहवे वरभवणसयणासणविसिट्ठ संठाणसंठिया सुहसीयल-च्छाया णं ते दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो !

[१११] (१५) हे भगवन् ! वे मनुष्य कैसा आहार करते हैं ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! वे मनुष्य पृथ्वी, पुष्प और फलों का आहार करते हैं।

हे भगवन् ! उस पृथ्वी का स्वाद कैसा है ?

गौतम ! जैसे गुड, खांड, शक्कर, मिश्री, कमलकन्द पर्पटमोदक, पुष्पविशेष से बनी शक्कर, कमलविशेष से बनी शक्कर, अकोशिता, विजया, महाविजया, आदर्शोपमा अनोपमा (ये मधुर द्रव्य विशेष हैं) का स्वाद होता है वैसा उस मिट्टी का स्वाद है। अथवा[1] चार बार परिणत एवं चतुःस्थान

---

१. पौण्ड्र इक्षु चरने वाली चार गायों का दूध तीन गायों को पिलाना, तीन गायों का दूध दो गायों को पिलाना, उन दो गायों का दूध एक गाय को पिलाना, उसका जो दूध है वह चार बार परिणत और चतुःस्थानक परिणत कहलाता है।

परिणत गाय का दूध जो गुड, शक्कर, मिश्री मिलाया हुआ, मंदाग्नि पर पकाया गया तथा शुभवर्ण, शुभगंध, शुभरस और शुभस्पर्श से युक्त हो, ऐसे गोक्षीर जैसा वह स्वाद होता है क्या ?

गौतम ! यह बात समर्थित नहीं है। उस पृथ्वी का स्वाद इससे भी अधिक इष्टतर यावत् मनोज्ञतर होता है।

हे भगवन् ! वहाँ के पुष्पों और फलों का स्वाद कैसा होता है ?

गौतम ! जैसे चातुरंतचक्रवर्ती का भोजन जो कल्याणभोजन के नाम से प्रसिद्ध है, जो[1] लाख गायों से निष्पन्न होता है, जो श्रेष्ठ वर्ण से, गंध से, रस से और स्पर्श से युक्त है, आस्वादन के योग्य है, पुनः पुनः आस्वादन योग्य है, जो दीपनीय (जठराग्निवर्धक) है, बृंहणीय (धातुवृद्धिकारक) है, दर्पणीय (उत्साह आदि बढ़ाने वाला) है, मदनीय (मस्ती पैदा करने वाला) है और जो समस्त इन्द्रियों को और शरीर को आनन्ददायक होता है, क्या ऐसा उन पुष्पों और फलों का स्वाद है ?

गौतम ! यह बात ठीक नहीं है। उन पुष्प-फलों का स्वाद उससे भी अधिक इष्टतर, कान्ततर, प्रियतर, मनोज्ञतर और मनामतर होता है।

हे भगवन् ! उक्त प्रकार के आहार का उपभोग करके वे कैसे निवासों में रहते हैं ?

आयुष्मन् गौतम ! वे मनुष्य गेहाकार परिणत वृक्षों में रहते हैं।

भगवन् ! उन वृक्षों का आकार कैसा होता है ?

गौतम ! वे पर्वत के शिखर के आकार के, नाट्यशाला के आकार के, छत्र के आकार के, ध्वजा के आकार के, स्तूप के आकार के, तोरण के आकार के, गोपुर जैसे, वेदिका जैसे, चोप्याल (मत्तहाथी) के आकार के, अट्टालिका के जैसे, राजमहल जैसे, हवेली जैसे, गवाक्ष जैसे, जल-प्रासाद जैसे, वल्लभी, (छज्जावाले घर) के आकार के हैं तथा हे आयुष्मन् श्रमण ! और भी वहाँ वृक्ष हैं जो विविध भवनों, शयनों, आसनों आदि के विशिष्ट आकारवाले और सुखरूप शीतल छाया वाले हैं।

१११. (१६) अत्थि णं भंते ! एगोरुयदीवे दीवे गेहाणि वा गेहावणाणि वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे। रुक्खगेहालया णं ते मणुयगणा पण्णत्ता, समणाउसो !

अत्थि णं भंते। एगोरुयदीवे दीवे गामाइ वा नगराइ वा जाव सन्निवेसाइ वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे। जहिच्छिय कामगामिणो ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो !

अत्थि णं भंते ! एगोरुयदीवे दीवे असीइ वा मसीइ वा कसीइ वा पणीइ वा वणिज्जाइ वा ?

नो तिणट्ठे समट्ठे। ववगयअसिमसिकिसिपणियवाणिज्जा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो।

---

१. पुण्ड्र जाति के इक्षु को चरने वाली एक लाख गायों का दूध पचास हजार गायों को पिलाया जाय, उन पचास हजार गायों का दूध पच्चीस हजार गायों को पिलाया जाय, इस तरह से आधी-आधी गायों को पिलाने के क्रम से वैसे दूध को पी हुई गायों में की अन्तिम गाय का जो दूध हो, उस दूध से बनाई हुई खीर जिसमें विविध मेवे आदि द्रव्य डाले गये हों वह चक्रवर्ती का कल्याणभोजन कहलाता है।

अत्थि णं भंते ! एगोरुय दीवे दीवे हिरण्णेइ वा सुवण्णेइ वा कंसेइ वा दूसेइ वा मणीइ वा मुत्तिएइ वा विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालसंतसारसावएज्जेइ वा ?

हंता अत्थि, णो चेव णं तेसिं मणुयाणं तिव्वे ममत्तभावे समुप्पज्जति ।

अत्थि णं भंते ! एगोरुयदीवे राया इ वा, जुवरायाइ वा ईसरे इ वा तलवरे इ वा माडंबिया इ वा कोडुंबिया इ वा इब्भा इ वा सेट्ठी इ वा सेणावई इ वा सत्थवाहा इ वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । ववगतइड्ढिसक्कारा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो ।

अत्थि णं भंते ! एगोरुयदीवे दीवे दासाइ वा पेसाइ वा सिस्साइ वा भयगाइ वा भाइल्लगाइ वा कम्मगरपुरिसा इ वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । ववगयआभिओगिया णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो !

अत्थि णं भंते ! एगोरुयदीवे दीवे माया इ वा पिया इ वा भाया इ वा भइणी इ वा भज्जाइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वा सुण्हाइ वा ?

हंता अत्थि । नो चेव णं तेसिं मणुयाणं तिव्वे पेमबंधे समुप्पज्जति, पयणुपेज्जबंधणा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो !

अत्थि णं भंते ! एगोरुयदीवे अरीइ वा वेरिएइ वा घायकाइ वा वहकाइ वा पडिणीयाइ वा पच्चमित्ताइ वा ? णो तिणट्ठे समट्ठे । ववगतवेराणुबंधा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो ।

अत्थि णं भंते ! एगोरुए दीवे मित्ताइ वा वयंसाइ वा घडियाइ वा सहीइ वा सुहियाइ वा महाभागाइ वा संगइयाइ वा ।

णो तिणट्ठे समट्ठे । ववगयपेम्मा ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो !

अत्थि णं भंते ! एगोरुय दीवे आबाहाइ वा विवाहाइ वा जण्णाइ वा सड्ढाइ वा थालिपाका वा चोलोवणयणाइ वा, सीमंतुण्णयणाइं वा[1] पिइपिंडनिवेयणाइ वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । ववगतआबाहविवाहजण्णसड्ढथालिपागचोलोवणयणसीमंतुण्णयण[2] पिइपिंडनिवेदणा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो !

अत्थि णं भंते ! एगोरुयदीवे दीवे इंदमहाइ वा खंदमहाइ वा रुद्दमहाइ वा सिवमहाइ वा वेसमणमहाइ वा मुगुंदमहाइ वा णागमहाइ वा जक्खमहाइ वा भूयमहाइ वा कूवमहाइ वा तलायणईमहा इ वा दहमहाइ वा पव्वयमहाइ वा रुक्खरोवणमहाइ वा चेइयमहाइ वा थूभमहा इ वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । ववगय महमहिमा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो !

---

१. मयपिंड ।
२. मयपिंड

अत्थि णं भंते ! एगोरुयदीवे दीवे णडपेच्छाइ वा णट्टपेच्छाइ वा जल्लपेच्छाइ वा मल्लपेच्छाइ वा मुट्ठियपेच्छाइ वा विडंबगपेच्छाइ वा कहगपेच्छाइ वा पवगपेच्छाइ वा अक्खायगपेच्छाइ वा लासगपेच्छाइ वा लंखपेच्छा इ वा मंखपेच्छा इ वा, तूणइल्लपेच्छा इ वा तुंबवीणापेच्छा इ वा कावड-पेच्छाइ वा मागहपेच्छाइ वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । ववगयकोउहल्ला णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो ।

अत्थि णं भंते ! एगोरुय दीवे सगडाइ वा रहाइ वा जाणाइ वा जुग्गाइ वा गिल्ली इ वा थिल्लीइ वा पिल्लीइ वा पवहणाणि वा सिवियाइ वा संदमाणियाइं वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे ! पायचारविहारिणो णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो ।

अत्थि णं भंते ! एगोरुयदीवे आसा इ वा हत्थी ति वा उट्टाइ वा गोणा इ वा महिसाइ वा खराइ वा घोडा इ वा अजा इ वा एला इ वा ?

हंता अत्थि । नो चेव णं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ।

अत्थि णं भंते ! एगोरुयदीवे दीवे सीहाइ वा, वग्घाइ वा विगाइ वा दीवियाइ वा अच्छाइ वा परस्साइ वा तरच्छाइ वा विडालाइ वा सियालाइ वा सुणगाइ वा कोलसुणगाइ वा कोकंतियाइ वा ससगाइ वा चित्तला इ वा चिल्ललगाइ वा ?

हंता अत्थि । नो चेव णं ते अण्णमण्णस्स तेसिं वा मणुयाणं किंचि आबाहं वा पबाहं वा उप्पायंति वा छविच्छेदं वा करेंति, पगइभद्दका णं ते सावयगणा पण्णत्ता समणाउसो !

अत्थि णं भंते ! एगोरुय दीवे दीवे सालीइ वा वीहीइ वा गोधूमाइ वा जवाइ वा तिलाइ वा इक्खुत्ति वा ?

हंता अत्थि । नो चेव णं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ।

अत्थि णं भंते ! एगोरुय दीवे दीवे गत्ताइ वा दरीइ वा घंसाइ वा भिगू इ वा उवाए इ वा विसमे इ वा, विज्जले इ वा धूली इ वा रेणू इ वा पंके इ वा चलणी इ वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । एगोरुय दीवे णं दीवे बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते समणाउसो !

अत्थि णं भंते ! एगोरुय दीवे दीवे खाणूइ वा कंटएइ वा हीरएइ वा सक्कराइ वा तण-कयवराइ वा पत्तकयवरा इ वा असुईइ वा पूतियाइ वा दुब्भिगंधाइ वा अचोक्खाइ वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । ववगयखाणुकंटकहीरसक्करतणकयवरपत्तकयवरअसुइपूइदुब्भिगंध-मचोक्खे णं एगोरुयदीवे पण्णत्ते समणाउसो !

अत्थि णं भंते ! एगोरुय दीवे दीवे दंसाइ वा मसगाइ वा पिसुयाइ वा जूयाइ वा लिक्खाइ वा ढंकुणाइ वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । ववगयदंसमसगपिसुयजूयलिक्खढंकुणे णं एगोरुय दीवे पण्णत्ते समणाउसो ।

अत्थि णं भंते ! एगोरुय दीवे दीवे अहीइ वा, अयगराइ वा महोरगाइ वा ?

हंता अत्थि । णो चेव णं ते अन्नमन्नस्स तेसिं वा मणुयाणं किंचि आबाहं वा पबाहं वा छविच्छेयं वा करेंति । पगइभद्दगा णं ते वालगगणा पण्णत्ता समणाउसो !

अत्थि णं भंते ! एगोरुय दीवे गहदंडाइ वा गहमुसलाइ वा गहगज्जियाइ वा गहजुद्धाइ वा गहसंघाडगाइ वा गहअवसव्वाइ वा अब्भाइ वा अब्भरुक्खाइ वा संझाइ वा गंधव्वणगराइ वा गज्जियाइ वा विज्जुयाइ वा उक्कापाताइ वा दिसादाहाइ वा निग्घायाइ वा पंसुविट्ठीइ वा जुवगाइ वा जक्खालित्ताइ वा धूमियाइ वा महियाइ वा रउग्घायाइ वा चंदोवरागाइ वा सूरोवरागाइ वा चंदपरिवेसाइ वा सूरपरिवेसाइ वा पडिचंदाइ वा पडिसूराइ वा इंदधणूइ वा उदगमच्छाइ वा अमोहाइ वा कविहसियाइ वा पाईणवायाइ वा पडीणवायाइ वा जाव सुद्धवायाइ वा गामदाहाइ वा नगरदाहाइ वा जाव सण्णिवेसदाहाइ वा पाणक्खय-जणक्खय-कुलक्खय-धणक्खय-वसण-भूयमणारियाइ वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे ।

अत्थि णं भंते ! एगोरुय दीवे दीवे डिंबाइ वा डमराइ वा कलहाइ वा बोलाइ वा खाराइ वा वेराइ वा विरुद्धरज्जाइ वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । ववगयडिंबडमरकलहबोलखारवेरविरुद्धरज्जा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो !

अत्थि णं भंते ! एगोरुयदीवे णं दीवे महाजुद्धाइ वा महासंगामाइ वा महासत्थनिवयणाइ वा महापुरिसबाणा इ वा महारुधिरबाणा इ वा नागबाणा इ वा खेबाणा इ वा तामसबाणाइ वा ?

नो इणट्ठे समट्ठे ववगयवेराणुबंधा णं ते मणुया पण्णत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगोरुय दीवे दीवे दुब्भूइयाइ वा कुलरोगाइ गामरोगाइ वा णगररोगाइ वा मंडलरोगाइ वा सिरोवेयणाइ वा अच्छिवेयणाइ वा कण्णवेयणाइ वा णक्कवेदणाइ वा दंतवेदणाइ वा नखवेदणाइ वा कासाइ वा सासाइ वा जराइ वा दाहाइ वा कच्छूइ वा खसराइ वा कुट्ठाइ वा कुडाइ वा दगोयराइ वा अरिसाइ वा अजीरगाइ वा भगंदराइ वा इंदग्गहाइ वा खंदग्गहाइ वा कुमारग्गहाइ वा णागग्गहाइ वा जक्खग्गहाइ वा भूतग्गहाइ वा उव्वेयग्गहाइ वा धणुग्गहाइ वा एगाहियगाहाइ वा बेयाहियगहियाइ वा तेयाहियगहियाइ वा चाउत्थगहियाइ वा हिययसूलाइ वा मत्थगसूलाइ वा पाससूलाइ वा कुच्छिसूलाइ वा जोणिसूलाइ वा गाममारीइ वा जाव सन्निवेसमारीइ वा पाणक्खय जाव वसणभूयमणारिया इ वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । ववगयरोगायंका णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो !

अत्थि णं भंते ! एगोरुयदीवे दीवे अइवासाइ वा मंदवासाइ वा सुवुट्ठीइ वा मंदवुट्ठीइ वा

उड्डवाहाइ वा पवाहाइ वा वगुक्मेवाइ वा वगुप्पीलाइ वा गामवाहाइ वा जाव सन्निवेसवाहाइ वा पाणक्खय० जाव वसणभूयमणारियाइं वा ?

णो तिट्ठे समट्ठे । ववगयदगोवद्दवा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो !

अत्थि णं भंते ! एगोरुय दीवे दीवे अयागराइ वा तंबागराइ वा सीसागराइ वा सुवण्णागराइ वा रयणागराइ वा वइरागराइ वा वसुहाराइ वा हिरण्णवासाइ वा सुवण्णवासाइ वा रयणवासाइ वा वइरवासाइ वा आभरणवासाइ वा पत्तवासाइ वा पुप्फवासाइ वा फलवासाइ वा बीयवासाइ वा मल्लवासाइ वा गंधवासाइ वा वण्णवासाइ वा चुण्णवासाइ वा खीरवुट्ठीइ वा रयणवुट्ठीइ वा हिरणवुट्ठीइ वा सुवण्णवुट्ठीइ वा तहेव जाव चुण्णवुट्ठीइ वा सुकालाइ वा दुकालाइ वा सुभिक्खाइ वा दुब्भिक्खाइ वा अप्पग्घाइ वा महग्घाइ वा कयाइ वा महाविक्कयाइ वा, सण्णिहीइ वा संचयाइ वा निधीइ वा निहाणाइ वा, चिरपोराणाइ वा पहीणसामियाइ वा पहीणसेउयाइ वा पहीणगोत्तागाराइं वा जाइं इमाइं गामागरणगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसन्निवेसेसु सन्निक्खित्ताइं चिट्ठंति ?

नो तिणट्ठे समट्ठे ।

[१११] (१६) हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में घर और मार्ग हैं क्या ?

हे गौतम ! यह अर्थ समर्थित नहीं है । हे आयुष्मन् श्रमण ! वे मनुष्य गृहाकार बने हुए वृक्षों पर रहते हैं ।

भगवन् ! एकोरुक द्वीप में ग्राम, नगर यावत् सन्निवेश हैं ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! वहाँ ग्राम आदि नहीं हैं । वे मनुष्य इच्छानुसार गमन करने वाले हैं ।

भगवन् ! एकोरुक द्वीप में असि—शस्त्र, मषि (लेखनादि) कृषि, पण्य (किराना आदि) और वाणिज्य-व्यापार है ?

आयुष्मन् श्रमण ! ये वहाँ नहीं हैं । वे मनुष्य असि, मषि, कृषि-पण्य और वाणिज्य से रहित हैं ।

भगवन् ! एकोरुक द्वीप में हिरण्य (चांदी), स्वर्ण, कांसी, वस्त्र, मणि, मोती तथा विपुल धन-सोना रत्न मणि, मोती शंख, शिला प्रवाल आदि प्रधान द्रव्य हैं ?

हाँ गौतम ! हैं परन्तु उन मनुष्यों को उनमें तीव्र ममत्वभाव नहीं होता है ।

भगवन् ! एकोरुक द्वीप में राजा, युवराज, ईश्वर (भोगिक) तलवर (राजा द्वारा दिये गये स्वर्णपट्ट को धारण करने वाला अधिकारी), मांडविक (उजडी वसति का स्वामी), कौटुम्बिक, इभ्य (धनिक), सेठ, सेनापति, सार्थवाह (अनेक व्यापारियों के साथ देशान्तर में व्यापार करने वाला प्रमुख व्यापारी) आदि हैं क्या ?

आयुष्मन् श्रमण ! ये सब वहाँ नहीं हैं । वे मनुष्य ऋद्धि और सत्कार के व्यवहार से रहित हैं अर्थात् वहाँ सब बराबर हैं, विषमता नहीं है ।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में दास, प्रेष्य (नौकर), शिष्य, वेतनभोगी भृत्य, भागीदार, कर्मचारी हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! ये सब वहाँ नहीं हैं । वहाँ नौकर कर्मचारी नहीं हैं ।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में माता, पिता, भाई, बहिन, भार्या, पुत्र, पुत्री और पुत्रवधू हैं क्या ?

हाँ गौतम ! हैं परन्तु उनका माता-पितादि में तीव्र प्रेमबन्धन नहीं होता है । वे मनुष्य अल्प-रागबन्धन वाले हैं ।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में अरि, वैरी, घातक, वधक, प्रत्यनीक (विरोधी), प्रत्यमित्र (पहले मित्र रहकर अमित्र हुआ व्यक्ति या दुश्मन का सहायक) हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! ये सब वहाँ नहीं हैं । वे मनुष्य वैरभाव से रहित होते हैं ।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में मित्र, वयस्य, प्रेमी, सखा, सुहृद, महाभाग और सांगतिक (साथी) हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! नहीं हैं । वे मनुष्य प्रेमानुबन्ध रहित हैं ।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में आवाह (सगाई), विवाह (परिणय), यज्ञ, श्राद्ध, स्थालीपाक (वर-वधू भोज), चोलोपनयन (शिखाधारण संस्कार), सीमन्तोन्नयन (बाल उतारने का संस्कार), पितरों को पिण्डदान आदि संस्कार हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! ये संस्कार वहाँ नहीं हैं । वे मनुष्य आवाह-विवाह, यज्ञ-श्राद्ध, भोज, चोलोपनयन सीमन्तोन्नयन पितृ-पिण्डदान आदि व्यवहार से रहित हैं ।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में इन्द्रमहोत्सव, स्कंद (कार्तिकेय) महोत्सव, रुद्र (यक्षाधिपति) महोत्सव, शिवमहोत्सव, वैश्रमण (कुबेर) महोत्सव, मुकुन्द (कृष्ण) महोत्सव, नाग, यक्ष, भूत, कूप, तालाब, नदी, द्रह (कुण्ड) पर्वत, वृक्षारोपण, चैत्य और स्तूप महोत्सव होते हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! वहाँ ये महोत्सव नहीं होते । वे मनुष्य महोत्सव की महिमा से रहित होते हैं ।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में नटों का खेल होता है, नृत्यों का आयोजन होता है, डोरी पर खेलने वालों का खेल होता है, कुश्तियाँ होती हैं, मुष्टिप्रहारादि का प्रदर्शन होता है, विदूषकों, कथाकारों, उछलकूद करने वालों, शुभाशुभ फल कहने वालों, रास गाने वालों, बाँस पर चढ़कर नाचने वालों, चित्रफलक हाथ में लेकर माँगने वालों, तूणा (वाद्य) बजाने वालों, वीणावादकों, कावड लेकर घूमने वालों, स्तुतिपाठकों का मेला लगता है क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । वे मनुष्य कौतूहल से रहित होते हैं ।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में गाड़ी, रथ, यान (वाहन) युग्य (गोल्लदेशप्रसिद्ध) चतुष्कोण वेदिका वाली और दो पुरुषों द्वारा उठाई जाने वाली पालकी) गिल्ली, थिल्ली, पिपिल्ली (लाटदेश-

प्रसिद्ध सवारीविशेष) प्रवहण (नौका-जहाज), शिबिका (पालखी), स्यन्दमानिका (छोटी पालखी) आदि वाहन हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! वहाँ उक्त वाहन (सवारियाँ) नहीं हैं। वे मनुष्य पैदल चलने वाले होते हैं।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में घोड़ा, हाथी, ऊँट, बैल, भैंस-भैंसा, गधा, टट्टू, बकरा-बकरी और भेड़ होते हैं क्या ?

हाँ गौतम ! होते तो हैं परन्तु उन मनुष्यों के उपभोग के लिए नहीं होते।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, चीता, रींछ, गेंडा, तरक्ष (तेंदुआ) बिल्ली, सियाल, कुत्ता, सूअर, लोमड़ी, खरगोश, चित्तल (चितकबरा पशुविशेष) और चिल्लक (पशुविशेष) हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! वे पशु हैं परन्तु वे परस्पर या वहाँ के मनुष्यों को पीडा या बाधा नहीं देते हैं और उनके अवयवों का छेदन नहीं करते हैं क्योंकि वे श्वापद स्वभाव से भद्रिक होते हैं।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में शालि, व्रीहि, गेहूं, जौ, तिल और इक्षु होते हैं क्या ?

हाँ गौतम ! होते हैं किन्तु उन पुरुषों के उपभोग में नहीं आते।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में गड्ढे, बिल, दरारें, भृगु (पर्वतशिखर आदि ऊँचे स्थान), अवपात (गिरने की संभावना वाले स्थान), विषमस्थान, कीचड, धूल, रज, पंक-कीचड़ कादव और चलनी (पाँव में चिपकने वाला कीचड) आदि हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! वहाँ ये गड्ढे आदि नहीं है। एकोरुक द्वीप का भू-भाग बहुत समतल और रमणीय है।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में स्थाणु (ठूंठ) काँटे, हीरक (तीखी लकड़ी का टुकडा) कंकर, तृण का कचरा, पत्तों का कचरा, अशुचि, सडांध, दुर्गन्ध और अपवित्र पदार्थ हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! एकोरुक द्वीप में उक्त स्थाणु आदि नहीं हैं। वह द्वीप स्थाणु-कंटक-हीरक, कंकर-तृणकचरा, पत्र कचरा, अशुचि, पूति, दुर्गन्ध और अपवित्रता से रहित है।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में डांस, मच्छर, पिस्सू, जूं, लीख, माकण (खटमल) आदि हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। वह द्वीप डांस, मच्छर, पिस्सू, जूं, लीख, खटमल से रहित है।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में सर्प, अजगर और महोरग हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! वे हैं तो सही परन्तु परस्पर या वहाँ के लोगों को बाधा-पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं, न ही काटते हैं। वे व्यालगण (सर्पादि) स्वभाव से ही भद्रिक होते हैं।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में (अनिष्टसूचक) दण्डाकार ग्रहसमुदाय, मूसलाकार ग्रहसमुदाय, ग्रहों के संचार की ध्वनि, ग्रहयुद्ध (दो ग्रहों का एक स्थान पर होना) ग्रहसंघाटक (त्रिकोणाकार ग्रह-

समुदाय), ग्रहापसव (ग्रहों का वक्री होना), मेघों का उत्पन्न होना, वृक्षाकार मेघों का होना, सन्ध्या-लाल-नीले बादलों का परिणमन, गन्धर्वनगर (बादलों का नगरादि रूप में परिणमन), गर्जना, बिजली चमकना, उल्कापात (बिजली गिरना), दिग्दाह (किसी एक दिशा का एकदम अग्निज्वाला जैसा भयानक दिखना), निर्घात (बिजली का कड़कना), धूलि बरसना, यूपक (सन्ध्याप्रभा और चन्द्रप्रभा का मिश्रण होने पर सन्ध्या का पता न चलना), यक्षादीप्त (आकाश में अग्निसहित पिशाच का रूप दिखना), धूमिका (धूंधर), महिका (जलकणयुक्त धूंधर), रज-उद्‌घात (दिशाओं में धूल भर जाना), चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण चन्द्र के आसपास मण्डल का होना, सूर्य के आसपास मण्डल का होना, दो चन्द्रों का दिखना, दो सूर्यों का दिखना, इन्द्रधनुष, उदकमत्स्य (इन्द्रधनुष का टुकड़ा), अमोघ (सूर्या-स्त के बाद सूर्यबिम्ब, से निकलने वाली श्यामादि वर्ण वाली रेखा), कपिहसित (आकाश में होने वाला भयंकर शब्द), पूर्ववात, पश्चिमवात यावत् शुद्धवात, ग्रामदाह, नगरदाह यावत् सन्निवेशदाह, (इनसे होने वाले) प्राणियों का क्षय, जनक्षय, कुलक्षय, धनक्षय आदि दुःख और अनार्य-उत्पात आदि वहाँ होते हैं क्या ?

हे गौतम ! उक्त सब उपद्रव वहाँ नहीं होते हैं।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में डिंब (स्वदेश का विप्लव), डमर (अन्य देश द्वारा किया गया उपद्रव), कलह (वाग्युद्ध), आर्तनाद, मात्सर्य, वैर, विरोधीराज्य आदि हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! ये सब नहीं हैं। वे मनुष्य डिंब-डमर-कलह-बोल-क्षार-वैर और विरुद्ध-राज्य के उपद्रवों से रहित हैं।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में महायुद्ध महासंग्राम महाशस्त्रों का निपात, महापुरुषों (चक्र-वर्ती-बलदेव-वासुदेव) के बाण, महारुधिरबाण, नागबाण, आकाशबाण, तामस (अन्धकार कर देने वाला) बाण आदि हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! ये सब वहाँ नहीं हैं। क्योंकि वहाँ के मनुष्य वैरानुबंध से रहित होते हैं, अतएव महायुद्धादि नहीं होते हैं।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में दुर्भूतिक (अशिव), कुलक्रमागतरोग, ग्रामरोग, नगररोग, मंडल (जिला) रोग, शिरोवेदना, आंखवेदना, कानवेदना, नाकवेदना, दांतवेदना, नखवेदना, खांसी, श्वास, ज्वर, दाह, खुजली, दाद, कोढ, कुड—डमरुवात, जलोदर, अर्श (बवासीर) अजीर्ण, भगंदर, इन्द्र के आवेश से होने वाला रोग, स्कन्दग्रह (कार्तिकेय के आवेश से होने वाला रोग), कुमारग्रह, नागग्रह, यक्षग्रह, भूतग्रह, उद्वेगग्रह, धनुग्रह (धनुर्वात), एकान्तर ज्वर, दो दिन छोड़कर आने वाला ज्वर, तीन दिन छोड़कर आने वाला ज्वर, चार दिन छोड़कर आने वाला ज्वर, हृदयशूल, मस्तकशूल, पार्श्वशूल (पसलियों का दर्द), कुक्षिशूल, योनिशूल, ग्राममारी यावत् सन्निवेशमारी और इनसे होनेवाला प्राणों का क्षय यावत् दुःखरूप उपद्रवादि हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! ये सब उपद्रव—रोगादि वहाँ नहीं हैं। वे मनुष्य सब तरह की व्याधियों से मुक्त होते हैं।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में अतिवृष्टि, अल्पवृष्टि, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, उद्‌वाह (तीव्रता से जल का बहना), प्रवाह, उदकभेद (ऊँचाई से जल गिरने से खड्डे पड़ जाना), उदकपीड़ा (जल का

ऊपर उछलना), गांव को बहा ले जाने वाली वर्षा यावत् सन्निवेश को बहा ले जाने वाली वर्षा और उससे होने वाला प्राणक्षय यावत् दुःखरूप उपद्रवादि होते हैं क्या ?

हे आयुष्मन् श्रमण ! ऐसा नहीं होता। वे मनुष्य जल से होने वाले उपद्रवों से रहित होते हैं।

हे भगवन् ! एकोरुक द्वीप में लोहे की खान, तांबे की खान, सीसे की खान, सोने की खान, रत्नों की खान, वज्र-हीरों की खान, वसुधारा (धन की धारा), सोने की वृष्टि, चांदी की वृष्टि, रत्नों की वृष्टि, वज्रों-हीरों की वृष्टि, आभरणों की वृष्टि, पत्र-पुष्प-फल-बीज-माल्य-गन्ध-वर्ण-चूर्ण की वृष्टि, दूध की वृष्टि, रत्नों की वर्षा, हिरण्य-सुवर्ण यावत् चूर्णों की वर्षा, सुकाल, दुष्काल, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, सस्तापन, मंहगापन, क्रय, विक्रय, सन्निधि, संनिचय, निधि, निधान, बहुत पुराने, जिनके स्वामी नष्ट हो गये, जिनमें नया धन डालने वाला कोई न हो। जिनके गोत्री जन सब मर चुके हों ऐसे जो गांवों में, नगर में, आकर-खेट-कर्वट-मडंब-द्रोणमुख-पट्टन, आश्रम, संबाह और सन्निवेशों में रखा हुआ, शृंगाटक (तिकोना मार्ग), त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख महामार्गों पर, नगर की गटरों में, श्मशान में, पहाड़ की गुफाओं में, ऊँचे पर्वतों के उपस्थान और भवनगृहों में रखा हुआ—गड़ा हुआ धन है क्या ?

हे गौतम ! उक्त खान आदि और ऐसा धन वहां नहीं है।

एकोरुक मनुष्यों की स्थिति आदि

१११. [१७] एगोरुयदीवे णं भंते ! दीवे मणुयाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं असंखेज्जइ भागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं।

ते णं मणुस्सा कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति ?

गोयमा ! ते णं मणुया छम्मासावसेसाउया मिहुणाइं पसवंति, अउणासीइं राइंदियाइं मिहुणाइं सारक्खंति संगोविंति य। सारक्खित्ता संगोवित्ता उस्ससित्ता निस्ससित्ता कासित्ता छीइत्ता अक्किट्ठा अव्वहिया, अपरियाविया (पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागं परियाविय) सुहंसुहेण कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। देवलोयपरिग्गहा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो !

[१११] (१७) हे भगवन् ! एकोरुकद्वीप के मनुष्यों की स्थिति कितनी कही है ?

हे गौतम ! जघन्य से असंख्यातवां भाग कम पल्योपम का असंख्यातवां भाग और उत्कर्ष से पल्योपम का असंख्यातवां भागप्रमाण स्थिति है।

हे भगवन् ! वे मनुष्य कालमास में काल करके—मरकर कहां जाते हैं, कहां उत्पन्न होते हैं ?

हे गौतम ! वे मनुष्य छह मास की आयु शेष रहने पर एक मिथुनक (युगलिक) को जन्म देते हैं। उन्नयासी रात्रिदिन तक उसका संरक्षण और संगोपन करते हैं। संरक्षण और संगोपन करके ऊर्ध्वश्वास लेकर या निश्वास लेकर या खांसकर या छींककर बिना किसी कष्ट के, बिना किसी दुःख

के, बिना किसी परिताप के (पल्योपम का असंख्यातवां भाग आयुष्य भोगकर) सुखपूर्वक मृत्यु के अवसर पर मरकर किसी भी देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न होते हैं।

हे आयुष्मन् श्रमण ! वे मनुष्य मरकर देवलोक में ही जाते हैं।

१११. (१८) कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं आभासियमणुस्साणं आभासियदीवे णामं दीवे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणपुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं आभासियमणुस्साणं आभासियदीवे णामं दीवे पण्णत्ते, सेसं जहा एगोरुयाणं णिरवसेसं सव्वं।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं णंगोलिमणुस्साणं पुच्छा ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिण्णि जोयणसयाइं ओगाहित्ता सेसं जहा एगोरुयमणुस्साणं।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं वेसाणियमणुस्साणं पुच्छा।

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासवरपव्वयस्स दाहिणपच्चत्थिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिण्णि जोयणसयाइं ओगाहित्ता सेसं जहा एगोरुयाणं।

[१११] (१८) हे भगवन् ! दक्षिण दिशा के आभाषिक मनुष्यों का आभाषिक नाम का द्वीप कहाँ है ?

गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मेरुपर्वत के दक्षिण में चुल्लहिमवान् वर्षधरपर्वत के दक्षिण-पूर्व (अग्निकोण) चरमांत से लवणसमुद्र में तीन सौ योजन जाने पर वहाँ आभाषिक मनुष्यों का आभाषिक नामक द्वीप है। शेष समस्त वक्तव्यता एकोरुक द्वीप की तरह कहनी चाहिए।

हे भगवन् ! दाक्षिणात्य लांगूलिक मनुष्यों का नंगोलिक द्वीप कहाँ है ?

गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मेरुपर्वत के दक्षिण में और चुल्लहिमवन्त वर्षधर पर्वत के उत्तर पूर्व (ईशानकोण) चरमांत से लवणसमुद्र में तीन सौ योजन जाने पर वहाँ लांगूलिक मनुष्यों का लांगूलिक द्वीप है। शेष वक्तव्यता एकोरुक द्वीपवत्।

हे भगवन् ! दाक्षिणात्य वैषाणिक मनुष्यों का वैषाणिक द्वीप कहाँ है ?

हे गौतम ! जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत के दक्षिण में और चुल्लहिमवन्त वर्षधर पर्वत के दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्यकोण) के चरमांत से तीन सौ योजन जाने पर वहाँ वैषाणिक मनुष्यों का वैषाणिक नामक द्वीप है। शेष वक्तव्यता एकोरुकद्वीप की तरह जानना चाहिए।

विवेचन—अन्तरद्वीप हिमवान और शिखरी इन दो पर्वतों की लवणसमुद्र में निकली दाढाओं पर स्थित हैं। हिमवान पर्वत की दाढा पर अट्ठाईस अन्तरद्वीप हैं और शिखरीपर्वत की दाढा पर

अट्ठाईस अन्तर्द्वीप हैं—यों छप्पन अन्तर्द्वीप हैं। हिमवान पर्वत जम्बूद्वीप में भरत और हैमवत क्षेत्रों की सीमा करने वाला है। वह पूर्व-पश्चिम के छोरों से लवणसमुद्र का स्पर्श करता है। लवणसमुद्र के जल-स्पर्श से लेकर पूर्व-पश्चिम दिशा में दो गजदन्ताकार दाढें निकली हैं। उनमें से ईशानकोण में जो दाढा निकली है उस पर हिमवान पर्वत से तीन सौ योजन की दूरी पर लवणसमुद्र में ३०० योजन लम्बा-चौड़ा और ९४९ योजन से कुछ अधिक की परिधि वाला एकोरुक नाम का द्वीप है। जो ३०० धनुष विस्तृत, दो कोस ऊँची पद्मवरवेदिका से चारों ओर से मण्डित है। उसी हिमवान पर्वत के पर्यन्त भाग से दक्षिणपूर्वकोण में तीन सौ योजन दूर लवणसमुद्र में अवगाहन करते ही दूसरी दाढा आती है जिस पर एकोरुक द्वीप जितना ही लम्बा-चौड़ा आभाषिक नामक द्वीप है। उसी हिमवान पर्वत के पश्चिम दिशा के छोर से लेकर दक्षिण-पश्चिमदिशा (नैऋत्यकोण) में तीन सौ योजन लवणसमुद्र में अवगाहन करने के बाद एक दाढ आती है, जिस पर उसी प्रमाण का लांगूलिक नाम का द्वीप है एवं उसी हिमवान् पर्वत के पश्चिमदिशा के छोर से लेकर पश्चिमोत्तरदिशा (वायव्यकोण) में तीन सौ योजन दूर लवणसमुद्र में एक दाढा आती है, जिस पर पूर्वोक्तप्रमाणवाला वैषाणिक द्वीप आता है। इस प्रकार ये चारों द्वीप हिमवान पर्वत से चारों विदिशाओं में हैं और समान प्रमाण वाले हैं।

इनका आकार, भाव, प्रत्यवतार मूलपाठानुसार स्पष्ट ही है।

११२. कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं हयकण्णमणुस्साणं हयकण्णदीवे णामं दीवे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एगोरुयदीवस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं चत्तारि जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं दाहिणिल्लाणं हयकण्णमणुस्साणं हयकण्णदीवे णामं दीवे पण्णत्ते, चत्तारि जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं बारस जोयणसया पन्नट्ठी किंचिविसेसूणा परिक्खेवेणं। से णं एगाए पउमववेदियाए अवसेसं जहा एगोरुयाणं।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं गजकण्णमणुस्साणं पुच्छा।

गोयमा ! आभासियदीवस्स दाहिणपुरत्थिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं चत्तारि जोयणसयाइं सेसं जहा हयकण्णाणं।

एवं गोकण्णमणुस्साणं पुच्छा ?

वेसाणियदीवस्स दाहिणपच्चत्थिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं चत्तारि जोयणसयाइं सेसं जहा हयकण्णाणं।

सक्कुलिकण्णाणं पुच्छा ?

गोयमा ! णंगोलियदीवस्स उत्तरपच्चत्थिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं चत्तारि-जोयणसयाइं सेसं जहा हयकण्णाणं।

आयंसमुहाणं पुच्छा ?

हयकण्णदीवस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ पंच जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं दाहिणिल्लाणं आयंसमुहमणुस्साणं आयंसमुहदीवे णामं दीवे पण्णत्ते। पंचजोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं; आसमुहाईणं छसया आसकन्नाईणं सत्त, उक्कामुहाईणं अट्ठ, घणदंताईणं जाव नव जोयणसयाइं—

एगोरुय परिक्खेवो नव चेव सयाइं अउणपन्नाइं ।
बारसपन्नट्ठाइं हयकण्णाईणं परिक्खेवो ॥१॥

आयंसमुहाईणं पन्नरसेकासीए जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं; एवं एएण कमेण उवउज्जिऊण णेयव्वा चत्तारि चत्तारि एग पमाणा । णाणत्तं ओगाहे विक्खंभे परिक्खेवे पढम-बीय-तइय-चउक्काणं उग्गहो विक्खंभो परिक्खेवो भणिओ । चउत्थ चउक्के छजोयणसयाइं आयाम-विक्खंभेणं अट्ठारससत्ताणउए जोयणसए परिक्खेवेणं । पंचम चउक्के सत्तजोयणसयाइं आयाम-विक्खंभेणं बावीसं तेरसोत्तरे जोयणसए परिक्खेवेणं । छट्ठ चउक्के अट्ठजोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं पणुवीसं एगुणतीस जोयणसए परिक्खेवेणं । सत्तम चउक्के नवजोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं दो जोयणसहस्साइं अट्ठपणयाले जोयसणए परिक्खेवेणं ।

जस्स य जो विक्खंभो उग्गहो तस्स तत्तिओ चेव ।
पढमाइयाण परिरओ जाव सेसाण अहिओ उ ॥२॥

सेसा जहा एगोरुयदीवस्स जाव सुद्धदंतदीवे देवलोकपरिग्गहा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो ।

कहिं णं भंते ! उत्तरिल्लाणं एगोरुयमणुस्साणं एगोरुयदीवे णामं दीवे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं सिहरिस्स वासधरपव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिण्णि जोयणसयाइं ओगाहित्ता एवं जहा दाहिणिल्लाणं तहा उत्तरिल्लाणं भाणियव्वं । णवरं सिहरिस्स वासहरपव्वयस्स विदिसासु; एवं जाव सुद्धदंतदीवे त्ति जाव से त्तं अंतरदीवगा ।

[११२] हे भगवन् ! दाक्षिणात्य हयकर्ण मनुष्यों का हयकर्ण नामक द्वीप कहाँ कहा गया है ?

गौतम ! एकोरुक द्वीप के उत्तरपूर्वी (ईशानकोण के) चरमान्त से लवणसमुद्र में चार सौ योजन आगे जाने पर वहाँ दाक्षिणात्य हयकर्ण मनुष्यों का हयकर्ण नामक द्वीप कहा गया है । वह चार सौ योजनप्रमाण लम्बा-चौड़ा है और बारह सौ पैंसठ योजन से कुछ अधिक उसकी परिधि है । वह एक पद्मवरवेदिका से मण्डित है । शेष वर्णन एकोरुक द्वीप की तरह जानना चाहिए ।

हे भगवन् ! दाक्षिणात्य गजकर्ण मनुष्यों का गजकर्ण द्वीप कहाँ है आदि पृच्छा ?

गौतम ! आभाषिक द्वीप के दक्षिण-पूर्वी (आग्नेयकोण के) चरमान्त से लवणसमुद्र में चार सौ योजन आगे जाने पर गजकर्ण द्वीप है । शेष वर्णन हयकर्ण मनुष्यों की तरह जानना चाहिए ।

इसी तरह गोकर्ण मनुष्यों की पृच्छा ?

गौतम ! वैषाणिक द्वीप के दक्षिण-पश्चिमी (नैऋत्यकोण के) चरमांत से लवणसमुद्र में चार सौ योजन जाने पर वहाँ गोकर्णद्वीप है । शेष वर्णन हयकर्ण मनुष्यों की तरह जानना चाहिए ।

भगवन् ! शष्कुलिकर्ण मनुष्यों की पृच्छा ?

गौतम ! लांगूलिक द्वीप के उत्तर-पश्चिमी (वायव्यकोण के) चरमान्त से लवणसमुद्र में चार सौ योजन जाने पर शष्कुलिकर्ण नामक द्वीप है। शेष वर्णन हयकर्ण मनुष्यों की तरह जानना चाहिए।

हे भगवन् ! आदर्शमुख मनुष्यों की पृच्छा ?

गौतम ! हयकर्णद्वीप के उत्तरपूर्वी चरमांत से पांच सौ योजन आगे जाने पर वहाँ दाक्षिणात्य आदर्शमुख मनुष्यों का आदर्शमुख नामक द्वीप है, वह पांच सौ योजन का लम्बा-चौड़ा है। अश्वमुख आदि चार द्वीप छह सौ योजन आगे जाने पर, अश्वकर्ण आदि चार द्वीप सात सौ योजन आगे जाने पर, उल्कामुख आदि चार द्वीप आठ सौ योजन आगे जाने पर और घनदंत आदि चार द्वीप नौ सौ योजन आगे जाने पर वहाँ स्थित हैं।

एकोरुक द्वीप आदि की परिधि नौ सौ उनपचास योजन से कुछ अधिक, हयकर्ण आदि की परिधि बारह सौ पेंसठ योजन से कुछ अधिक जाननी चाहिए ॥ १ ॥

आदर्शमुख आदि की परिधि पन्द्रह सौ इक्यासी योजन से कुछ अधिक है। इस प्रकार इस क्रम से चार-चार द्वीप एक समान प्रमाण वाले हैं। अवगाहन, विष्कंभ और परिधि में अन्तर समझना चाहिए। प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुष्क का अवगाहन, विष्कंभ और परिधि का कथन कर दिया गया है। चौथे चतुष्क में छह सौ योजन का आयाम-विष्कंभ और १८९७ योजन से कुछ अधिक परिधि है। पंचम चतुष्क में सात सौ योजन का आयाम-विष्कंभ और २२१३ योजन से कुछ अधिक की परिधि है। छठे चतुष्क में आठ सौ योजन का आयाम-विष्कंभ और २५२९ योजन से कुछ अधिक की परिधि है। सातवें चतुष्क में नौ सौ योजन का आयाम-विष्कंभ और २८४५ योजन से कुछ विशेष की परिधि है। जिसका जो आयाम-विष्कंभ है वही उसका अवगाहन है। (प्रथम चतुष्क से द्वितीय चतुष्क की परिधि ३१६ योजन अधिक, इसी क्रम से ३१६-३१६ योजन की परिधि बढ़ाना चाहिए। विशेषाधिक पद सबके साथ कहना चाहिए) ॥ २ ॥

आयुष्मन् श्रमण ! शेष वर्णन एकोरुकद्वीप की तरह शुद्धदंतद्वीप पर्यन्त समझ लेना चाहिए यावत् वे मनुष्य देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

हे भगवन् ! उत्तरदिशा के एकोरुक मनुष्यों का एकोरुक नामक द्वीप कहाँ कहा गया है ?

गौतम ! जम्बूद्वीप द्वीप के मेरुपर्वत के उत्तर में शिखरी वर्षधरपर्वत के उत्तरपूर्वी चरमान्त से लवणसमुद्र में तीन सौ योजन आगे जाने पर वहाँ उत्तरदिशा के एकोरुक द्वीप के मनुष्यों का एकोरुक नामक द्वीप है—इत्यादि सब वर्णन दक्षिणदिशा के एकोरुक द्वीप की तरह जानना चाहिए, अन्तर यह है कि यहाँ शिखरी वर्षधरपर्वत की विदिशाओं में ये स्थित हैं, ऐसा कहना चाहिए। इस प्रकार शुद्धदंतद्वीप पर्यन्त कथन करना चाहिए। यह अन्तरद्वीपक मनुष्यों का वर्णन पूरा हुआ।

विवेचन—एकोरुक, आभाषिक, लांगूलिक और वैषाणिक इन चार अन्तर्द्वीपों का वर्णन इसके पूर्ववर्ती सूत्र के विवेचन में किया है। इन्हीं एकोरुक आदि चारों द्वीपों के आगे यथाक्रम से पूर्वोत्तर आदि प्रत्येक विदिशा में चार-चार सौ योजन आगे चलने पर चार-चार सौ योजन लम्बे-चौड़े और कुछ अधिक १२६५ योजन की परिधि वाले पूर्वोक्त पद्मवरवेदिका और वनखण्ड से सुशोभित तथा जम्बूद्वीप की वेदिका से ४०० योजन प्रमाण दूर हयकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण और

शष्कुलिकर्ण नाम के चार द्वीप हैं। एकोरुक द्वीप के आगे हयकर्ण है, आभाषिक के आगे गजकर्ण, वैषाणिक के आगे गोकर्ण और लांगूलिक के आगे शष्कुलिकर्ण द्वीप है।

इसके अनन्तर इन हयकर्ण आदि चारों द्वीपों से आगे पांच-पांच सौ योजन की दूरी पर चार द्वीप हैं—जो पांच-पांच सौ योजन लम्बे-चौड़े हैं और पूर्ववत् चारों विदिशाओं में स्थित हैं। इनकी परिधि विशेषाधिक १५२१ योजन की है। ये पूर्वोक्त पद्मवरवेदिका तथा वनखण्ड से सुशोभित हैं। जम्बूद्वीप की वेदिका से ये ५०० योजनप्रमाण अन्तर वाले हैं। इनके नाम हैं—आदर्शमुख, मेण्ढमुख, अयोमुख और गोमुख। इनमें से हयकर्ण के आगे आदर्शमुख, गजकर्ण के आगे मेण्ढमुख, गोकर्ण के आगे अयोमुख और शष्कुलिकर्ण के आगे गोमुखद्वीप हैं।

इन आदर्शमुख आदि चारों द्वीपों के आगे छह-छह सौ योजन की दूरी पर पूर्वोत्तरादि विदिशाओं में फिर चार द्वीप हैं—अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख और व्याघ्रमुख। ये चारों द्वीप छह सौ योजन लम्बे-चौड़े और १८९७ योजन से कुछ अधिक परिधि वाले हैं। पूर्वोक्त पद्मवरवेदिका और वनखंड से शोभित हैं। जम्बूद्वीप की वेदिका से ६०० योजन की दूरी पर स्थित हैं।

इन अश्वमुख आदि चारों द्वीपों के आगे क्रमशः पूर्वोत्तरादि विदिशाओं में ७००-७०० योजन की दूरी पर ७०० योजन लम्बे-चौड़े और २२१३ योजन से कुछ अधिक की परिधि वाले पूर्वोक्त पद्मवरवेदिका और वनखण्ड से घिरे हुए एवं जम्बूद्वीप की वेदिका से ७०० योजन के अन्तर पर अश्वकर्ण, हरिकर्ण, अकर्ण और कर्णप्रावरण नाम के चार द्वीप हैं।

फिर इन्हीं अश्वकर्ण आदि चार द्वीपों के आगे यथाक्रम से पूर्वोत्तरादि विदिशाओं में ८००-८०० योजन दूर जाने पर आठ सौ योजन लम्बे-चौड़े, २५२९ योजन से कुछ अधिक परिधि वाले, पद्मवरवेदिका और वनखंड से सुशोभित, जम्बूद्वीप की वेदिका से ८०० योजन दूरी पर उल्कामुख, मेघमुख, विद्युन्मुख और विद्युद्दन्त नाम के चार द्वीप हैं।

तदनन्तर इन्हीं उल्कामुख आदि चारों द्वीपों के आगे क्रमशः पूर्वोत्तरादि विदिशाओं में ९००-९०० योजन की दूरी पर नौ सौ योजन लम्बे-चौड़े तथा २८४५ योजन से कुछ अधिक परिधि वाले, पद्मवरवेदिका और वनखण्ड से परिमंडित, जम्बूद्वीप की वेदिका से ९०० योजन के अन्तर पर चार द्वीप और हैं, जिनके नाम क्रमश ये हैं—घनदन्त, लष्टदन्त, गूढदन्त और शुद्धदन्त। हिमवान् पर्वत की दाढों पर चारों विदिशाओं में स्थित ये सब द्वीप (७×४=२८) अट्ठाईस हैं। शिखरी पर्वत की दाढों पर भी इसी प्रकार २८ अन्तरद्वीप हैं। शिखरीपर्वत की लवणसमुद्र में गई दाढों पर, लवणसमुद्र के जलस्पर्श से लेकर पूर्वोक्त दूरी पर पूर्वोक्त प्रमाण वाले, चारों विदिशाओं में स्थित एकोरुक आदि उन्हीं नामों वाले अट्ठाईस द्वीप हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई, परिधि, नाम आदि सब पूर्ववत् हैं। दोनों मिलाकर छप्पन अन्तरद्वीप हैं। इन द्वीपों में रहने वाले मनुष्य अन्तरद्वीपिक मनुष्य कहे जाते हैं। यहाँ अन्तरद्वीपिकों का वर्णन पूरा होता है।

११३. से किं तं अकम्मभूमगमणुस्सा ?

अकम्मभूमगमणुस्सा तीसविहा पण्णत्ता, तंजहा—पंचहिं हेमवएहिं, एवं जहा पण्णवणापदे जाव पंचहिं उत्तरकुरुहिं से तं अकम्मभूमगा।

से किं तं कम्मभूमगा ?

कम्मभूमगा पण्णरसविहा पण्णत्ता, तं जहा—पंचहिं भरहेहिं, पंचहिं एरवएहिं, पंचहिं महाविदेहेहिं। ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—आरिया मिलेच्छा, एवं जहा पण्णवणापदे जाव से त्तं आरिया, से त्तं गब्भवक्कंतिया, से त्तं मणुस्सा।

[११३] हे भगवन् ! अकर्मभूमिक मनुष्य कितने प्रकार के हैं ?

गौतम ! अकर्मभूमिक मनुष्य तीस प्रकार के हैं, यथा—पांच हैमवत में (पांच हैरण्यवत, पांच हरिवर्ष, पांच रम्यकवर्ष, पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु क्षेत्र में) रहने वाले मनुष्य। इस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार जानना चाहिए। यह तीस प्रकार के अकर्मभूमिक मनुष्यों का कथन हुआ।

हे भगवन् ! कर्मभूमिक मनुष्यों के कितने प्रकार हैं ?

गौतम ! कर्मभूमिक मनुष्य पन्द्रह प्रकार के हैं—यथा—पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह के मनुष्य। वे संक्षेप से दो प्रकार के हैं, यथा—आर्य और म्लेच्छ। इस प्रकार प्रज्ञापना-सूत्र के अनुसार कहना चाहिए। यावत् यह आर्यों का कथन हुआ। यह गर्भव्युत्क्रान्तिकों का कथन हुआ और उसके साथ ही मनुष्यों का कथन भी सम्पूर्ण हुआ।

अट्ठाईस अन्तरद्वीपिकों के कोष्टक

(१) प्रथम चतुष्क

	विदिशा	अवगाहन	आयाम	परिधि	द्वीप नाम
मेरु के दक्षिण में क्षुद्रहिमवान के	उत्तरपूर्व	३०० योजन	३०० यो.	९४९ यो. विशेषाधिक	एकोरुक
,,	दक्षिणपूर्व	,,	,,	,,	आभाषिक
,,	दक्षिणपश्चिम	,,	,,	,,	वैषाणिक
,,	उत्तरपश्चिम	,,	,,	,,	लांगूलिक

(२) द्वितीय चतुष्क

द्वीप नाम	विदिशा	अवगाहन	आयाम	परिधि	द्वीप नाम
एकोरुक	उत्तर पूर्व	४०० यो.	४०० यो.	१२६५ यो. विशेषाधिक	हयकर्ण
आभाषिक	दक्षिण पूर्व	,,	,,	,,	गजकर्ण
वैषाणिक	दक्षिण पश्चिम	,,	,,	,,	गोकर्ण
लांगूलिक	उत्तर पश्चिम	,,	,,	,,	शष्कुलीकर्ण

(३) तृतीय चतुष्क

द्वीपनाम	विदिशा	अवगाहन	आयाम	परिधि	द्वीपनाम
हयकर्ण	उत्तर पूर्व	५०० यो.	५०० यो.	१५८१ यो. विशेषाधिक	आदर्शमुख
गजकर्ण	दक्षिण पूर्व	,,	,,	,,	मेण्ढ्रमुख
गोकर्ण	दक्षिण पश्चिम	,,	,,	,,	अयोमुख
शष्कुलीकर्ण	उत्तर पश्चिम	,,	,,	,,	गोमुख

(४) चतुर्थ चतुष्क

द्वीपनाम	विदिशा	अवगाहन	आयाम	परिधि	द्वीपनाम
आदर्शमुख	उत्तर पूर्व	६०० योजन	६०० यो.	१८९७ यो. विशेषाधिक	अश्वमुख
मेण्ढ्रमुख	दक्षिण पूर्व	,,	,,	,,	हस्तिमुख
अयोमुख	दक्षिण पश्चिम	,,	,,	,,	सिंहमुख
गोमुख	उत्तर पश्चिम	,,	,,	,,	व्याघ्रमुख

(५) पंचम चतुष्क

द्वीपनाम	विदिशा	अवगाहन	आयाम	परिधि	द्वीपनाम
अश्वमुख	उत्तर पूर्व	७०० यो.	७०० यो.	२२१३ यो. विशेषाधिक	अश्वकर्ण
हस्तिमुख	दक्षिण पूर्व	,,	,,	,,	सिंहकर्ण
सिंहमुख	दक्षिण पश्चिम	,,	,,	,,	अकर्ण
व्याघ्रमुख	उत्तर पश्चिम	,,	,,	,,	कर्णप्रावरण

(६) षष्ठ चतुष्क

द्वीपनाम	विदिशा	अवगाहन	आयाम	परिधि	द्वीपमुख
अश्वकर्ण	उत्तर पूर्व	८०० यो.	८०० यो.	२५२९ यो. विशेषाधिक	उल्कामुख
सिंहकर्ण	दक्षिण पूर्व	,,	,,	,,	मेघमुख
अकर्ण	दक्षिण पश्चिम	,,	,,	,,	विद्युन्मुख
कर्णप्रावरण	उत्तर पश्चिम	,,	,,	,,	विद्युद्दन्त

(७) सप्तम चतुष्क

द्वीपनाम	विदिशा	अवगाहन	आयाम	परिधि	द्वीपनाम
उल्कामुख	उत्तर पूर्व	९०० यो.	९०० यो.	२८४५ यो. विशेषाधिक	घनदन्त
मेघमुख	दक्षिण पूर्व	,,	,,	,,	लष्टदन्त
विद्युन्मुख	दक्षिण पश्चिम	,,	,,	,,	गूढदन्त
विद्युद्दन्त	उत्तर पश्चिम	,,	,,	,,	शुद्धदन्त

देववर्णन

११४. से किं तं देवा ?

देवा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—भवणवासी वाणमंतरा जोइसिया वेमाणिया ।

[११४] देव के कितने प्रकार हैं ?

देव चार प्रकार के हैं, यथा—१. भवनवासी, २. वानव्यंतर, ३. ज्योतिष्क और ४. वैमानिक ।

११५. से किं तं भवणवासी ?

भवणवासी दसविहा पण्णत्ता, तंजहा—असुरकुमारा जहा पण्णवणापदे देवाणं भेओ तहा भाणियव्वो जाव अणुत्तरोववाइया पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा—विजय वेजयंत जाव सव्वट्ठसिद्धगा, से त्तं अणुत्तरोववाइया ।

[११५] भवनवासी देवों के कितने प्रकार हैं ?

भवनवासी देव दस प्रकार के हैं, यथा—असुरकुमार आदि प्रज्ञापनापद में कहे हुए देवों के भेद का कथन करना चाहिए यावत् अनुत्तरोपपातिक देव पांच प्रकार के हैं, यथा—विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध । यह अनुत्तरोपपातिक देवों का कथन हुआ ।

११६. कहि णं भंते ! भवणवासिदेवाणं भवणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! भवणवासी देवा परिवसंति ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए, एवं जहा पण्णवणाए जाव भवणवासइया, तत्थ णं भवणवासीणं देवाणं सत्त भवणकोडीओ बावत्तरि भवणवाससयसहस्सा भवंति त्ति मक्खाया । तत्थ णं बहवे भवणवासी देवा परिवसंति—असुरा नाग सुवण्णा य जहा पण्णवणाए जाव विहरंति ।

[११६] हे भगवन् ! भवनवासी देवों के भवन कहाँ कहे गये हैं ? हे भगवन् ! वे भवनवासी देव कहाँ रहते हैं ?

हे गौतम ! इस एक लाख अस्सी हजार योजन की मोटाई वाली रत्नप्रभापृथ्वी के एक हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे के भाग को छोड़कर शेष एक लाख अठहत्तर हजार योजन-

प्रमाणक्षेत्र में भवनावास कहे गये हैं आदि वर्णन प्रज्ञापनापद के अनुसार जानना चाहिए। वहाँ भवनवासी देवों के सात करोड़ बहत्तर लाख भवनावास कहे गये हैं। उनमें बहुत से भवनवासी देव रहते हैं, यथा—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार आदि वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार कहना चाहिए यावत् दिव्य भोगों का उपभोग करते हुए विचरते हैं।

११७. कहि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं भवणा पण्णत्ता ? पुच्छा ? एवं जहा पण्णवणाठाणपदे जाव विहरंति।

कति णं भंते ! दाहिणिल्लाणं असुरकुमारदेवाणं भवणा पुच्छा ? एवं जहा ठाणपदे जाव चमरे, तत्थ असुरकुमारिंदे परिवसइ जाव विहरइ।

[११७] हे भगवन् ! असुरकुमार देवों के भवन कहाँ कहे गये हैं ?

गौतम ! जैसा प्रज्ञापना के स्थानपद में कहा गया है, वैसा ही कथन यहाँ समझना चाहिए यावत् दिव्य-भोगों को भोगते हुए वे विचरण करते हैं।

हे भगवन् ! दक्षिण दिशा के असुरकुमार देवों के भवनों के संबंध में प्रश्न है ?

गौतम ! जैसा स्थानपद में कहा, वैसा कथन यहाँ कर लेना चाहिए यावत् असुरकुमारों का इन्द्र चमर वहाँ दिव्य भोगों का उपभोग करता हुआ विचरता है।

विवेचन—देवाधिकार का प्रारम्भ करते हुए देवों के ४ भेद बताये गये हैं—भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। तदनन्तर इनके अवान्तर भेदों के विषय में प्रज्ञापना के प्रथम-पद के अनुसार कहने की सूचना दी गई है। प्रज्ञापना में वे भेद इस प्रकार कहे हैं—

भवनपति के १० भेद हैं—१. असुरकुमार, २. नागकुमार, ३. सुपर्णकुमार, ४. विद्युत्कुमार, ५. अग्निकुमार, ६. द्वीपकुमार, ७. उदधिकुमार, ८. दिशाकुमार, ९. पवनकुमार और १०. स्तनितकुमार। इन दस के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से २० भेद हुए।

वानव्यन्तर के ८ भेद हैं—१. किन्नर, २. किंपुरुष, ३. महोरग, ४. गंधर्व, ५. यक्ष, ६. राक्षस, ७. भूत, ८. पिशाच। इनके पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद से १६ भेद हुए।

ज्योतिष्क के पांच प्रकार हैं—१. चन्द्र, १. सूर्य, ३. ग्रह, ४. नक्षत्र और ५. तारे। इनके पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

वैमानिक देव दो प्रकार के हैं—१. कल्पोपपन्न और २. कल्पातीत। कल्पोपपन्न १२ प्रकार के हैं—१. सौधर्म, २. ईशान, ३. सनत्कुमार, ४. माहेन्द्र, ५. ब्रह्मलोक, ६. लान्तक, ७. महाशुक्र, ८. सहस्रार, ९. आनत, १०. प्राणत, ११. आरण और १२ अच्युत।

कल्पातीत दो प्रकार के हैं—ग्रैवेयक और अनुत्तरोपपातिक। ग्रैवेयक के ९ भेद हैं—१.अधस्तनाधस्तन, २. अधस्तनमध्यम, ३. अधस्तनउपरितन, ४. मध्यमअधस्तन, ५. मध्यम-मध्यम, ६. मध्यमोपरितन, ७. उपरिम-अधस्तन, ८. उपरिम-मध्यम और ९. उपरितनोपरितन।

अनुत्तरोपपातिक पांच प्रकार के हैं—१. विजय, २. वैजयंत, ३. जयन्त, ४. अपराजित और सर्वार्थसिद्ध।

उपर्युक्त सब वैमानिकों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के रूप में दो-दो भेद हैं।

उक्त रीति से भेदकथन के पश्चात् भवनवासी देवों के भवनों और उनके निवासों को लेकर प्रश्न किये गये हैं। इसके उत्तर में कहा गया है कि हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं उस रत्नप्रभापृथ्वी का बाहल्य (मोटाई) एक लाख अस्सी हजार योजन का है। उसके एक हजार योजन के ऊपरी भाग को और एक हजार योजन के अधोवर्ती भाग को छोड़कर एक लाख अठहत्तर हजार योजन जितने भाग में भवनवासी देवों के ७ करोड़ और ७२ लाख भवनावास हैं। दस प्रकार के भवनवासी देवों के भवनावासों की संख्या अलग-अलग इस प्रकार है—

१. असुरकुमार के ६४ लाख
२. नागकुमार के ८४ लाख
३. सुपर्णकुमार के ७२ लाख
४. विद्युत्कुमार के ७६ लाख
५. अग्निकुमार के ७६ लाख
६. द्वीपकुमार के ७६ लाख
७. उदधिकुमार के ७६ लाख
८. दिक्कुमार के ७६ लाख
९. पवनकुमार के ९६ लाख
१०. स्तनितकुमार के ७६ लाख

कुल मिलाकर भवनवासियों के सात करोड बहत्तर लाख भवनावास कहे गये हैं।

वे भवन बाहर से गोल और भीतर से समचौरस तथा नीचे कमल की कर्णिका के आकार के हैं। उन भवनों के चारों ओर गहरी और विस्तीर्ण खाइयां और परिखाएँ खुदी हुई हैं, जिनका अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है। यथास्थान परकोटों, अटारियों, कपाटों, तोरणों और प्रतिद्वारों से वे सुशोभित हैं। वे भवन विविध यन्त्रों, शतघ्नियों (महाशिलाओं या महायष्टियों, मूसलों, मुसंडियों आदि शस्त्रों) से वेष्टित हैं। वे शत्रुओं द्वारा अयुध्य (युद्ध न करने योग्य) सदा जयशील, सदा सुरक्षित एवं अडतालीस कोठों से रचित, अडतालीस वनमालाओं में सुसज्जित, क्षेममय, शिवमय, किंकर देवों के दण्डों से उपरक्षित हैं। लीपने और पोतने से वे प्रशस्त हैं। उन पर गोशीर्षचन्दन और सरस रक्तचन्दन से पांचों अंगुलियों के छापे लगे हुए हैं। यथास्थान चंदन के कलश रखे हुए हैं। उनके तोरण प्रतिद्वार देश के भाग चंदन के घड़ों से सुशोभित होते हैं। वे भवन ऊपर से नीचे तक लटकती हुई लम्बी, विपुल एवं गोलाकार मालाओं से युक्त हैं तथा पंचरंग के ताजे सरस सुगंधित पुष्पों के उपचार से युक्त होते हैं। वे काले अगर, श्रेष्ठ चीड, लोबान तथा धूप की महकती हुई सुगंध से रमणीय, उत्तम सुगंधित होने से गंध-बट्टी के समान लगते हैं। वे अप्सरागण के संघातों से व्याप्त, दिव्य वाद्यों के शब्दों से भली-भांति शब्दायमान, सर्वरत्नमय, स्वच्छ, स्निग्ध, कोमल, घिसे हुए, पौंछे हुए, रज से रहित, निर्मल, निष्पंक, आवरणरहित कान्ति वाले, प्रभायुक्त, श्रीसम्पन्न, किरणों से युक्त, उद्योत (शीतल प्रकाश) युक्त, प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप (अतिरमणीय) और प्रतिरूप (सुरूप) हैं।

इन भवनों में पूर्वोक्त बहुत से भवनवासी देव रहते हैं। उन भवनवासी देवों की दस जातियां हैं—असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार। उन दसों जातियों के देवों के मुकुट या आभूषणों में अंकित चिह्न क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. चूडामणि, २. नाग का फन, ३. गरुड, ४. वज्र, ५. पूर्णकलश से अंकित मुकुट, ६. सिंह, ७. मकर, ८. हस्ति का चिह्न, ९. श्रेष्ठ अश्व और १०. वर्द्धमानक (सिकोरा)।

वे भवनवासी देव उक्त चिह्नों से अंकित, सुरूप, महर्द्धिक, महाद्युति वाले, महान् बलशाली, महायशस्वी, महान् अनुभाग (प्रभाव) व अति सुख वाले, हार से सुशोभित वक्षःस्थल वाले, कड़ों और बाजूबंदों से स्तम्भित भुजा वाले, कपोलों को छूने वाले कुण्डल अंगद, तथा कर्णपीठ के धारक, हाथों में विचित्र (नानारूप) आभूषण वाले, विचित्र पुष्पमाला और मस्तक पर मुकुट धारण किये हुए, कल्याणकारी उत्तम वस्त्र पहने हुए, कल्याणकारी श्रेष्ठ माला और अनुलेपन के धारक, देदीप्यमान शरीर वाले, लम्बी वनमाला के धारक तथा दिव्य वर्ण से, दिव्य गंध से, दिव्य स्पर्श से, दिव्य संहनन (शक्ति) से, दिव्य आकृति से, दिव्य ऋद्धि से, दिव्य द्युति से, दिव्य प्रभा से, दिव्य छाया (शोभा) से, दिव्य अर्चि (ज्योति) से, दिव्य तेज से एवं दिव्य लेश्या से दसों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए, सुशोभित करते हुए वे अपने वहाँ अपने-अपने भवनावासों का, अपने-अपने हजारों सामानिक देवों का, अपने-अपने त्रायस्त्रिंश देवों का, अपने-अपने लोकपालों का, अपनी-अपनी अग्रमहिषियों का, अपनी-अपनी परिषदाओं का, अपने-अपने सैन्यों (अनीकों) का, अपने-अपने सेनाधिपतियों का, अपने-अपने आत्मरक्षक देवों का तथा अन्य बहुत से भवनवासी देवों और देवियों का आधिपत्य, पौरोहित्य (महानता), आज्ञैश्वरत्व (आज्ञा पालन कराने का प्रभुत्व) एवं सेनापतित्व आदि करते-कराते हुए तथा पालन करते-कराते हुए अहत (अव्याहत-व्याघात रहित) नृत्य, गीत, वादित्र, तंत्री, तल, ताल, त्रुटित (वाद्य) और घनमृदंग बजाने से उत्पन्न महाध्वनि के साथ दिव्य एवं उपभोग्य भोगों को भोगते हुए विचरते हैं।

सामान्यतया भवनवासी देवों के आवास-निवास सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के बाद विशेष विवक्षा में असुरकुमारों के आवास-निवास सम्बन्धी प्रश्न किया गया है। इसके उत्तर में कहा गया है कि रत्नप्रभा-पृथ्वी के ऊपर व नीचे के एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष एक लाख अठहत्तर हजार योजन के देशभाग में असुरकुमार देवों के चौसठ लाख भवनावास हैं। वे भवन बाहर से गोल, अन्दर से चौरस, नीचे से कमल की कर्णिका के आकार के हैं—आदि भवनावासों का वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

उन भवनावासों में बहुत से असुरकुमार देव रहते हैं जो काले, लोहिताक्ष रत्न तथा बिम्बफल के समान ओठों वाले, श्वेत पुष्पों के समान दांत वाले, काले केशों वाले, बाएँ एक कुण्डल के धारक, गीले चन्दन से लिप्त शरीरवाले, शिलिन्ध्र-पुष्प के समान किंचित् रक्त तथा संक्लेश उत्पन्न न करने वाले सूक्ष्म अतीव उत्तम वस्त्र पहने हुए, प्रथम (कुमार) वय को पार किये हुए और द्वितीय वय को अप्राप्त—भद्रयौवन में वर्तमान होते हैं। वे तलभंगक (भुजा का भूषण) त्रुटित (बाहुरक्षक) एवं अन्यान्य श्रेष्ठ आभूषणों से जटित निर्मल मणियों तथा रत्नों से मण्डित भुजाओं वाले, दस मुद्रिकाओं से सुशोभित अंगुलियों वाले, चूडामणि चिह्न वाले, सुरूप, महर्द्धिक महाद्युतिमान, महायशस्वी, महा-प्रभावयुक्त, महासुखी, हार से सुशोभित वक्षःस्थल वाले आदि पूर्ववत् वर्णन यावत् दिव्य एवं उपभोग्य भोगों का उपभोग करते हुए विचरते हैं।

इन्हीं स्थानों में दो असुरकुमारों के राजा चमरेन्द्र और बलीन्द्र निवास करते हैं। वे काले, महानील के समान, नील की गोली, गवल (भैंसे का सींग), अलसी के फूल के समान रंगवाले, विकसित कमल के समान निर्मल, कहीं श्वेत-रक्त एवं ताम्र वर्ण के नेत्रों वाले, गरुड़ के समान ऊँची नाक वाले, पुष्ट या तेजस्वी मूंगा तथा बिम्बफल के समान अधरोष्ठ वाले, श्वेत विमल चन्द्रखण्ड, जमे हुए दही, शंख, गाय के दूध, कुन्द, जलकण और मृणालिका के समान धवल दंतपंक्ति वाले, अग्नि में तपाये और धोये हुए सोने के समान लाल तलवों, तालु तथा जिह्वा वाले, अञ्जन तथा मेघ के समान काले रुचक रत्न के समान रमणीय एवं स्निग्ध बाल वाले, बाएं एक कान में कुण्डल के धारक आदि वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए यावत् वे दिव्य उपभोग्य भोगों को भोगते हुए विचरते हैं।

दक्षिण दिशा के असुरकुमार देवों के चौंतीस लाख भवनावास हैं। असुरकुमारेन्द्र असुरकुमार राजा चमर वहाँ निवास करता है। वह ६४ हजार सामानिक देवों, तेतीस त्रायस्त्रिंशक देव, चार लोकपाल, सपरिवार, पांच अग्रमहिषियों तीन पर्षदा, सात अनीक, सात अनिकाधिपति, चार ६४ हजार (अर्थात् दो लाख छप्पन हजार) आत्मरक्षक देव और अन्य बहुत से दक्षिण दिशा के देव-देवियों का आधिपत्य करता हुआ विचरता है।

उत्तर दिशा के असुरकुमारों के तीस लाख भवनावास हैं। उन तीस लाख भवनावासों का, साठ हजार सामानिक देवों का, चार लोकपालों का, सपरिवार पांच अग्रमहिषियों का, तीन परिषदों का, सात सेनाओं का, सात सेनाधिपतियों का, चार साठ हजार (दो लाख चालीस हजार) आत्मरक्षक देवों का तथा अन्य बहुत से उत्तर दिशा के असुरकुमार देव-देवियों का आधिपत्य करता हुआ वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलीन्द्र वहाँ निवास करता है।

चमरेन्द्र की परिषद् का वर्णन

[११८.] **चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुरन्नो कइ परिसाओ पण्णत्ताओ ?**

गोयमा ! तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—समिया, चंडा, जाया। अब्भितरिया समिया, मज्झिमिया चंडा बाहिरिया जाया।

चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररन्नो अब्भितरपरिसाए कइ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ? मज्झिमपरिसाए कइ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ? बाहिरियाए परिसाए कइ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररन्नो अब्भितरपरिसाए चउवीसं देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, मज्झिमाए परिसाए अट्ठावीसं देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, बाहिरियाए परिसाए बत्तीसं देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ।

चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो अब्भितरियाए परिसाए कइ देविसया पण्णत्ता ? मज्झिमियाए परिसाए कइ देविसया पण्णत्ता ? बाहिरियाए परिसाए कति देविसया पण्णत्ता ?

गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो अब्भितरियाए परिसाए अद्धट्ठा देविसया पण्णत्ता मज्झिमियाए परिसाए तिन्नि देविसया पण्णत्ता बाहिरियाए अड्ढाइज्जा देविसया पण्णत्ता।

चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो अब्भितरियाए परिसाए देवाणं केवइयं ठिई पण्णत्ता ? मज्झिमियाए परिसाए० बाहिरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? अब्भितरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ? मज्झिमियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ? बाहिरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररन्नो अब्भितरियाए परिसाए देवाणं अड्ढाइज्जाइं पलिओवमाइं ठिई पणत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवाणं दो पलिओवमाइं ठिई पणत्ता। बाहिरियाए परिसाए देवाणं दिवड्ढं पलिओवमं ठिई पण्णत्ता। अब्भितरियाए परिसाए देवीणं दिवड्ढं पलिओवमं ठिई पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवीणं पलिओवमं ठिई पण्णत्ता। बाहिरियाए परिसाए देवीणं अद्धपलिओवमं ठिई पण्णत्ता।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, चमरस्स असुरिंदस्स असुररन्नो तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—समिया चंडा जाया ? अब्भितरिया समिया, मज्झिमिया चंडा, बाहिरिया जाया ?

गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररन्नो अब्भितरपरिसादेवा वाहिया हव्वमागच्छंति णो अव्वाहिया, मज्झिमपरिसाए देवा वाहिया हव्वमागच्छंति अव्वाहिया वि, बाहिरपरिसा देवा अव्वाहिया हव्वमागच्छंति।

अदुत्तरं च णं गोयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया अन्नयरेसु उच्चावएसु कज्जकोडुंबेसु समुप्पन्नेसु अब्भितरियाए परिसाए सद्धि संमइसंपुच्छणाबहुले विहरइ, मज्झिमपरिसाए सद्धि पयं एवं पवंचेमाणं पवंचेमाणे विहरइ, बाहिरियाए परिसाए सद्धि पयंडेमाणे पयंडेमाणे विहरइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तओ परिसाओ पण्णत्ताओ-समिया चंडा जाया; अब्भितरिया समिया, मज्झिमिया चंडा, बाहिरिया जाया।

[११८] हे भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की कितनी परिषदाएँ कही गई हैं ?

गौतम ! तीन पर्षदाएँ कही गई हैं, यथा—समिता, चंडा और जाता। आभ्यन्तर पर्षदा समिता कहलाती है। मध्यम परिषदा चंडा और बाह्य परिषदा जाया कहलाती है।

हे भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की आभ्यन्तर पर्षदा में कितने हजार देव हैं ? मध्यम परिषदा में कितने हजार देव हैं और बाह्य परिषदा में कितने हजार देव हैं ?

गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की आभ्यन्तर परिषदा में चौबीस हजार देव हैं, मध्यम परिषदा में अट्ठावीस हजार देव हैं और बाह्य परिषदा में बत्तीस हजार देव हैं।

हे भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की आभ्यन्तर परिषदा में कितनी देवियाँ हैं ? मध्यम परिषदा में कितनी देवियाँ हैं और बाह्य परिषदा में कितनी देवियाँ हैं ?

हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की आभ्यन्तर परिषद् में साढे तीन सौ देवियाँ हैं, मध्यम परिषद् में तीन सौ और बाह्य परिषद् में ढाई सौ देवियाँ हैं।

हे भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की आभ्यन्तर परिषद् के देवों की स्थिति कितनी कही गई है ? मध्यम परिषद् के देवों की स्थिति कितनी है और बाह्य परिषद् के देवों की स्थिति कितनी है ? आभ्यन्तर परिषद् की देवियों की, मध्यम परिषद् की देवियों की और बाह्य परिषद् की देवियों की स्थिति कितनी कही गई है ?

गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की आभ्यन्तर परिषदा के देवों की स्थिति ढाई पल्योपम, मध्यम पर्षदा के देवों की दो पल्योपम और बाह्य परिषदा के देवों की डेढ़ पल्योपम की स्थिति है। आभ्यन्तर पर्षदा की देवियों की डेढ़ पल्योपम, मध्यम परिषदा की देवियों की एक पल्योपम की और बाह्य परिषद् की देवियों की स्थिति आधे पल्योपम की है।

हे भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि असुरेन्द्र असुरराज चमर की तीन पर्षदा हैं—समिता, चंडा और जाता। आभ्यन्तर पर्षदा समिता कहलाती है, मध्यम पर्षदा चंडा कहलाती है और बाह्य परिषद् जाता कहलाती है ?

गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की आभ्यन्तर परिषदा के देव बुलाये जाने पर आते हैं, बिना बुलाये नहीं आते। मध्यम परिषद् के देव बुलाने पर भी आते हैं और बिना बुलाये भी आते हैं। बाह्य परिषदा के देव बिना बुलाये आते हैं। गौतम ! दूसरा कारण यह है कि असुरेन्द्र असुरराज चमर किसी प्रकार के ऊँचे-नीचे, शोभन-अशोभन कौटुम्बिक कार्य आ पड़ने पर आभ्यन्तर परिषद् के साथ विचारणा करता है, उनकी सम्मति लेता है। मध्यम परिषदा को अपने निश्चित किये कार्य की सूचना देकर उन्हें स्पष्टता के साथ कारणादि समझाता है और बाह्य परिषदा को आज्ञा देता हुआ विचरता है। इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि असुरेन्द्र असुरराज चमर की तीन परिषदाएँ हैं—समिता, चंडा और जाता। आभ्यन्तर पर्षद् समिता कहलाती है, मध्यम परिषद् चंडा कही जाती है और बाह्य परिषद् को जाता कहते है।[1]

[११९.] कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं भवणा पण्णत्ता ? जहा ठाणपदे जाव बली एत्थ वइरोयणिंदे वइरोयणराया परिवसइ जाव विहरइ।

बलिस्स णं भंते ! वयरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो कइ परिसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! तिण्णि परिसाओ, तं जहा—समिया चंडा जाया। अब्भितरिया समिया, मज्झमिया चंडा बाहिरिया जाया। बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो अब्भितरपारिसाए कति देवसहस्सा ? मज्झिमियाए परिसाए कति देवसहस्सा जाव बाहिरियाए परिसाए कति देविसया पण्णत्ता ?

गोयमा ! बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो अब्भितरियाए परिसाए वीसं देवसहस्सा

---

१. परिषद् की संख्या और स्थिति बताने वाली दो संग्रहणी गाथाएँ—

चउवीस अट्ठवीसा बत्तीस सहस्स देव चमरस्स,
अद्धुट्ठा तिन्नि तहा अड्ढाइज्जा य देविसया।
अड्ढाइज्जा य दोन्नि य दिवड्ढपलियं कमेण देवठिई,
पलियं दिवड्ढमेगं अद्धो देवीण परिसासु॥

पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए चउवीसं देवसहस्सा पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए अट्ठावीसं देव-सहस्सा पण्णत्ता। अब्भितरियाए परिसाए अद्धपंचमा देविसया. मज्झिमियाए परिसाए चत्तारि देविसया पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए अद्धुट्ठा देविसया पण्णत्ता।

बलिस्स ठितीए पुच्छा जाव बाहिरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो अब्भितरियाए परिसाए देवाणं अद्धुट्ठ-पलिओवमा ठिई पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए तिण्णि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, बाहि-रियाए परिसाए देवाणं अड्ढाइज्जाइं पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, अब्भितरियाए परिसाए देवीणं अड्ढाइज्जाइं पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवीणं दो पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवीणं दिवड्ढं पलिओवमं ठिई पण्णत्ता, सेसं जहा चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो।

[११९] हे भगवन् ! उत्तर दिशा के असुरकुमारों के भवन कहाँ कहे गये हैं ?

गौतम ! जैसा स्थान पद में कहा गया है, वह कथन कहना चाहिए यावत् वहाँ वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि निवास करता है यावत् दिव्य भोगों का उपभोग करता हुआ विचरता है।

हे भगवन् ! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि की कितनी पर्षदा कही गई हैं ?

गौतम ! तीन परिषदाएँ कही गई हैं, यथा—समिता, चण्डा और जाता। आभ्यन्तर परिषदा समिता कहलाती है, मध्यम परिषदा चण्डा है और बाह्य पर्षद् जाता है।

हे भगवन् ! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि की आभ्यन्तर परिषदा में कितने हजार देव हैं ? मध्यम पर्षद् में कितने हजार देव हैं यावत् बाह्य परिषदा में कितनी सौ देवियाँ हैं ?

गौतम ! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि की आभ्यन्तर परिषद् में बीस हजार देव हैं, मध्यम परिषदा में चौबीस हजार देव हैं और बाह्य परिषदा में अट्ठावीस हजार देव हैं। आभ्यन्तर परिषद् में साढ़े चार सौ देवियाँ हैं, मध्यम परिषदा में चार सौ देवियाँ हैं। बाह्य परिषदा में साढ़े तीन सौ देवियाँ हैं।

हे भगवन् ! बलि की परिषदा की स्थिति के विषय में प्रश्न है यावत् बाह्य परिषदा की देवियों की स्थिति कितनी है ?

गौतम ! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि की आभ्यन्तर परिषद् के देवों की स्थिति साढ़े तीन पल्योपम की है, मध्यम परिषद् के देवों की स्थिति तीन पल्योपम की है और बाह्य परिषद् के देवों की स्थिति ढाई पल्योपम की है। आभ्यन्तर परिषद् की देवियों की स्थिति ढाई पल्योपम की है। मध्यम परिषद् की देवियों की स्थिति दो पल्योपम की और बाह्य परिषद् की देवियों की स्थिति डेढ़ पल्योपम की है। शेष वक्तव्यता असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर की तरह कहनी चाहिए।[1]

---

१. देवदेविसंख्यास्थिति विषयक संग्रहणिगाथा—
बीसउ चउवीस अट्ठावीस सहस्साण होन्ति देवाणं।
अद्धपण चउ अद्धुठा देविसय बलिस्स परिसासु ॥१॥
अद्धुट्ठ तिण्णि अड्ढाइज्जाइं होंति पलिय देव ठिई।
अड्ढाइज्जा दोण्णि य दिवड्ढ देवीण ठिई कमसो ॥२॥

नागकुमारों की वक्तव्यता

[१२०.] कहि णं भंते ! नागकुमाराणं देवाणं भवणा पण्णत्ता ? जहा ठाणपदे जाव दाहिणिल्लावि पुच्छियव्वा जाव धरणे इत्थ नागकुमारिंदे नागकुमारराया परिवसइ जाव विहरइ ।

धरणस्स णं भंते ! नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो कति परिसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा तिण्णि परिसाओ ताओ चेव जहा चमरस्स ।

धरणस्स णं भंते ! णागकुमारिंदस्स णागकुमाररन्नो अब्भितरियाए परिसाए कइ देवसहस्सा पण्णत्ता ? जाव बाहिरियाए परिसाए कइ देवीसया पण्णत्ता ?

गोयमा ! धरणस्स णं णागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो अब्भितरियाए परिसाए सट्ठि देवसहस्साइं, मज्झिमियाए परिसाए सत्तरिं देवसहस्साइं बाहिरियाए असीति देवसहस्साइं अब्भितरपरिसाए पण्णसत्तरं देविसयं पण्णत्तं, मज्झिमियाए परिसाए पण्णासं देविसयं पण्णत्तं, बाहि-रियाए परिसाए पणवीसं देविसयं पण्णत्तं ।

धरणस्स णं रन्नो अब्भितरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ? मज्झिमियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ? बाहिरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ? अब्भितरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ? मज्झिमियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ? बाहिरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! धरणस्सणं रण्णो अब्भितरियाए परिसाए देवाणं सातिरेगं अद्धपलिओवमं ठिती-पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवाणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवाणं देसूणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अब्भितरियाए परिसाए देवीणं देसूणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवीणं सातिरेगं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवीणं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अट्ठो जहा चमरस्स ।

कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं णागकुमाराणं ? जहा ठाणपदे जाव विहरति । भूयाणंदस्स णं भंते ! णागकुमारिंदस्स णागकुमाररण्णो अब्भितरियाए परिसाए कइ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ? मज्झिमियाए परिसाए कति देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ? बाहिरियाए परिसाए कइ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ अब्भितरियाए परिसाए कइ देविसया पण्णत्ता ? मज्झिमियाए परिसाए कइ देविसया पण्णत्ता ? बाहिरियाए परिसाए कइ देविसया पण्णत्ता ?

गोयमा ! भूयानंदस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो अब्भितरियाए परिसाए पन्नासं देवसहस्सा पण्णत्ता । मज्झिमियाए परिसाए सट्ठि देवसहस्सा पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए सत्तरिं देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ । अब्भितरियाए परिसाए दो पणवीसं देविसया णं पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए दो देविसया पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए पण्णत्तरं देविसयं पण्णत्तं ।

भूयानंदस्स णं भंते ! नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो अब्भितरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ? जाव बाहिरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! भूयानंदस्स णं अब्भितरियाए परिसाए देवाणं देसूणं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवाणं साइरेगं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवाणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अब्भितरियाए परिसाए देवीणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवीणं देसूणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवीणं साइरेगं चउब्भाग-पलिओवमं ठिती पण्णत्ता। अत्थो जहा चमरस्स। अवसेसाणं वेणुदेवादीणं महाघोसपज्जवसाणाणं ठाणपयवत्तव्वया णिरवयवा भाणियव्वा, परिसाओ जहा धरण-भूयानंदाणं। (सेसाणं भवणवईणं) दाहिणिल्लाणं जहा धरणस्स उत्तरिल्लाणं जहा भूयाणंदस्स, परिमाणं पि ठिती वि ॥

[१२०] हे भगवन् ! नागकुमार देवों के भवन कहाँ कहे गये हैं ?

गौतम ! जैसे स्थानपद में कहा है वैसी वक्तव्यता जानना चाहिए यावत् दक्षिणदिशावर्ती नागकुमारों के आवास का प्रश्न भी पूछना चाहिए यावत् वहाँ नागकुमारेन्द्र और नागकुमारराज धरण रहता है यावत् दिव्यभोगों को भोगता हुआ विचरता है।

हे भगवन् ! नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरण की कितनी परिषदाएँ हैं ?

गौतम तीन परिषदाएँ कही गई हैं। उनके नाम वे ही हैं जो चमरेन्द्र की परिषदा के कहे हैं।

हे भगवन् ! नागकुमारेन्द्र नागराज धरण की आभ्यन्तर परिषद् में कितने हजार देव हैं ? यावत् बाह्य परिषद् में कितनी सौ देवियाँ हैं ?

गौतम ! नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरण की आभ्यन्तर परिषदा में साठ हजार देव हैं, मध्यम परिषदा में सत्तर हजार देव हैं और बाह्य परिषद् में अस्सी हजार देव हैं। आभ्यन्तर परिषद् में १७५ देवियाँ हैं, मध्यपर्षद् में १५० और बाह्य परिषद् में १२५ देवियाँ हैं।

धरणेन्द्र नागराज की आभ्यन्तर परिषदा के देवों की कितने काल की स्थिति कही गई है ? मध्यम परिषदा के देवों की स्थिति और बाह्य परिषद् के देवों की स्थिति कितनी कही गई है ? आभ्यन्तर परिषद् की देवियों की स्थिति मध्यम परिषद्, की देवियों की स्थिति और बाह्य परिषद् की देवियों की स्थिति कितनी कही गई है ?

गौतम ! नागराज धरणेन्द्र की आभ्यन्तर परिषद् के देवों की स्थिति कुछ अधिक आधे पल्योपम की है, मध्यम परिषद् के देवों की स्थिति आधे पल्योपम की है, बाह्य परिषद् के देवों की स्थिति कुछ कम आधे पल्योपम की है। आभ्यन्तर परिषद् की देवियों की स्थिति देशोन आधे पल्योपम की है, मध्यम परिषद् की देवियों की स्थिति कुछ अधिक पाव पल्योपम की है और बाह्य परिषद् की देवियों की स्थिति पाव पल्योपम की है। तीन प्रकार की पर्षदाओं का अर्थ आदि कथन चमरेन्द्र की तरह जानना।

हे भगवन् ! उत्तर दिशा के नागकुमार देवों के भवन कहाँ कहे गये हैं आदि वर्णन स्थानपद के अनुसार जानना चाहिए यावत् वहाँ भूतानन्द नामक नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज रहता है यावत् भोगों का उपभोग करता हुआ विचरता है।

हे भगवन् ! नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज भूतानन्द की आभ्यन्तर परिषद् में कितने हजार देव हैं, मध्यम परिषद् में कितने हजार देव हैं और बाह्य परिषद् में कितने हजार देव हैं ? आभ्यन्तर परिषद् में कितनी सौ देवियाँ हैं, मध्यम परिषद् में कितनी सौ देवियाँ हैं ? और बाह्य परिषद् में कितनी सौ देवियाँ हैं ?

गौतम ! नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज भूतानन्द की आभ्यन्तर परिषद् में पचास हजार देव हैं, मध्यम परिषद् में साठ हजार देव हैं और बाह्य परिषद् में सत्तर हजार देव हैं। आभ्यन्तर परिषद् की देवियाँ २२५ हैं, मध्यम परिषद् की देवियाँ २०० हैं तथा बाह्य परिषद् की देवियाँ १७५ हैं।

हे भगवन् ! नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज भूतानन्द की आभ्यन्तर परिषद् के देवों की स्थिति कितनी कही है ? यावत् बाह्य परिषद् की देवियों की स्थिति कितनी कही है ?

गौतम ! भूतानन्द के आभ्यन्तर परिषद् के देवों की स्थिति देशोन पल्योपम है, मध्यम परिषद् के देवों की स्थिति कुछ अधिक आधे पल्योपम की है और बाह्य परिषद् के देवों की स्थिति आधे पल्योपम की है। अभ्यन्तर परिषद् की देवियों की स्थिति आधे पल्योपम की है, मध्यम परिषद् की देवियों की स्थिति देशोन आधे पल्योपम की है और बाह्य परिषद् की देवियों की स्थिति कुछ अधिक पाव पल्योपम है। परिषदों का अर्थ आदि कथन चमरेन्द्र की तरह जानना।

शेष वेणुदेव से लगाकर मेहाघोष पर्यन्त की वक्तव्यता स्थानपद के अनुसार पूरी-पूरी कहना चाहिए। परिषद् के विषय में भिन्नता है वह इस प्रकार है—दक्षिण दिशा के भवनपति इन्द्रों की परिषद् धरणेन्द्र की तरह और उत्तर दिशा के भवनपति इन्द्रों की परिषदा भूतानन्द की तरह कहनी चाहिए। परिषदों, देव-देवियों की संख्या तथा स्थिति भी उसी तरह जान लेनी चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में असुरकुमार और नागकुमार भवनपतिदेवों के भवन, परिषदा, परिषदा का प्रमाण और स्थिति का वर्णन किया गया है जो मूलपाठ से ही स्पष्ट है। आगे के सुपर्णकुमार आदि भवनवासियों के लिए धरणेन्द्र और भूतानन्द की तरह जानने, की सूचना है। दक्षिण दिशा के भवनपतियों का वर्णन धरणेन्द्र की तरह और उत्तर दिशा के भवनपतियों का वर्णन भूतानन्द की तरह जानना चाहिए।

इन भवनपतियों में भवनों की संख्या, इन्द्रों के नाम और परिमाण आदि में भिन्नता है वह पूर्वाचार्यों ने सात गाथाओं में बताई हैं जिनका भावार्थ इस प्रकार है[1]—

---

१. चउसट्ठी असुराणं चुलसीइ चेव होइ नागाणं।
बावत्तरिं सुवन्ने वायुकुमाराण छन्नउइ ॥१॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

असुरकुमारों के ६४ लाख भवन हैं, नागकुमारों के ८४ लाख, सुपर्णकुमारों के ७२ लाख, वायुकुमारों के ९६ लाख द्वीपकुमार, दिक्कुमार, उदधिकुमार, विद्युत्कुमार, स्तनितकुमार और अग्निकुमार इन छह भवनपतियों के प्रत्येक के ७६-७६ लाख भवन हैं। (१-२)

दक्षिण और उत्तर दिशाओं के भवनवासियों के भवनों की अलग-अलग संख्या इस प्रकार है—

दक्षिण दिशा के असुरकुमारों के ३४ लाख भवन, नागकुमारों के ४४ लाख, सुपर्णकुमारों के ३८ लाख, वायुकुमारों के ५० लाख शेष ६ द्वीप-दिशा-उदधि, विद्युत्, स्तनित, अग्निकुमारों के प्रत्येक के ४०-४० लाख भवन हैं। (३)

उत्तरदिशा के असुरकुमारों के भवन ३० लाख, नागकुमारों के ४० लाख, सुपर्णकुमारों के ३४ लाख, वायुकुमारों के ४६ लाख शेष छहों के प्रत्येक के ३६-३६ लाख भवन हैं। इस प्रकार दक्षिण और उत्तर दोनों दिशाओं के भवनपतियों के भवनों की संख्या मिलाकर कुल भवनसंख्या प्रथम और दूसरी गाथा में कही गई है।

भवनपति इन्द्रों के नामों को बताने वाली गाथाओं में पहले दक्षिण दिशा के इन्द्रों के नाम बताये हैं—

दक्षिण दिशा के असुरकुमारों का इन्द्र चमर है। नागकुमारों का धरण, सुपर्णकुमारों का वेणुदेव, विद्युत्कुमारों का हरिकान्त, अग्निकुमारों का अग्निशिख, द्वीपकुमारों का पूर्ण, उदधिकुमारों का जलकान्त, दिक्कुमारों का अमितगति, वायुकुमारों का वेलम्ब और स्तनितकुमारों का घोष इन्द्र है।

उत्तरदिशा के असुरकुमारों का इन्द्र बलि है। नागकुमारों का भूतानन्द, सुपर्णकुमारों का वेणुदाली, विद्युत्कुमारों का हरिस्सह, अग्निकुमारों का अग्निमाणव, द्वीपकुमारों का विशिष्ट, उदधिकुमारों का जलप्रभ, दिक्कुमारों का अमितवाहन, वायुकुमारों का प्रभंजन, और स्तनितकुमारों का महाघोष है।

दीव दिसा उदहीणं विज्जुकुमारिंद थणियमग्गीणं।
छण्हं पि जुयलयाणं छावत्तरिओ सयसहस्सा ॥२॥
चोत्तीसा चोयाला अट्ठतीसं च सयसहस्साइं।
पण्णा चत्तालीसा दाहिणओ होंति भवणाइं ॥३॥
तीसा चत्तालीसा चोत्तीसं चेव सयसहस्साइं।
छायाला छत्तीसा उत्तरओ होंति भवणाइं ॥४॥
चमरे धरणे तह वेणुदेव हरिकंत अग्गिसिहे य।
पुण्णे जलकंते अमिए लंबे य घोसे य ॥५॥
बलि भूयाणंदे वेणुदालि हरिस्सह अग्गिमाणव विसिट्ठे।
जलप्पभ अमियवाहण पभंजणे चेव महघोसे ॥६॥
चउसट्ठी सट्ठी खलु छच्च सहस्सा उ असुरवज्जाणं।
सामाणिया उ एए चउग्गुणा आयरक्खा उ ॥७॥ —संग्रहणी गाथाएँ

भवनादि-दर्शक यंत्र

भवनपति नाम	दक्षिण के भवन	उत्तर के भवन	कुल भवन	इन्द्र दक्षिण-उत्तर		सामानिक देव	आत्मरक्षक देव
असुरकुमार	३४ लाख	३० लाख	६४ लाख	चमर	बलि	चमर के ६४ हजार	चमर के २ लाख
नागकुमार	४४ लाख	४० लाख	८४ लाख	धरण	भूतानंद	बलि के ६० हजार	छप्पन हजार
सुपर्णकुमार	३८ ,,	३४ ,,	७२ ,,	वेणुदेव	वेणुदालि	शेष सब के	बलि के २ लाख
विद्युत्कुमार	४० ,,	३६ ,,	७६ ,,	हरिकांत	हरिस्सह	६०००	चालीस हजार
अग्निकुमार	४० ,,	३६ ,,	७६ ,,	अग्निशिख	अग्निमाणव	,,	२४ हजार
द्वीपकुमार	४० ,,	३६ ,,	७६ ,,	पूर्ण	विशिष्ट	,,	,,
उदधिकुमार	४० ,,	३६ ,,	७६ ,,	जलकांत	जलप्रभ	,,	,,
दिक्कुमार	४० ,,	३६ ,,	७६ ,,	अमितगति	अमितवाहन	,,	,,
वायुकुमार	५० ,,	४६ ,,	७६ ,,	वेलंब	प्रभंजन	,,	,,
स्तनितकुमार	४० ,,	३६ ,,	७६ ,,	घोष	महाघोष	,,	,,

□

तृतीय प्रतिपत्ति

वानव्यन्तरों का अधिकार

१२१. कहि णं भंते ! वाणमंतराणं देवाणं भवणा (भोमेज्जणगरा) पण्णत्ता ? जहा ठाणपदे जाव विहरंति ।

कहि णं भंते ! पिसायाणं देवाणं भवणा पण्णत्ता ? जहा ठाणपदे जाव विहरंति । कालमहाकाला य तत्थ दुवे पिसायकुमाररायाणो परिवसंति जाव विहरंति ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं पिसायकुमाराणं जाव विहरंति काले य एत्थ पिसायकुमारिंदे पिसायकुमारराया परिवसइ महड्डिए जाव विहरति ।

कालस्स णं भंते ! पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररण्णो कति परिसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! तिण्णि परिसाओ पण्णत्ताओ तं जहा—ईसा तुडिया दढरहा । अब्भितरिया ईसा, मज्झिमिया तुडिया, बाहिरिया दढरहा ।

कालस्स णं भंते ! पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररण्णो अब्भितरपरिसाए कति देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ? जाव बाहिरियाए परिसाए कइ देविसया पण्णत्ता ? गोयमा ! कालस्स णं पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररायस्स अब्भितरपरिसाए अट्ठ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ । मज्झिमपरिसाए दस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ बाहिरियपरिसाए बारस देव साहस्सीओ पण्णत्ताओ । अब्भितरपरिसाए एगं देविसयं पण्णत्तं । मज्झिमियाए परिसाए एगं देविसयं पण्णत्तं । बाहिरियाए-परिसाए एगं देविसयं पण्णत्तं ।

कालस्स णं भंते ! पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररण्णो अब्भितरपरिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ? मज्झिमियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ? बाहिरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? जाव बाहिरियाए परिसाए देवीण केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! कालस्स णं पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररण्णो अब्भिन्भतरपरिसाए देवाणं अद्धपलिओवमं ठिई पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवाणं देसूणं अद्धपलिओवमं ठिई पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवाणं सातिरेगं चउब्भाग पलिओवमं ठिई पण्णत्ता । अब्भितरपरिसाए देवीणं सातिरेगं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमपरिसाए देवीणं चउब्भाग पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, बाहिरपरिसाए देवीणं देसूणं चउब्भाग पलिओवमं ठिती पण्णत्ता । अट्ठो जो चेव चमरस्स । एवं उत्तरस्स वि एवं णिरंतरं जाव गीयजसस्स ।

[१२१] हे भगवन् ! वानव्यन्तर देवों के भवन (भौमेय नगर) कहाँ कहे गये हैं ?

जैसा स्थानपद में कहा वैसा कथन कर लेना चाहिए यावत् दिव्य भोग भोगते हुए विचरते हैं।

हे भगवन् ! पिशाचदेवों के भवन कहाँ कहे गये हैं ?

जैसा स्थानपद में कहा वैसा कथन कर लेना चाहिए यावत् दिव्य भोगों का उपभोग करते हुए विचरते हैं। वहाँ काल और महाकाल नाम के दो पिचाशकुमारराज रहते हैं यावत् विचरते हैं।

हे भगवन् दक्षिण दिशा के पिशाचकुमारों के भवन कहाँ कहे गये हैं ? इत्यादि कथन कर लेना चाहिए यावत् भोग भोगते हुए विचरते हैं। वहाँ महर्द्धिक पिशाचकुमार इन्द्र पिशाचकुमार-राज रहते है यावत् भोगों का उपभोग करते हुए विचरते हैं।

हे भगवन् ! पिशाचकुमारेन्द्र पिशाचकुमारराज काल की कितनी परिषदाएँ हैं ?

गौतम ! तीन परिषदाएँ हैं। वे इस प्रकार हैं—ईशा, त्रुटिता और दृढरथा। आभ्यन्तर परिषद् ईशा कहलाती है। मध्यम परिषद् त्रुटिता है और बाह्य परिषद् दृढरथा कहलाती है।

हे भगवन् ! पिशाचकुमारेन्द्र पिशाचराज काल की आभ्यन्तर परिषद् में कितने हजार देव हैं ? यावत् बाह्य परिषद् में कितनी सौ देवियां हैं ?

गौतम ! पिशाचकुमारेन्द्र पिशाचराज काल की आभ्यन्तर परिषद् में आठ हजार देव हैं, मध्यम परिषद् में दस हजार देव हैं और बाह्य परिषद् में बारह हजार देव हैं। आभ्यन्तर परिषदा में एक सौ देवियां हैं, मध्यम परिषदा में एक सौ और बाह्य परिषदा में भी एक सौ देवियां हैं।

हे भगवन् ! पिशाचकुमारेन्द्र पिशाचराज की आभ्यन्तर परिषद् के देवों की स्थिति कितनी है ? मध्यम परिषद् के और बाह्य परिषद् के देवों की स्थिति कितनी है ? यावत् बाह्य परिषदा की देवियों की स्थिति कितनी है ?

गौतम ! पिशाचकुमारेन्द्र पिशाचराज काल की आभ्यन्तर परिषद् के देवों की स्थिति आधे पल्योपम की है, मध्यमपरिषद् के देवों की देशोन आधा पल्योपम और बाह्यपरिषद् के देवों की स्थिति कुछ अधिक पाव पल्योपम की है। आभ्यन्तरपरिषद् की देवियों की स्थिति कुछ अधिक पाव-पल्योपम, मध्यमपरिषद् की देवियों की स्थिति पाव पल्योपम और बाह्य परिषद् की देवियों की स्थिति देशोन पाव पल्योपम की है। परिषदों का अर्थ आदि कथन चमरेन्द्र की तरह कहना चाहिए। इसी प्रकार उत्तर दिशा के वानव्यन्तरों के विषय में भी कहना चाहिए। उक्त सब कथन गीतयश नामक गन्धर्वइन्द्र पर्यन्त कहना चाहिए।

विवेचन:—प्रस्तुत सूत्र में वानव्यन्तरों के भोमेय नगरों के विषय में प्रश्नोत्तर हैं। प्रश्न किया गया है कि वानव्यन्तर देवों के भवन (भौमेय नगर) कहां हैं। उत्तर में प्रज्ञापनासूत्र के द्वितीय स्थान पद के अनुसार वक्तव्यता कहने की सूचना की गई है। संक्षेप में प्रज्ञापनासूत्र में किया गया वर्णन इस प्रकार हैं—

इस रत्नप्रभापृथ्वी के एक हजार योजन मोटे रत्नमय काण्ड के ऊपर से एक सौ योजन अवगाहन करने के बाद तथा नीचे के भी एक सौ योजन छोड़कर बीच में आठ सौ योजन में वान-व्यन्तर देवों के तिरछे असंख्यात भौमेय (भूमिगृह समान) लाखों नगरावास हैं।

वे भौमेय नगर बाहर से गोल, अन्दर से चौरस तथा नीचे से कमल की कर्णिका के आकार से संस्थित हैं। उनके चारों ओर गहरी और विस्तीर्ण खाइयाँ और परिखाएँ खुदी हुई हैं। वे यथा-स्थान प्राकारों, अट्टालकों, कपाटों, तोरणों और प्रतिद्वारों से युक्त हैं। इत्यादि वर्णन सूत्र ११७ के विवेचन के अनुसार समझ लेना चाहिए। यावत् वे भवन प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं।

उन नगरावासों में बहुत से पिशाच आदि वानव्यन्तर देव रहते हैं। वे देव अनवस्थित चित्त के होने से अत्यन्त चपल, क्रीडातत्पर और परिहास-प्रिय होते हैं। गंभीर हास्य, गीत और नृत्य में इनकी अनुरक्ति रहती है। वनमाला, कलंगी, मुकुट, कुण्डल तथा इच्छानुसार विकुर्वित आभूषणों से वे भली-भाँति मण्डित रहते हैं। सभी ऋतुओं में होने वाले सुगन्धित पुष्पों से रचित, लम्बी, शोभनीय सुन्दर एवं खिलती हुई विचित्र वनमाला से उनका वक्षःस्थल सुशोभित रहता है। अपनी कामनानुसार काम-भोगों का सेवन करने वाले, इच्छानुसार रूप एवं देह के धारक, नाना प्रकार के वर्णों वाले श्रेष्ठ विचित्र चमकीले वस्त्रों के धारक, विविध देशों की वेशभूषा धारण करने वाले होते हैं। इन्हें प्रमोद, कन्दर्प (कामक्रीडा) कलह, केलि और कोलाहल प्रिय है। इनमें हास्य और बोल-चाल बहुत होता है। इनके हाथों में खड्ग, मुद्गर, शक्ति और भाले भी रहते हैं। ये अनेक मणियों और रत्नों के विविध चिह्न वाले होते हैं। वे महर्द्धिक, महाद्युतिमान्, महायशस्वी, महाबलवान्, महानुभाव, महासामर्थ्यशाली, महासुखी और हार से सुशोभित वक्षःस्थल वाले होते हैं। कड़े और बाजूबन्द से उनकी भुजाएँ स्तब्ध रहती हैं। अंगद और कुण्डल इनके कपोलस्थल को स्पर्श किये रहते हैं। ये कानों में कर्णपीठ धारण किये रहते हैं। इनके शरीर अत्यन्त देदीप्यमान होते हैं। वे लम्बी वनमालाएँ धारण करते हैं। दिव्य वर्ण से, दिव्य गन्ध से, दिव्य स्पर्श से, दिव्य संहनन से, दिव्य संस्थान से, दिव्य ऋद्धि से, दिव्य द्युति से, दिव्य प्रभा से, दिव्य छाया (कांति) से, दिव्य अर्चि (ज्योति) से, दिव्य तेज से एवं दिव्य लेश्या से, दसों दिशाओं को उद्योतित एवं प्रभासित करते हुए विचरते हैं।

वे अपने लाखों भौमेय नगरावासों का, अपने-अपने हजारों सामानिक देवों का, अपनी-अपनी अग्र महिषियों का, अपनी अपनी परिषदों का, अपनी अपनी सेनाओं का, अपने अपने सेनाधिपति देवों का, अपने अपने आत्मरक्षकों और अन्य बहुत से वानव्यन्तर देवों और देवियों का आधिपत्य, पौरपत्य स्वामित्व, भर्तृत्व, महत्तरकत्व, आज्ञेश्वरत्व एवं सेनापतित्व करते-कराते तथा उनका पालन करते-कराते हुए, महान् उत्सव के साथ नृत्य, गीत और वीणा, तल, ताल, त्रुटित घन मृदंग आदि वाद्यों को बजाने से उत्पन्न महाध्वनि के साथ दिव्य उपभोग्य भोगों को भोगते हुए रहते हैं।

उक्त वर्णन सामान्यरूप से वानव्यन्तरों के लिए है। विशेष विवक्षा में पिशाच आदि वानव्यन्तरों का वर्णन भी इसी प्रकार जानना चाहिए। अर्थात् उन भौमेयनगरों में पिशाचदेव अपने अपने भवन, सामानिक आदि देव-देवियों का आधिपत्य करते हुए विचरते हैं। इन नगरावासों में दो पिशाचेन्द्र पिशाचराज काल और महाकाल निवास करते हैं। वे महर्द्धिक महाद्युतिमान यावत् दिव्य भोगों को भोगते हुए विचरते हैं। दक्षिणवर्ती क्षेत्र का इन्द्र पिशाचेन्द्र पिशाचराज काल है और उत्तरवर्ती क्षेत्र का इन्द्र पिशाचेन्द्र पिशाचराज महाकाल है।

वह पिशाचेन्द्र पिशाचराज काल तिरछे असंख्यात भूमिगृह जैसे लाखों नागरावासों का, चार हजार सामानिक देवों का, चार अग्रमहिषियों का, तीन परिषदों का, सात सेनाओं का, सात

सेनाधिपतियों का सोलह हजार आत्मरक्षक देवों का और बहुत से दक्षिणदिशा के वाणव्यन्तर देवों और देवियों का आधिपत्य करता हुआ विचरता है।

पिशाचेन्द्र पिशाचराज काल की तीन परिषदाएँ हैं—ईशा, त्रुटिता और दृढरथा। आभ्यन्तर परिषद् को ईशा कहते हैं, मध्यम परिषद् को त्रुटिता और बाह्य परिषद् को दृढरथा कहा जाता है। आभ्यन्तर परिषद् में देवों की संख्या आठ हजार है, मध्यम परिषद् में दस हजार देव हैं और बाह्य परिषद् में बारह हजार देव हैं। तीनों परिषदों में देवियों की संख्या एक सौ-एक सौ है।

उनकी स्थिति इस प्रकार है—
आभ्यन्तर परिषद् के देवों की स्थिति आधे पल्योपम की है।
मध्यम परिषद् के देवों की स्थिति देशोन आधे पल्योपम की है।
बाह्य परिषद् के देवों की स्थिति कुछ अधिक पाव पल्योपम की है।
आभ्यन्तर परिषद् की देवी की स्थिति कुछ अधिक पाव पल्योपम की है।
मध्यम परिषद् की देवी की स्थिति पाव पल्योपम की है।
बाह्य परिषद् की देवी की स्थिति देशोन पाव पल्योपम की है।

परिषदों का अर्थ आदि वक्तव्यता जैसे चमरेन्द्र के विषय में कही गई है वही सब यहां समझना चाहिए।

उत्तरवर्ती पिशाचकुमार देवों की वक्तव्यता भी दक्षिणात्य जैसी ही है। उनका इन्द्र महाकाल है। काल के समान ही महाकाल की वक्तव्यता भी है।

इसी प्रकार की वक्तव्यता भूतों से लेकर गन्धर्वदेवों के इन्द्र गीतयश तक की है। इस वक्तव्यता में अपने अपने इन्द्रों को लेकर भिन्नता है। इन्द्रों की भिन्नता दो गाथाओं में इस प्रकार कही गई है[1]—

(१) पिशाचों के दो इन्द्र—काल और महाकाल
(२) भूतों के दो इन्द्र—सुरूप और प्रतिरूप
(३) यक्षों के दो इन्द्र—पूर्णभद्र और माणिभद्र
(४) राक्षसों के दो इन्द्र—भीम और महाभीम
(५) किन्नरों के दो इन्द्र—किन्नर और किंपुरुष
(६) किंपुरुषों के दो इन्द्र—सत्पुरुष और महापुरुष
(७) महोरगों के दो इन्द्र—अतिकाय और महाकाय
(८) गन्धर्वों के दो इन्द्र—गीतरति और गीतयश

---

१. काले य महाकाले सुरूव-पडिरूव पुण्णभद्दे य।
अमरवइ माणिभद्दे भीमे य तहा महाभीमे ॥१॥
किन्नर किंपुरिसे खलु सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे।
अइकाय महाकाए गीयरई चेव गीतजसे ॥२॥

उक्त दो-दो इन्द्रों में से प्रथम दक्षिणदिशावर्ती देवों का इन्द्र है और दूसरा उत्तरदिशावर्ती वानव्यन्तर देवों का इन्द्र है। यहाँ वानव्यन्तर देवों का अधिकार पूरा होता है। आगे ज्योतिष्क देवों की जानकारी दी गई है।

ज्योतिष्क देवों के विमानों का वर्णन

१२२. कहि णं भंते ! जोइसियाणं देवाणं विमाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते जोइसिया देवा परिवसंति ?

गोयमा ! उप्पि दीवसमुद्दाणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ सत्तणउए जोयणसए उड्ढं उप्पइत्ता दसुत्तरसया जोयणबाहल्लेणं, तत्थ णं जोइसियाणं देवाणं तिरियम-संखेज्जा जोतिसियविमाणावाससयसहस्सा भवंतीतिमक्खायं।

ते णं विमाणा अद्धकविट्ठकसंठाणसंठिया एवं जहा ठाणपदे जाव चंदिमसूरिया य तत्थ णं जोईसिंदा जोइसरायाणो परिवसंति महिड्डिया जाव विहरंति।

सूरस्स णं भंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरण्णो कति परिसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! तिण्णि परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तुंबा, तुडिया, पेच्चा। अब्भितरिया तुंबा, मज्झिमिया, तुडिया, बाहिरिया पेच्चा। सेसं जहा कालस्स परिमाणं ठिई वि। अट्ठो जहा चमरस्स। चंदस्स वि एवं चेव।

[१२२] हे भगवन् ! ज्योतिष्क देवों के विमान कहाँ रहे गये हैं। हे भगवन् ! ज्योतिष्क देव कहाँ रहते हैं ?

गौतम ! द्वीपसमुद्रों से ऊपर और इस रत्नप्रभापृथ्वी के बहुत समतल एवं रमणीय भूमि-भाग से सात सौ नब्बे भोजन ऊपर जाने पर एक सौ दस योजन प्रमाण ऊचाईरूप क्षेत्र में तिरछे ज्योतिष्क देवों के असंख्यात लाख विमानावास कहे गये हैं। (ऐसा मैंने और अन्य पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने कहा है)।

वे विमान आधे कबीठ के आकार के हैं—इत्यादि जैसा वर्णन स्थानपद में किया है वैसा यहाँ भी कहना यावत् वहां ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिष्कराज चन्द्र और सूर्य दो इन्द्र रहते हैं जो महर्द्धिक यावत् दिव्यभोगों का उपभोग करते हुए विचरते हैं।

हे भगवन् ! ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिष्कराज सूर्य की कितनी परिषदाएँ हैं ?

गौतम ! तीन परिषदाएँ कही गई हैं, यथा—तुंबा, त्रुटिता और प्रेत्या। आभ्यन्तर परिषदा का नाम तुंबा है, मध्यम परिषदा का नाम त्रुटिता है और बाह्य परिषद् का नाम प्रेत्या है। शेष वर्णन काल इन्द्र की तरह जानना। उनका परिमाण (देव-देवी संख्या) और स्थिति भी वैसी ही जानना चाहिए। परिषद् का अर्थ चमरेन्द्र की तरह जानना चाहिए।

सूर्य की वक्तव्यता के अनुसार चन्द्र की भी वक्तव्यता जाननी चाहिए।

विवेचन—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के अत्यन्त सम एवं रमणीय भूभाग से सात सौ नब्बे (७९०)

योजन की ऊँचाई पर एक सौ दस योजन के बाहल्य में एवं तिरछे असंख्यात योजन में ज्योतिष्क क्षेत्र है, जहाँ ज्योतिष्क देवों के तिरछे, असंख्यात लाख ज्योतिष्क विमानावास हैं।

वे विमान आधे कबीठ के आकार के हैं और पूर्णरूप से स्फटिकमय हैं। वे सामने से चारों ओर ऊपर उठे (निकले) हुए, सभी दिशाओं में फैले हुए तथा प्रभा से श्वेत हैं। विविध मणियों, स्वर्ण और रत्नों की छटा से वे चित्र विचित्र हैं, हवा से उड़ती हुई विजय-वैजयन्ती, पताका, छत्र पर छत्र (अतिछत्र) से युक्त हैं। वे बहुत ऊंचे गगनतलचुंबी शिखरों वाले हैं। उनकी जालियों में रत्न जड़े हुए हैं तथा वे विमान पिंजरा (आच्छादन) हटाने पर प्रकट हुई वस्तु की तरह चमकदार हैं। वे मणियों और रत्नों की स्तूपिकाओं से युक्त हैं। उनमें शतपत्र और पुण्डरीक कमल खिले हुए हैं। तिलकों और रत्नमय अर्धचन्द्रों से वे चित्र-विचित्र हैं तथा नानामणिमय मालाओं से सुशोभित हैं। वे अन्दर और बाहर से चिकने हैं। उनके प्रस्तट सोने की रुचिर बालूवाले हैं। वे सुखद स्पर्शवाले, श्री से सम्पन्न, सुरूप, प्रसन्नता पैदा करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप (अतिरमणीय) और प्रतिरूप (बहुत सुन्दर) हैं।

इन विमानों में बहुत से ज्योतिष्क देव निवास करते हैं। वे इस प्रकार हैं—वृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र, शनैश्चर, राहु, धूमकेतु, बुध एवं अंगारक (मंगल)। ये तपे हुए तपनीय स्वर्ण के समान वर्णवाले (किंचित् रक्त वर्ण) हैं। तथा ज्योतिष्क क्षेत्र में विचरण करने वाले ग्रह, गति में रत रहने वाला केतु, अट्ठाईस प्रकार के नक्षत्रगण, नाना आकारों के पांच वर्णों के तारे तथा स्थितलेश्या वाले, संचार करने वाले, अविश्रान्त मण्डलाकार गति करने वाले—ये सब ज्जोतिष्कदेव इन विमानों में रहते हैं। इन सबके मुकुट में अपने अपने नाम का चिह्न होता है। ये महर्द्धिक होते हैं यावत् दसों दिशाओं को प्रभासित करते हुए विचरते हैं।

ये ज्योतिष्क देव वहाँ अपने अपने लाखों विमानावासों का, अपने हजारों सामानिक देवों का, अपनी अग्रमहिषियों, अपनी परिषदों का, अपनी सेना और सेनाधिपति देवों का, हजारों आत्मरक्षक देवों का और बहुत से ज्योतिष्क देवों और देवियों का आधिपत्य करते हुए रहते हैं। इन्हीं में ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिष्कराज चन्द्रमा और सूर्य दो इन्द्र हैं, जो महर्द्धिक यावत् दसों दिशाओं को प्रकाशित करते हैं। वे अपने लाखों विमानावासों का, चार हजार सामानिक देवों का, चार अग्रमहिषियों का तीन परिषदों का, सात सेना और सेनाधिपतियों का सोलह हजार आत्मरक्षक देवों का तथा अन्य बहुत से ज्योतिष्क देव-देवियों का आधिपत्य करते हुए विचरते हैं।

इन सूर्य और चन्द्र इन्द्रों की तीन तीन परिषदाएँ हैं। उनके नाम तुंबा, त्रुटिता और प्रेत्या हैं। आभ्यन्तर परिषद् तुंबा कहलाती है, मध्यम परिषद् त्रुटिता है और बाह्य परिषद् प्रेत्या है। इन परिषदों में देवों और देवियों की संख्या तथा उनकी स्थिति पूर्ववर्णित काल इन्द्र की तरह जाननी चाहिए। परिषदों का अर्थ आदि अधिकार चमरेन्द्र के वर्णन के अनुसार जानना चाहिए। सूर्य की तरह ही चन्द्रमा का अधिकार भी समझ लेना चाहिए।

तिर्यक्लोक के प्रसंग में द्वीपसमुद्र-वक्तव्यता।—

१२३. कहि णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता ? केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता ? केमहालया णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता ? किंसंठिया णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता ? किमाकारभावपडोयारा णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता ? गोयमा ! जंबुद्दीवाइया दीवा लवणाइया समुद्दा संठाणओ एकविहविहाणा वित्थारओ अणेगविधविहाणा दुगुणा दुगुणे पडुप्पाएमाणा पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा पवित्थरमाणा ओभासमाणा वीचिया बहुउप्पलपउमकुमुदणलिणसुभगसोगंधिय-पोंडरीयमहापोंडरीयसतपत्तसहस्सपत्त पप्फुल्लकेसरोवचिया पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खित्ता पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता अस्सिं तिरियलोए असंखेज्जा दीवसमुद्दा सयंभुरमणपज्जवसाणा पण्णत्ता समणाउसो !

[१२३] हे भगवन् ! द्वीप समुद्र कहां अवस्थित हैं ? भगवन् ! द्वीपसमुद्र कितने हैं ? भगवन् ! वे द्वीपसमुद्र कितने बड़े हैं ? भगवन् ! उनका आकार कैसा है ? भंते ! उनका आकारभाव प्रत्यवतार (स्वरूप) कैसा है ?

गौतम ! जम्बूद्वीप से आरम्भ होने वाले द्वीप हैं और लवणसमुद्र से आरम्भ होने वाले समुद्र हैं। वे द्वीप और समुद्र (वृत्ताकार होने से) एकरूप हैं। विस्तार की अपेक्षा से नाना प्रकार के हैं अर्थात् दूने दूने विस्तार वाले हैं, प्रकटित तरंगों वाले हैं, बहुत सारे उत्पल पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगन्धिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक शतपत्र, सहस्रपत्र कमलों के विकसित पराग से सुशोभित हैं। ये प्रत्येक पद्मवरवेदिका से घिरे हुए हैं, प्रत्येक के आसपास चारों ओर वनखण्ड हैं। हे आयुष्मन् श्रमण ! इस तिर्यक्लोक में स्वयंभूरमण समुद्रपर्यन्त असंख्यात द्वीपसमुद्र कहे गये हैं।

विवेचन—ज्योतिष्क देव तिर्यक्लोक में हैं, अतएव तिर्यक्लोक से सम्बन्धित द्वीपों और समुद्रों की वक्तव्यता इस सूत्र में कही गई है। श्री गौतम स्वामी ने प्रश्न किया कि द्वीप और समुद्र कहाँ स्थित हैं ? वे कितने हैं ? कितने बड़े हैं ? उनका आकार कैसा है और उनका आकार भाव प्रत्यवतार अर्थात् स्वरूप किस प्रकार का है ? इस तरह अवस्थिति, संख्या, प्रमाण संस्थान और स्वरूप को लेकर द्वीप-समुद्रों की पृच्छा की गई है। भगवान् ने इन प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व द्वीप-समुद्रों की आदि बताई है। आदि के विषय में प्रश्न न होने पर भी आगे उपयोगी होने से पहले आदि बताई है। साथ ही यह भी सूचित किया है कि गुणवान् शिष्य को उसके द्वारा न पूछे जाने पर भी तत्त्व-कथन करना चाहिए। प्रभु ने फरमाया कि सब द्वीपों की आदि में जम्बूद्वीप है और सब समुद्रों की आदि में लवणसमुद्र है। सब द्वीप और समुद्र वृत्त (गोलाकार) होने से एक प्रकार के संस्थान वाले हैं परन्तु विस्तार की भिन्नता के कारण वे अनेक प्रकार के हैं। जम्बूद्वीप एक लाख योजन विस्तार वाला है। उसको घेरे हुए दो लाख योजन का लवणसमुद्र है, उसको घेरे हुए चार लाख योजन का धातकीखण्ड द्वीप है। इस प्रकार आगे आगे का द्वीप और समुद्र दुगुने-दुगुने विस्तार वाला है। अर्थात् ये द्वीप और समुद्र दूने दूने विस्तार वाले होते जाते हैं। ये द्वीप और समुद्र दृश्यमान जल-तरंगों से तरंगित हैं। यह विशेषण समुद्रों पर तो स्पष्टतया संगत है ही किन्तु द्वीपों पर भी संगत है क्योंकि द्वीपों में भी नदी, तालाब तथा जलाशयों में तरंगों का सद्भाव है ही। ये द्वीप-समुद्र नाना-

जातियों के कमलों से शोभायमान हैं। सामान्य कमल को उत्पल कहते हैं। सूर्यविकासी कमल को पद्म तथा चन्द्रविकासी कमल को कुमुद, ईषद् रक्त कमल को नलिन कहते हैं। सुभग और सौगन्धिक भी कमल की जातियां है। पुण्डरीक महापुण्डरीक कमल श्वेत वर्ण के होते हैं। सौ पत्तों वाला कमल शतपत्र है और हजार पत्तों वाला कमल सहस्रपत्र है। विकसित केसरों (परागों) से वे द्वीप समुद्र अत्यन्त शोभनीय हैं। ये प्रत्येक द्वीप और समुद्र एक पद्मवरवेदिका से और एक वनखण्ड से परिमण्डित हैं (घिरे हुए हैं)। इस तिर्यक्लोक में एक द्वीप और एक समुद्र के क्रम से असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। सबसे अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है। इस प्रकार अवस्थिति, संख्या, प्रमाण और संस्थान का कथन किया। आकारभाव प्रत्यवतार का कथन अगले सूत्र में किया गया है।

जम्बूद्वीप वर्णन :

२२४. तत्थ णं अयं जंबुद्दीवे णामं दीवे दीवसमुद्दाणं अब्भितरिए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्लापूयसंठाणसंठिए वट्टे, रहचक्कवालसंठाणसंठिए वट्टे, पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए वट्टे, पडिपुन्नचंदसंठाणसंठिए एक्कं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसहस्साइं सोलस य सहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलकं च किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते।

से णं एक्काए जगतीए सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते। सा णं जगती अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, मूले बारस जोयणाइं विक्खंभेणं मज्झे अट्ठयोजणाइं विक्खंभेणं उप्पि चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं, मूले विच्छिण्णा मज्झे संखित्ता तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिया सव्ववइरामई अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका णिक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। सा णं जगती एक्केणं जालकडएणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता। से णं जालकडए णं अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं, पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं सव्वरयणामए अच्छे सण्हे लण्हे जाव पडिरूवे।

[१२४] उन द्वीप समुद्रों में यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप सबसे आभ्यन्तर (भीतर का) है, सबसे छोटा है, गोलाकार है, तेल में तले पूए के आकार का गोल है, रथ के पहिये के समान गोल है, कमल की कर्णिका के आकार का गोल है, पूनम के चांद के समान गोल है। यह एक लाख योजन का लम्बा चौड़ा है। तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्तावीस (३,१६,२२७) योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष, साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक परिधि वाला है।

यह जम्बूद्वीप एक जगती से चारों ओर से घिरा हुआ है। वह जगती आठ योजन ऊंची है। उसका विस्तार मूल में बारह योजन, मध्य में आठ योजन और ऊपर चार योजन है। मूल में विस्तीर्ण, मध्य में संक्षिप्त और ऊपर से पतली है। वह गाय की पूंछ के आकार की है। वह पूरी तरह वज्ररत्न की बनी हुई है। वह स्फटिक की तरह स्वच्छ है, चिकनी है, घिसी हुई होने से मृदु है। वह घिसी हुई, मंजी हुई (पालिस की हुई) रजरहित, निर्मल, पंकरहित, निरुपघात दीप्ति वाली, प्रभा वाली, किरणों वाली, उद्योत वाली, प्रसन्नता पैदा करने वाली, दर्शनीय, सुन्दर और अति सुन्दर है। वह जगती एक

जालियों के समूह से सब दिशाओं में घिरी हुई है (अर्थात् उसमें सब तरफ झरोखे और रोशनदान हैं)। वह जाल-समूह आधा योजन ऊँचा, पांच सौ धनुष विस्तार वाला है, सर्वरत्नमय है, स्वच्छ है, मृदु है, चिकना है यावत् सुन्दर और बहुत सुन्दर है।

विवेचन—तिर्यक्लोक के द्वीप-समुद्रों में हमारा यह जम्बूद्वीप सर्वप्रथम है। इससे ही द्वीप-समुद्रों की आदि है और स्वयंभूरमणसमुद्र में उनकी परिसमाप्ति है। अतएव यह जम्बूद्वीप सब द्वीप-समुद्रों में सबसे आभ्यन्तर है। सबसे अन्दर का है। यह द्वीप सबसे छोटा है क्योंकि इसके आगे के जितने भी समुद्र और द्वीप हैं वे सब दूने-दूने विस्तार वाले हैं। जम्बूद्वीप के आगे लवणसमुद्र है, वह दो लाख योजन का है। उससे आगे धातकीखण्ड है, वह चार लाख योजन का है। इस तरह दूना-दूना विस्तार आगे-आगे होता जाता है। यह जम्बूद्वीप गोलाकार संस्थान से स्थित है। उस गोलाई को उपमाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है। तेल में पकाये गये मालपुए की तरह यह गोल है। घी में पकाये हुए मालपुए में वैसी गोलाई नहीं होती जैसी तेल में पकाये हुए पुए में होती है, इसलिए 'तेल्लापूय' विशेषण दिया गया है। दूसरी उपमा है रथ के पहिये की। रथ का पहिया जैसा गोल होता है वैसा यह जम्बूद्वीप गोल है। तीसरी उपमा है कमल की कर्णिका की। कमल की कर्णिका की तरह वह गोल है। चौथी उपमा है परिपूर्ण चन्द्रमण्डल की। पूनम के चाँद की तरह यह जम्बूद्वीप गोल है। यह चूड़ी के आकार का गोल नहीं है।

यह जम्बूद्वीप एक लाख योजन की लम्बाई-चौड़ाई वाला है तथा इसकी परिधि (परिक्षेप-घेराव) तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्तावीस (३१६२२७) योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठावीस धनुष और साढे तेरह अंगुल से कुछ अधिक है। (आयाम-विष्कंभ से परिधि लगभग तीन गुनी होती है)।

इस जम्बूद्वीप के चारों ओर एक जगती है जो किसी सुनगर के प्राकार की भाँति अवस्थित है। वह जगती ऊँचाई में आठ योजन है तथा विस्तार में मूल में बारह योजन, मध्य में आठ योजन और ऊपर चार योजन है अर्थात् वह ऊंची उठी हुई गोपुच्छ के आकार की है। वह सर्वात्मना वज्र-रत्नमय है। आकाश और स्फटिकमणि के समान वह स्वच्छ है, चिकने स्पर्श वाले पुद्गलों से निर्मित होने से चिकने तन्तुओं से बने वस्त्र की तरह श्लक्ष्ण है, घुटे हुए वस्त्र की तरह मसृण है। सान से घिसी हुई पाषाण-प्रतिमा की तरह घृष्ट है और सुकुमार सान से रगड़ी पाषाण-प्रतिमा की तरह मृष्ट है, स्वाभाविक रज से रहित होने से नीरज है, आगन्तुक मैल से हीन होने से निर्मल है, कालिमादि कलंक से विकल होने से निष्पंक है, निरुपघात दीप्तिवाली होने के कारण निष्कंटक छायावाली है, स्वरूप की अपेक्षा प्रभाववाली है, विशिष्ट शोभा सम्पन्न होने से सश्रीक है और किरणों का जाल बाहर निकलने से समरीचि है, बहिःस्थित वस्तुओं को प्रकाशित करने से सोद्योत है, मन को प्रसन्न करने वाली है, इसे देखते-देखते न मन थकता है और न नेत्र ही थकते हैं, अतः यह दर्शनीय है। देखने वालों को इसका स्वरूप बहुत ही कमनीय लगता है। प्रतिक्षण नया जैसा ही इसका रूप रहता है, अतएव यह प्रतिरूप है।

यह जगती एक जालकटक से घिरी हुई है। जैसे भवन की भित्तियों में झरोखे और रोशन-दान होते हैं वैसी जालियां जगह-जगह सब ओर बनी हुई हैं। यह जालसमूह दो कोस ऊंचा और पांच सौ धनुष का विस्तार वाला है। यह प्रमाण एक जाली का है। यह जालकटक (जाल-समूह)

सर्वात्मना रत्नमय है, स्वच्छ है, श्लक्ष्ण है और मृदु है, यावत् यह अभिरूप और प्रतिरूप है। यहाँ यावत् पद से 'घट्ठे मट्ठे नीरए निम्मले निप्पंके निक्कंकडच्छाए सप्पभे समरीए सउज्जोए पासाइए दरिसणिज्जे अविरूवे पडिरूवे' का ग्रहण किया गया है।

पद्मवरवेदिका का वर्णन

१२५. तीसे णं जगतीए उप्पि बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महई पउमवरवेदिया पण्णत्ता। सा णं पउमवरवेदिया अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं (सव्वरयणामए) जगतीसमिया परिक्खेवेणं सव्वरयणामई०। तीसे णं पउमवरवेइयाए अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा— वइरामया नेमा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलियमया खंभा सुवण्णरुप्पमया फलगा वइरामया संधी लोहितक्खमईओ सूईओ णाणामणिमया कलेवरा कलेवरसंघाडा णाणामणिमया रूवा नाणामणिमया रूवसंघाडा अंकामया पक्खा पक्खबाहाओ जोतिरसामया वंसा वंसकवेलुया य रययामईओ पट्टियाओ जातरूवमईओ ओहाडणीओ वइरामईओ उवरिपुञ्छणीओ सव्वसेए रययामए छादणे।

सा णं पउमवरवेइया एगमेगेणं हेमजालेणं एगमेगेणं गवक्खजालेणं एगमेगेणं खिखिणिजालेणं जाव मणिजालेणं (कणयजालेणं रयणजालेणं) एगमेगेणं पउमवरजालेणं सव्वरयणामएणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता।

ते णं जाला तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपयरगमंडिया णाणामणिरयणविविहहारद्धहार-उवसोभितसमुदया ईसिं अण्णमण्णमसंपत्ता पुव्वावरदाहिणउत्तरागएहिं वाएहिं मंदागं मंदागं एज्जमाणा एज्जमाणा कंपिज्जमाणा २ लंबमाणा २ पझंझमाणा २ सद्दायमाणा २ तेणं ओरालेणं मणुण्णेणं कण्णमणणिव्वुइकरेणं सद्देणं सव्वओ समंता आपूरेमाणा सिरीए अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति।

तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे हयसंघाडा गयसंघाडा नरसंघाडा किण्णरसंघाडा किंपुरिससंघाडा महोरगसंघाडा गंधव्वसंघाडा वसहसंघाडा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका णिक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरीया सउज्जोया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।

तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे हयपंतीओ तहेव जाव पडिरूवाओ। एवं हयवीहीओ जाव पडिरूवाओ। एवं हयमिहुणाइं जाव पडिरूवाइं।

तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे पउमलयाओ नागलयाओ एवं असोग० चंपग० चूयवण० वासंति० अतिमुत्तग० कुंदलयाओ सामलयाओ निच्चं कुसुमियाओ जाव सुविहत्त-पिडमंजरिवडिंसकधरीओ सव्वरयणामईओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ णीरयाओ णिप्पंकाओ णिक्कंकडच्छायाओ सप्पभाओ समिरीयाओ सउज्जोयाओ पासाईयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ। [तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे अक्खयसोत्थिया पण्णत्ता सव्वरयणामया अच्छा।]

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—पउमवरवेइया पउमवरवेइया ?

गोयमा ! पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं वेतियासु वेदियाबाहासु वेदियासीसफलएसु वेदियापुडंतरेसु खंभेसु खंभबाहासु खंभसीसेसु खंभपुडंतरेसु सूईसु सूईमुहेसु सूईफलएसु सूईपुडंतरेसु पक्खेसु पक्खबाहासु पक्खपेरंतरेसु बहूइं उप्पलाइं पउमाइं जाव सयसहस्सपत्ताइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं सण्हाइं लण्हाइं घट्ठाइं मट्ठाइं णीरयाइं णिम्मलाइं निप्पंकाइं निक्कंकडच्छायाइं सप्पभाइं समिरीयाइं सउज्जोयाइं पासाईयाइं दरिसणिज्जाइं अभिरूवाइं पडिरूवाइं महया महया वासिक्कच्छत्तसमयाइं पण्णत्ताइं समणाउसो ! से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ पउमवरवेइया पउमवरवेइया।

पउमवरवेइया णं भंते ! किं सासया असासया ? गोयमा ! सिय सासया सिय असासया।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—सिय सासया सिय असासया ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया; वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासया; से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—सिय सासया सिय असासया।

पउमवरवेइया णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! ण कयावि णासी, ण कयावि णत्थि, ण कयावि न भविस्सइ। भुविं च, भवइ य, भविस्सइ य। धुवा नियया सासया अक्खया अव्वया अवट्ठिया णिच्चा पउमवरवेदिया ॥

(१२५) उस जगती के ऊपर ठीक मध्यभाग में एक विशाल पद्मवरवेदिका कही गई है। वह पद्मवरवेदिका आधा योजन ऊंची और पांच सौ धनुष विस्तार वाली है। वह सर्वरत्नमय है। उसकी परिधि जगती के मध्यभाग की परिधि के बराबर है। यह पद्मवरवेदिका सर्वरत्नमय है, स्वच्छ है, यावत् अभिरूप, प्रतिरूप है।

उस पद्मवरवेदिका का वर्णन इस प्रकार है—उसके नेम (भूमिभाग से ऊपर निकले हुए प्रदेश) वज्ररत्न के बने हुए हैं, उसके मूलपाद (मूलपाये) रिष्टरत्न के बने हुए हैं, इसके स्तम्भ वैडूर्यरत्न के हैं, उसके फलक (पटिये) सोने चाँदी के हैं, उसकी संधियाँ वज्रमय हैं, लोहिताक्षरत्न की बनी उसकी सूचियाँ हैं (ये सूचियाँ पादुकातुल्य होती हैं जो पाटियों को जोड़े रखती हैं, विघटित नहीं होने देती)। यहाँ जो मनुष्यादि शरीर के चित्र बने हैं वे अनेक प्रकार की मणियों के बने हुए हैं तथा स्त्री-पुरुष युग्म की जोड़ी के जो चित्र बने हुए हैं वे भी अनेकविध मणियों के बने हुए हैं। मनुष्यचित्रों के अतिरिक्त जो चित्र बने हैं वे सब अनेक प्रकार की मणियों के बने हुए हैं। अनेक जीवों की जोड़ी के चित्र भी विविध मणियों के बने हुए हैं। उसके पक्ष—आजू-बाजू के भाग अंकरत्नों के बने हुए हैं। बड़े बड़े पृष्ठवंश ज्योतिरत्न नामक रत्न के हैं। बड़े वंशों को स्थिर रखने के लिए उनकी दोनों ओर तिरछे रूप में लगाये गये बांस भी ज्योतिरत्न के हैं। बांसों के ऊपर छप्पर पर दी जाने वाली लम्बी लकड़ी की पट्टिकाएँ चाँदी की बनी हैं। कंबाओं को ढांकने के लिए उनके ऊपर जो ओहाडणियाँ (आच्छादन हेतु बड़ी किमडियां) हैं वे सोने की हैं और पुंछनियाँ (निबिड आच्छादन के लिए मुलायम तृणविशेष तुल्य छोटी किमडियाँ वज्ररत्न की हैं, पुञ्छनी के ऊपर और कवेलू के नीचे का आच्छादन श्वेत चाँदी का बना हुआ है।

वह पद्मवरवेदिका कहीं पूरी तरह सोने के लटकते हुए मालासमूह से, कहीं गवाक्ष की आकृति के रत्नों के लटकते मालासमूह से, कहीं किंकणी (छोटी घंटियाँ) और कहीं बड़ी घंटियों के आकार की मालाओं से, कहीं मोतियों की लटकती मालाओं से, कहीं मणियों की मालाओं से, कहीं सोने की मालाओं से, कहीं रत्नमय पद्म की आकृति वाली मालाओं से सब दिशा-विदिशाओं में व्याप्त है।

वे मालाएँ तपे हुए स्वर्ण के लम्बूसग (पेण्डल) वाली हैं, सोने के पतरे से मंडित हैं, नाना प्रकार के मणिरत्नों के विविध हार-अर्धहारों से सुशोभित हैं, ये एक दूसरी से कुछ ही दूरी पर हैं (पास-पास है), पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण दिशा से आगत वायु से मन्द-मन्द रूप से हिल रही हैं, कंपित हो रही हैं, (हिलने और कंपित होने से) लम्बी-लम्बी फैल रही हैं, परस्पर टकराने से शब्दायमान हो रही हैं। उन मालाओं से निकला हुआ शब्द जोरदार होकर भी मनोज्ञ, मनोहर और श्रोताओं के कान एवं मन को सुख देने वाला होता है। वे मालाएँ मनोज्ञ शब्दों से सब दिशाओं एवं विदिशाओं को आपूरित करती हुई श्री से अतीव सुशोभित हो रही हैं।

उस पद्मवरवेदिका के अलग-अलग स्थानों पर कहीं पर अनेक घोड़ों की जोड़, हाथी की जोड़, नर, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व और बैलों की जोड़ उत्कीर्ण हैं जो सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं।

उस पद्मवरवेदिका के अलग-अलग स्थानों पर कहीं घोड़ों की पंक्तियाँ (एक दिशावर्ती श्रेणियां) यावत् कहीं बैलों की पंक्तियां आदि उत्कीर्ण हैं जो सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं।

उस पद्मवरवेदिका के अलग-अलग स्थानों पर कहीं घोड़ों की वीथियां (दो श्रेणीरूप) यावत् कहीं बैलों की वीथियां उत्कीर्ण हैं जो सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं, यावत् प्रतिरूप हैं।

उस पद्मवरवेदिका के अलग-अलग स्थानों पर कहीं घोड़ों के मिथुनक (स्त्री-पुरुषयुग्म) यावत् बैलों के मिथुनक उत्कीर्ण हैं जो सर्वरत्नमय यावत् प्रतिरूप हैं।

उस पद्मवरवेदिका में स्थान-स्थान पर बहुत-सी पद्मलता, नागलता, अशोकलता, चम्पकलता, चूतवनलता, वासंतीलता, अतिमुक्तकलता, कुंदलता, श्यामलता नित्य कुसुमित रहती हैं यावत् सुविभक्त एवं विशिष्ट मंजरी रूप मुकुट को धारण करने वाली हैं। ये लताएँ सर्वरत्नमय हैं, श्लक्ष्ण हैं, मृदु हैं, घृष्ट हैं, मृष्ट हैं, नीरज हैं, निर्मल हैं, निष्पंक हैं, निष्कलंक छवि वाली हैं, प्रभामय हैं, किरणमय हैं, उद्योतमय हैं, प्रसन्नता पैदा करने वाली हैं, दर्शनीय हैं, अभिरूप हैं और प्रतिरूप हैं।

(उस पद्मवरवेदिका में स्थान-स्थान पर बहुत से अक्षय स्वस्तिक कहे गये हैं, जो सर्वरत्नमय और स्वच्छ हैं।)

हे भगवन्! पद्मवरवेदिका को पद्मवरवेदिका क्यों कहा जाता है?

गौतम! पद्मवरवेदिका में स्थान-स्थान पर वेदिकाओं (बैठने योग्य मत्तवारणरूप स्थानों) में, वेदिका के आजू-बाजू में, दो वेदिकाओं के बीच के स्थानों में, स्तम्भों के आसपास, स्तम्भों के ऊपरी भाग पर, दो स्तम्भों के बीच के अन्तरों में, दो पाटियों को जोड़नेवाली सूचियों पर, सूचियों के मुखों

पर, सूचियों के नीचे और ऊपर, दो सूचियों के अन्तरों में, वेदिका के पक्षों में, पक्षों के एक देश में, दो पक्षों के अन्तराल में बहुत सारे उत्पल (कमल), पद्म (सूर्यविकासी कमल), कुमुद, (चन्द्रविकासी कमल), नलिन, सुभग, सौगन्धिक, पुण्डरीक (श्वेतकमल), महापुण्डरीक (बड़े श्वेतकमल), शतपत्र, सहस्रपत्र आदि विविध कमल विद्यमान हैं। वे कमल सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् अभिरूप हैं, प्रतिरूप हैं। ये सब कमल वर्षाकाल के समय लगाये गये बड़े छत्रों (छतरियों) के आकार के हैं। हे आयुष्मन् श्रमण ! इस कारण से पद्मवरवेदिका को पद्मवरवेदिका कहा जाता है।

हे भगवन् ! पद्मवरवेदिका शाश्वत है या अशाश्वत है ? गौतम ! वह कथञ्चित् शाश्वत है और कथञ्चित् अशाश्वत है।

हे भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है कि पद्मवरवेदिका कथञ्चित् शाश्वत है और कथञ्चित् अश्वाश्वत है ?

गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा शाश्वत है और वर्णपर्यायों से, रसपर्यायों से, गन्धपर्यायों से, और स्पर्शपर्यायों से अशाश्वत है। इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि पद्मवरवेदिका कथञ्चित् शाश्वत है और कथञ्चित् अशाश्वत है।

हे भगवन् ! पद्मवरवेदिका काल की अपेक्षा कब तक रहने वाली है ?

गौतम ! वह 'कभी नहीं थी'—ऐसा नहीं है 'कभी नहीं है' ऐसा नहीं है, 'कभी नहीं रहेगी' ऐसा नहीं है। वह थी, है और सदा रहेगी। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है। यह पद्मवरवेदिका का वर्णन हुआ।

वनखण्ड-वर्णन

१२६ [१] **तीसे णं जगईए उप्पि बाहिं पउमवरवेदियाए एत्थ णं एगे महं वनसंडे पण्णत्ते, देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं जगतीसमए परिक्खेवेणं, किण्हे किण्होभासे जाव [ते णं पायवा मूलवंता कंदवंता खंधवंता तयावंता सालवंता पवालवंता पत्तपुप्फफलबीयवंता अणुपुव्वसुजायरुइलवट्टभावपरिणया एगखंधी अणेगसाहप्पसाहविडिमा, अणेगणरवामसुपसारिय-गेज्झ-घणविउलवट्टखंधा अच्छिद्दपत्ता अविरलपत्ता अवाईणपत्ता अणईइपत्ता णिद्धूयजरढपंडुरपत्ता, नवहरियभिसंतपत्तंधयारगंभीरदरिसणिज्जा उवविणिग्गयणवतरुणपत्तपल्लवकोमलुज्जलचलंत-किसलयसुकुमालसोहियवरंकुरग्गसिहरा, णिच्चं कुसुमिआ णिच्चं मउलिया णिच्चं लवइया निच्चं थवइया, णिच्चं गोच्छिया निच्चं जमलिया णिच्चं जुयलिया निच्चं विणमिया निच्चं पणमिआ निच्चं कुसुमिय-मउलिय-लवइय-थवइय-गुलइय-गोच्छिय-जमलिय-जुगलियविणमियपणमियसुविभत्त-पडिमंजरिवडंसगधरा सुय-बरहिण-मयणसलागा-कोइल-कोरग-भिंगारग-कोंडलग-जीवंजीवग-नंदिमुह-कविल-पिंगलक्ख-कारंडव-चक्कवाग-कलहंस-सारसाणेगसउणगणमिहुण विचारिय सद्दुन्नइय-महुरसनाइय-सुरम्मा संपिंडियदप्पियभमर-महुयरीपहकरा परिलीयमाणमत्तछप्पय-कुसुमासवलोल-महुरगुमगुमायंत-गुंजंतदेसभागा अब्भिंतरपुप्फफला बाहिरपत्तछन्ना णीरोगा अकंटगा साउफला णिद्धफला णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगसोहिया विचित्तसुहकेउबहुला वावी-पुक्खरिणि-दीहिया**

सुनिवेसिय रम्मजालघरगा पिंडिमं, सुहसुरहिमणोहरं महया गंधद्धणि णिच्चं मुंचमाणा सुहसेउकेउ बहुला....।] अणेगसगड-रह-जाण-जुग्ग (सिविय- संदमाणिय) परिमोयणे सुरम्मे पासाईए सण्हे लण्हे घट्ठे मट्ठे नीरए निप्पंके निम्मले निक्कंकडच्छाए सप्पभे समिरीए सउज्जोए पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे ।

तस्स णं वणसंडस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभाए पण्णत्ते, से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा मुइंगपुक्खरे इ वा सरतले इ वा करतले इ वा आयंसमंडले इ वा चंदमंडले इ वा सूरमंडले इ वा उरब्भचम्मे इ वा, उसभचम्मे इ वा वराहचम्मे इ वा सीहचम्मे इ वा वग्घचम्मे इ वा विगचम्मे इवा अणेगसंकुकीलगसहस्सवितते आवड-पच्चावड सेढीपसेढीसोत्थियसोवत्थियपूसमाण-वद्धमाण-मच्छंडक-मकरंडक-जारमार-फुल्लावलि-पउमपत्त-सागरतरंग-वासंतिलय-पउमलयभत्तिचित्तेहिं सच्छाएहिं समिरीएहिं नानाविहपंचवण्णेहिं तणेहि य मणिहि य उवसोहिए तं जहा—किण्हेहिं जाव सुक्किलेहिं ।

[१२६] (१) उस जगती (प्राकारकल्प) के ऊपर और पद्मवरवेदिका के बाहर एक बड़ा विशाल वनखण्ड[1] कहा गया है। वह वनखण्ड कुछ कम दो योजन गोल विस्तार वाला है और उसकी परिधि जगती की परिधि के समान ही है। वह वनखण्ड खूब हराभरा होने से तथा छाया-प्रधान होने से काला है और काला ही दिखाई देता है। यावत् [उस वनखण्ड के वृक्षों के मूल बहुत दूर तक जमीन के भीतर गहरे गये हुए हैं, वे प्रशस्त कंद वाले, प्रशस्त स्कन्धवाले, प्रशस्त छाल वाले, प्रशस्त शाखा वाले, प्रशस्त किशलय वाले, प्रशस्त पत्र वाले और प्रशस्त फूल-फल और बीज वाले हैं। वे सब पादप समस्त दिशाओं में और विदिशाओं में अपनी-अपनी शाखा-प्रशाखाओं द्वारा इस ढंग से फैले हुए हैं कि वे गोल-गोल प्रतीत होते हैं। वे मूलादि क्रम से सुन्दर, सुजात और रुचिर (सुहावने) प्रतीत होते हैं। ये वृक्ष एक-एक स्कन्ध वाले हैं। इनका गोल स्कन्ध इतना विशाल है कि अनेक पुरुष भी अपनी फैलायी हुई बाहुओं में उसे ग्रहण नहीं कर सकते। इन वृक्षों के पत्ते छिद्ररहित हैं, अविरल हैं—इस तरह सटे हुए हैं कि अन्तराल में छेद नहीं दिखाई देता। इनके पत्ते वायु से नीचे नहीं गिरते हैं, इनके पत्तों में ईति-रोग नहीं होता। इन वृक्षों के जो पत्ते पुराने पड़ जाते हैं या सफेद हो जाते हैं वे हवा से गिरा दिये जाते हैं और अन्यत्र डाल दिये जाते हैं। नये और हरे दीप्तिमान पत्तों के झुरमुट से होनेवाले अन्धकार के कारण इनका मध्यभाग दिखाई न पड़ने से ये रमणीय-दर्शनीय लगते हैं। इनके अग्रशिखर निरन्तर निकलने वाले पल्लवों और कोमल-उज्ज्वल तथा कम्पित किशलयों से सुशोभित हैं। ये वृक्ष सदा कुसुमित रहते हैं, नित्य मुकुलित रहते हैं, नित्य पल्लवित रहते हैं, नित्य स्तबकित रहते हैं, नित्य गुल्मित रहते हैं, नित्य गुच्छित रहते हैं, नित्य यमलित रहते हैं, नित्य युगलित रहते हैं, नित्य विनमित रहते हैं, एवं नित्य प्रणमित रहते हैं। इस प्रकार नित्य कुसुमित यावत् नित्य प्रणमित बने हुए ये वृक्ष सुविभक्त प्रतिमंजरी रूप अवतंसक को धारण किये रहते हैं।

इन वृक्षों के ऊपर शुक के जोड़े, मयूरों के जोड़े, मदनशलका—मैना के जोड़े, कोकिल के जोड़े, चक्रवाक के जोड़े, कलहंस के जोड़े, सारस के जोड़े इत्यादि अनेक पक्षियों के जोड़े बैठे-बैठे बहुत दूर

---

१. 'एगजाइएहिं रुक्खेहिं वणं अणेगजाइएहिं उत्तमेहिं रुक्खेहिं वणसंडे'—एक सरीखे वृक्ष जहाँ हों वह वन और अनेक जाति के उत्तम वृक्ष जहाँ हों वह वनखण्ड है। —वृत्ति

तक सुने जाने वाले उन्नत शब्दों को करते रहते हैं—चहचहाते रहते हैं, इससे इन वृक्षों की सुन्दरता में विशेषता आ जाती है। मधु का संचय करने वाले उन्मत्त भ्रमरों और भ्रमरियों का समुदाय उन पर मंडराता रहता है। अन्य स्थानों से आ-आकर मधुपान से उन्मत्त भंवरे पुष्पपराग के पान में मस्त बनकर मधुर-मधुर गुंजारव से इन वृक्षों को गुंजाते रहते हैं। इन वृक्षों के पुष्प और फल इन्हीं के भीतर छिपे रहते हैं। ये वृक्ष बाहर से पत्रों और पुष्पों से आच्छादित रहते हैं। ये वृक्ष सब प्रकार के रोगों से रहित हैं, कांटों से रहित हैं। इनके फल स्वादिष्ट होते हैं और स्निग्धस्पर्श वाले होते हैं। ये वृक्ष प्रत्यासन्न नाना प्रकार के गुच्छों से गुल्मों से लतामण्डपों से सुशोभित हैं। इन पर अनेक प्रकार की ध्वजाएँ फहराती रहती हैं। इन वृक्षों को सींचने के लिए चौकोर वावडियों में, गोल पुष्करिणियों में, लम्बी दीर्घिकाओं में सुन्दर जालगृह बने हुए हैं। ये वृक्ष ऐसी विशिष्ट मनोहर सुगंध को छोड़ते रहते हैं कि उससे तृप्ति ही नहीं होती। इन वृक्षों की क्यारियां शुभ है और उन पर जो ध्वजाएँ हैं वे भी अनेक रूप वाली हैं।] अनेक गाड़ियाँ, रथ, यान, युग्य (गोल्लदेश प्रसिद्ध जम्पान), शिविका और स्यन्दमानिकाएँ उनके नीचे (छाया अधिक होने से) छोड़ी जाती हैं। वह वनखण्ड सुरम्य है, प्रसन्नता पैदा करने वाला है, श्लक्ष्ण है, स्निग्ध है, घृष्ट है, मृष्ट है, नीरज है, निष्पंक है, निर्मल है, निरुपहत कान्ति वाला है, प्रभा वाला है, किरणों वाला है, उद्योत करने वाला है, प्रासादिक है, दर्शनीय है, अभिरूप है और प्रतिरूप है।

उस वनखण्ड के अन्दर अत्यन्त सम और रमणीय भूमिभाग है। वह भूमिभाग मुरुज (वाद्यविशेष) के मढे हुए चमड़े के समान समतल है, मृदंग के मढे हुए चमड़े के समान समतल है, पानी से भरे सरोवर के तल के समान, हथेली के समान, दर्पणतल के समान, चन्द्रमण्डल के समान, सूर्यमण्डल के समान, उरभ्र (घेटा) के चमड़े के समान, बैल के चमड़े के समान, वराह (सूअर) के चर्म के समान, सिंह के चर्म के समान, व्याघ्रचर्म के समान, भेडिये के चर्म के समान और चीते के चमड़े के समान समतल है। इन सब पशुओं का चमड़ा जब शंकु प्रमाण हजारों कीलों से ताड़ित होता है—खींचा जाता है तब वह बिल्कुल समतल हो जाता है (अतएव उस भूमिभाग की समतलता को बताने के लिए ये उपमाएँ हैं।) वह वनखण्ड आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणी, प्रश्रेणी, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्यमाणव, वर्धमानक, मत्स्यंडक, मकरंडक, जारमारलक्षण वाली मणियों, नानाविध पंचवर्ण वाली मणियों, पुष्पावली, पद्मपत्र, सागरतरंग, वासन्तीलता, पद्मलता आदि विविध चित्रों से युक्त मणियों और तृणों से सुशोभित है। वे मणियाँ कान्ति वाली, किरणों वाली, उद्योत करने वाली और कृष्ण यावत् शुक्ल रूप पंचवर्णों वाली हैं। ऐसे पंचवर्णी मणियों और तृणों से वह वनखण्ड सुशोभित है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में वनखण्ड का वर्णन किया गया है। कुछ कम दो योजन प्रमाण विस्तार वाला और जगती के समान ही परिधि वाला यह वनखण्ड खूब हराभरा होने से तथा छायाप्रधान होने से काला है और काला दिखाई देता है। इसके आगे 'यावत्' शब्द दिया गया है, उससे अन्यत्र दिये गये अन्य विशेषण इस प्रकार जानने चाहिए —

हरिए हरिओभासे—कहीं-कहीं वनखण्ड हरित है और हरितरूप में ही उसका प्रतिभास होता है।

नीले नीलोभासे—कहीं-कहीं यह वनखण्ड नीला है और नीला ही प्रतिभासित होता है। हरित अवस्था को पार कर कृष्ण अवस्था को नहीं प्राप्त हुए पत्र नीले कहे जाते हैं। इनके योग से उस वनखण्ड को नील और नीलावभास कहा गया है।

सीए सीओभासे—वह वनखण्ड शीत और शीतावभास है। जब पत्ते बाल्यावस्था पार कर जाते हैं तब वे शीतलता देने वाले हो जाते हैं। उनके योग से वह वनखण्ड भी शीतलता देने वाला है और शीतल ही प्रतीत होता है।

णिद्धे णिद्धोभासे, तिव्वे तिव्वोभासे—ये काले नीले हरे रंग अपने स्वरूप में उत्कट, स्निग्ध और तीव्र कहे जाते हैं। इस कारण इनके योग से वह वनखण्ड भी स्निग्ध, स्निग्धावभास, तीव्र, तीव्रावभास कहा गया है।

अवभास भ्रान्त भी होता है। जैसे मरु-मरीचिका में जल का अवभास भ्रान्त है। अतएव भ्रान्त अवभास का निराकरण करते हुए अन्य विशेषण दिये गये हैं, यथा—

किण्हे किण्हछाये—वह वनखण्ड सबको समानरूप से काला और काली छाया वाला प्रतीत होता है। सबको समानरूप से ऐसा प्रतीत होने से उसकी अविसंवादिता प्रकट की है। जो भ्रान्त अवभास होता है, वह सबको एक सरीखा प्रतीत नहीं होता है।

नीले नीलच्छाये, सीए सीयच्छाये—वह वनखण्ड नीला और नीली छाया वाला है। शीतल और शीतल छाया वाला है। यहाँ छाया शब्द आतप का प्रतिपक्षी वस्तुवाची समझना चाहिए।

घणकडियच्छाए—इस वनखण्ड के वृक्षों की छाया मध्यभाग में अति घनी है क्योंकि मध्य-भाग में बहुत-सी शाखा-प्रशाखाएँ फैली हुई होती हैं। इससे उनकी छाया घनी होती है।

रम्मे—यह वनखण्ड रमणीय है।

महामेहनिकुरंबभूए—वह वनखण्ड जल से भरे हुए महामेघों के समुदाय के समान है।

वनखण्ड के वृक्षों का वर्णन मूलपाठ से ही स्पष्ट है जो कोष्ठक में दिया गया है।

उस वनखण्ड का भूमिभाग अत्यन्त रमणीय और समतल है। उस समतलता को बताने के लिए विविध उपमाएँ दी गई हैं। मुरज, मृदंग, सरोवर, करतल, आदर्शमण्डल, चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, उरभ्रचर्म, वृषभचर्म आदि विविध पशुओं के खींचे हुए चर्म के तल से उस भूभाग की समतलता की तुलना की गई है। उक्त पशुओं के चर्म को कीलों की सहायता से खींचने पर वह एकदम सलरहित होकर समतल—एकसरीखा तल वाला होता है, वैसा ही वह भूभाग ऊबड-खाबड या ऊँचा-नीचा और विषम न होकर समतल है, अतएव अत्यन्त रमणीय है। इतना ही नहीं उस समतल भूमिभाग पर विविध भांति के चित्र चित्रित हैं। इन चित्रों में आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणी, प्रश्रेणी, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्यमाणव, वर्द्धमानक, मत्स्यंडक, मकरंडक जारमार लक्षण वाली पांच वर्ण की मणियों से निर्मित चित्र हैं। पुष्पावली, पक्षपत्र, सागरतरंग, वासन्तीलता, पद्मलता आदि के विविध चित्र पांच वर्ण वाली मणियों और तृणों से चित्रित हैं। वे मणियां पांच रंगों की हैं, कान्तिवाली, किरणोंवाली हैं। उद्योत करने वाली हैं। अगले सूत्रखण्ड में पांच वर्णों की मणियों एवं तृणों का उपमानों द्वारा वर्णन किया गया है, वह इस प्रकार है—

१२६. [२] तत्थ णं जे ते किण्हा तणा य मणि य तेसिं णं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहाणामए जीमूए इ वा, अंजणे इ वा, खंजणे इ वा, कज्जले इ वा,[1] मसी इ वा, गुलिया इ वा, गवले इ

१—किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में मसी इ वा, 'गुलिया इ वा' पाठ नहीं है।

वा, गवलगुलिया इ वा, भमरे इ वा, भमरावलिया इ वा, भमरपत्तगयसारे इ वा, जंबूफले इ वा, अद्दारिट्ठे इ वा, परपुट्ठे इ वा, गए इ वा, गयकलभे इ वा, कण्हसप्पे इ वा, कण्हकेसरे इ वा, आगासथिग्गले इ वा, कण्हासोए इ वा, कण्हकणवीरे इ वा, कण्हबंधुजीवए इ वा, भवे एयारूवे सिया ?

गोयमा ! णो तिणट्ठे समट्ठे। तेसिं णं कण्हाणं तणाणं मणीण य इत्तो इट्ठयराए चेव कंततराए चेव पियतराए चेव मणुण्णतराए चेव मणामतराए चेव वण्णे णं पण्णत्ते।

[१२६] (२) उन तृणों और मणियों में जो काले वर्ण के तृण और मणियां हैं, उनका वर्णावास इस प्रकार कहा गया है—जैसे वर्षाकाल के प्रारम्भ में जल भरा बादल हो, सौवीर अंजन अथवा अञ्जन रत्न हो, खञ्जन (दीपमल्लिका मैल, गाड़ी का कीट) हो, काजल हो, काली स्याही हो (घुला हुआ काजल), घुले हुए काजल की गोली हो, भैंसे का शृंग हो, भैंसे के शृंग से बनी गोली हो, भंवरा हो, भौरों की पंक्ति हो, भंवरों के पंखों के बीच का स्थान हो, जम्बू का फल हो, गीला अरीठा हो, कोयल हो, हाथी हो, हाथी का बच्चा हो, काला सांप हो, काला बकुल हो, बादलों से मुक्त आकाशखण्ड हो, काला अशोक, काला कनेर और काला बन्धुजीव (वृक्ष) हो। हे भगवन् ! ऐसा काला वर्ण उन तृणों और मणियों का होता है क्या ? हे गौतम ! ऐसा नहीं है। इनसे भी अधिक इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मनोहर उनका वर्ण होता है।

१२६. [३] तत्थ णं जे ते णीलगा तणा य मणी य तेसिं णं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते—से जहानामए भिंगे इ वा, भिंगपत्ते इ वा, चासे इ वा, चासपिच्छे इ वा, सुए इ वा, सुयपिच्छे इ वा, णीली इ वा, णीलीभेए इ वा, णीलीगुलिया इ वा, सामाए इ वा, उच्चंतए इ वा, वणराई इ वा, हलधरवसणे इ वा, मोरग्गीवा इ वा, पारेवयगीवा इ वा, अयसिकुसुमे इ वा, अंजणकेसिगाकुसुमे इ वा, णीलुप्पले इ वा, णीलासोए इ वा, णीलकणवीरे इ वा, णीलबंधुजीवए इ वा, भवे एयारूवे सिया ?

णो इणट्ठे समट्ठे। तेसिं णं णीलगाणं तणाणं मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव कंततराए चेव जाव वण्णेणं पण्णत्ते।

[१२६] (३) उन तृणों और मणियों में जो नीली मणियां और नीले तृण हैं, उनका वर्ण इस प्रकार का है—जैसे नीला भृंग (भिंगोडी—पंखवाला लघु जन्तु-नीला भंवरा) हो, नीले भृंग का पंख हो, चास (पक्षीविशेष) हो, चास का पंख हो, नीले वर्ण का शुक (तोता) हो, शुक का पंख हो, नील हो, नीलखण्ड हो, नील की गुटिका हो, श्यामाक (धान्य विशेष) हो, नीला दंतराग हो, नीली वनराजि हो, बलभद्र का नीला वस्त्र हो, मयूर की ग्रीवा हो, कबूतर की ग्रीवा हो, अलसी का फूल हो, अञ्जनकेशिका वनस्पति का फूल हो, नीलकमल हो, नीला अशोक हो, नीला कनेर हो, नीला बन्धुजीवक हो, भगवन् ! क्या ऐसा नीला उनका वर्ण होता है ?

गौतम ! यह बात नहीं है। इनसे भी अधिक इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मनोहर उन नीले तृण-मणियों का वर्ण होता है।

१२६. [४] तत्थ णं जे ते लोहितगा तणा य मणी य तेसिं णं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते—से जहानामए ससकरुहिरे इ वा, उरब्भरुहिरे इ वा, णररुहिरे इ वा, वराहरुहिरे इ वा, महिसरुहिरे इ वा, बालिंदगोवए इ वा, बालदिवागरे इ वा, संझब्भरागे इ वा, गुंजद्धरागे इ वा, जातिहिंगुलुए इ वा,

सिलप्पवाले इ वा, पवालंकुरे इ वा, लोहितक्खमणी इ वा, लक्खारसए इ वा, किमिरागे इ वा, रत्त-कंबले इ वा, चीणपिट्ठरासी इ वा, जासुयणकुसुमे इ वा, किंसुअकुसुमे इ वा, पारिजायकुसुमे इ वा, रत्तुप्पले इ वा, रत्तासोगे इ वा, रत्तकणयारे इ वा, रत्तबंधुजीवे इ वा, भवे एयारूवे सिया ?

नो तिणट्ठे समट्ठे। तेसिं णं लोहियगाणं तणाण य मणीण य एत्तो इट्ठयराए चेव जाव वण्णे णं पण्णत्ते।

[१२६] (४) उन तृणों और मणियों में जो लाल वर्ण के तृण और मणियां हैं, उनका वर्ण इस प्रकार कहा गया है—जैसे खरगोश का रुधिर हो, भेड़ का खून हो, मनुष्य का रक्त हो, सूअर का रुधिर हो, भैंस का रुधिर हो, सद्यःजात इन्द्रगोप (लाल वर्ण का कीड़ा) हो, उदीयमान सूर्य हो, सन्ध्याराग हो, गुंजा का अर्धभाग हो, उत्तम जाति का हिंगुलु हो, शिलाप्रवाल (मूंगा) हो, प्रवालांकुर (नवीन प्रवाल का किशलय) हो, लोहिताक्ष मणि हो, लाख का रस हो, कृमिराग हो, लाल कंबल हो, चीन धान्य का पीसा हुआ आटा हो, जपा का फूल हो, किंशुक का फूल हो, पारिजात का फूल हो, लाल कमल हो, लाल अशोक हो, लाल कनेर हो, लाल बन्धुजीवक हो, भगवन्! क्या ऐसा उन तृणों, मणियों का वर्ण है ? गौतम ! यह यथार्थ नहीं है। उन लाल तृणों और मणियों का वर्ण इनसे भी अधिक इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मनोहर कहा गया है।

१२६. (५) तत्थ णं जे ते हालिद्दगा तणा य मणी य तेसिं णं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते—से जहानामए चंपए इ वा, चंपगच्छल्ली इ वा, चंपगभेए इ वा, हालिद्दा इ वा, हालिद्दभेए इ वा, हालिद्दगुलिया इ वा, हरियाले इ वा हरियालभेए इ वा, हरियालगुलिया इ वा, चिउरे इ वा, चिउ-रंगरागे इ वा, वरकणए इ वा, वरकणगनिघसे इ वा (सुवण्णसिप्पिए इ वा) वरपुरिसवसणे इ वा, सल्लइकुसुमे इ वा, चंपककुसुमे इ वा, कुहुंडियाकुसुमे इ वा, (कोरंटकदामे इ वा) तडउडाकुसुमे इ वा, घोसाडियाकुसुमे इ वा, सुवण्णजूहियाकुसुमे इ वा, सुहरिन्नयाकुसुमे इ वा (कोरिंटवरमल्लदामे इ वा), बीयगकुसुमे इ वा, पीयासोए त्ति वा, पीयकणवीरे इ वा, पीयबंधुजीवए इ वा, भवे एयारूवे सिया ?

नो इणट्ठे समट्ठे। ते णं हालिद्दा तणा य मणी य एत्तो इट्ठयरा चेव जाव वण्णे णं पण्णत्ता।

[१२६] (५) उन तृणों और मणियों में जो पीले वर्ण के तृण और मणियां हैं उनका वर्ण इस प्रकार का कहा गया है। जैसे सुवर्णचम्पक का वृक्ष हो, सुवर्णचम्पक की छाल हो, सुवर्णचम्पक का खण्ड हो, हल्दी, हल्दी का टुकड़ा हो, हल्दी के सार की गुटिका हो, हरिताल (पृथ्वीविकार रूप द्रव्य) हो, हरिताल का टुकड़ा हो, हरिताल की गुटिका हो, चिकुर (रागद्रव्यविशेष) हो, चिकुर से बना हुआ वस्त्रादि पर रंग हो, श्रेष्ठ स्वर्ण हो, कसौटी पर घिसे हुए स्वर्ण की रेखा हो, (स्वर्ण की सीप हो), वासुदेव का वस्त्र हो, सल्लकी का फूल हो, स्वर्णचम्पक का फूल हो, कूष्माण्ड का फूल हो, कोरन्ट-पुष्प की माला हो, तडवडा (आवली) का फूल हो, घोषातकी का फूल हो, सुवर्णयूथिका का फूल हो, सुहरण्यिका का फूल हो, बीजकवृक्ष का फूल हो, पीला अशोक हो, पीला कनेर हो, पीला बन्धुजीवक हो। भगवन् ! उन पीले तृणों और मणियों का ऐसा वर्ण है क्या ? गौतम ! ऐसा नहीं है। वे पीले तृण और मणियां इनसे भी अधिक इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मनोहर वर्ण वाली हैं।

१२६. (६) तत्थ णं जे ते सुक्किलगा तणा य मणी य तेसि णं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते— से जहाणामए अंके इ वा संखे इ वा, चंदे इ वा, कुंदे इ वा, कुमुए इ वा, दयरए इ वा (दहिघणे इ वा, खीरे इ वा, खीरपूरे इ वा) हंसावली इ वा, कोंचावली इ वा, हारावली इ वा, बलायावली इ वा, चंदावली इ वा, सारइयबलाहए इ वा, धंतधोयरुप्पपट्टे इ वा, सालिपिट्ठरासी इ वा, कुंदपुप्फरासी इ वा, कुमुयरासीइ वा, सुक्कछिवाडी इ वा, पेहुणमिंजा इ वा, बिसे इ वा, मिणालिया इ वा, गयदंते इ वा, लवंगदले इ वा, पोंडरीयदले इ वा, सिंदुवारमल्लदामे इ वा, सेतासोए इ वा, सेयकणवीरे इ वा, सेयबंधुजीवए इ वा, भवे एयारूवे सिया ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । तेसि णं सुक्किलाणं तणाण मणीण य एत्तो इट्ठयराए चेव जाव वण्णेणं पण्णत्ते ।

[१२६] (६) उन तृणों और मणियों में जो सफेद वर्ण वाले तृण और मणियां हैं उनका वर्ण इस प्रकार का कहा गया है—जैसे अंक रत्न हो, शंख हो, चन्द्र हो, कुंद का फूल हो, कुमुद (श्वेत कमल) हो, पानी का बिन्दु हो, (जमा हुआ दही हो, दूध हो, दूध का समूह-प्रवाह हो), हंसों की पंक्ति हो, क्रौंचपक्षियों की पंक्ति हो, मुक्ताहारों की पंक्ति हो, चांदी से बने कंकणों की पंक्ति हो, सरोवर की तरंगों में प्रतिबिम्बित चन्द्रों की पंक्ति हो, शरदऋतु के बादल हों, अग्नि में तपाकर धोया हुआ चांदी का पाट हो, चावलों का पिसा हुआ आटा हो, कुन्द के फूलों का समुदाय हो, कुमुदों का समुदाय हो, सूखी हुई सेम की फली हो, मयूरपिच्छ की मध्यवर्ती मिंजा हो, मृणाल हो, मृणालिका हो, हाथी का दांत हो, लवंग का पत्ता हो, पुण्डरीक (श्वेतकमल) की पंखुडियां हों, सिन्दुवार के फूलों की माला हो, सफेद अशोक हो, सफेद कनेर हो, सफेद बंधुजीवक हो, भगवन् ! उन सफेद तृणों और मणियों का ऐसा वर्ण है क्या ? गौतम ! यह यथार्थ नहीं है । इनसे भी अधिक इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मनोहर उन तृणों और मणियों का वर्ण कहा गया है ।

१२६. (७) तेसि णं भंते ! तणाण य मणीण य केरिसए गंधे पण्णत्ते ? से जहाणामए—कोट्ठपुडाण वा, पत्तपुडाण वा, चोयपुडाण वा, तगरपुडाण वा, एलापुडाण वा[1] चंदणपुडाण वा कुंकुमपुडाण वा, उसीरपुडाण वा, चंपकपुडाण वा, मरुयगपुडाण वा, दमणगपुडाण वा, जातिपुडाण वा, जूहियापुडाण वा, मल्लियपुडाण वा, णोमालियपुडाण वा, वासंतिपुडाण वा, केयइपुडाण वा, कप्पूरपुडाण वा, अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाण य णिब्भिज्जमाणाण य कोट्टेज्जमाणाण वा रुविज्जमाणाण वा उक्किरिज्जमाणाण वा विकिरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा भंडाओ भंडं साहरिज्जमाणाण वा ओराला मणुण्णा घाणमणनिव्वुइकरा सव्वओ समंता गंधा अभिणिस्सवंति, भवे एयारूवे सिया ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । तेसि णं तणाणं मणीण य एत्तो उ इट्ठतराए चेव जाव मणामतराए चेव गंधे पण्णत्ते ।

[१२६] (७) हे भगवन् ! उन तृणों और मणियों की गंध कैसी कही गई है ? जैसे कोष्ट-(गंधद्रव्यविशेष) पुटों, पत्रपुटों, चोयपुटों (गंधद्रव्यविशेष), तगरपुटों, इलायचीपुटों, चंदनपुटों,

---

१. 'किरिमेरिपुडाण वा' क्वचित् पाठो दृश्यते ।

कुंकुमपुटों उशीरपुटों (खस)चंपकपुटों, मरवापुटों दमनकपुटों, जातिपुटों (चमेली), जूहीपुटों, मल्लिका-पुटों (मोगरा), नवमल्लिकापुटों, वासन्तीलतापुटों, केवडा के पुटों और कपूर के पुटों को अनुकूल वायु होने पर उघाड़े जाने पर, भेदे जाने पर, कूटे जाने पर, छोटे-छोटे खण्ड किये जाने पर, बिखेरे जाने पर, ऊपर उछाले जाने पर, इनका उपभोग-परिभोग किये जाने पर और एक बर्तन से दूसरे बर्तन में डाले जाने पर जैसी व्यापक और मनोज्ञ तथा नाक और मन को तृप्त करने वाली गंध निकलकर चारों तरफ फैल जाती है, हे भगवन् ! क्या वैसी गंध उन तृणों और मणियों की है ? गौतम ! यह बात यथार्थ नहीं है। इससे भी इष्टतर, कान्ततर, प्रियतर, मनोज्ञतर और मनामतर गंध उन तृणों और मणियों की कही गई है।

१२६. (८) तेसिं णं भंते ! तणाण य मणीण य केरिसए फासे पण्णत्ते ? से जहाणामए—आईणे इ वा, रुए इ वा, बूरे इ वा, णवणीए इ वा, हंसगब्भतूली इ वा, सिरीसकुसुमणिचए इ वा, बालकुमुद पत्तरासी इ वा, भवे एयारूवे सिया ?

णो तिणट्ठे समट्ठे। तेसिं णं तणाण य मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव जाव फासे णं पण्णत्ते।

[१२६] (८) हे भगवन् ! उन तृणों और मणियों का स्पर्श कैसा कहा गया है ? जैसे—आजिनक (मृदु चर्ममय वस्त्र), रुई, बूर वनस्पति, मक्खन, हंसगर्भतूलिका, सिरीष फूलों का समूह, नवजात कुमुद के पत्रों की राशि का कोमल स्पर्श होता है, ऐसा उनका स्पर्श है क्या ?

गौतम ! यह अर्थ यथार्थ नहीं है। उन तृणों और मणियों का स्पर्श उनसे भी अधिक इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मणाम (मनोहर) है।

१२६. (९) तेसिं णं भंते ! [1] तणाण य मणीण य पुव्वावरदाहिणउत्तरागएहिं वाएहिं मंदायं मंदायं एइयाणं वेइयाणं कंपियाणं खोभियाणं चालियाणं फंदियाणं घट्टियाणं उदीरियाणं केरिसए सद्दे पण्णत्ते ? से जहानामए—सिबियाए वा, संदमाणीयाए वा, रहवरस्स वा, सच्छत्तस्स सज्झयस्स सघंटयस्स सतोरणवरस्स सणंदिघोसस्स सखिंखिणिहेमजालपेरंतपरिक्खित्तस्स हेमवयखेत्त चित्तविचित्त तिणिसकणगनिज्जुत्तदारुयागस्स सुपिणद्धारकमंडलधुरागस्स कालायससुकयणेमिजंतकम्मस्स आइण्णवरतुरगसुसंपउत्तस्स कुसलणरछेयसारहिसुसंपरिग्गहियस्स सरसयबत्तीसतोणपरिमंडियस्स सकंकडवडिंसगस्स सचावसरपहरणावरणभरियस्स जोहजुद्धस्स रायंगणंसि वा अंतेउरंसि वा रम्मंसि मणिकोट्टिमतलंसि अभिक्खणं अभिक्खणं अभिघट्टिज्जमाणस्स वा णियट्टिज्जमाणस्स वा ओराला मणुण्णा कण्णमणणिव्वुइकरा सव्वओ समंता सद्दा अभिणिस्सवंति, भवे एयारूवे सिया ?

णो तिणट्ठे समट्ठे।

से जहानामए—वेयालियाए वीणाए उत्तरमंदामुच्छिताए अंके सुपइट्ठियाए चंदणसारकोण-पडिघट्टियाए कुसलणरणारिसंपरिग्गहियाए पदोस-पच्चूसकालसमयंसि मंदं मंदं एइयाए वेइयाए खोभियाए उदीरियाए ओराला मणुण्णा कण्णमणणिव्वुइकरा सव्वओ समंता सद्दा अभिणिस्सवंति, भवे एयारूवे सिया ?

---

१. तणाणं पुव्वा. इत्येव पाठः।

णो तिणट्ठे समट्ठे।

से जहाणामए—किण्णराण वा किंपुरिसाण वा महोरगाण वा गंधव्वाण वा भद्दसालवणगयाण वा नंदणवणगयाण वा सोमणसवणगयाण वा पंडगवणगयाण वा हिमवंत-मलय-मंदर-गिरि-गुहसमण्णागयाण वा एगओ सहियाणं सम्मुहागयाणं समुविट्ठाणं सन्निविट्ठाणं पमुदियपक्कीलियाणं गीयरति-गंधव्वहरिसियमणाणं गेज्जं पज्जं कत्थं पयबद्धं पायबद्धं उक्खित्तयं पवत्तयं मंदायं रोचियावसाणं सत्तसरसमण्णागयं अट्ठरससुसंपउत्तं छद्दोसविप्पमुक्कं एकारसगुणालंकार-अट्ठगुणोववेयं गुंजंतवंसकुहरोवगूढं रत्तं तिट्ठाणकरणसुद्धं मधुरं समं सुललियं सकुहरगुंजंत-वंस-तंतीसुपउत्तं तालसुसंपउत्तं लयसुसंपउत्तं गहसुसंपउत्तं मणोहरं मउयरिभियपयसंचारं सुरइं सुणइं वरचारुरूवं दिव्वं गेयं पगीयाणं, भवे एयारूवे सिया ?

हंता गोयमा ! एवंभूए सिया।

[१२६] (१) हे भगवन् ! उन तृणों और मणियों के पूर्व-पश्चिम-दक्षिण-उत्तरदिशा से आगत वायु द्वारा मंद-मंद कम्पित होने से, विशेषरूप से कम्पित होने से, बार-बार कंपित होने से, क्षोभित, चालित और स्पंदित होने से तथा प्रेरित किये जाने पर कैसा शब्द होता है ? जैसे शिबिका (ऊपर से आच्छादित कोष्ठाकार पालखी विशेष), स्यन्दमानिका (बड़ी पालखी—पुरुष प्रमाण जम्पान विशेष) और संग्राम रथ (जिसकी फलकवेदिका पुरुष की कटि-प्रमाण होती है) जो छत्र सहित है, ध्वजा सहित है, दोनों तरफ लटकते हुए बड़े-बड़े घंटों से युक्त है, जो श्रेष्ठ तोरण से युक्त है, नन्दिघोष (बारह प्रकार के वाद्यों के शब्द) से युक्त है, जो छोटी-छोटी घंटियों (घुंघरुओं) से युक्त, स्वर्ण की माला-समूहों से सब ओर से व्याप्त है, जो हिमवन् पर्वत के चित्र-विचित्र मनोहर चित्रों से युक्त तिनिश की लकड़ी से बना हुआ, सोने से खचित (मढ़ा हुआ) है, जिसके आरे बहुत ही अच्छी तरह लगे हुए हों तथा जिसकी धुरा मजबूत हो, जिसके पहियों पर लोह की पट्टी चढ़ाई गई हो, आकीर्ण—गुणों से युक्त श्रेष्ठ घोड़े जिसमें जुते हुए हों, कुशल एवं दक्ष सारथी से युक्त हो, प्रत्येक में सौ-सौ बाण वाले बत्तीस तूणीर जिसमें सब ओर लगे हुए हों, कवच जिसका मुकुट हो, धनुष सहित बाण और भाले आदि विविध शस्त्रों तथा उनके आवरणों से जो परिपूर्ण हो तथा योद्धाओं के युद्ध निमित्त जो सजाया गया हो, (ऐसा संग्राम रथ) जब राजांगण में या अन्तःपुर में या मणियों से जड़े हुए भूमितल में बार-बार वेग से चलता हो, आता-जाता हो, तब जो उदार, मनोज्ञ और कान एवं मन को तृप्त करने वाले चौतरफा शब्द निकलते हैं, क्या उन तृणों और मणियों का ऐसा शब्द होता है ?

हे गौतम ! यह अर्थ यथार्थ नहीं है।

भगवन् ! जैसे ताल के अभाव में भी बजायी जाने वाली वैतालिका (मंगलपाठिका) वीणा जब (गान्धार स्वर के अन्तर्गत) उत्तरामंदा नामक मूर्छना से युक्त होती है, बजाने वाले व्यक्ति की गोद में भलीभांति विधिपूर्वक रखी हुई होती है, चन्दन के सार से निर्मित कोण (वादनदण्ड) से घर्षित की जाती है, बजाने में कुशल नर-नारी द्वारा संप्रग्रहीत हो (ऐसी वीणा को) प्रातःकाल और सन्ध्याकाल के समय मन्द-मन्द और विशेषरूप से कम्पित करने पर, बजाने पर, क्षोभित, चालित और स्पंदित, घर्षित और उदीरित (प्रेरित) करने पर जैसा उदार, मनोज्ञ, कान और मन को तृप्ति करने वाला शब्द चौतरफा निकलता है, क्या ऐसा उन तृणों और मणियों का शब्द है ?

गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

भगवन् ! जैसे किंनर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व—जो भद्रशालवन, नन्दनवन, सौमनसवन और पंडकवन में स्थित हों, जो हिमवान् पर्वत, मलयपर्वत या मेरुपर्वत की गुफा में बैठे हों, एक स्थान पर एकत्रित हुए हों, एक दूसरे के सन्मुख बैठे हों, परस्पर रगड़ से रहित सुखपूर्वक आसीन हों, समस्थान पर स्थित हों, जो प्रमुदित और क्रीडा में मग्न हों, गीत में जिनकी रति हो और गन्धर्व नाट्य आदि करने से जिनका मन हर्षित हो रहा हो, उन गन्धर्वादि के गद्य, पद्य, कथ्य, पदबद्ध (एकाक्षरादिरूप), पादबद्ध (श्लोक का चतुर्भाग), उत्क्षिप्त (प्रथम आरम्भ किया हुआ), प्रवर्तक (प्रथम आरम्भ से ऊपर आक्षेप पूर्वक होने वाला), मंदाक (मध्यभाग में मन्द-मन्द रूप से स्वरित) इन आठ प्रकार के गेय को, रुचिकर अन्त वाले गेय को, सात स्वरों से युक्त गेय को, आठ रसों से युक्त गेय को, छह दोषों से रहित, ग्यारह अलंकारों से युक्त, आठ गुणों से युक्त बांसुरी की सुरीली आवाज से गाये गये गेय को, राग से अनुरक्त, उर-कण्ठ-शिर ऐसे त्रिस्थान शुद्ध गेय को, मधुर, सम, सुललित, एक तरफ बांसुरी और दूसरी तरफ तन्त्री (वीणा) बजाने पर दोनों में मेल के साथ गाया गया गेय, तालसंप्रयुक्त, लयसंप्रयुक्त, ग्रहसंप्रयुक्त (बांसुरी तन्त्री आदि के पूर्वगृहीतस्वर के अनुसार गाया जाने वाला), मनोहर, मृदु और रिभित (तन्त्री आदि के स्वर से मेल खाते हुए) पद संचार वाले, श्रोताओं को आनन्द देने वाले, अंगों के सुन्दर झुकाव वाले, श्रेष्ठ सुन्दर ऐसे दिव्य गीतों के गाने वाले उन किन्नर आदि के मुख से जो शब्द निकलते हैं, वैसे उन तृणों और मणियों का शब्द होता है क्या ?

हां गौतम ! उन तृणों और मणियों के कम्पन से होने वाला शब्द इस प्रकार का होता है।

विवेचन—उस वनखण्ड के भूमिभाग में जो तृण और मणियां हैं, उनके वायु द्वारा कम्पित और प्रेरित होने पर जैसा मधुर स्वर निकलता है उसका वर्णन इस सूत्रखण्ड में किया गया है। श्री गौतम स्वामी ने उस स्वर की उपमा के लिए तीन उपमानों का उल्लेख किया है। पहला उपमान है—कोई पालखी (शिबिका या जम्पान) या संग्राम रथ जिसमें विविध प्रकार के शस्त्रास्त्र सजे हुए हैं, जिसके चक्रों पर लोहे की पट्टियां जड़ी हुई हों, जो श्रेष्ठ घोड़ों और सारथी से युक्त हो, जो छत्र-ध्वजा से युक्त हो, जो दोनों ओर बड़े-बड़े घन्टों से युक्त हो, जिसमें नन्दिघोष (बारह प्रकार के वाद्यों का निनाद) हो रहा हो—ऐसा रथ या पालखी जब राजांगण में, अन्तःपुर में या मणियों से जड़े हुए आंगन में वेग से चलता है तब जो शब्द होता है क्या वैसा शब्द उन तृणों और मणियों का है ? भगवान् ने कहा—नहीं। इससे भी अधिक इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मनोहर वह शब्द होता है।

इसके पश्चात् श्री गौतमस्वामी ने दूसरे उपमान का उल्लेख किया। वह इस प्रकार है—हे भगवन् ! प्रातःकाल अथवा सन्ध्या के समय वैतालिका (मंगलपाठिका) वीणा (जो ताल के अभाव में भी बजाई जाती है—जब गान्धार स्वर की उत्तरमन्दा नाम की सप्तमी मूर्छना से युक्त होती है, जब उस वीणा का कुशलवादक उस वीणा को अपनी गोद में अच्छे ढंग से स्थापित कर चन्दन के सार से निर्मित वादन-दण्ड से बजाता है तब उस वीणा से जो कान और मन को तृप्त करने वाला शब्द निकलता है क्या वैसा उन तृणों मणियों का शब्द है ?

गान्धार स्वर की सात मूर्छनाएँ होती हैं—
नंदी य खुड्डिमा पूरिमा या चौत्थी असुद्धगन्धारा।
उत्तरगन्धारा वि हवइ सा पंचमी मुच्छा ॥१॥

सुहुमुत्तर आयामा छट्ठी सा नियमसो उ बोद्धव्वा ।।२।।

नन्दी, क्षुद्रा, पूर्णा, शुद्धगान्धारा, उत्तरगान्धारा, सूक्ष्मोत्तर-आयामा और उत्तरमन्दा—ये सात मूर्छनाएँ हैं। ये मूर्छनाएँ इसलिए सार्थक हैं कि ये गाने वाले को और सुनने वाले को अन्य-अन्य स्वरों से विशिष्ट होकर मूर्छित जैसा कर देती हैं। कहा है—

अन्नन्नसरविसेसं उप्पायंतस्स मुच्छणा भणिया ।
कन्ता वि मुच्छिओ इव कुणए मुच्छंव सो वेति ।।

गान्धारस्वर के अन्तर्गत मूर्च्छनाओं के बीच में उत्तरमन्दा नाम की मूर्छना जब अति प्रकर्ष को प्राप्त हो जाती है तब वह श्रोताजनों को मूर्छित-सा बना देती है। इतना ही नहीं किन्तु स्वरविशेषों को करता हुआ गायक भी मूर्छित के समान हो जाता है।

ऐसी उत्तरमन्दा मूर्छना से युक्त वीणा का जैसा शब्द निकलता है क्या वैसा शब्द उन तृणों और मणियों का है? ऐसा श्री गौतमस्वामी के कहने पर भगवान् कहते हैं—नहीं इस स्वर से भी अधिक इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मनोहर उन तृणों और मणियों का शब्द होता है।

पुन: श्री गौतमस्वामी तीसरा उपमान कहते हैं—भगवन्! जैसा किन्नरों, किंपुरुषों, महोरगों या गन्धर्वों का, जो भद्रशालवन, नन्दनवन, सोमनसवन, पण्डकवन में स्थित हों अथवा हिमवान्पर्वत या मलयपर्वत या मन्दरपर्वत की गुफा में बैठे हों, एक स्थान पर एकत्रित हुए हों, एक दूसरे के समक्ष बैठे हुए हों, इस ढंग से बैठे हों कि किसी को दूसरे की रगड़ से बाधा न हो, स्वयं को भी किसी अपने ही अंग से बाधा न पहुँच रही हो, हर्ष जिनके शरीर पर खेल रहा हो, जो आनन्द के साथ क्रीडा करने में रत हों, गीत में जिनकी रति हो, नाट्यादि द्वारा जिनका मन हर्षित हो रहा हो—(ऐसे गन्धर्वों का) आठ प्रकार के गेय से तथा आगे उल्लिखित गेय के गुणों से सहित और दोषों से रहित ताल एवं लय से युक्त गीतों के गाने से जो स्वर निकलता है क्या वैसा उन तृण और मणियों का शब्द होता है?

गेय आठ प्रकार के हैं—१ गद्य—जो स्वर संचार से गाया जाता है, २ पद्य—जो छन्दादिरूप हो, ३ कथ्य—कथात्मक गीत, ४ पदबद्ध—जो एकाक्षरादि रूप हो यथा-'ते', ५ पादबद्ध—श्लोक का चतुर्थ भाग रूप हो, ६ उत्क्षिप्त-जो पहले आरम्भ किया हुआ हो, ७ प्रवर्तक—प्रथम आरम्भ से ऊपर आक्षेपपूर्वक होने वाला, ८ मन्दाकं—मध्यभाग में सकल मूर्च्छनादि गुणोपेत तथा मन्द-मन्द स्वर से संचरित हो।

वह आठ प्रकार का गेय **रोचितावसान** वाला हो, अर्थात् जिस गीत का अन्त रुचिकर ढंग से शनै: शनै: होता हो तथा जो **सप्तस्वरों से युक्त** हो। गेय के सात स्वर इस प्रकार हैं—

सज्जे रिसह गन्धारे मज्झिमे पंचमे सरे ।
धेवए चेव नेसाए सरा सत्त वियाहिया ।।

षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और नैषाद, ये सात स्वर हैं। ये सात स्वर पुरुष के या स्त्री के नाभिदेश से निकलते हैं, जैसा कि कहा है—'सप्तसरा नाभिओ'।

अष्टरस-संप्रयुक्त—वह गेय शृंगार आदि आठ रसों से युक्त हो।

षड्दोष-विप्रमुक्त—वह गेय छह दोषों से रहित हो। वे छह दोष इस प्रकार हैं—

भीयं दुयमुप्पित्थमुत्तालं च कमसो मुणेयव्वं ।
कागस्सरमणुनासं छद्दोसा होंति गेयस्स ।।

भीत, द्रुत, उप्पिच्छ, (आकुलतायुक्त), उत्ताल, काकस्वर और अनुनास (नाक से गाना), ये गेय के छह दोष हैं।

एकादशगुणालंकार—पूर्वों के अन्तर्गत स्वरप्राभृत में गेय के ग्यारह गुणों का विस्तार से वर्णन है। वर्तमान में पूर्व विच्छिन्न हैं अतएव आंशिक रूप में पूर्वों से विनिर्गत जो भरत, विशाखिल आदि गेय शास्त्र हैं—उनसे इनका ज्ञान करना चाहिए।

अष्टगुणोपेत—गेय के आठ गुण इस प्रकार हैं—

पुण्णं रत्तं च अलंकियं च वत्तं तहेव अविघुट्टं।
महुरं समं सुललियं अट्ठगुणा होंति गेयस्स॥

१ पूर्ण—जो स्वर कलाओं से परिपूर्ण हो, २ रक्त—राग से अनुरक्त होकर जो गाया जाय, ३ अलंकृत—परस्पर विशेषरूप स्वर से जो गाया जाय, ४ व्यक्त—जिसमें अक्षर और स्वर स्पष्ट रूप से गाये जायँ, ५ अविघुष्ट—जो विस्वर और आक्रोश युक्त न हो, ६ मधुर—जो मधुर स्वर से गाया जाय, ७ सम—जो ताल, वंश, स्वर आदि से मेल खाता हुआ गाया जाय, ८ सुललित—जो श्रेष्ठ घोलना प्रकार से श्रोत्रेन्द्रिय को सुखद लगे, इस प्रकार गाया जाय। ये गेय के आठ गुण हैं।

गुंजंत वंसकुहरम्—जो बांसुरी में तीन सुरीली आवाज से गाया गया हो, ऐसा गेय।

रत्तं—राग से अनुरक्त गेय।

त्रिस्थानकरणशुद्ध—जो गेय उर, कंठ और सिर इन तीन स्थानों से शुद्ध हो। अर्थात् उर और कंठ श्लेष्मवर्जित हो और सिर अव्याकुलित हो। इस तरह गाया गया गेय त्रिस्थानकरणशुद्ध होता है।

सकुहरगुंजंतवंसतंतीसुसंपउत्तं—जिस गान में एक तरफ तो बांसुरी बजाई जा रहा हो और दूसरी ओर तंत्री (वीणा) बजाई जा रही हो, इनके स्वर से जो गान अविरुद्ध हो अर्थात् इनके स्वरों से मिलता हुआ गाया जा रहा हो।

तालसुसंप्रयुक्त—हाथ की तालियों से मेल खाता हुआ गाया जा रहा हो।

तालसमं लयसंप्रयुक्त ग्रहसुसंप्रयुक्त—ताल, लय तथा वीणादि के स्वर से मेल खाता हुआ गाया जाने वाला गेय।

मणोहरं—मन को हरने वाला गेय।

मृदुरिभितपदसंचार—मृदु स्वर से युक्त, तंत्री आदि से ग्रहण किये गये स्वर से युक्त पद-संचार वाला गेय।

सुरइं—श्रोताओं को आनन्द देने वाला गेय।

सुनतिं—अंगों के सुन्दर हावभाव से युक्त गेय।

वरचारुरूपं—विशिष्ट सुन्दर रूप वाला गेय।

उक्त विशेषणों से युक्त गेय को जब पूर्वोक्त व्यन्तर, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व प्रमुदित होकर गाते हैं तब उनसे जो शब्द निकलता है, ऐसा मनोहर शब्द उन तृणों और मणियों का है क्या? ऐसा श्री गौतमस्वामी ने प्रश्न किया। इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया कि हाँ—गौतम! उन तृणों और मणियों का इतना सुन्दर शब्द होता है।

सूत्र में आये हुए भद्रशाल आदि वनों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है। भद्रशाल आदि चार वन सुमेरु पर्वत पर हैं। इनमें भद्रशालवन मेरु पर्वत की नीचे की भूमि पर है, नन्दनवन मेरु की प्रथम मेखला पर है, दूसरी मेखला पर सौमनसवन है और चूलिका के पार्श्वभाग में चारों तरफ पण्डकवन है। महाहिमवान् हेमवत क्षेत्र की उत्तर दिशा में है। यह उसकी सीमा करने वाला होने से वर्षधर पर्वत कहलाता है।

वनखण्ड की बावड़ियों आदि का वर्णन

१२७. (१) **तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे खुड्डा खुड्डियाओ वावीओ पुक्खरिणीओ गुंजालियाओ दीहियाओ सराओ सरपंतियाओ सरसरपंतीओ बिलपंतीओ अच्छाओ सण्हाओ रययामयकूलाओ समतीराओ वइरामयपासाणाओ, तवणिज्जमयतलाओ वेरुलियमणि-फालियपडल पच्चोयडाओ णवणीयतलाओ सुवण्ण-सुज्झरयय-मणिवालुयाओ सुहोयाराओ सुउत्ताराओ, णाणामणितित्थसुबद्धाओ चउक्कोणाओ समतीराओ, आणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजलाओ संछन्न-पत्तभिसमुणालाओ बहुउप्पल-कुमुय-णलिण-सुभग-सोगंधिय-पोंडरीय-सयपत्त-सहस्सपत्तफुल्लकेसरो-वइयाओ छप्पयपरिभुज्जमाणकमलाओ अच्छविमलसलिलपुण्णाओ परिहत्थ भमंतमच्छकच्छभ अणेगसउणमिहुणपरिचरियाओ पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ताओ अप्पेगइयाओ आसवोदाओ अप्पेगइयाओ वारुणोदाओ अप्पेगइयाओ खीरोदाओ अप्पेगइयाओ घओदाओ अप्पेगइयाओ खोदोदाओ अप्पेगइयाओ अमयरससमरसोदाओ, अप्पेगइयाओ पगइएउदग (अमय) रसेणं पण्णत्ताओ, पासाइयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ।**

[१२७] (१) उस वनखण्ड के मध्य में उस-उस भाग में उस उस स्थान पर बहुत-सी छोटी-छोटी चौकोनी वावडियां हैं, गोल-गोल अथवा कमल वाली पुष्करिणियां हैं, जगह-जगह नहरों वाली दीर्घिकाएँ हैं, टेढ़ीमेढ़ी गुंजालिकाएँ हैं, जगह-जगह सरोवर हैं, सरोवरों की पंक्तियां हैं, अनेक सरसर पंक्तियां (जिन तालाबों में कुएं का पानी नालियों द्वारा लाया जाता है) और बहुत से कुओं की पंक्तियां हैं। वे स्वच्छ हैं, मृदु पुद्गलों से निर्मित हैं। इनके तीर सम हैं, इनके किनारे चांदी के बने हैं, किनारे पर लगे पाषाण वज्रमय हैं। इनका तलभाग तपनीय (स्वर्ण) का बना हुआ है। इनके तटवर्ती अति उन्नत प्रदेश वैडूर्यमणि एवं स्फटिक के बने हैं। मक्खन के समान इनके सुकोमल तल हैं। स्वर्ण और[1] शुद्ध चांदी की रेत है। ये सब जलाशय सुखपूर्वक प्रवेश और निष्क्रमण योग्य हैं। नाना प्रकार की मणियों से इनके घाट मजबूत बने हुए हैं। कुएं और बावड़ियां चौकोन हैं। इनका वप्र—जलस्थान क्रमश: नीचे-नीचे गहरा होता है और उनका जल अगाध और शीतल है। इनमें जो पद्मिनी के पत्र, कन्द और पद्मनाल हैं वे जल से ढंके हुए हैं। उनमें बहुत से उत्पल, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगन्धिक, पुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र फूले रहते हैं और पराग से सम्पन्न हैं, ये सब कमल भ्रमरों से परिभुज्य-मान हैं अर्थात् भंवरे उनका रसपान करते रहते हैं। ये सब जलाशय स्वच्छ और निर्मल जल से परिपूर्ण हैं। परिहत्थ[2] (बहुत से) मत्स्य और कच्छप इधर-उधर घूमते रहते हैं, अनेक पक्षियों के

---

१. वृत्ति के अनुसार 'सुज्झ' का अर्थ रजतविशेष है।

२. 'परिहत्थ' अर्थात् बहुत सारे।

जोड़े भी इधर-उधर भ्रमण करते रहते हैं। इन जलाशयों में से प्रत्येक जलाशय वनखण्ड से चारों ओर से घिरा हुआ है और प्रत्येक जलाशय पद्मवरवेदिका से युक्त है। इन जलाशयों में से कितनेक का पानी आसव जैसे स्वाद वाला है, किन्हीं का वारुणसमुद्र के जल जैसा है, किन्ही का जल दूध जैसे स्वाद वाला है, किन्हीं का जल घी जैसे स्वाद वाला है, किन्हीं का जल इक्षुरस जैसा है, किन्हीं के जल का स्वाद अमृतरस जैसा है और किन्ही का जल स्वभावत: उदकरस जैसा है। ये सब जलाशय प्रसन्नता पैदा करने वाले हैं, दर्शनीय हैं, अभिरूप हैं और प्रतिरूप हैं।

१२७. (२) तासि णं खुड्डियाणं वावीणं जाव बिलपंतियाणं तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं जाव बहवे तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता। तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा—वइरामया नेमा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलियमया खंभा सुवण्णरुप्पमया फलगा वइरामया संधी लोहितक्खमईओ सूईओ णाणामणिमया अवलंबणा अवलंबणबाहाओ।

तेसि णं तिसोपाणपडिरूवगाणं पुरओ पत्तेयं तोरणा पण्णत्ता। ते णं तोरणा णाणामणिमयखंभेसु उवनिविट्ठसण्णिविट्ठा विविहमुत्तंतरोवइया विविहताराख्वोवचिया ईहामिय-उसभ-तुरग-णर-मगर-विहग-वालग-किण्णर-रुरु-सरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवइरवेइयापरिगता-भिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ताविव अच्चिसहस्समालणीया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाइया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।

तेसि णं तोरणाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता, सोत्थिय-सिरिवच्छ-णंदियावत्त-वद्धमाण-भद्दासण-कलस-मच्छ-दप्पणा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा।

तेसि णं तोरणाणं उप्पिं किण्हचामरज्झया नीलचामरज्झया लोहियचामरज्झया हारिद्द-चामरज्झया सुक्किलचामरज्झया अच्छा सण्हा रुप्पपट्टा वइरदंडा जलयामलगंधीया सुरूवा पासाइया जाव पडिरूवा।

तेसि णं तोरणाणं उप्पिं बहवे छत्ताइछत्ता। पडागाइपडागा घंटाजुयला चामरजुयला उप्पलहत्थया जाव सयसहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

[१२७] (२) उन छोटी बावड़ियों यावत् कूपों में यहाँ वहाँ उन-उन भागों में बहुत से विशिष्ट स्वरूप वाले त्रिसोपान कहे गये हैं। उन विशिष्ट त्रिसोपानों का वर्णन इस प्रकार है—वज्रमय उनकी नींव है, रिष्टरत्नों के उसके पाये हैं, वैडूर्यरत्न के स्तम्भ हैं, सोने और चांदी के पटिये हैं, वज्रमय उनकी संधियां हैं, लोहिताक्ष रत्नों की सूइयां (कीलें) हैं, नाना मणियों के अवलम्बन हैं (उतरने चढ़ने के लिए आजू-बाजू में लगे हुए दण्ड-समान आधार, जिन्हें पकड़कर चढ़ना-उतरना होता है), नाना मणियों की बनी हुई आलम्बन बाहा हैं (अवलम्बन जिनके सहारे पर रहता है वे दोनों ओर के भींत समान स्थान)

उन विशिष्ट त्रिसोपानों के आगे प्रत्येक के तोरण कहे गये हैं। उन तोरणों का वर्णन इस प्रकार है—वे तोरण नाना प्रकार की मणियों के बने हुए हैं। वे तोरण नाना मणियों से बने हुए स्तंभों पर स्थापित हैं, निश्चलरूप से रखे हुए हैं, अनेक प्रकार की रचनाओं से युक्त मोती उनके बीच-बीच में लगे हुए हैं, नाना प्रकार के ताराओं से वे तोरण उपचित (सुशोभित) हैं। उन तोरणों

में ईहामृग (वृक), बैल, घोड़ा, मनुष्य, मगर, पक्षी, व्याल (सर्प), किन्नर, रुरु (मृग), सरभ (अष्टापद), हाथी, वनलता और पद्मलता के चित्र बने हुए हैं। इन तोरणों के स्तम्भों पर वज्रमयी वेदिकाएँ हैं, इस कारण ये तोरण बहुत ही सुन्दर लगते हैं। समश्रेणी विद्याधरों के युगलों के यन्त्रों (शक्तिविशेष) के प्रभाव से ये तोरण हजारों किरणों से प्रभासित हो रहे हैं। (ये तोरण इतने अधिक प्रभासमुदाय से युक्त हैं कि इन्हें देखकर ऐसा भासित होता है कि ये स्वभावतः नहीं किन्तु किन्हीं विशिष्ट विद्याशक्ति के धारकों के यांत्रिक प्रभाव के कारण इतने अधिक प्रभासित हो रहे हैं) ये तोरण हजारों रूपकों से युक्त हैं, दीप्यमान हैं, विशेष दीप्यमान हैं, देखने वालों के नेत्र उन्हीं पर टिक जाते हैं। उन तोरणों का स्पर्श बहुत ही शुभ है, उनका रूप बहुत ही शोभायुक्त लगता है। ये तोरण प्रासादिक, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं।

उन तोरणों के ऊपर बहुत से आठ-आठ मंगल कहे गये हैं—१ स्वस्तिक, २ श्रीवत्स, ३ नंदिकावर्त, ४ वर्धमान, ५ भद्रासन, ६ कलश, ७ मत्स्य और ८ दर्पण। ये सब आठ मंगल सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं, सूक्ष्म पुद्‌गलों से निर्मित हैं, प्रासादिक हैं यावत् प्रतिरूप हैं।

उन तोरणों के ऊर्ध्वभाग में अनेकों कृष्ण कान्तिवाले चामरों से युक्त ध्वजाएँ हैं, नील वर्ण वाले चामरों से युक्त ध्वजाएँ हैं, लाल वर्ण वाले चामरों से युक्त ध्वजाएँ हैं, पीले वर्ण के चामरों से युक्त ध्वजाएँ हैं और सफेद वर्ण के चामरों से युक्त ध्वजाएँ हैं। ये सब ध्वजाएँ स्वच्छ हैं, मृदु हैं, वज्रदण्ड के ऊपर का पट्ट चाँदी का है, इन ध्वजाओं के दण्ड वज्ररत्न के हैं, इनकी गन्ध कमल के समान है, अतएव ये सुरम्य हैं, सुन्दर हैं, प्रासादिक हैं, दर्शनीय हैं, अभिरूप हैं एवं प्रतिरूप हैं।

इन तोरणों के ऊपर एक छत्र के ऊपर दूसरा छत्र, दूसरे पर तीसरा छत्र—इस तरह अनेक छत्र हैं, एक पताका पर दूसरी पताका, दूसरी पर तीसरी पताका—इस तरह अनेक पताकाएँ हैं। इन तोरणों पर अनेक घंटायुगल हैं, अनेक चामरयुगल हैं और अनेक उत्पलहस्तक (कमलों के समूह) हैं यावत् शतपत्र-सहस्रपत्र कमलों के समूह हैं। ये सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप (बहुत सुन्दर) हैं।

१२७. (३) तासि णं खुड्डियाणं वावीणं जाव बिलपंतियाणं तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे उप्पायपव्वया णियइपव्वया जगतिपव्वया दारुपव्वयगा दगमंडवगा दगमंचका दगमालका दगपासायगा ऊसडा खुल्ला खडहडगा अंदोलगा पक्खंदोलगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

तेसु णं उप्पायपव्वएसु जाव पक्खंदोलएसु बहवे हंसासणाइं कोंचासणाइं गरुलासणाइं उण्णयासणाइं पणयासणाइं दीहासणाइं भद्दासणाइं पक्खासणाइं मगरासणाइं उसभासणाइं सीहासणाइं पउमासणाइं दिसासोवत्थियासणाइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं सण्हाइं लण्हाइं घट्ठाइं मट्ठाइं णीरयाइं णिम्मलाइं निप्पंकाइं निक्कंकडच्छायाइं सप्पभाइं समिरीयाइं, सउज्जोयाइं पासादीयाइं दरिसणिज्जाइं अभिरूवाइं पडिरूवाइं।

[१२७] (३) उन छोटी बावड़ियों यावत् कूपपंक्तियों में उन-उन स्थानों में उन-उन भागों में बहुत से उत्पातपर्वत हैं, (जहाँ व्यन्तर देव-देवियां आकर क्रीडानिमित्त उत्तरवैक्रिय की रचना करते हैं), बहुत से नियतिपर्वत हैं (जो वानव्यंतर देव-देवियों के नियतरूप से भोगने में आते हैं) जगतीपर्वत हैं, दारुपर्वत हैं (जो लकड़ी के बने हुए जैसे लगते हैं), स्फटिक के मण्डप हैं, स्फटिकरत्न

के मंच हैं, स्फटिक के माले हैं, स्फटिक के महल हैं जो कोई तो ऊंचे हैं, कोई छोटे हैं, कितनेक छोटे किन्तु लंबे हैं, वहाँ बहुत से आंदोलक (झूले) हैं, पक्षियों के आन्दोलक (झूले) हैं। ये सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं, यावत् प्रतिरूप हैं।

उन उत्पातपर्वतों में यावत् पक्षियों के आन्दोलकों (झूलों) में बहुत से हंसासन (जिस आसन के नीचे भाग में हंस का चित्र हो), क्रौंचासन, गरुडासन, उन्नतासन, प्रणतासन, दीर्घासन, भद्रासन, पक्ष्यासन, मकरासन, वृषभासन, सिंहासन, पद्मासन और दिशास्वस्तिकासन हैं। ये सब सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं, मृदु हैं, स्निग्ध हैं, घृष्ट हैं, मृष्ट हैं, नीरज हैं, निर्मल हैं, निष्पंक हैं, अप्रतिहत कान्ति वाले हैं, प्रभामय हैं, किरणों वाले हैं, उद्योत वाले हैं, प्रासादिक हैं, दर्शनीय हैं, अभिरूप हैं और प्रतिरूप हैं।

१२७. (४) **तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे आलिघरा मालिघरा कयलिघरा लयागरा अच्छणघरा पेच्छणघरा मज्जणघरगा पसाहणघरगा गब्भघरगा मोहणघरगा सालघरगा जालघरगा कुसुमघरगा चित्तघरगा गंधव्वघरगा आयंसघरगा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा।**

तेसु णं आलिघरएसु जाव आयंसघरएसु बहूइं हंसासणाइं जाव दिसासोवत्थियासणाइं सव्वरयणामयाइं जाव पडिरूवाइं।

तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे जाइमंडवगा जूहियामंडवगा मल्लिया-मंडवगा णवमालियामंडवगा वासंतीमंडवगा दधिवासुयामंडवगा सूरिल्लिमंडवगा, तंबोलीमंडवगा मुद्दियामंडवगा णागलयामंडवगा अतिमुत्तमंडवगा अप्फोयामंडवगा मालुयामंडवगा सामलयामंडवगा णिच्चं कुसुमिया जाव पडिरूवा।

तेसु णं जातिमंडवएसु (जाव सामलयामंडवसु) बहवे पुढविसिलापट्टगा पण्णत्ता, तं जहा—हंसासणसंठिया कोंचासणसंठिया गरुलासणसंठिया उण्णयासणसंठिया पणयासणसंठिया दीहासणसंठिया भद्दासणसंठिया पक्खासणसंठिया मगरासणसंठिया उसभासणसंठिया, सीहासणसंठिया पउमासणसंठिया दिसासोत्थियासणसंठिया पण्णत्ता। तत्थ बहवे वरसयणासणविसिट्ठसंठाणसंठिया पण्णत्ता समणाउसो! आइण्णग-रूय-बूर-णवणीय-तूलफासा मउया सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीदंति तुयट्टंति रमंति ललंति कीलंति मोहंति पुरापोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं सुभाणं कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति।

[१२७] (४) उस वनखण्ड के उन-उन स्थानों और भागों में बहुत से आलिघर (आली नामक वनस्पतिप्रधान घर) हैं, मालिघर (माली नामक वनस्पतिप्रधान घर) हैं, कदलीघर हैं, लताघर हैं, ठहरने के घर (धर्मशालावत्) हैं, नाटकघर हैं, स्नानघर, प्रसाधन (शृंगारघर, गर्भगृह (भौंयरा), मोहनघर (वासभवन—रतिक्रीडार्थ घर) हैं, शालागृह (पट्टशाला), जालिप्रधानगृह, फूल-प्रधानगृह, चित्रप्रधानगृह, गन्धर्वगृह (गीत-नृत्य के अभ्यास योग्य घर) और आदर्शघर (काच-प्रधान गृह) हैं। ये सर्वरत्नमय, स्वच्छ यावत् बहुत सुन्दर हैं।

उन आलिघरों यावत् आदर्शघरों में बहुत से हंसासन यावत् दिशास्वस्तिकासन रखे हुए हैं, जो सर्वरत्नमय हैं यावत् सुन्दर हैं।

उस वनखण्ड के उन उन स्थानों और भागों में बहुत से जाई (चमेली के फूलों से लदे हुए मण्डप (कुंज) हैं, जूही के मण्डप हैं, मल्लिका के मण्डप हैं, नवमालिका के मण्डप हैं, वासन्तीलता के मण्डप हैं, दधिवासुका नामक वनस्पति के मण्डप हैं, सूरिल्ली-वनस्पति के मण्डप हैं, तांबूली—नागवल्ली के मण्डप हैं, मुद्रिका-द्राक्षा के मण्डप हैं, नागलतामण्डप, अतिमुक्तकमण्डप, अप्फोया-वनस्पति विशेष के मण्डप, मालुकामण्डप (एक गुठली वाले फलों के वृक्ष) और श्यामलतामण्डप हैं।[1] ये नित्य कुसुमित रहते हैं, मुकुलित रहते हैं, पल्लवित रहते हैं यावत् ये सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं।

उन जाइमण्डपादि यावत् श्यामलतामण्डपों में बहुत से पृथ्वीशिलापट्टक हैं, जिनमें से कोई हंसासन के समान है (हंसासन की आकृति वाले हैं), कोई क्रौंचासन के समान हैं, कोई गरुडासन की आकृति के हैं, कोई उन्नतासन के समान हैं, कितनेक प्रणतासन के समान हैं, कितनेक भद्रासन के समान, कितनेक दीर्घासन के समान, कितनेक पक्ष्यासन, के समान हैं, कितनेक मकरासन, वृषभासन, सिंहासन, पद्मासन के समान हैं और कितनेक दिशा-स्वस्तिकासन के समान हैं। हे आयुष्मन् श्रमण! वहाँ पर अनेक पृथ्वीशिलापट्टक जितने विशिष्ट चिह्न और नाम हैं तथा जितने प्रधान शयन और आसन हैं—उनके समान आकृति वाले हैं।[2] उनका स्पर्श आजिनक (मृगचर्म), रुई, बूर वनस्पति, मक्खन तथा हंसतूल के समान मुलायम है, मृदु है। वे सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं, यावत् प्रतिरूप (सुन्दर) हैं।

वहाँ बहुत से वानव्यन्तर देव और देवियां सुखपूर्वक विश्राम करती हैं, लेटती हैं, खड़ी रहती हैं, बैठती हैं, करवट बदलती हैं, रमण करती हैं, इच्छानुसार आचरण करती हैं, क्रीडा करती हैं, रतिक्रीडा करती हैं। इस प्रकार वे वानव्यन्तर देवियां और देव पूर्व भव में किये हुए धर्मानुष्ठानों का, तपश्चरणादि शुभ पराक्रमों का अच्छे और कल्याणकारी कर्मों के फलविपाक का अनुभव करते हुए विचरते हैं।

१२६. (५) तीसे णं जगतीए उप्पि अंतो पउमवरवेइयाए एत्थ णं एगे महं वणसंडे पण्णत्ते, देसूणाइं दो जोयणाइं विक्खंभेणं वेदिया समएणं परिक्खेवेणं किण्हे किण्होभासे वणसंडवण्णओ तण-मणिसद्दविहूणो णेयव्वो।

तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीयंति तुयट्टंति रमंति ललंति कीडंति मोहंति पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं सुभाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति।

उस जगती के ऊपर और पद्मवरवेदिका के अन्दर के भाग में एक बड़ा वनखंड कहा गया है, जो कुछ कम दो योजन विस्तारवाला वेदिका के परिक्षेप के समान परिधि वाला है। जो काला और

---

१. वृत्ति में 'सामलयामंडवा' पाठ नहीं है।

२. क्वचित् 'मांसलसुघुट्ठविसिट्ठसंठाणसंठिया' पाठ भी है। वे शिलापट्टक मांसल हैं—कठोर नहीं हैं, अत्यन्त स्निग्ध हैं और विशिष्ट आकृति वाले हैं।

काली कान्ति वाला है इत्यादि पूर्वोक्त वनखण्ड का वर्णन यहाँ कह लेना चाहिए। केवल यहाँ तृणों और मणियों के शब्द का वर्णन नहीं कहना चाहिए (क्योंकि यहाँ पद्मवरवेदिका का व्यवधान होने से तथाविध वायु का आघात न होने से शब्द नहीं होता है)।

यहाँ बहुत से वानव्यन्तर देवियां और देव स्थित होते हैं, लेटते हैं, खड़े रहते हैं, बैठते हैं, करवट बदलते हैं, रमण करते हैं, इच्छानुसार क्रियाएँ करते हैं, क्रीडा करते हैं, रतिक्रीड़ा करते हैं और अपने पूर्वभव में किये गये पुराने अच्छे धर्माचरणों का, सुपराक्रान्त तप आदि का और शुभ पुण्यों का, किये गये शुभकर्मों का कल्याणकारी फल-विपाक का अनुभव करते हुए विचरण करते हैं।

विवेचन—पूर्व में पद्मवरवेदिका के बाहर के वनखण्ड का वर्णन किया गया था। इस सूत्र में पद्मवरवेदिका के पहले और जगती के ऊपर जो वनखण्ड है उसका उल्लेख किया गया है।

जंबूद्वीप के द्वारों की संख्या

१२८. जंबुद्दीवस्स णं भंते ! दीवस्स कति दारा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि दारा पण्णत्ता, तं जहा—विजए, वेजयंते, जयंते अपराजिए।

[१२८] हे भगवन् ! जंबूद्वीप नामक द्वीप के कितने द्वार हैं ?

गौतम ! जंबूद्वीप के चार द्वार हैं, यथा—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित।

१२९. (१) कहि णं भंते ! जंबुद्दीवस्स दीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं अबाहाए जंबुद्दीवे दीवे पुरच्छिमपेरन्ते लवणसमुद्दपुरच्छिमद्धस्स पच्चत्थिमेणं सीताए महाणदीए उप्पि एत्थ णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते, अट्ठजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं, तावइयं चेव पवेसेणं, सेए वरकणयथूभियागे ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालग-किण्णररुरुसरभ-चमरकुंजर-वणलय-पउमलयभत्तिचित्ते खंभुग्गयवइरवेदियापरिगताभिरामे विज्जाहर-जमलजुयलजंतजुत्ते इव अच्चिसहस्समालिणीए रूवगसहस्सकलिए भिसमाणे भिब्भिसमाणे चक्खुल्लोयणलेसे सुहफासे सस्सिरीयरूवे। वण्णो दारस्स तस्सिमो होइ, तंजहा—वइरामया णिम्मा रिट्ठामया पतिट्ठाणा वेरुलियमया खंभा जायरूवोवचियपवरपंचवण्णमणिरयणकोट्टिमतले, हंसगब्भमए एलुए गोमेज्जमए इंदकीले लोहितक्खमईओ दारचेडीओ जोतिरसामए उत्तरंगे वेरुलियामया कवाडा वइरामया संधी लोहितक्खमईओ सूईओ णाणामणिमया समुग्गगा वइरामई अग्गलाओ अग्गलपासाया वइरामई आवत्तणपेढिया अंकुत्तरपासाए णिरंतरितघणकवाडे, भित्तीसु चेव भित्तीगुलिया छप्पण्णा तिण्णि होंति गोमाणसी, तत्तिया णाणामणिरयणवालरूवगलीलट्ठिय सालभंजिया, वइरामए कूडे रययामए उस्सेहे सव्वतवणिज्जमए उल्लोए णाणामणिरयणजाल पंजरमणिवंसग लोहितक्ख पडिवंसग-रययभोम्मे, अंकामया पक्खबाहाओ जोतिरसामया वंसा वंसकवेल्लुया य रययामईओ पट्टियाओ जाय-रूवमई ओहाडणी वइरामई उवरिपुञ्छणी सव्वसेयरययमए छायणे अंकमयकणगकूडतवणिज्ज-थूभियाए सेए संखतलविमलणिम्मलदधिघण गोखीर फेणरययणिगरप्पगासे तिलय-रयणद्धचंदचित्ते णाणामणि-

मयवामालंकिए अंतो य बहिं य सण्हे तवणिज्जरुइलवालुयापत्थडे सुहफासे सस्सिरीयरूवे पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे।

[१२९] (१) भगवन् ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप का विजयद्वार कहाँ कहा गया है ?

गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मेरुपर्वत के पूर्व में पैंतालीस हजार योजन आगे जाने पर तथा जंबूद्वीप के पूर्वान्त में तथा लवणसमुद्र के पूर्वार्ध के पश्चिम भाग में सीता महानदी के ऊपर जंबूद्वीप का विजयद्वार कहा गया है। यह द्वार आठ योजन का ऊँचा, चार योजन का चौड़ा और इतना ही (चार योजन का) इसका प्रवेश है। यह द्वार श्वेतवर्ण का है, इसका शिखर श्रेष्ठ सोने का है। इस द्वार पर ईहामृग, वृषभ, घोड़ा, मनुष्य, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, रुरु (मृग), सरभ (अष्टापद), चमर, हाथी, वनलता और पद्मलता के विविध चित्र बने हुए हैं। इसके खंभों पर बनी हुई वज्रवेदिकाओं से युक्त होने के कारण यह बहुत ही आकर्षक है। यह द्वार इतने अधिक प्रभा-समुदाय से युक्त है कि यह स्वभाव से नहीं किन्तु विशिष्ट विद्याशक्ति के धारक समश्रेणी के विद्याधरों के युगलों के यंत्रप्रभाव (शक्तिविशेष) से इतना प्रभासित हो रहा है—ऐसा लगता है। यह द्वार हजारों रूपकों से युक्त है। यह दीप्तिमान है, विशेष दीप्तिमान है, देखने वालों के नेत्र इसी पर टिक जाते हैं। इस द्वार का स्पर्श बहुत ही शुभ है या सुखरूप है। इसका रूप बहुत ही शोभायुक्त लगता है। यह द्वार प्रसन्नता पैदा करने वाला, दर्शनीय, सुन्दर है और बहुत ही मनोहर है। उस द्वार का विशेष वर्णनक इस प्रकार है—

इसकी नींव वज्रमय है। इसके पाये रिष्टरत्न के बने हैं। इसके स्तंभ वैडूर्यरत्न के हैं। इसका बद्धभूमितल (फर्श) स्वर्ण से उपचित (रचित) और प्रधान पाँच वर्णों की मणियों और रत्नों से जटित है। इसकी देहली हंसगर्भ नामक रत्न की बनी हुई है। गोमेयक रत्न का इन्द्रकील है और लोहिताक्ष रत्नों की द्वारशाखाएँ हैं। इसका उत्तरंग (द्वार पर तिर्यक् रखा हुआ काष्ठ) ज्योतिरस रत्न का है। इसके किवाड वैडूर्यमणि के हैं, दो पटियों को जोड़ने वाली कीलें लोहिताक्षरत्न की हैं, वज्रमय संधियां हैं, अर्थात् सांधों में वज्ररत्न भरे हुए हैं, इनके समुद्गक (सूतिकागृह) नाना मणियों के हैं, इसकी अर्गला और अर्गला रखने का स्थान वज्ररत्नों का है। इसकी आवर्तनपीठिका (जहाँ इन्द्रकील होता है) वज्ररत्न की है।[1] किवाड़ों का भीतरी भाग अंकरत्न का है। इसके दोनों किवाड़ अन्तर-रहित और सघन हैं। उस द्वार के दोनों तरफ की भित्तियों में १६८ भित्तिगुलिका (पीठक तुल्य आलिया) हैं और उतनी ही (१६८) गोमानसी (शय्याएँ) हैं। इस द्वार पर नाना मणिरत्नों के व्याल-सर्पों के चित्र बने हैं तथा लीला करती हुई पुत्तलियाँ भी नाना मणिरत्नों की बनी हुई हैं। इस द्वार का माडभाग वज्ररत्नमय है और उस माडभाग[2] का शिखर चांदी का है। उस द्वार की छत के नीचे का भाग तपनीय स्वर्ण का है। इस द्वार के झरोखे मणिमय बांस वाले और लोहिताक्षमय प्रतिबांस वाले तथा रजतमय भूमि वाले हैं। इसके पक्ष और पक्षबाहु अंकरत्न के बने हुए हैं। ज्योतिरसरत्न के बांस और बांसकवेलु (छप्पर) हैं, रजतमयी पट्टिकाएँ हैं, जातरूप स्वर्ण की ओहाडणी (विरल आच्छादन) हैं, वज्ररत्नमय ऊपर की पुंछणी (अविरल आच्छादन) हैं और सर्वश्वेत

---

१. वृत्ति में 'रययामयी आवत्तणपेढिया' पाठ है। अर्थात् आवर्तनपीठिका चांदी की है।

२. आह मूलटीकाकारः—कूडो—माडभागः उच्छ्रयः शिखरमिति।
केवलं शिखरमत्र माडभागस्य सम्बन्धि दृष्टव्यं न द्वारस्य, तस्य प्रागेव प्रोक्तत्वात्। —टीका।

रजतमय आच्छादन हैं। बाहुल्य से अंकरत्नमय, कनकमय कूट तथा स्वर्णमय स्तूपिका (लघु शिखर) वाला वह विजयद्वार है। उस द्वार की सफेदी शंखतल, बिमल—निर्मल जमे हुए दही, गाय के दूध, फेन और चांदी के समुदाय के समान है, तिलकरत्नों और अर्धचन्द्रों से वह नानारूप वाला है, नाना प्रकार की मणियों की माला से वह अलंकृत है, अन्दर और बाहर से कोमल-मृदु पुद्गलस्कंधों से बना हुआ है, तपनीय (स्वर्ण) की रेत का जिसमें प्रस्तर-प्रस्तार है। ऐसा वह विजयद्वार सुखद और शुभस्पर्श वाला, सश्रीक रूप वाला, प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप है।

१२९. (२) विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो दो चंदणकलस-परिवाडीओ पण्णत्ताओ। ते णं चंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा सुरभिवरवारिपडिपुण्णा चंदणकय-चच्चागा, आबद्धकंठेगुणा पउमुप्पलपिहाणा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा महया महया महिंदकुंभ समाणा पण्णत्ता समणाउसो !

विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो दो नागदंतपरिवाडीओ पण्णत्ताओ। ते णं णागदंतगा मुत्ताजालंतरुसितहेमजालगवक्खजालखिंखिणिघंटाजालपरिक्खित्ता, अब्भुग्गया अभिनिसिट्ठा तिरियं सुसंपग्गहिता अहे पण्णगद्धरूवा, पण्णगद्धसंठाणसंठिया सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा महया महया गयदंतसमाणा पण्णत्ता समणाउसो !

तेसु णं णागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तबद्धवग्घारियमल्लदामकलावा जाव सुक्किलसुत्तबद्धवग्घारि-यमल्लदामकलावा। ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपतरकमंडिया णाणामणिरयणविविह-हारद्धहारोसोभियसमुदया जाव सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति।

तेसिं णं णागदंताणं उवरिं अण्णाओ दो दो नागदंतपरिवाडीओ पण्णत्ताओ। ते णं नागदंतगा मुत्ताजालंतरूसिया तहेव जाव समणाउसो !

तेसु णं नागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कया पण्णत्ता। तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वेरुलियामईओ धूवघडीओ पण्णत्ताओ। ताओ णं धूवघडीओ कालागुरुपवरकुंदरुक्कतुरुक्क-धूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामाओ सुगंधवरगंधगंधियाओ गंधवट्टिभूयाओ ओरालेणं मणुण्णेणं घाणमण-णिव्वुइकरेणं गंधेणं तप्पएसे सव्वओ समंता आपूरेमाणीओ आपूरेमाणीओ अईव अईव सिरीए उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति।

[१२९] (२) उस विजयद्वार के दोनों तरफ दो नैषेधिकाएं हैं—बैठने के स्थान हैं (एक-एक दोनों तरफ हैं)। उन दो नैषेधिकाओं में दो-दो चन्दन के कलशों की पंक्तियां कही गई हैं। वे चन्दन के कलश श्रेष्ठ कमलों पर प्रतिष्ठित हैं, सुगन्धित और श्रेष्ठ जल से भरे हुए हैं, उन पर चन्दन का लेप किया हुआ है, उनके कंठों में मौली (लच्छा) बंधी हुई है, पद्मकमलों का उन पर ढक्कन है, वे सर्वरत्नों के बने हुए हैं, स्वच्छ हैं, श्लक्ष्ण (मृदु पुद्गलों से निर्मित) हैं यावत् बहुत सुन्दर हैं। हे आयुष्मन् श्रमण ! वे कलश बड़े-बड़े महेन्द्रकुम्भ (महाकलश) के समान हैं।

उस विजयद्वार के दोनों तरफ दो नैषेधिकाओं में दो-दो नागदन्तों (खूंटियों) की पंक्तियाँ हैं। वे नागदन्त मुक्ताजालों के अन्दर लटकती हुई स्वर्ण की मालाओं और गवाक्ष की आकृति की

रत्नमालाओं और छोटी-छोटी घण्टिकाओं (घुंघरुओं) से युक्त हैं, आगे के भाग में ये कुछ ऊँचाई लिये हुई हैं। ऊपर के भाग में आगे निकली हुई हैं और अच्छी तरह ठुकी हुई हैं, सर्प के निचले आधे भाग की तरह उनका रूप है अर्थात् अति सरल और दीर्घ हैं, इसलिए सर्प के निचले आधे भाग की आकृति वाली हैं, सर्वथा वज्ररत्नमय हैं, स्वच्छ हैं, मृदु हैं, यावत् प्रतिरूप हैं। हे आयुष्मन् श्रमण ! वे नागदन्तक बड़े बड़े गजदन्त (हाथी के दांत) के समान कहे गये हैं।

उन नागदन्तकों में बहुत सी काले डोरे में पिरोयी हुई पुष्पमालाएँ लटक रही हैं, बहुत सी नीले डोरे में पिरोयी हुई पुष्पमालाएँ लटक रही हैं, यावत् शुक्ल वर्ण के डोरे में पिरोयी हुई पुष्पमालाएँ लटक रही हैं। उन मालाओं में सुवर्ण का लंबूसक (पेन्डल-लटकन) है, आजूबाजू वे स्वर्ण के प्रतरक से मण्डित हैं, नाना प्रकार के मणि रत्नों के विविध हार और अर्धहारों से वे मालाओं के समुदाय सुशोभित हैं यावत् वे श्री से अतीव अतीव सुशोभित हो रही हैं।

उन नागदंतकों के ऊपर अन्य दो और नागदंतकों की पंक्तियां हैं। वे नागदन्तक मुक्ताजालों के अन्दर लटकती हुई स्वर्ण की मालाओं और गवाक्ष की आकृति की रत्नमालाओं और छोटी छोटी घण्टिकाओं (घुंघरुओं) से युक्त हैं यावत् हे आयुष्मन् श्रमण ! वे नागदन्तक बड़े बड़े गजदन्त के समान कहे गये हैं।

उन नागदन्तकों में बहुत से[1] रजतमय छींके कहे गये हैं। उन रजतमय छींकों में वैडूर्यरत्न की धूपघटिकाएँ (धुपनियाँ) हैं। वे धूपघटिकाएँ काले अगर, श्रेष्ठ चीड और लोभान के धूप की मघमघाती सुगन्ध के फैलाव से मनोरम हैं, शोभन गंध वाले पदार्थों की गंध जैसी सुगंध उनसे निकल रही है, वे सुगन्ध की गुटिका जैसी प्रतीत होती हैं। वे अपनी उदार (विस्तृत), मनोज्ञ और नाक एवं मन को तृप्ति देने वाली सुगंध से आसपास के प्रदेशों को व्याप्त करती हुई अतीव सुशोभित हो रही हैं।

१२९. (३) विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो दो सालभंजियापरिवाडीओ पण्णत्ताओ,[2] ताओ णं सालभंजियाओ लीलट्ठियाओ सुपइट्ठियाओ सुअलंकियाओ णाणागारवसणाओ णाणामल्लपिणद्धिओ मुट्ठिगेज्झमज्झाओ आमेलगजमलजुयलवट्टिअब्भुण्णयपीणरइयसंठियपओहराओ रत्तावंगाओ असियकेसीओ मिउविसदपसत्थलक्खणसंवेल्लितग्गसिरयाओ, ईसिं असोगवरपायवसमुट्ठियाओ वामहत्थगहीयग्गसालाओ ईसिं अद्धच्छिकडक्खविद्धिएहिं लूसेमाणीओ इव चक्खुल्लोयणलेसाहिं अण्णमण्णं खिज्जमाणीओ इव पुढविपरिणामाओ सासयभावमुवगयाओ चंदाणणाओ चंदविलासिणीओ चंदद्धसमनिडालाओ चंदाहियसोमदंसणाओ उक्का इव उज्जोएमाणीओ

---

१. किन्हीं प्रतियों में 'रयणमय' पाठ है। तदनुसार रत्नमय छींके हैं। वृत्ति में रजतमय अर्थ किया गया है।

२. वृत्ति के अनुसार सालभंजिकाओं के वर्णन का पाठ इस प्रकार है—ताओ णं सालभंजियाओ लीलट्ठियाओ सुपयट्ठियाओ सुअलंकियाओ णाणाविहरागवसणाओ रत्तावंगाओ असियकेसीओ मिउविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लियग्गसिरयाओ नानामलपिणद्धाओ मुट्ठिगेज्झमज्झाओ आमेलगजमलवट्टियअब्भुण्णयरइयसंठियपयोहराओ ईसिं असोगवरपायवसमुट्ठियाओ ......।

विज्जुघणमरीचि-सूरदिप्पंततेयअहिययरसन्निकासाओ सिंगारागारचारुवेसाओ पासाइयाओ दरिस-णिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ तेयसा अतीव अतीव सोभेमाणीओ सोभेमाणीओ चिट्ठंति ।

[१२९] (३) उस विजयद्वार के दोनों ओर नैषेधिकाओं में दो दो सालभंजिका (पुतलियों) की पंक्तियाँ कही गई हैं । वे पुतलियाँ लीला करती हुई (सुन्दर अंगचेष्टाएँ करती हुई) चित्रित की गई हैं, सुप्रतिष्ठित—सुन्दर ढंग से स्थित की गई हैं, ये सुन्दर वेशभूषा से अलंकृत हैं, ये रंगबिरंगे कपड़ों से सज्जित हैं, अनेक मालाएँ उन्हें पहनायी गई हैं, उनकी कमर इतनी पतली है कि मुट्ठी में आ सकती है । उनके पयोधर (स्तन) समश्रेणिक चुचुकयुगल से युक्त हैं, कठिन होने से गोलाकार हैं, ये सामने की ओर उठे हुए हैं, पुष्ट हैं अतएव रति-उत्पादक हैं । इन पुतलियों के नेत्रों के कोने लाल हैं, उनके बाल काले हैं तथा कोमल हैं, विशद-स्वच्छ हैं, प्रशस्त लक्षणवाले हैं और उनका अग्रभाग मुकुट से आवृत है । ये पुतलियाँ अशोकवृक्ष का कुछ सहारा लिये हुए खड़ी हैं । वामहस्त से इन्होंने अशोक वृक्ष की शाखा के अग्रभाग को पकड़ रखा है । ये अपने तिरछे कटाक्षों से दर्शकों के मन को मानो चुरा रही हैं । परस्पर के तिरछे अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ये (एक दूसरे के सौभाग्य को सहन न करती हुई) एक दूसरी को खिन्न कर रही हों । ये पुत्तलिकाएँ पृथ्वीकाय का परिणामरूप हैं और शाश्वत भाव को प्राप्त हैं । इन पुतलियों का मुख चन्द्रमा जैसा है । ये चन्द्रमा की भांति शोभा देती हैं, आधे चन्द्र की तरह उनका ललाट है, उनका दर्शन चन्द्रमा से भी अधिक सौम्य है, उलका (मूल से विच्छिन्न जाज्वल्यमान अग्निपुंज—चिनगारी) के समान ये चमकीली हैं, इनका प्रकाश बिजली की प्रगाढ किरणों और अनावृत सूर्य के तेज से भी अधिक है । उनकी आकृति शृंगार-प्रधान है और उनकी वेशभूषा बहुत ही सुहावनी है । ये प्रसन्नता पैदा करने वाली, दर्शनीया, अभिरूपा और प्रतिरूपा हैं । ये अपने तेज से अतीव अतीव सुशोभित हो रही हैं ।

१२९. (४) **विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो दो जालकडगा पण्णत्ता । ते णं जालकडगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ।**

विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो दो घंटापरिवाडीओ पण्णत्ताओ । तासि णं घंटाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—जंबूणयमईओ घंटाओ, वइरामईओ लालाओ णाणामणिमया घंटापासगा, तवणिज्जमईओ संकलाओ रययामईओ रज्जूओ । ताओ णं घंटाओ ओहस्सराओ मेहस्सराओ हंसस्सराओ कोंचस्सराओ णंदिस्सराओ णंदिघोसाओ सीहस्सराओ सीहघोसाओ मंजुस्सराओ मंजुघोसाओ सुस्सराओ सुस्सरणिग्घोसाओ ते पएसे ओरालेणं मणुण्णेणं कण्णमणनिव्वुइकरेणं सद्देणं जाव चिट्ठंति ।

विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो दो वणमालापरिवाडीओ पण्णत्ताओ । ताओ णं वणमालाओ णाणादुमलयाकिसलयपल्लवसमाउलाओ छप्पयपरिभुज्जमाण-कमलसोभंतसस्सिरीयाओ पासाइयाओ० ते पएसे उरालेणं जाव गंधेणं आपूरेमाणीओ जाव चिट्ठंति ।

[१२९] (४) उस विजयद्वार के दोनों तरफ दो नैषेधिकाओं में दो दो जालकटक (जालियों वाले रम्य स्थान) कहे गये हैं । ये जालकटक सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं ।

उस विजयद्वार के दोनों तरफ दो नैषेधिकाओं में दो घंटाओं की पंक्तियां कही गई हैं। उन घंटाओं का वर्णनक इस प्रकार है—वे घंटाए सोने की बनी हुई हैं, वज्ररत्न की उनकी लालाएँ-लटकन हैं, अनेक मणियों से बने हुए घंटाओं के पार्श्वभाग हैं, तपे हुए सोने की उनकी सांकलें हैं, घंटा बजाने के लिए खींची जाने वाली रज्जु चांदी की बनी हुई है। इन घंटाओं का स्वर ओघस्वर है—अर्थात् एक बार बजाने पर बहुत देर तक उनकी ध्वनि सुनाई पड़ती है। मेघ के समान गंभीर है, हंस के स्वर के समान मधुर है, क्रौंच पक्षी के स्वर के समान कोमल है, दुन्दुभि के स्वर के तुल्य होने से नन्दिस्वर है, बारह प्रकार के वाद्यों के संघात के स्वर जैसा होने से नन्दिघोष है, सिंह की गर्जना के समान होने से सिंहस्वर है। उन घंटाओं का स्वर बड़ा ही प्रिय होने से मंजुस्वर है, उनका निनाद बहुत प्यारा होता है अतएव मंजुघोष है। उन घंटाओं का स्वर अत्यन्त श्रेष्ठ है, उनका स्वर और निर्घोष अत्यन्त सुहावना है। वे घंटाएँ अपने उदार, मनोज्ञ एवं कान और मन को तृप्त करने वाले शब्द से आसपास के प्रदेशों को व्याप्त करती हुई अति विशिष्ट शोभा से सम्पन्न हैं।

उस विजयद्वार की दोनों ओर नैषेधिकाओं में दो दो वनमालाओं की कतार है। ये वनमालाएँ अनेक वृक्षों और लताओं के किसलयरूप पल्लवों—कोमल कोमल पत्तों से युक्त हैं और भ्रमरों द्वारा भुज्यमान कमलों से सुशोभित और सश्रीक हैं। ये वनमालाएँ प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं तथा अपनी उदार, मनोज्ञ और नाक तथा मन को तृप्ति देने वाली गंध से आसपास के प्रदेश को व्याप्त करती हुई अतीव अतीव शोभित होती हुई स्थित हैं।

१३०. विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो दो पगंठगा पण्णत्ता। ते णं पगंठगा चत्तारि जोयणाइं आयामविक्खंभेणं दो जोयणाइं बाहल्लेणं सव्ववइरामया अच्छा जाव पडिरूवा।

तेसिं णं पगंठगाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं पासायवडिंसगा पण्णत्ता। ते णं पासायवडिंसगा चत्तारि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसियपहसिताविव विविह-मणिरयणभत्तिचित्ता वाउद्धुयविजयवेजयंती पडाग-छत्ताइछत्तकलिया तुंगा गगनतलमणुलिहंत-सिहरा[1] जालंतररयणपंजरुम्मिलितव्व मणिकणगथूभियागा वियसियसयपत्तपोंडरीय-तिलक-रयणद्ध-चंदचित्ता णाणामणिमयदामालंकिया अंतो य बाहिं य सण्हा तवणिज्जरुइलवालुयापत्थडगा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।

तेसिं णं पासायवडिंसगाणं उल्लोया पउमलया जाव सामलयाभत्तिचित्ता सव्वतवणिज्जमया अच्छा जाव पडिरूवा।

तेसिं णं पासायवडिंसगाणं पत्तेयं पत्तेयं अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते; से जहाणामए आलिंगपुक्खरे इ वा जाव मणीहिं उवसोभिए। मणीण गंधो वण्णो फासो य नेयव्वो।

तेसिं णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियाओ

---

१. 'गयनतलमभिलंघमाणसिहरा' इत्यपि पाठः।

पण्णत्ताओ। ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वरयणामईओ जाव पडिरूवाओ।

तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं सीहासणे पण्णत्ते। तेसि णं सीहासणाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—रययामया सीहा तवणिज्जमया चक्कवाला सोवण्णिया पाया णाणामणिमयाइं पायसीसगाइं जंबूणयमयाइं गत्ताइं वइरामया संधी नानामणिमए वेच्चे। ते णं सीहासणा ईहामिय-उसभ जाव पउमलयभत्तिचित्ता ससारसारोवइयविविहमणिरयणपायपीढा अच्छरगमिउमसूरगनवतयकुसंतलिच्चसीहकेसर पच्चुत्थयाभिरामा उवचियखोमदुगुल्लय पडिच्छायणा सुविरइयरयत्ताणा रत्तंसुयसंवुया सुरम्मा आईणगरूयबूरणवणीयतूलमउयफासा मउया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।

तेसि णं सीहासणाणं उप्पि पत्तेयं पत्तेयं विजयदूसे पण्णत्ते। ते णं विजयदूसा सेया संखकुंदवगरयअमयमहियफेणपुंजसन्निकासा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

तेसि णं विजयदूसाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं वइरामया अंकुसा पण्णत्ता। तेसु णं वइरामएसु अंकुसेसु पत्तेयं पत्तेयं कुंभिका मुत्तादामा पण्णत्ता। ते णं कुंभिका मुत्तादामा अन्नेहिं चउहिं चउहिं तदद्धुच्चप्पमाणमेत्तेहिं अद्धकुंभिक्केहिं मुत्तादामेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता। ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपयरगमंडिया जाव चिट्ठंति। तेसि णं पासायवडिंसगाणं उप्पि बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता सोत्थिय तहेव जाव छत्ता।

१३०. उस विजयद्वार के दोनों तरफ दोनों नैषेधिकाओं में दो प्रकण्ठक[1] (पीठविशेष) कहे गये हैं। ये प्रकण्ठक चार योजन के लम्बे-चौड़े और दो योजन की मोटाई वाले हैं। ये सर्व व्रजरत्न के हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप (मनोज्ञ) हैं। इन प्रकण्ठकों के ऊपर अलग-अलग प्रासादावतंसक (प्रासादों के बीच में मुकुटरूप प्रासाद) कहे गये हैं। ये प्रासादावतंसक चार योजन के ऊंचे और दो योजन के लम्बे-चौड़े हैं। ये प्रासादावतंसक चारों तरफ से निकलती हुई और सब दिशाओं में फैलती हुई प्रभा से बँधे हुए हों ऐसे प्रतीत होते हैं अथवा चारों तरफ से निकलती हुई श्वेत प्रभापटल से हँसते हुए-से प्रतीत होते हैं। ये विविध प्रकार की मणियों और रत्नों की रचनाओं से विविध रूप वाले हैं अथवा विविध रत्नों की रचनाओं से आश्चर्य पैदा करने वाले हैं। वे वायु से कम्पित और विजय की सूचक वैजयन्ती नाम की पताका, सामान्य पताका और छत्रों पर छत्र से शोभित हैं, वे ऊंचे हैं, उनके शिखर आकाश को छू रहे हैं अथवा आसमान को लांघ रहे हैं। उनकी जालियों में रत्न जड़े हुए हैं, वे आवरण से बाहर निकली हुई वस्तु की तरह नये नये लगते हैं, उनके शिखर मणियों और सोने के हैं, विकसित शतपत्र, पुण्डरीक, तिलकरत्न और अर्धचन्द्र के चित्रों से चित्रित हैं, नाना प्रकार की मणियों की मालाओं से अलंकृत हैं, अन्दर और बाहर से श्लक्ष्ण—चिकने हैं, तपनीय स्वर्ण की बालुका इनके आंगन में बिछी हुई है। इनका स्पर्श अत्यन्त सुखदायक है। इनका रूप लुभावना है। ये प्रासादावतंसक प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं।

---

१. 'प्रकण्ठौ पीठविशेषौ' इति मूलटीकाकारः। चूर्णिकारस्तु एवमाह आदर्शवृत्तौपर्यन्तावनतप्रदेशौ पीठौ प्रकण्ठाविति।

उन प्रासादावतंसकों के ऊपरी भाग पद्मलता, अशोकलता यावत् श्यामलता के चित्रों से चित्रित हैं और वे सर्वात्मना स्वर्ण के हैं। वे स्वच्छ, चिकने यावत् प्रतिरूप हैं।

उन प्रासादावतंसकों में अलग-अलग बहुत सम और रमणीय भूमिभाग है। वह भूमिभाग मृदंग पर चढ़े हुए चर्म के समान समतल है यावत् मणियों से उपशोभित है। यहाँ मणियों के गन्ध, वर्ण और स्पर्श का वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए।

उन एकदम समतल और रमणीय भूमिभागों के एकदम मध्यभाग में अलग-अलग मणिपीठिकाएँ कही गई हैं। वे मणिपीठिकाएँ एक योजन की लम्बी-चौड़ी और आधे योजन की मोटाई[1] वाली हैं। वे सर्वरत्नमयी यावत् प्रतिरूप हैं।

उन मणिपीठिकाओं के ऊपर अलग-अलग सिंहासन कहे गये हैं। उन सिंहासनों का वर्णन इस प्रकार कहा गया है—उन सिंहासनों के सिंह रजतमय हैं, स्वर्ण के उनके पाये हैं, तपनीय स्वर्ण के पायों के अधःप्रदेश हैं, नाना मणियों के पायों के ऊपरी भाग हैं, जंबूनद स्वर्ण के उनके गात्र (ईसें) हैं, वज्रमय उनकी संधियां हैं, नाना मणियों से उनका मध्यभाग[2] बुना गया है। वे सिंहासन ईहामृग, वृषभ, यावत् पद्मलता आदि की रचनाओं से चित्रित हैं, प्रधान-प्रधान विविध मणिरत्नों से उनके पादपीठ उपचित (शोभित) हैं, उन सिंहासनों पर मृदु स्पर्शवाले आस्तरक (आच्छादन, अस्तर) युक्त गद्दे जिनमें नवीन छालवाले मुलायम-मुलायम दर्भाग्र (दूब) और अतिकोमल केसर भरे हैं, बिछे होने से वे सुन्दर लग रहे हैं, उन गद्दों पर बेलबूटों से युक्त सूती वस्त्र की चादर (पलंगपोस) बिछी हुई है, उनके ऊपर धूल न लगे इसलिए रजस्त्राण लगाया हुआ है, वे रमणीय लाल वस्त्र से आच्छादित हैं, सुरम्य हैं, आजिनक (मृगचर्म), रुई, बूर वनस्पति, मक्खन और अर्कतूल के समान मुलायम स्पर्शवाले हैं। वे सिंहासन प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं।

उन सिंहासनों के ऊपर अलग-अलग विजयदूष्य (वस्त्रविशेष) कहे गये हैं। वे विजयदूष्य सफेद हैं, शंख, कुंद (मोगरे का फूल), जलबिन्दु, क्षीरोदधि के जल को मथित करने से उठने वाले फेन-पुंज के समान (श्वेत) हैं, सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं।

उन विजयदूष्यों के ठीक मध्यभाग में अलग अलग वज्रमय अंकुश (हुक तुल्य) कहे गये हैं। उन वज्रमय अंकुशों में अलग अलग कुंभिका (मगधदेशप्रसिद्धप्रमाण विशेष) प्रमाण मोतियों की मालाएँ लटक रही हैं। वे कुंभिकाप्रमाण मुक्तामालाएँ अन्य उनसे आधी ऊँचाई वाली अर्धकुंभिका प्रमाण चार चार मोतियों की मालाओं से सब ओर से वेष्ठित हैं। उन मुक्तामालाओं में तपनीयस्वर्ण के लंबूसक (पेण्डल) हैं, वे आसपास से स्वर्ण के प्रतरक से मंडित हैं यावत् श्री से अतीव अतीव सुशोभित हैं।

उन प्रासादावतंसकों के ऊपर आठ-आठ मंगल कहे गये हैं, यथा—स्वस्तिक यावत् छत्र।

१३१. (१) विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो दो तोरणा पण्णत्ता, ते णं तोरणा णाणामणिमया तहेव जाव अट्ठट्ठमंगलका य छत्तातिछत्ता। तेसिं णं तोरणाणं पुरओ दो दो

१. टीका में 'अट्ठजोयणबाहल्लेणं' 'अष्ट योजनानि बाहल्येन' पाठ है।

२. 'वेच्चं' व्यूतं वानमित्यर्थः। आह च चूर्णिकृत् 'वेच्चे वाणक्कतेणं'।

सालभंजियाओ पण्णत्ताओ, जहेव णं हेट्ठा तहेव। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो नागदंतगा पण्णत्ता, ते णं णागदंतगा मुत्ताजालरुंसिया तहेव। तेसु णं णागदंतएसु बहवे किण्हे सुत्तवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा जाव चिट्ठंति।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो हयसंघाडगा पण्णत्ता सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा। एवं पंतीओ, वीहीओ, मिहुणगा; दो दो पउमलयाओ जाव पडिरूवाओ। तेसि णं तोरणाणं पुरओ अक्खयसोवत्थिया सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा। तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा तहेव सव्वरयणामया जाव पडिरूवा समणाउसो!

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो भिंगारगा पण्णत्ता, वरकमलपइट्ठाणा जाव सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा महया महया मत्तगयमुहागिइसमाणा पण्णत्ता समणाउसो!

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो आयंसगा पण्णत्ता, तेसि णं आयंसगाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—तवणिज्जमया पयंठगा वेरुलियमया छरुहा (थंभया), वइरामया वरंगा णाणामणिमया वलक्खा अंकमया मंडला अणोग्घसियनिम्मलासाए छायाए सव्वओ चेव समणुबद्धा चंदमंडलपडिणिकासा महया महया अद्धकायसमाणा पण्णत्ता समणाउसो!

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो वइरणाभे[1] थाले पण्णत्ते; ते णं थाला अच्छतिच्छडियसालितंदुलनहसंदट्ठ बहुपडिपुण्णा इव चिट्ठंति सव्वजंबूणयामया अच्छा जाव पडिरूवा महयामहया रहचक्कसमाणा समणाउसो!

तेसिं णं तोरणाणं पुरओ दो दो पातीओ पण्णत्ताओ। ताओ णं पातीओ अच्छोदयपडिहत्थाओ णाणाविहपंचवण्णस्स फलहरितगस्स बहुपडिपुण्णाओ विव चिट्ठंति सव्वरयणामईओ जाव पडिरूवाओ महया महया गोकलिंजगचक्कसमाणाओ पण्णत्ताओ समणाउसो!

[१३१] (१) उस विजयद्वार के दोनों ओर दोनों नैषधिकाओं में दो दो तोरण कहे गये हैं। वे तोरण नाना मणियों के बने हुए हैं इत्यादि वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए यावत् उन पर आठ-आठ मंगलद्रव्य और छत्रातिछत्र हैं। उन तोरणों के आगे दो दो शालभंजिकाएँ (पुत्तलियां) कही गई हैं। जैसा वर्णन उन शालभंजिकाओं का पूर्व में किया गया है, वैसा ही यहाँ कह लेना चाहिए। उन तोरणों के आगे दो दो नागदंतक (खूंटियां) हैं। वे नागदंतक मुक्ताजाल के अन्दर लटकती हुई मालाओं से युक्त हैं आदि वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए। उन नागदंतकों में बहुत सी काले सूत में गूंथी हुई विस्तृत पुष्पमालाओं के समुदाय हैं यावत् वे अतीव शोभा से युक्त हैं।

उन तोरणों के आगे दो दो घोड़ों के जोड़े (संघाटक) कहे गये हैं जो सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं। इसी प्रकार हयों (घोड़ों) की पंक्तियां (एक दिशा में जो कतारें होती हैं) और हयों की वीथियां (आजू-बाजू की कतारें) और हयों के मिथुनक (स्त्री-पुरुष के जोड़े) भी हैं। उन तोरणों के आगे दो-दो पद्मलताएँ चित्रित हैं यावत् वे प्रतिरूप हैं। उन तोरणों के आगे अक्षत के स्वस्तिक चित्रित हैं जो सर्व रत्नमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं।

---

१. 'वइरामए थाले' ऐसा पाठ भी कहीं कहीं है। वज्ररत्न के थाल हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो चन्दनकलश कहे गये हैं। वे चन्दनकलश श्रेष्ठ कमलों पर प्रतिष्ठित हैं आदि पूर्ववत् वर्णन जानना चाहिए यावत् हे आयुष्मन् श्रमण ! वे सर्वरत्नमय हैं यावत् प्रतिरूप हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो भृंगारक (झारी) कहे गये हैं। वे भृंगारक श्रेष्ठ कमलों पर प्रतिष्ठित हैं यावत् सर्वरत्नमय, स्वच्छ यावत् प्रतिरूप हैं और हे आयुष्मन् श्रमण ! वे भृंगारक बड़े-बड़े और मत्त हाथी के मुख की आकृति वाले हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो आदर्शक (दर्पण) कहे गये हैं। उन आदर्शकों का वर्णनक इस प्रकार है—इन दर्पणों के प्रकण्ठक (पीठविशेष) तपनीय स्वर्ण के बने हुए हैं, इनके स्तम्भ (जहाँ से दर्पण मुट्ठी में पकड़ा जाता है वह स्थान) वैडूर्यरत्न के हैं, इनके वरांग (गण्ड-फ्रेम) वज्ररत्नमय हैं, इनके वलक्ष (सांकलरूप अवलम्बन) नाना मणियों के हैं, इनके मण्डल (जहाँ प्रतिबिम्ब पड़ता है) अंक रत्न के हैं। ये दर्पण अनवघर्षित (मांजे बिना ही—स्वाभाविक) और निर्मल छाया—कान्ति से युक्त हैं, चन्द्रमण्डल की तरह गोलाकार हैं। हे आयुष्मन् श्रमण ! ये दर्पण बड़े-बड़े और दर्शक की आधी काया के प्रमाण वाले कहे गये हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो वज्रनाभ[1] स्थाल कहे गये हैं। वे स्थाल स्वच्छ, तीन बार सूप आदि से फटकार कर साफ किये हुए और मूसलादि द्वारा खंडे हुए शुद्ध स्फटिक जैसे चावलों से भरे हुए हों, ऐसे प्रतीत होते हैं। वे सर्व स्वर्णमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं। हे आयुष्मन् श्रमण ! वे स्थाल बड़े-बड़े रथ के चक्र के समान कहे गये हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो पात्रियां कही गई हैं। ये पात्रियाँ स्वच्छ जल से परिपूर्ण हैं। नानाविध पांच रंग के हरे फलों से भरी हुई हों—ऐसी प्रतीत होती हैं (साक्षात् जल या फल नहीं हैं, किन्तु वैसी प्रतीत होती हैं। वे पृथ्वीपरिणामरूप और शाश्वत हैं। केवल वैसी उपमा दी गई है।) वे स्थाल सर्वरत्नमय यावत् प्रतिरूप हैं और बड़े-बड़े गोकलिंजर (बांस का टोपला अथवा) चक्र के समान कहे गये हैं।

१३१. (२) तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो सुपतिट्ठगा पण्णत्ता। ते णं सुपतिट्ठगा णाणाविह-(पंचवण्ण) पसाहणगभंडविरचिया सव्वोसहिपडिपुण्णा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो मणोगुलियाओ पण्णत्ताओ, तासु णं मणोगुलियासु बहवे सुवण्ण-रुप्पामया फलगा पण्णत्ता। तेसु णं सुवण्णरुप्पामएसु फलएसु बहवे वइरामया णागदंतगा मुत्ता-जालंतरुसिता हेम जाव गयदंत समाणा पण्णत्ता। तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कया पण्णत्ता। तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वायकरगा पण्णत्ता। ते णं वायकरगा किण्ह-सुत्तसिक्कगवत्थिया जाव सुक्किलसुत्तसिक्कगवत्थिया सव्वे वेरुलियामया अच्छा जाव पडिरूवा।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो चित्ता रयणकरंडगा पण्णत्ता। से जहाणामए रण्णो चाउरंत-चक्कवट्टिस्स चित्ते रयणकरंडे वेरुलियमणिफालिय पडलपच्चोयडे साए पभाए ते पएसे सव्वओ समंता

---

१. वृत्ति में 'वज्रनाभ स्थाल' कहा है। अन्यत्र 'वइरामए थाले' ऐसा पाठ है।

ओभासइ उज्जोवेइ तावेइ पभासेइ, एवामेव ते चित्तरयणकरंडगा पण्णत्ता वेरुलियपडलपच्चोयड-साए पभाए ते पएसे सव्वओ समंता ओभासेइ ।

तेसिं णं तोरणाणं पुरओ दो दो हयकंठगा जाव दो दो उसभकंठगा पण्णत्ता सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा । तेसु णं हयकंठएसु जाव उसभकंठएसु दो दो पुप्फचंगेरीओ, एवं मल्लगंधचुण्ण-वत्थाभरणचंगेरीओ सिद्धत्थचंगेरीओ लोमहत्थचंगेरीओ सव्वरयणामईओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ।

तेसिं णं तोरणाणं पुरओ दो दो पुप्फपडलाइं जाव लोमहत्थपडलाइं सव्वरयणामयाइं जाव पडिरूवाइं ।

तेसिं णं तोरणाणं पुरओ दो दो सीहासणाइं पण्णत्ताइं । तेसिं णं सीहासणाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते तहेव जाव पासाईया ४ ।

तेसिं णं तोरणाणं पुरओ दो दो रुप्पच्छदा छत्ता पण्णत्ता, ते णं छत्ता वेरुलियभिसंतविमलदंडा जंबूणयकन्निका वइरसंधी मुत्ताजालपरिगया अट्ठसहस्सवरकंचणसलागा दद्दरमलयसुगंधी सव्वोउ-असुरभिसीयलच्छाया मंगलभत्तिचित्ता चंदागारोवमा वट्टा ।

तेसिं णं तोरणाणं पुरओ दो दो चामराओ पण्णत्ताओ । ताओ णं चामराओ[1] चंदप्पभवइर-वेरुलिय-नानामणिरयणखचियदंडाओ संखंक-कुंद-दगरय-अमयमहिय-फेणपुंज-सण्णिकासाओ सुहुम-रययदीहवालाओ सव्वरयणामयाओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ।

तेसिं णं तोरणाणं पुरओ दो दो तिल्लसमुग्गा कोट्ठसमुग्गा पत्तसमुग्गा चोयसमुग्गा तयरसमुग्गा एलासमुग्गा हरियालसमुग्गा हिंगुलयसमुग्गा मणोसिलासमुग्गा अंजणसमुग्गा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ।

[१३१] (२) उन तोरणों के आगे दो-दो सुप्रतिष्ठक (शृंगारदान) कहे गये हैं। वे सुप्रतिष्ठक नाना प्रकार के पांच वर्णों की प्रसाधन-सामग्री और सर्व औषधियों से परिपूर्ण लगते हैं, वे सर्वरत्नमय, स्वच्छ यावत् प्रतिरूप हैं ।

उन तोरणों के आगे दो-दो मनोगुलिका[2] (पीठिका) कही गई हैं। उन मनोगुलिकाओं में बहुत-से सोने-चांदी के फलक (पटिये) हैं। उन सोने-चांदी के फलकों में बहुत से वज्रमय नागदंतक (खूंटियां) हैं। ये नागदंतक मुक्ताजाल के अन्दर लटकती हुई मालाओं से युक्त हैं यावत् हाथी के दांत के समान कही गई हैं। उन वज्रमय नागदंतकों में बहुत से चांदी के सींके कहे गये हैं। उन चांदी के सींकों में बहुत से वातकरक (जलशून्य घड़े) हैं। ये जलशून्य घड़े काले सूत्र के बने हुए ढक्कन से यावत् सफेद सूत्र के बने हुए ढक्कन से आच्छादित हैं। ये सब वैडूर्यमय हैं, स्वच्छ हैं, यावत् प्रतिरूप हैं ।

---

१. णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जल विचित्तदंडाओ चिल्लिआओ इति पाठान्तरम् ।

२. मनोगुलिकपीठिकेति मूलटीकायाम् ।

उन तोरणों के आगे दो-दो चित्रवर्ण के रत्नकरण्डक कहे गये हैं। जैसे—किसी चातुरन्त (चारों दिशाओं की पृथ्वी पर्यन्त) चक्रवर्ती का नाना मणिमय होने से नानावर्ण का अथवा आश्चर्यभूत रत्नकरण्डक जिस पर वैडूर्यमणि और स्फटिक मणियों का ढक्कन लगा हुआ है, अपनी प्रभा से उस प्रदेश को सब ओर से अवभासित करता है, उद्योतित करता है, प्रदीप्त करता है, प्रकाशित करता है, इसी तरह वे विचित्र रत्नकरंडक वैडूर्यरत्न के ढक्कन से युक्त होकर अपनी प्रभा से उस प्रदेश को सब ओर से अवभासित करते हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो हयकंठक[1] (रत्नविशेष) यावत् दो-दो वृषभकंठक कहे गये हैं। वे सर्वरत्नमय, स्वच्छ यावत् प्रतिरूप हैं।

उन हयकंठकों में यावत् वृषभकंठकों में दो-दो फूलों की चंगेरियां (छाबड़ियां) कही गई हैं। इसी तरह माल्यों—मालाओं, गंध, चूर्ण, वस्त्र एवं आभरणों की दो-दो चंगेरियां कही गई हैं। इसी तरह सिद्धार्थ (सरसों) और लोमहस्तक (मयूरपिच्छ) चंगेरियां भी दो-दो हैं। ये सब सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो पुष्प-पटल यावत् दो-दो लोमहस्त-पटल कहे गये हैं, जो सर्वरत्नमय हैं यावत् प्रतिरूप हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो सिंहासन हैं। उन सिंहासनों का वर्णनक इस प्रकार है आदि वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए यावत् वे प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं।

उन तोरणों के आगे चांदी के आच्छादन वाले छत्र कहे गये हैं। उन छत्रों के दण्ड वैडूर्यमणि के हैं, चमकीले और निर्मल हैं, उनकी कर्णिका (जहाँ तानियां तार में पिरोयी रहती हैं) स्वर्ण की है, उनकी संधियां वज्ररत्न से पूरित हैं, वे छत्र मोतियों की मालाओं से युक्त हैं। एक हजार आठ शलाकाओं (तानियों) से युक्त हैं, जो श्रेष्ठ स्वर्ण की बनी हुई हैं। कपड़े से छने हुए चन्दन की गंध के समान सुगन्धित और सर्वऋतुओं में सुगन्धित रहने वाली उनकी शीतल छाया है। उन छत्रों पर नाना प्रकार के मंगल चित्रित हैं और वे चन्द्रमा के आकार के समान गोल हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो चामर कहे गये हैं। वे चामर चन्द्रकान्तमणि, वज्रमणि, वैडूर्यमणि आदि नाना मणिरत्नों से जटित दण्ड वाले हैं। (जिनके दण्ड नाना प्रकार की मणियों, स्वर्ण, रत्नों से जटित हैं, विमल हैं, बहुमूल्य स्वर्ण के समान उज्ज्वल एवं चित्रित हैं, चमकीले हैं) वे चामर शंख, अंकरत्न कुंद (मोगरे का फूल) दगरज (जलकण) अमृत (क्षीरोदधि) के मथित फेनपुंज के समान श्वेत हैं, सूक्ष्म और रजत के लम्बे-लम्बे बाल वाले हैं, सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं, यावत् प्रतिरूप हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो तैलसमुद्गक[2] (आधारविशेष) कोष्टसमुद्गक, पत्रसमुद्गक, चोयसमुद्गक, तगरसमुद्गक, इलायचीसमुद्गक, हरितालसमुद्गक, हिंगुलुसमुद्गक, मनःशिला-समुद्गक और अंजनसमुद्गक हैं। (ये सर्व सुगंधित द्रव्य हैं। इनके रखने के आधार को समुद्गक कहते हैं।) ये सर्व समुद्गक सर्वरत्नमय हैं स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं।[3]

---

१. 'हयकण्ठौ हयकण्ठप्रमाणौ रत्नविशेषौ' इति मूलटीकायाम्

२. 'तैलसमुद्गकौ सुगंधिततैलाधारविशेषौ' इति वृत्तिः।

३. 'तेल्लो कोट्ठसमुग्गा पत्ते चोए य तगर एला य। हरियाले हिंगुलए मणोसिला अंजणसमुग्गो।' संग्रहणी गाथा।

१३२. विजए णं दारे अट्ठसयं चक्कज्झयाणं अट्ठसयं मिगज्झयाणं अट्ठसयं गरुडज्झयाणं (अट्ठसयं विगज्झयाणं) अट्ठसयं रुरुयज्झयाणं अट्ठसयं छत्तज्झयाणं अट्ठसयं पिच्छज्झयाणं अट्ठसयं सउणिज्झयाणं अट्ठसयं सीहज्झयाणं अट्ठसयं उसभज्झयाणं अट्ठसयं सेयाणं चउविसाणाणं णागवरकेऊणं एवामेव सपुव्वावरेणं विजयदारे य असीयं केउसहस्सं भवतीतिमक्खायं।

विजये णं दारे णव भोमा पण्णत्ता। तेसि णं भोमाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता जाव मणीणं फासो। तेसि णं भोमाणं उप्पि उल्लोया पउमलया जाव सामलताभत्तिचित्ता जाव सव्वतवणिज्जमया अच्छा जाव पडिरूवा।

तेसि णं भोमाणं बहुमज्झदेसभाए जे से पंचमे भोमे तस्स णं भोमस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं सीहासणे पण्णत्ते। सीहासणवण्णओ विजयदूसे जाव अंकुसे जाव दामा चिट्ठंति।

तस्स णं सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चउण्हं सामाणियसहस्साणं चत्तारि भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। तस्स णं सीहासणस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं चत्तारि भद्दासणा पण्णत्ता। तस्स णं सीहासणस्स दाहिणपुरत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स अब्भितरियाए परिसाए अट्ठण्हं देवसाहस्सीणं अट्ठण्हं भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। तस्स णं सीहासणस्स दाहिणेणं विजयस्स देवस्स मज्झिमाए परिसाए दसण्हं देवसाहस्सीणं दस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। तस्स णं सीहासणस्स दाहिण-पच्चत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स बाहिरियाए बारसण्हं देवसाहस्सीणं बारसभद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ।

तस्स णं सीहासणस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स सत्तण्हं अणियाहिवईणं सत्त भद्दासणा पण्णत्ता। तस्स णं सीहासणस्स पुरत्थिमेणं दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीणं सोलस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—पुरत्थिमेणं चत्तारि साहस्सीओ एवं चउसुवि जाव उत्तरेणं चत्तारि साहस्सीओ। अवसेसेसु भोमेसु पत्तेयं पत्तेयं भद्दासणा पण्णत्ता।

[१३२] उस विजयद्वार पर एक सौ आठ चक्र से अंकित ध्वजाएँ, एक सौ आठ मृग से अंकित ध्वजाएँ, एक सौ आठ गरुड से अंकित ध्वजाएँ, (एक सौ आठ वृक[1] (भेडिया) से अंकित ध्वजाएँ), एक सौ आठ रुरु (मृगविशेष) से अंकित ध्वजाएँ, एक सौ आठ छत्रांकित ध्वजाएँ, एक सौ आठ पिच्छ से अंकित ध्वजाएँ, एक सौ आठ शकुनि (पक्षी) से अंकित ध्वजाएँ, एक सौ आठ सिंह से अंकित ध्वजाएँ, एक सौ आठ वृषभ से अंकित ध्वजाएँ और एक सौ आठ सफेद चार दांत वाले हाथी से अंकित ध्वजाएँ—इस प्रकार आगे-पीछे सब मिलाकर एक हजार अस्सी ध्वजाएँ विजयद्वार पर कही गई हैं। (ऐसा मैंने और अन्य तीर्थंकरों ने कहा है।)

---

१. वृत्ति में वृक से अंकित पाठ नहीं है। वहाँ रुरु से अंकित पाठ मान्य किया गया है। किन्हीं प्रतियों में 'रुरु' पाठ नहीं है। कहीं दोनों हैं। इन दोनों में से एक को स्वीकार करने से ही कुल संख्या १०८० होती है।

—सम्पादक

उस विजयद्वार के आगे नौ भौम (विशिष्टस्थान) कहे गये हैं। उन भौमों के अन्दर एकदम समतल और रमणीय भूमिभाग कहे गये हैं, इत्यादि वर्णन पूर्ववत् यावत् मणियों के स्पर्श तक जानना चाहिए। उन भौमों की भीतरी छत पर पद्मलता यावत् श्यामलताओं के विविध चित्र बने हुए हैं, यावत् वे स्वर्ण के हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं।

उन भौमों के एकदम मध्यभाग में जो पांचवां भौम है उस भौम के ठीक मध्यभाग में एक बड़ा सिंहासन कहा गया है, उस सिंहासन का वर्णन, देवदूष्य का वर्णन यावत् वहाँ अंकुशों में मालाएँ लटक रही हैं, यह सब पूर्ववत् कहना चाहिए। उस सिंहासन के पश्चिम-उत्तर (वायव्यकोण) में, उत्तर में, उत्तर-पूर्व (ईशानकोण) में विजयदेव के चार हजार सामानिक देवों के चार हजार भद्रासन कहे गये हैं। उस सिंहासन के पूर्व में विजयदेव की चार सपरिवार अग्रमहिषियों के चार भद्रासन कहे गये हैं। उस सिंहासन के दक्षिण-पूर्व में (आग्नेयकोण में) विजयदेव की आभ्यन्तर पर्षदा के आठ हजार देवों के आठ हजार भद्रासन कहे गये हैं। उस सिंहासन के दक्षिण में विजयदेव की मध्यम पर्षदा के दस हजार देवों के दस हजार भद्रासन कहे गये हैं। उस सिंहासन के दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्यकोण) में विजयदेव की बाह्य-पर्षदा के बारह हजार देवों के बारह हजार भद्रासन कहे गये हैं।

उस सिंहासन के पश्चिम में विजयदेव के सात अनीकाधिपतियों के सात भद्रासन कहे गये हैं। उस सिंहासन के पूर्व में, दक्षिण में, पश्चिम में और उत्तर में विजयदेव के सोलह हजार आत्मरक्षक देवों के सोलह हजार सिंहासन हैं। पूर्व में चार हजार, इसी तरह चारों दिशाओं में चार-चार हजार यावत् उत्तर में चार हजार सिंहासन कहे गये हैं।

शेष भौमों में प्रत्येक में भद्रासन कहे गये हैं। (ये भद्रासन—सामानिकादि देव परिवारों से रहित जानने चाहिए।)

१३३. विजयस्स णं दारस्स उवरिमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिता, तंजहा—रयणेहिं वेरुलिएहिं जाव रिट्ठेहिं। विजयस्स णं दारस्स उप्पि बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता, तंजहा—सोत्थिय-सिरिवच्छ जाव दप्पणा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा। विजयस्स णं दारस्स उप्पि बहवे कण्हचामरज्झया जाव सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा। विजयस्स णं दारस्स उप्पि बहवे छत्ताइछत्ता तहेव।

[१३३] उस विजयद्वार का ऊपरी आकार (उत्तरांगादि) सोलह प्रकार के रत्नों से उपशोभित है। जैसे वज्ररत्न, वैडूर्यरत्न यावत् रिष्टरत्न।[1] उस विजयद्वार पर बहुत से आठ-आठ मंगल—स्वस्तिक, श्रीवत्स यावत् दर्पण कहे गये हैं। ये सर्वरत्नमय स्वस्छ यावत् प्रतिरूप हैं।

उस विजयद्वार के ऊपर बहुत से कृष्ण चामर के चिह्न से अंकित ध्वजाएँ हैं। यावत् वे ध्वजाएँ सर्वरत्नमय, स्वच्छ यावत् प्रतिरूप हैं। उस विजयद्वार के ऊपर बहुत से छत्रातिछत्र कहे गये हैं। इन सबका वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

---

१. सोलह रत्नों के नाम—१. रत्न-सामान्य कर्केतनादि, २. वज्र, ३. वैडूर्य, ४. लोहिताक्ष, ५. मसारगल्ल, ६. हंसगर्भ, ७. पुलक, ८. सौगंधिक, ९. ज्योतिरस, १०. अंक, ११. अंजन, १२. रजत, १३. जातरूप, १४. अंजनपुलक, १५. स्फटिक, १६. रिष्ट।

१३४. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ विजए णं दारे विजए णं दारे ?

गोयमा ! विजए णं दारे विजए णाम देवे महिड्ढीए महज्जुईए जाव महाणुभावे पलिओवमट्ठिईए परिवसति । से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं, चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं आणियाणं, सत्तण्हं आणियाहिवईणं, सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, विजयस्स णं दारस्स विजयाए रायहाणीए, अण्णेसिं च बहूणं विजयाए रायहाणीए वत्थव्वगाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—विजएदारे विजएदारे ।

अदुत्तरं च णं गोयमा ! विजयस्स णं दारस्स सासए णामधेज्जे पण्णत्ते जं ण कयाइ णासी, ण कयाइ णत्थि, ण कयावि ण भविस्सइ जाव अवट्ठिए णिच्चे विजयदारे ।

[१३४] हे भगवन् ! विजयद्वार को विजयद्वार क्यों कहा जाता है ?

गौतम ! विजयद्वार में विजय नाम का महर्द्धिक, महाद्युति वाला यावत् महान् प्रभाव वाला और एक पल्योपम की स्थिति वाला देव रहता है । वह चार हजार सामानिक देवों, चार सपरिवार अग्रमहिषियों, तीन पर्षदाओं, सात अनीकों (सेनाओं), सात अनीकाधिपतियों और सोलह हजार आत्मरक्षक देवों का, विजयद्वार का, विजय राजधानी का और अन्य बहुत सारे विजय राजधानी के निवासी देवों और देवियों का आधिपत्य करता हुआ यावत् दिव्य[1] भोगोपभोगों को भोगता हुआ विचरता है । इस कारण हे गौतम ! विजयद्वार को विजयद्वार कहा जाता है ।

हे गौतम ! विजयद्वार का यह नाम शाश्वत है । यह पहले नहीं था ऐसा नहीं, वर्तमान में नहीं—ऐसा नहीं और भविष्य में कभी नहीं होगा—ऐसा भी नहीं, यावत् यह अवस्थित और नित्य है ।

१३५. (१) कहि णं भंते ! विजयस्स देवस्स विजयाणाम रायहाणी पण्णत्ता ?

गोयमा ! विजयस्स णं दारस्स पुरत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीइवइत्ता अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं विजयस्स देवस्स विजयाणाम रायहाणी पण्णत्ता, बारस जोयणसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं सत्ततीसं जोयणसहस्साइं नव य अडयाले जोयणसए किंचि विसेसाहिया परिक्खेवेणं पण्णत्ता ।

सा णं एगेणं पागारेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता । से णं पागारे सत्ततीसं जोयणाइं अद्धजोयणं य उड्ढं उच्चत्तेणं, मूले अद्धतेरस जोयणाइं विक्खंभेणं मज्झे सक्कोसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं उप्पि तिण्णि सद्धकोसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं, मूले वित्थिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पि तणुए बाहिं वट्टे अंतो चउरंसे गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वकणगामए अच्छे जाव पडिरूवे ।

से णं पागारे णाणाविहपंचवण्णेहिं कविसीसएहिं उवसोभिए, तंजहा—किण्हेहिं जाव सुक्किलेहिं । ते णं कविसीसगा अद्धकोसं आयामेणं पंचधणुसयाइं विक्खंभेणं देसूणमद्धकोसं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वमणिमया अच्छा जाव पडिरूवा ।

---

१. भोगभोगाइं अर्थात् भोग योग्य शब्दादि भोगों को ।

[१३५] (१) हे भगवन् ! विजयदेव की विजया नामक राजधानी कहाँ कही है ?

गौतम ! विजयद्वार के पूर्व में तिरछे असंख्य द्वीप-समुद्रों को पार करने के बाद अन्य जंबूद्वीप[1] नाम के द्वीप में बारह हजार योजन जाने पर विजयदेव की विजया राजधानी है जो बारह हजार योजन की लम्बी-चौडी है तथा सैंतोस हजार नौ सौ अडतालीस योजन से कुछ अधिक उसकी परिधि है ।

वह विजया राजधानी चारों ओर से एक प्राकार (परकोटे) से घिरी हुई है । वह प्राकार साढ़े सैंतीस योजन ऊँचा है, उसका विष्कंभ (चौड़ाई) मूल में साढे बारह योजन, मध्य में छह योजन एक कोस और ऊपर तीन योजन आधा कोस है; इस तरह वह मूल में विस्तृत है, मध्य में संक्षिप्त है और ऊपर तनु (कम) है । वह बाहर से गोल अन्दर से चौकोन, गाय की पूंछ के आकार का है । वह सर्व स्वर्णमय है स्वच्छ है यावत् प्रतिरूप है ।

वह प्राकार नाना प्रकार के पांच वर्णों के कपिशीर्षकों (कंगूरों) से सुशोभित है, यथा—कृष्ण यावत् सफेद कंगूरों से । वे कंगूरे लम्बाई में आधा कोस, चौड़ाई में पांच सौ धनुष, ऊंचाई में कुछ कम आधा कोस हैं । वे कंगूरे सर्व मणिमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं ।

१३५. (२) विजयाए णं रायहाणीए एगमेगाए बाहाए पणुवीसं पणुवीसं दारसयं भवतीति मक्खायं ।

ते णं दारा बावट्ठि जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं सेया वरकणगथूभियागा ईहामिय० तहेव जहा विजएदारे जाव तवणिज्जबालुगपत्थडा सुहफासा सस्सिरीया सरूवा पासाईया ४ ।

तेसि णं दाराणं उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो दो चंदणकलसपरिवाडीओ पण्णत्ताओ तहेव भाणियव्वं जाव वणमालाओ । तेसि णं दाराणं उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो-दो पगंठगा पण्णत्ता । ते णं पगंठगा एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं पन्नरस जोयणाइं अड्ढाइज्जे कोसे बाहल्लेणं पण्णत्ता सव्ववइरामया अच्छा जाव पडिरूवा ।

तेसि णं पगंठगाणं उप्पि पत्तेयं पत्तेयं पासायवडिंसगा पण्णत्ता । ते णं पासायवडिंसगा एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नरस जोयणाइं अड्ढाइज्जे य कोसे आयामविक्खंभेणं सेसं तं चेव जाव समुग्गया णवरं बहुवयणं भाणियव्वं ।

विजयाए णं रायहाणीए एगमेगे दारे अट्ठसयं चक्कज्झयाणं जाव अट्ठसयं सेयाणं चउविसाणाणं णागवरकेऊणं एवामेव सपुव्वावरेणं विजयाए रायहाणीए एगमेगे दारे असीयं असीयं केउसहस्सं भवतीति मक्खायं ।

विजयाए णं रायहाणीए एगमेगे दारे (तेसिं च दाराणं पुरओ) सत्तरस सत्तरस भोमा पण्णत्ता । तेसि णं भोमाणं (भूमिभागा) उल्लोया (य) पउमलया० भत्तिचित्ता ।

तेसि णं भोमाणं बहुमज्झदेसभाए जे ते नवमनवमा भोमा तेसि णं भोमाणं बहुमज्झदेसभाए

---

१. जम्बूद्वीप नाम के असंख्यात द्वीप हैं । सबसे आभ्यन्तर जंबूद्वीप से यहाँ मतलब नहीं है ।

पत्तेयं पत्तेयं सीहासणा पण्णत्ता। सीहासणवण्णओ जाव दामा जहा हेट्ठा। एत्थ णं अवसेसेसु भोमेसु पत्तेयं पत्तेयं भद्दासणा पण्णत्ता। तेसिं णं दाराणं उवरिमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया। तं चेव जाव छत्ताइछत्ता। एवामेव पुव्वावरेण विजयाए रायहाणीए पंच दारसया भवंतीति मक्खाया।

[१३५] (२) विजया राजधानी की एक-एक बाहा (दिशा) में एक सौ पच्चीस, एक सौ पच्चीस द्वार कहे गये हैं। ऐसा मैंने और अन्य तीर्थंकरों ने कहा है। ये द्वार साढे बासठ योजन के ऊंचे हैं, इनकी चौडाई इकतीस योजन और एक कोस है और इतना ही इनका प्रवेश है। ये द्वार श्वेत वर्ण के हैं, श्रेष्ठ स्वर्ण की स्तूपिका (शिखर) है, उन पर ईहामृग आदि के चित्र बने हैं—इत्यादि वर्णन विजयद्वार की तरह कहना चाहिए यावत् उनके प्रस्तर (आंगन) में स्वर्णमय बालुका बिछी हुई है। उनका स्पर्श शुभ और सुखद है, वे शोभायुक्त सुन्दर प्रासादीय दर्शनीय अभिरूप और प्रतिरूप हैं।

उन द्वारों के दोनों तरफ दोनों नैषेधिकाओं में दो-दो चन्दन-कलश की परिपाटी कही गई हैं—इत्यादि वनमालाओं तक का वर्णन विजयद्वार के समान कहना चाहिए। उन द्वारों के दोनों तरफ दोनों नैषेधिकाओं में दो-दो प्रकण्ठक (पीठविशेष) कहे गये हैं। वे प्रकंठक इकतीस योजन और एक कोस लम्बाई-चौडाई वाले हैं, उनकी मोटाई पन्द्रह योजन और ढाई कोस है, वे सर्व वज्रमय स्वच्छ यावत् प्रतिरूप हैं।

उन प्रकण्ठकों के ऊपर प्रत्येक पर अलग-अलग प्रासादावतंसक कहे गये हैं। वे प्रासादावतंसक इकतीस योजन एक कोस ऊंचे हैं, पन्द्रह योजन ढाई कोस लम्बे-चौड़े हैं। शेष वर्णन समुद्गक पर्यन्त विजयद्वार के समान ही कहना चाहिए, विशेषता यह है कि वे सब बहुवचन रूप कहने चाहिए।

उस विजया राजधानी के एक-एक द्वार पर १०८ चक्र से चिह्नित ध्वजाएँ यावत् १०८ श्वेत और चार दांत वाले हाथी से अंकित ध्वजाएँ कही गई हैं। ये सब आगे-पीछे की ध्वजाएँ मिलाकर विजया राजधानी के एक-एक द्वार पर एक हजार अस्सी ध्वजाएँ कही गई हैं।

विजया राजधानी के एक-एक द्वार पर (उन द्वारों के आगे) सत्रह भौम (विशिष्टस्थान) कहे गये हैं। उन भौमों के भूमिभाग और अन्दर की छतें पद्मलता आदि विविध चित्रों से चित्रित हैं।

उन भौमों के बहुमध्य भाग में जो नौवें भौम हैं, उनके ठीक मध्यभाग में अलग-अलग सिंहासन कहे गये हैं। यहाँ सिंहासन का पूर्ववर्णित वर्णनक कहना चाहिए यावत् सिंहासनों में मालाएँ लटक रही हैं। शेष भौमों में अलग-अलग भद्रासन कहे गये हैं। उन द्वारों के ऊपरी भाग सोलह प्रकार के रत्नों से शोभित हैं आदि वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए यावत् उन पर छत्र पर छत्र लगे हुए हैं। इस प्रकार सब मिलाकर विजया राजधानी के पांच सौ द्वार होते हैं। ऐसा मैंने और अन्य तीर्थंकरों ने कहा है।

विवेचन—प्रस्तुतसूत्र में विजया राजधानी का वर्णन करते हुए अनेक स्थानों पर विजयद्वार का अतिदेश किया गया है। 'जहा विजयदारे' कहकर यह अतिदेश किया गया है। इस अतिदेश के पाठों में विभिन्न प्रतियों में विविध पाठ हैं। श्री मलयगिरि की वृत्ति के पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि उन आचार्यश्री के सम्मुख कोई दूसरी प्रति थी जो अब उपलब्ध नहीं है। क्योंकि इस सूत्र की वृत्ति में आचार्यश्री ने उल्लेख किया है—'शेषमपि तोरणादिकं विजयद्वारवदिमाभिर्वक्ष्य-

माणाभिर्गाथाभिरनुगन्तव्यम्, ता एव गाथा आह—'तोरणे, इत्यादि गाथात्रयम्' अर्थात् शेष तोरणादिक का कथन विजयद्वार की तरह इन तीन गाथाओं से जानना चाहिए। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं 'तोरण' आदि।' वृत्तिकार ने तीन गाथाओं की वृत्ति की है इससे सिद्ध होता है कि उनके सन्मुख जो प्रति थी उसमें उक्त तीन गाथाएँ मूल पाठ में होनी चाहिए। वर्तमान में उपलब्ध प्रतियों में ये तीन गाथाएँ नहीं मिलती हैं। वृत्ति के अनुसार उन गाथाओं का भावार्थ इस प्रकार है—

उस विजया राजधानी के द्वारों में प्रत्येक नैषेधिकी में दो-दो तोरण कहे गये हैं, उन तोरणों के ऊपर प्रत्येक पर आठ-आठ मंगल हैं, उन तोरणों पर कृष्ण चामर आदि से अंकित ध्वजाएँ हैं। उसके बाद तोरणों के आगे शालभंजिकाएँ हैं, तदनन्तर नागदंतक हैं। नागदन्तकों में मालाएँ हैं। तदनन्तर हयसंघाटादि संघाटक हैं, तदनन्तर हयपंक्तियां, तदनन्तर हयवीथियां आदि, तदनन्तर हयमिथुनकादि, तदनन्तर पद्मलतादि लताएँ, तदनन्तर चतुर्दिक स्वस्तिक, तदनन्तर चन्दनकलश, तदनन्तर भृंगारक, तदनन्तर आदर्शक, फिर स्थाल, फिर पात्रियां, फिर सुप्रतिष्ठक, तदनन्तर मनोगुलिका, उनमें जलशून्य वातकरक (घड़े), तदनन्तर रत्नकरण्डक, फिर हयकण्ठ, गजकण्ठ, नरकण्ठ, किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गन्धर्व-वृषभ-कण्ठ क्रम से कहने चाहिये। तदनन्तर पुष्पचंगेरियां कहनी चाहिए। फिर पुष्पादि पटल, सिंहासन, छत्र, चामर, तैलसमुद्गक आदि कहने चाहिए और फिर ध्वजाएँ कहनी चाहिए। ध्वजाओं का चरम सूत्र है—उस विजया राजधानी के एक-एक द्वार पर एक हजार अस्सी ध्वजाएँ मैंने और अन्य तीर्थंकरों ने कही हैं।

ध्वजासूत्र के बाद भौम कहने चाहिए। भौमों के भूमिभाग और उल्लोकों (भीतरी छतों) का वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए। उन भौमों के ठीक मध्यभाग में नवमे-नवमे भौम के मध्यभाग में विजयदेव के योग्य सिंहासन हैं जैसे कि विजयद्वार के पांचवें भौम में हैं किन्तु सपरिवार सिंहासन कहने चाहिए। शेष भौमों में सपरिवार भद्रासन कहने चाहिए। उन द्वारों का उपरी आकार सोलह प्रकार के रत्नों से उपशोभित हैं। सोलह रत्नों के नाम पूर्व में कहे जा चुके हैं। यावत् उन पर छत्र पर छत्र लगे हुए हैं। इस प्रकार सब मिलाकर (विजय) राजधानी के पांच सौ द्वार कहे गये हैं।'

१३६. [१] विजयाए णं रायहाणीए चउद्दिसिं पंचपंचजोयणसयाइं अबाहाए, एत्थ णं चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता, तं जहा—असोगवणे सत्तिवण्णवणे चंपकवणे चूयवणे। पुरत्थिमेणं असोगवणे, दाहिणेणं सत्तिवण्णवणे, पच्चत्थिमेणं चंपगवणे उत्तरेणं चूयवणे। ते णं वणसंडा साइरेगाइं दुवालस-जोयणसहस्साइं आयामेणं पंचजोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता पत्तेयं पत्तेयं पागारपरिक्खित्ता किण्हा किण्होभासा वणसंडवण्णओ भाणियव्वो जाव बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीदंति तुयट्टंति रमंति ललंति कीलंति मोहंति पुरापोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरक्कंताणं सुभाणं कम्माणं कडाणं कल्लाणाणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

तेसिं णं वणसंडाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं पासायवडिंसगा पण्णत्ता, ते णं पासाय-वडिंसगा बावट्ठि जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं, एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गयमुस्सिअ० तहेव जाव अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता उल्लोया पउमलयाभत्तिचित्ता भाणियव्वा। तेसिं णं पासायवडिंसगाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं सीहासणा पण्णत्ता वण्णावासो सपरिवारा। तेसिं णं पासायवडिंसगाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइछत्ता।

तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्डिया जाव पलिओवमट्ठिइया परिवसंति, तं जहा—असोए, सत्तिवण्णे, चंपए, चूए। तत्थ णं ते साणं साणं वणसंडाणं साणं साणं पासायवडेंसयाणं साणं साणं सामाणियाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं आयरक्खदेवाणं आहेवच्चं जाव विहरंति।

[१३६] (१) उस विजया राजधानी की चारों दिशाओं में पांच-पांच सौ योजन के अपान्तराल को छोड़ने के बाद चार वनखंड कहे गये हैं, यथा—१ अशोकवन, २ सप्तपर्णवन, ३ चम्पकवन और ४ आम्रवन। पूर्वदिशा में अशोकवन है, दक्षिणदिशा में सप्तपर्णवन है। पश्चिमदिशा में चंपकवन है और उत्तरदिशा में आम्रवन है। वे वनखण्ड कुछ अधिक बारह हजार योजन के लम्बे और पांच सौ योजन के चौड़े हैं। वे प्रत्येक एक-एक प्राकार से परिवेष्ठित हैं, काले हैं, काले ही प्रतिभासित होते हैं—इत्यादि वनखण्ड का वर्णनक कह लेना चाहिए यावत् वहां बहुत से वानव्यंतर देव और देवियां स्थित होती हैं, सोती हैं (लेटती हैं क्योंकि देवयोनि में निद्रा नहीं होती), ठहरती हैं, बैठती हैं, करवट बदलती हैं, रमण करती हैं, लीला करती हैं, क्रीडा करती हैं, कामक्रीडा करती हैं और अपने पूर्व जन्म में पुराने अच्छे अनुष्ठानों का, सुपराक्रान्त तप आदि का और किये हुए शुभ कर्मों का कल्याणकारी फलविपाक का अनुभव करती हुई विचरती हैं।

उन वनखण्डों के ठीक मध्यभाग में अलग-अलग प्रासादावतंसक कहे गये हैं। वे प्रासादावतंसक साढे बासठ योजन ऊँचे, इकतीस योजन और एक कोस लम्बे-चौड़े हैं। ये प्रासादावतंसक चारों तरफ से निकलती हुई प्रभा से बंधे हुए हों अथवा श्वेतप्रभा पटल से हंसते हुए-से प्रतीत होते हैं, इत्यादि वर्णन जानना चाहिए यावत् उनके अन्दर बहुत समतल एवं रमणीय भूमिभाग है, भीतरी छतों पर पद्मलता आदि के विविध चित्र बने हुए हैं।

उन प्रासादावतंसकों के ठीक मध्यभाग में अलग अलग सिंहासन कहे गये हैं। उनका वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए यावत् सपरिवार सिंहासन जानने चाहिए। उन प्रासादावतंसकों के ऊपर बहुत से आठ-आठ मंगलक हैं, ध्वजाएँ हैं और छत्रों पर छत्र हैं।

वहाँ चार देव रहते हैं जो महर्द्धिक यावत् पल्योपम की स्थिति वाले हैं, उनके नाम हैं—१ अशोक, २ सप्तपर्ण, ३ चंपक और ४ आम्र। वे अपने-अपने वनखंड का, अपने-अपने प्रासादावतंसक का, अपने-अपने सामानिक देवों का, अपनी-अपनी अग्रमहिषियों का, अपनी-अपनी पर्षदा का और अपने-अपने आत्मरक्षक देवों का आधिपत्य करते हुए यावत् विचरते हैं।

१३६. (२) विजयाए णं रायहाणीए अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव पंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिए तणसद्दविहूणे जाव देवा य देवीओ य आसयंति जाव विहरंति।

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं ओवारियालेणे पण्णत्ते, बारस जोयणसयाइं आयाम-विक्खंभेणं तिण्णि जोयणसहस्साइं सत्त य पंचाणउए जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं सव्वजम्बूणदामए णं अच्छे जाव पडिरूवे।

से णं एगाए पउमवरवेइयाए, एगेणं वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते। पउमवरवेइयाए-वण्णओ, वणसंडवण्णओ, जाव विहरंति। से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं ओवारियालयणसमे परिक्खेवेणं, तस्स णं ओवारियालयणस्स चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता, वण्णओ। तेसिं णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरओ पत्तेयं पत्तेयं तोरणा पण्णत्ता छत्ताइछत्ता।

तस्स णं ओवारियालयणस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव मणीहिं उवसोभिए मणिवण्णओ, गंधरसफासो। तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं एगे महं मूलपासायवडिंसए पण्णत्ते।

से णं पासायवडिंसए बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं य आयाम-विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसियप्पहसिए तहेव। तस्स णं पासायवडिंसगस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव मणिफासे उल्लोए।

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता। सा य एगं जोयणमायामविक्खंभेए अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई अच्छा सण्हा।

तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एगे महं सीहासणे पण्णत्ते, एवं सीहासणवण्णओ सपरिवारो। तस्स णं पासायवडिंसगस्स उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया, छत्ताइछत्ता।

से णं पासायवडिंसए अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडिंसएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते, ते णं पासायवडिंसगा एक्कतीसं जोयणाइं कोसं य उड्ढं उच्चत्तेण अद्धसोलसजोयणाइं अद्धकोसं य आयाम-विक्खंभेणं अब्भुग्गय० तहेव तेसिं णं पासायवडिंसगाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा उल्लोया। तेसिं णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं सीहासणं पण्णत्तं, वण्णओ। तेसिं परिवारभूया भद्दासणा पण्णत्ता। तेसिं णं अट्ठट्ठमंगलगा, झया, छत्ताइछत्ता।

ते णं पासायवडिंसगा अण्णेहिं चउहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता। ते णं पासायवडिंसगा अद्धसोलसजोयणाइं अद्धकोसं य उड्ढं उच्चत्तेणं देसूणाइं अट्ठजोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं अब्भुग्गय० तहेव। तेसिं णं पासायवडेंसगाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा उल्लोया। तेसिं णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झभाए पत्तेयं पत्तेयं पउमासणा पण्णत्ता। तेसिं णं पासायवडिंसगाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइछत्ता।

ते णं पासायवडेंसगा अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता। ते णं पासायवडेंसगा देसूणाइं अट्ठजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेण देसूणाइं चत्तारि जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं अब्भुग्गय० तहेव भूमिभागा उल्लोया। भद्दासणाइं उवरिं मंगलगा झया छत्ताइछत्ता।

ते णं पासायवडिंसगा अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडिंसएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता। ते णं पासायवडिंसगा देसूणाइं चत्तारि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं देसूणाइं दो जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं अब्भुग्गयमुस्सिय० भूमिभागा उल्लोया। पउमासणाइं उवरिं मंगलगा झया छत्ताइछत्ता।

[१३६] (२) विजय राजधानी के अन्दर बहुसमरमणीय भूमिभाग कहा गया है यावत् वह पांच वर्णों की मणियों से शोभित है। तृण-शब्दरहित मणियों का स्पर्श यावत् देव-देवियां वहां

उठती-बैठती हैं यावत् पुराने कर्मों का फल भोगती हुई विचरती हैं। उस बहुसमरमणीय भूमिभाग के मध्य में एक बड़ा उपकारिकालयन[1]—विश्रामस्थल कहा गया है जो बारह सौ योजन का लम्बा-चौड़ा और तीन हजार सात सौ पिचानवै योजन से कुछ अधिक की उसकी परिधि है। आधा कोस (एक हजार धनुष) की उसकी मोटाई है। वह पूर्णतया स्वर्ण का है, स्वच्छ है यावत् प्रतिरूप है।

वह उपकारिकालयन एक पद्मवरवेदिका और एक वनखंड से चारों ओर से परिवेष्ठित है। पद्मवरवेदिका का वर्णनक और वनखंड का वर्णनक कहना चाहिए यावत् यहाँ वानव्यन्तर देव-देवियां कल्याणकारी पुण्यफलों का अनुभव करती हुई विचरती हैं।

वह वनखण्ड कुछ कम दो योजन चक्रवाल विष्कंभ वाला (घेरे वाला) और उपकारिकालयन के परिक्षेप के तुल्य (३७९५ योजन से कुछ अधिक) परिक्षेप वाला है।

उस उपकारिकालयन के चारों दिशाओं में चार त्रिसोपानप्रतिरूपक कहे गये हैं। उनका वर्णनक कहना चाहिए। उन त्रिसोपानप्रतिरूपकों के आगे अलग-अलग तोरण कहे गये हैं यावत् छत्रों पर छत्र हैं।

उस उपकारिकालयन के ऊपर बहुसमरमणीय भूमिभाग कहा गया है यावत् वह मणियों से उपशोभित है। मणियों का वर्णनक कहना चाहिए। मणियों के गंध, रस और स्पर्श का कथन कर लेना चाहिए। उस बहुसमरमणीय भूमिभाग के ठीक मध्य में एक बड़ा मूल प्रासादावतंसक कहा गया है। वह प्रासादावतंसक साढे बासठ योजन का ऊँचा और इकतीस योजन एक कोस की लंबाई-चौडाई वाला है। वह सब ओर से निकलती हुई प्रभाकिरणों से हँसता हुआ-सा लगता है आदि वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए। उस प्रासादावतंसक के अन्दर बहुसमरमणीय भूमिभाग कहा है यावत् मणियों का स्पर्श और भीतों पर विविध चित्र हैं।

उस बहुसमरमणीय भूमिभाग के ठीक मध्यभाग में एक बड़ी मणिपीठिका कही गई है। वह एक योजन की लम्बी-चौड़ी और आधा योजन की मोटाई वाली है। वह सर्वमणिमय, स्वच्छ और मृदु है। उस मणिपीठिका के ऊपर एक बड़ा सिंहासन है। सिंहासन का सपरिवार वर्णनक कहना चाहिए। उस प्रासादावतंसक के ऊपर बहुत से आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ और छत्रातिछत्र हैं।

वे प्रासादावतंसक अन्य उनसे आधी ऊँचाई वाले चार प्रासादावतंसकों से सब ओर से घिरे हुए हैं। वे प्रासादावतंसक इकतीस योजन एक कोस की ऊँचाई वाले साढे पन्द्रह योजन और आधा कोस के लम्बे-चौड़े, किरणों से युक्त आदि वैसा ही वर्णन कर लेना चाहिए। उन प्रासादावतंसकों के अन्दर बहुसमरमणीय भूमिभाग यावत् चित्रित भीतरी छत है। उन बहुसमरमणीय भूमिभाग के बहुमध्यदेशभाग में प्रत्येक में अलग-अलग सिंहासन हैं। सिंहासन का वर्णनक कहना चाहिए। उन सिंहासनों के परिवार के तुल्य वहाँ भद्रासन[2] कहे गये हैं। इन प्रासादावतंसकों के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ और छत्रातिछत्र हैं।

---

१. वृत्तिकार ने 'राजधानी के प्रासादावतंसकादि की पीठिका' ऐसा अर्थ करते हुए लिखा है कि अन्यत्र इसे 'उपकार्योपकारका' कहा है। कहा है—'गृहस्थानं स्मृतं राज्ञामुपकार्योपकारका' इति।

२. वृत्ति में कहा गया है कि 'नवरमत्र सिंहासनानां शेषाणि परिवार भूतानि न वक्तव्यानि।'

वे प्रासादावतंसक उनसे आधी ऊँचाई वाले अन्य चार प्रासादावतंसकों से सब ओर से वेष्ठित हैं। वे प्रासादावतंसक साढे पन्द्रह योजन और आधे कोस के ऊँचे और कुछ कम आठ योजन की लम्बाई-चौड़ाई वाले हैं, किरणों से युक्त आदि पूर्ववत् वर्णन जानना चाहिए। उन प्रासादावतंसकों के अन्दर बहुसमरमणीय भूमिभाग हैं और चित्रित छतों के भीतरी भाग हैं। उन बहुसमरमणीय भूमिभाग के ठीक मध्य में अलग-अलग पद्मासन कहे गये हैं। उन प्रासादावतंसकों के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ और छत्रातिछत्र हैं।

वे प्रासादावतंसक उनसे आधी ऊँचाई वाले अन्य चार प्रासादावतंसकों से सब ओर से घिरे हुए हैं। वे प्रासादावतंसक कुछ कम आठ योजन की ऊँचाई वाले और कुछ कम चार योजन की लम्बाई-चौड़ाई वाले हैं, किरणों से व्याप्त हैं। भूमिभाग, उल्लोक और भद्रासन का वर्णन जानना चाहिए। उन प्रासादावतंसकों पर आठ आठ मंगल, ध्वजा और छत्रातिछत्र हैं।

वे प्रासादावतंसक उनसे आधी ऊँचाई वाले अन्य चार प्रासादावतंसकों से चारों ओर से घिरे हुए हैं। वे प्रासादावतंसक कुछ कम चार योजन के ऊँचे और कुछ कम दो योजन के लम्बे-चौड़े हैं, किरणों से युक्त हैं आदि वर्णन कर लेना चाहिए। उन प्रासादावतंसकों के अन्दर भूमिभाग, उल्लोक, और पद्मासनादि कहने चाहिए। उन प्रासादावतंसकों के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ और छत्रातिछत्र हैं।[1]

सुधर्मा सभा का वर्णन

१३७. (१) तस्स णं मूलपासायवडेंसगस्स उत्तरपुरत्थिमेणं, एत्थ णं विजयस्स देवस्स सभा सुधम्मा पण्णत्ता, अद्धतेरस जोयणाइं आयामेणं छ सक्कोसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं णव जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अणेगखंभसयसन्निविट्ठा, अब्भुग्गयसुकयवइरवेदियातोरणवररइयसालभंजिया, सुसिलिट्ठ-विसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलियविमलखंभा णाणामणिकणगरयणखइय-उज्जल-बहुसमसुविभत्तचित्त (णिचिय)रमणिज्जकुट्टिमतला[2] ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवण-लयपउमलयभत्तिचित्ता, थंभुग्गयवइरवेदियापरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ताविव अच्चि-सहस्समालणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणी भिब्भिसमाणी चक्खुलोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीय-रूवा कंचणमणिरयणथूभियागा णाणाविहपंचवण्णघंटापडागपडिमंडितग्गसिहरा धवला मिरीइकवचं विणिम्मुयंती लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवण्णसरस-सुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवर-गंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघविकिन्ना दिव्वतुडियमधुरसद्दसंपणादिया सुरम्मा सव्वरयणामई अच्छा जाव पडिरूवा।

---

१. वृत्तिकार ने कहा है कि 'इस प्रकार प्रासादावतंसकों की चार परिपाटियां होती हैं। कहीं तीन ही परिपाटियां कही गई हैं; चौथी परिपाटी नहीं कही है।'—(तदेवं चतस्रः प्रासादावतंसकपरिपाट्यो भवन्ति, क्वचित्तिस्रः एव दृश्यन्ते, न चतुर्थी।)

२. 'रमणिज्जभूमिभागा' इति वृत्तौ।

[१३७] (१) उस मूल प्रासादावतंसक के उत्तर-पूर्व (ईशानकोण) में विजयदेव की सुधर्मा नामक सभा है जो साढ़े बारह योजन लम्बी, छह योजन और एक कोस की चौड़ी तथा नौ योजन की ऊँची है। वह सैकड़ों खंभों पर स्थित है, दर्शकों की नजरों में चढ़ी हुई (मनोहर) और भलीभांति बनाई हुई उसकी वज्रवेदिका है, श्रेष्ठ तोरण पर रति पैदा करने वाली शालभंजिकायें (पुत्तलिकायें) लगी हुई हैं, सुसंबद्ध, प्रधान और मनोज्ञ आकृति वाले प्रशस्त वैडूर्यरत्न के निर्मल उसके स्तम्भ हैं, उसका भूमिभाग नाना प्रकार के मणि, कनक और रत्नों से खचित है, निर्मल है, समतल है, सुविभक्त, निबिड और रमणीय है। ईहामृग, बैल, घोड़ा, मनुष्य, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, रुरु (मृग), सरभ (अष्टापद), चमर, हाथी, वनलता, पद्मलता, आदि के चित्र उस सभा में बने हुए हैं, अतएव वह बहुत आकर्षक है। उसके स्तम्भों पर वज्र की वेदिका बनी हुई होने से वह बहुत सुन्दर लगती है। सम-श्रेणी के विद्याधरों के युगलों के यंत्रों (शक्तिविशेष) के प्रभाव से यह सभा हजारों किरणों से प्रभासित हो रही है। यह हजारों रूपकों से युक्त है, दीप्यमान है, विशेष दीप्यमान है, देखने वालों के नेत्र उसी पर टिक जाते हैं, उसका स्पर्श बहुत ही शुभ और सुखद है, वह बहुत ही शोभायुक्त है। उसके स्तूप का अग्रभाग (शिखर) सोने से, मणियों से और रत्नों से बना हुआ है, उसके शिखर का अग्रभाग नाना प्रकार के पांच वर्णों की घंटाओं और पताकाओं से परिमंडित है, वह सभा श्वेतवर्ण की है, वह किरणों के समूह को छोड़ती हुई प्रतीत होती है, वह लिपी हुई और पुती हुई है, गोशीर्ष चन्दन और सरस लाल चन्दन से बड़े बड़े हाथ के छापे लगाये हुए हैं, उसमें चन्दनकलश अथवा वन्दन (मंगल) कलश स्थापित किये हुए हैं, उसके द्वारभाग पर चन्दन के कलशों से तोरण सुशोभित किये गये हैं, ऊपर से लेकर नीचे तक विस्तृत, गोलाकार और लटकती हुई पुष्पमालाओं से वह युक्त है, पांच वर्ण के सरस-सुगंधित फूलों के पुंज से वह सुशोभित है, काला अगर, श्रेष्ठ कुन्दुरुक (गन्धद्रव्य) और तुरुष्क (लोभान) के धूप की गंध से वह महक रही है, श्रेष्ठ सुगंधित द्रव्यों की गंध से वह सुगन्धित है, सुगन्ध की गुटिका के समान सुगन्ध फैला रही है। वह सुधर्मा सभा अप्सराओं के समुदायों से व्याप्त है, दिव्यवाद्यों के शब्दों से वह निनादित हो रही है—गूंज रही है। वह सुरम्य है, सर्वरत्नमयी है, स्वच्छ है, यावत् प्रतिरूप है।

१३७. (२) तीसे णं सुहम्माए सभाए तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता। ते णं दारा पत्तेयं पत्तेयं दो दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगं जोयणं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं सेया वरकणगथूभि-यागा जाव वणमाला-दार-वण्णओ। तेसिं णं दाराणं पुरओ मुहमंडवा पण्णत्ता। ते णं मुहमंडवा अद्ध-तेरस जोयणाइं आयामेणं छ जोयणाइं सक्कोसाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेण अणेगखंभसयसन्निविट्ठा जाव उल्लोया भूमिभागवण्णओ। तेसिं णं मुहमंडवाणं उपरि पत्तेयं पत्तेयं अट्ठट्ठ मंगलगा पण्णत्ता सोत्थिय जाव दप्पणा[1]। तेसिं णं मुहमंडवाणं पुरओ पत्तेयं पत्तेयं पेच्छाघरमंडवा पण्णत्ता; ते णं पेच्छाघरमंडवा अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं जाव दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जाव मणिफासो।

तेसिं णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं वइरामयअक्खाडगा पण्णत्ता। तेसिं णं वइरामयाणं अक्खाडगाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं मणिपीढिया पण्णत्ता। ताओ णं मणिपीढियाओ जोयणमेगं

१. मच्छ०।

आयाम-विक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ । तासि णं मणिपीढियाणं उप्पि पत्तेयं पत्तेयं सीहासणा पण्णत्ता, सीहासणवण्णओ जाव दामा परिवारो ।

तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं उप्पि अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइछत्ता । तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ तिदिसि तओ मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ । ताओ णं मणिपेढियाओ दो दो जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ।

तासि णं मणिपेढियाणं उप्पि पत्तेयं पत्तेयं चेइयथूभा पण्णत्ता । ते णं चेइयथूभा दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं सातिरेगाइं दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सेया संखंककुंदगरयामयमहितफेणपुंज-सन्निकासा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ।

तेसि णं चेइयथूभाणं उप्पि अट्ठट्ठमंगलगा बहुकिण्हचामरझया पण्णत्ता छत्ताइछत्ता ।

तेसि णं चेइयथूभाणं चउद्दिसि पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ । ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ ।

तासि णं मणिपेढियाणं उप्पि पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि जिणपडिमाओ जिणुस्सेहपमाणमेत्ताओ पलियंकणिसन्नाओ थूभाभिमुहीओ सन्निविट्ठाओ चिट्ठंति, तं जहा—उसभा वद्धमाणा चंदाणणा वारिसेणा ।

[१३७] (२) उस सुधर्मा सभा की तीन दिशाओं में तीन द्वार कहे गये हैं। वे प्रत्येक द्वार दो-दो योजन के ऊँचे, एक योजन विस्तार वाले और इतने ही प्रवेश वाले हैं । वे श्वेत हैं, श्रेष्ठ स्वर्ण की स्तूपिका वाले हैं इत्यादि पूर्वोक्त द्वारवर्णन वनमाला पर्यन्त कहना चाहिए । उन द्वारों के आगे मुखमंडप कहे गये हैं । वे मुखमण्डप साढे बारह योजन लम्बे, छह योजन और एक कोस चौड़े, कुछ अधिक दो योजन ऊँचे, अनेक सैकड़ों खम्भों पर स्थित हैं यावत् उल्लोक (छत) और भूमिभाग का वर्णन कहना चाहिए । उन मुखमण्डपों के ऊपर प्रत्येक पर आठ-आठ मंगल—स्वस्तिक यावत् दर्पण कहे गये हैं । उन मुखमण्डपों के आगे अलग-अलग प्रेक्षाघरमण्डप कहे गये हैं । वे प्रेक्षाघरमण्डप साढ़े बारह योजन लम्बे, छह योजन एक कोस चौड़े और कुछ अधिक दो योजन ऊँचे हैं, मणियों के स्पर्श वर्णन तक प्रेक्षाघरमण्डपों और भूमिभाग का वर्णन कर लेना चाहिए । उनके ठीक मध्यभाग में अलग-अलग वज्रमय अक्षपाटक (चौक, अखाडा) कहे गये हैं । उन वज्रमय अक्षपाटकों के बहुमध्य भाग में अलग-अलग मणिपीठिकाएँ कही गई हैं । वे मणिपीठिकाएँ एक योजन लम्बी चौड़ी, आधा योजन मोटी हैं, सर्वमणियों की बनी हुई हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं । उन मणिपीठिकाओं के ऊपर अलग-अलग सिंहासन हैं । यहाँ सिंहासन का वर्णन, मालाओं का वर्णन, परिवार का वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए ।

उन प्रेक्षाघरमण्डपों के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ और छत्रों पर छत्र हैं ।

उन प्रेक्षाघरमण्डपों के आगे तीन दिशाओं में तीन मणिपीठिकाएँ हैं । वे मणिपीठिकाएँ दो योजन लम्बी-चौड़ी और एक योजन मोटी हैं, सर्वमणिमय, स्वच्छ यावत् प्रतिरूप हैं ।

उन मणिपीठिकाओं के ऊपर अलग-अलग चैत्यस्तूप कहे गये हैं । वे चैत्यस्तूप दो योजन लम्बे-चौड़े और कुछ अधिक दो योजन ऊँचे हैं । वे शंख, अंकरत्न, कुंद (मोगरे का फूल),

दगरज (जलबिन्दु), क्षीरोदधि के मथित फेनपुंज के समान सफेद हैं, सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं।

उन चैत्यस्तूपों के ऊपर आठ-आठ मंगल, बहुत-सी कृष्णचामर से अंकित ध्वजाएँ आदि और छत्रातिछत्र कहे गये हैं।

उन चैत्यस्तूपों के चारों दिशाओं में अलग-अलग चार मणिपीठिकाएँ कही गई हैं। वे मणिपीठिकाएँ एक योजन लम्बी-चौड़ी और आधा योजन मोटी सर्वमणिमय हैं।

उन मणिपीठिकाओं के ऊपर अलग-अलग चार जिन-प्रतिमाएँ कही गई हैं जो जिनोत्सेध-प्रमाण (उत्कृष्ट पांच सौ धनुष और जघन्य सात हाथ; यहाँ पांच सौ धनुष समझना चाहिए) हैं, पर्यंकासन (पालथी) से बैठी हुई हैं, उनका मुख स्तूप की ओर है। इन प्रतिमाओं के नाम हैं—ऋषभ, वर्द्धमान, चन्द्रानन और वारिषेण।

१३७. (३) तेसि णं चेइयथूभाणं पुरओ तिदिसिं पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं मणिपेढियाओ दो दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ लण्हाओ सण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ णिप्पंकाओ णीरयाओ जाव पडिरूवाओ।

तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चेइयरुक्खा पण्णत्ता। ते णं चेइयरुक्खा अट्ठजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोयणं उव्वेहेणं दो जोयणाइं खंधी अद्धजोयणं विक्खंभेणं छज्जोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए अट्ठजोयणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठजोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ता।

तेसि णं चेइयरुक्खाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—वइरामया मूला रययसुपइट्ठिया विडिमा रिट्ठामयविपुलकंदवेरुलियरुइलखंधा सुजातरूवपढमगविसालसाला नानामणिरयणविविह-साहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तवेंटा जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लवसोभंतवरंकुरग्गसिहरा[1] विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरणमियसाला सच्छाया सप्पभा समिरीया सउज्जोया अमयरससम-रसफला अहियं णयणमणणिव्वुइकरा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।

ते णं चेइयरुक्खा अन्नेहिं बहूहिं तिलय-लवय-छत्तोवग-सिरीस-सत्तवण्ण-दहिवण्ण-लोद्ध-धव-चंदन-नीव-कुडय-कयंब-पणस-ताल-तमाल-पियाल-पियंगु-पारावय-रायरुक्ख-नंदिरुक्खेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता।

ते णं तिलया जाव नंदिरुक्खा मूलवंता कंदवंता जाव सुरम्मा। ते णं तिलया जाव नंदिरुक्खा अन्नेहिं बहूहिं पउमलयाहिं जाव सामलयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता। ताओ णं पउमलयाओ जाव सामलयाओ णिच्चं कुसुमियाओ जाव पडिरूवाओ।

तेसिं णं चेइयरुक्खाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइछत्ता।

[१३७] (३) उन चैत्यस्तूपों के आगे तीन दिशाओं में अलग-अलग मणिपीठिकाएँ कही गई हैं। वे मणिपीठिकाएँ दो-दो योजन की लम्बी-चौड़ी और एक योजन मोटी हैं, सर्वमणिमय हैं, स्वच्छ हैं, मृदु पुद्गलों से निर्मित हैं, चिकनी हैं, घृष्ट हैं, मृष्ट हैं, पंकरहित, रजरहित यावत् प्रतिरूप हैं।

१. वरंकुधरा इति पाठान्तरम्।

उन मणिपीठिकाओं के ऊपर अलग-अलग चैत्यवृक्ष कहे गये हैं। वे चैत्यवृक्ष आठ योजन ऊँचे हैं, आधा योजन जमीन में हैं, दो योजन ऊँचा उनका स्कन्ध (धड़, तना) है, आधा योजन उस स्कन्ध का विस्तार है, मध्यभाग में ऊर्ध्व विनिर्गत शाखा (विडिमा) छह योजन ऊँची है, उस विडिमा का विस्तार अर्धयोजन का है, सब मिलाकर वे चैत्यवृक्ष आठ योजन से कुछ अधिक ऊँचे हैं।

उन चैत्यवृक्षों का वर्णन इस प्रकार कहा है—उनके मूल वज्ररत्न के हैं, उनकी ऊर्ध्व विनिर्गत शाखाएँ रजत की हैं और सुप्रतिष्ठित हैं, उनका कन्द रिष्टरत्नमय है, उनका स्कंध वैडूर्यरत्न का है और रुचिर है, उनकी मूलभूत विशाल शाखाएँ शुद्ध और श्रेष्ठ स्वर्ण की हैं, उनकी विविध शाखा-प्रशाखाएँ नाना मणिरत्नों की हैं, उनके पत्ते वैडूर्यरत्न के हैं, उनके पत्तों के वृन्त तपनीय स्वर्ण के हैं। जम्बूनद जाति के स्वर्ण के समान लाल, मृदु, सुकुमार प्रवाल (पत्र के पूर्व की स्थिति) और पल्लव तथा प्रथम उगने वाले अंकुरों को धारण करने वाले हैं (अथवा उनके शिखर तथाविध प्रवाल-पल्लव-अंकुरों से सुशोभित हैं), उन चैत्यवृक्षों की शाखाएँ विचित्र मणिरत्नों के सुगन्धित फूल और फलों के भार से झुकी हुई हैं। वे चैत्यवृक्ष सुन्दर छाया वाले, सुन्दर कान्ति वाले, किरणों से युक्त और उद्योत करने वाले हैं। अमृतरस के समान उनके फलों का रस है। वे नेत्र और मन को अत्यन्त तृप्ति देने वाले हैं, प्रासादीय हैं, दर्शनीय हैं, अभिरूप हैं और प्रतिरूप हैं।

वे चैत्यवृक्ष अन्य बहुत से तिलक, लवंग, छत्रोपग, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लोध्र, धव, चन्दन, नीप, कुटज, कदम्ब, पनस, ताल, तमाल, प्रियाल, प्रियंगु, पारापत, राजवृक्ष और नन्दिवृक्षों से सब ओर से घिरे हुए हैं। वे तिलक यावत् नन्दिवृक्ष मूलवाले हैं, कन्दवाले हैं इत्यादि वृक्षों का वर्णन करना चाहिए यावत् वे सुरम्य हैं। वे तिलकवृक्ष यावत् नन्दिवृक्ष अन्य बहुत-सी पद्मलताओं यावत् श्यामलताओं से घिरे हुए हैं। वे पद्मलताएँ यावत् श्यामलताएँ नित्य कुसुमित रहती हैं। यावत् वे प्रतिरूप हैं। उन चैत्यवृक्षों के ऊपर बहुत से आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ और छत्रों पर छत्र हैं।

१३७. (४) तेसि णं चेइयरुक्खाणं पुरओ तिदिसिं तओ मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ; ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ।

तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं महिंदज्झये पण्णत्ते। ते णं महिंदज्झया अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठ-मट्ठसुपइट्ठिया[1] अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामा वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइछत्तकलिया तुंगा गगनतलमभिलंघमाणसिहरा पासादीया जाव पडिरूवा।

तेसि णं महिंदज्झयाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइछत्ता। तेसि णं महिंदज्झयाणं पुरओ तिदिसिं तओ णंदाओ पुक्खरणीओ पण्णत्ताओ। ताओ णं पुक्खरणीओ अद्धतेरस जोयणाइं आयामेणं सक्कोसाइं छजोयणाइं विक्खंभेणं दसजोयणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ पुक्खरिणीवण्णओ, पत्तेयं पत्तेयं पउमरवेइयापरिक्खित्ताओ, पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ताओ वण्णओ जाव पडिरूवाओ।

---

१. क्वचित् 'विसिट्ठा' इत्यपि दृश्यते।

तासिं णं पुक्खरिणीणं पत्तेयं पत्तेयं तिदिसिं तिसोवाणपडिरूवगा, वण्णओ। तोरणा भाणियव्वा जाव छत्ताइछत्ता। सभाए णं सुहम्माए छ मणोगुलिया साहस्सीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पुरत्थिमेणं दो साहस्सीओ, पच्चत्थिमेणं दो साहस्सीओ, दाहिणेणं एगा साहस्सी, उत्तरेणं एगा साहस्सी। तासु णं मणोगुलिकासु बहवे सुवण्णरुप्पामया फलगा पण्णत्ता, तेसु णं सुवण्णरुप्पामएसु फलगेसु बहवे वइरामया णागदंतगा पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु नागदंतगेसु बहवे किण्हसुत्तवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा [जाव सुक्किलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा। ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा जाव चिट्ठंति।

सभाए सुहम्माए छ गोमाणसीसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पुरत्थिमेणं दो साहस्सीओ, एवं पच्चत्थिमेणं वि दाहिणेणं सहस्सं एवं उत्तरेणवि। तासु णं गोमाणसीसु बहवे सुवण्णरुप्पामया फलगा पण्णत्ता जाव तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कया पण्णया। तेसु णं रययामयासिक्कएसु बहवे वेरुलियामईओ धूवघडियाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं धूवघडियाओ कालागुरु-पवरकुंदरुक्कतुरुक्क जाव घाणमणणिव्वुइकरेणं गंधेणं सव्वओ समंता आपूरेमाणीओ चिट्ठंति।

सभाए णं सुधम्माए अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभाए पण्णत्ते जाव मणीणं फासे, उल्लोया पउमलयाभत्तिचित्ता जाव सव्वतवणिज्जमए अच्छे जाव पडिरूवे।

[१३७] (४) उन चैत्यवृक्षों के आगे तीन दिशाओं में तीन मणिपीठिकाएँ कही गई हैं। वे मणिपीठिकाएँ एक-एक योजन लम्बी-चौड़ी और आधे योजन की मोटी हैं। वे सर्वमणिमय हैं, स्वच्छ हैं, यावत् प्रतिरूप हैं।

उन मणिपीठिकाओं के ऊपर अलग-अलग महेन्द्रध्वज हैं जो साढ़े सात योजन ऊँचे, आधा कोस ऊंडे (जमीन के अन्दर), आधा कोस विस्तार वाले, वज्रमय, गोल, सुन्दर आकारवाले, सुसम्बद्ध, घृष्ट, मृष्ट और सुस्थिर हैं, अनेक श्रेष्ठ पांच वर्णों की लघुपताकाओं से परिमण्डित होने से सुन्दर हैं, वायु से उड़ती हुई विजय की सूचक वैजयन्ती पताकाओं से युक्त हैं, छत्रों पर छत्र से युक्त हैं, ऊँची हैं, उनके शिखर आकाश को लांघ रहे हैं, वे प्रासादीय यावत् प्रतिरूप हैं।

उन महेन्द्रध्वजों के ऊपर आठ-आठ मंगल हैं, ध्वजाएँ हैं और छत्रातिछत्र हैं।

उन महेन्द्रध्वजों के आगे तीन दिशाओं में तीन नन्दा पुष्करिणियाँ हैं। वे नन्दा पुष्करिणियाँ साढ़े बारह योजन लम्बी हैं, छह सवा योजन की चौड़ी हैं, दस योजन ऊंडी हैं, स्वच्छ हैं, श्लक्ष्ण (मृदु) हैं इत्यादि पुष्करिणी का वर्णनक कहना चाहिए। वे प्रत्येक पुष्करिणियाँ पद्मवरवेदिका और वनखण्ड से घिरी हुई हैं। पद्मवरवेदिका और वनखण्ड का वर्णन कर लेना चाहिए यावत् वे पुष्करिणियाँ दर्शनीय यावत् प्रतिरूप हैं।

उन पुष्करिणियों की तीन दिशाओं में अलग-अलग त्रिसोपानप्रतिरूपक कहे गये हैं। उन त्रिसोपानप्रतिरूपकों का वर्णनक कहना चाहिए। तोरणों का वर्णन यावत् छत्रों पर छत्र हैं।

उस सुधर्मा सभा में छह हजार मनोगुलिकाएँ (बैठक) कही गई हैं, यथा—पूर्व में दो हजार, पश्चिम में दो हजार, दक्षिण में एक हजार और उत्तर में एक हजार। उन मनोगुलिकाओं में बहुत से सोने चांदी के फलक (पाटिये) हैं। उन सोने-चांदी के फलकों में बहुत से वज्रमय नागदंतक (खूंटियां)

हैं। उन वज्रमय नागदन्तकों में बहुत-सी काले सूत्र में पिरोई हुई गोल और लटकती हुई पुष्पमालाओं के समुदाय हैं यावत् सफेद डोरे में पिरोई हुई गोल और लटकती हुई पुष्पमालाओं के समुदाय हैं। वे पुष्पमालाएँ सोने के लम्बूसक (पेन्डल) वाली हैं यावत् सब दिशाओं को सुगन्ध से भरती हुई स्थित हैं।

उस सुधर्मासभा में छह हजार गोमाणसियाँ (शय्यारूप स्थान) कही गई हैं, यथा—पूर्व में दो हजार, पश्चिम में दो हजार, दक्षिण में एक हजार और उत्तर में एक हजार। उन गोमाणसियों में बहुत-से सोने-चांदी के फलक हैं, उन फलकों में बहुत से वज्रमय नागदन्तक हैं, उन वज्रमय नागदन्तकों में बहुत से चांदी के सींके हैं। उन रजतमय सींकों में बहुत-सी वैडूर्यरत्न की धूपघटिकाएँ कही गई हैं। वे धूपघटिकाएँ काले अगर, श्रेष्ठ कुंदुरुक्क और लोभान के धूप की नाक और मन को तृप्ति देने वाली सुगन्ध से आसपास के क्षेत्र को भरती हुई स्थित हैं।

उस सुधर्मासभा में बहुसमरमणीय भूमिभाग कहा गया है। यावत् मणियों का स्पर्श, भीतरी छत, पद्मलता आदि के विविध चित्र आदि का वर्णन करना चाहिए। यावत् वह भूमिभाग तपनीय स्वर्ण का है, स्वच्छ है और प्रतिरूप है।

१३८. तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा मणिपीढिया पण्णत्ता। सा णं मणिपीढिया दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमया। तीसे णं मणिपीढियाए उप्पिं एत्थ णं माणवए णाम चेइयखंभे पण्णत्ते, अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं छकोडीए छलंसे छविग्गहिए वइरामयवट्टलट्ठसंठिए, एवं जहा महिंदज्झयस्स वण्णओ जाव पासाईए। तस्स णं माणवगस्स चेइयखंभस्स उवरिं छक्कोसे ओगाहित्ता हेट्ठावि छक्कोसे वज्जित्ता मज्झे अद्धपंचमेसु जोयणेसु एत्थ णं बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पण्णत्ता। तेसु णं सुवण्णरुप्पमएसु फलगेसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता। तेसु णं वइरामएसु णागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कगा पण्णत्ता। तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वइरामया गोलवट्टसमुग्गका पण्णत्ता; तेसु णं वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहवे जिणसकहाओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति। जाओ णं विजयस्स देवस्स अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जाओ। माणवगस्स णं चेइयखंभस्स उवरिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइछत्ता।

तस्स णं माणवगस्स चेइयखंभस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं एगा महामणिपेढिया पण्णत्ता। सा णं मणिपेढिया दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई जाव पडिरूवा। तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं सीहासणे पण्णत्ते। सीहासणवण्णओ।

तस्स णं माणवगस्स चेइयखंभस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता, जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई अच्छा। तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते। तस्स णं देवसयणिज्जस्स अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—

णाणामणिमया[1] पडिपाया, सोवण्णिया पाया, णाणामणिमया पायसीसा जंबूणयमयाइं गत्ताइं वइरामया संधी णाणामणिमए विच्चे, रययामया तूली, लोहियक्खमया बिब्बोयणा तवणिज्जमई गंडोवहाणिया।

से णं देवसयणिज्जे उभओ बिब्बोयणे दुहओ उण्णए मज्झे णयगंभीरे सालिंगणवट्टिए गंगा-पुलिणवालुउद्दालसालिसए ओयवियक्खोमदुगुल्लपट्टपडिच्छायणे सुविरचियरयत्ताणे रत्तंसुयसंवुए सुरम्मे आईणगरूयबूरणवणीयतूलफासमउए पासाईए।

तस्स णं देवसयणिज्जस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं महई एगा मणिपीढिया पण्णत्ता जोयणमेगं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई जाव अच्छा। तीसे णं मणिपीढियाए उप्पि एगं महं खुड्डए महिंदज्झए पण्णत्ते, अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं वेरुलियामयवट्टलट्ठसंठिए तहेव जाव मंगलगा झया छत्ताइछत्ता।

तस्स णं खुड्डमहिंदज्झयस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चुप्पालए नाम पहरणकोसे पण्णत्ते। तत्थ णं विजयस्स देवस्स फलिहरयणपामोक्खा बहवे पहरणरयणा सन्निक्खित्ता चिट्ठंति, उज्जलसुणिसियसुतिक्खधारा पासाईया। तीसे णं सभाए सुहम्माए उप्पि बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइछत्ता।

[१३८] उस बहुसमरमणीय भूमिभाग के ठीक मध्यभाग में एक मणिपीठिका कही गई है। वह मणिपीठिका दो योजन लम्बी-चौड़ी, एक योजन मोटी और सर्वमणिमय है। उस मणिपीठिका के ऊपर माणवक नामक चैत्यस्तम्भ कहा गया है। वह साढे सात योजन ऊँचा, आधा कोस ऊँडा और आधा कोस चौड़ा है। उसकी छह कोटियाँ हैं, छह कोण हैं और छह भाग हैं, वह वज्र का है, गोल है और सुन्दर आकृति वाला है, इस प्रकार महेन्द्रध्वज के समान वर्णन करना चाहिए यावत् वह प्रासादीय (यावत् प्रतिरूप) है। उस माणवक चैत्यस्तम्भ के ऊपर छह कोस ऊपर और छह कोस नीचे छोड़ कर बीच के साढे चार योजन में बहुत से सोने-चांदी के फलक कहे गये हैं। उन सोने चांदी के फलकों में बहुत से वज्रमय नागदन्तक हैं। उन वज्रमय नागदन्तकों में बहुत से चांदी के छींके कहे गये हैं। उन रजतमय छींकों में बहुत-से वज्रमय गोल—वर्तुल समुद्गक (मंजूषा) कहे गये हैं। उन वज्रमय गोल—वर्तुल समुद्गकों में बहुत-सी जिन-अस्थियाँ रखी हुई हैं। वे विजयदेव और अन्य बहुत से वानव्यन्तर देव और देवियों के लिए अर्चनीय, वन्दनीय, पूजनीय, सत्कारयोग्य, सन्मानयोग्य, कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप, चैत्यरूप और पर्युपासनायोग्य हैं। उस माणवक चैत्यस्तम्भ के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ और छत्रातिछत्र हैं।

उस माणवक चैत्यस्तम्भ के पूर्व में एक बड़ी मणिपीठिका है। वह मणिपीठिका दो योजन लम्बी-चौड़ी, एक योजन मोटी और सर्वमणिमय है यावत् प्रतिरूप है। उस मणिपीठिका के ऊपर एक बड़ा सिंहासन कहा गया है।

उस माणवक चैत्यस्तम्भ के पश्चिम में एक बड़ी मणिपीठिका है जो एक योजन लम्बी-चौड़ी और आधा योजन मोटी है, जो सर्वमणिमय है और स्वच्छ है। उस मणिपीठिका के ऊपर एक बड़ा देवशयनीय कहा गया है। देवशयनीय का वर्णन इस प्रकार है, यथा—

---

१. 'णाणा मणिमया पायसीसा' यह पाठ वृत्ति में नहीं है।

नाना मणियों के उसके प्रतिपाद (मूलपायों को स्थिर रखने वाले पाये) हैं, उसके मूल पाये सोने के हैं, नाना मणियों के पायों के ऊपरी भाग हैं, जम्बूनद स्वर्ण की उसकी ईसें हैं, वज्रमय सन्धियां हैं, नाना मणियों से वह बुना (व्युत) हुआ है, चांदी की गादी है, लोहिताक्ष रत्नों के तकिये[1] हैं और तपनीय स्वर्ण का गलमसूरिया है।

वह देवशयनीय दोनों ओर (सिर और पांव की तरफ) तकियों वाला है, शरीरप्रमाण तकियों वाला (मसनद—बड़े गोल तकिये) हैं, वह दोनों तरफ से उन्नत और मध्य में नत (नीचा) और गहरा है, गंगा नदी के किनारे की बालुका में पैर रखते ही जैसे वह अन्दर उतर जाता है वैसे ही वह शय्या उस पर सोते ही नीचे बैठ जाती है, उस पर बेल-बूटे निकाला हुआ सूती वस्त्र (पलंगपोस) बिछा हुआ है, उस पर रजस्त्राण लगाया हुआ है, लाल वस्त्र से वह ढका हुआ है, सुरम्य है, मृगचर्म, रुई, बूर वनस्पति और मक्खन के समान उसका मृदुल स्पर्श है, वह प्रासादीय यावत् प्रतिरूप है।

उस देवशयनीय के उत्तर-पूर्व में (ईशानकोण में) एक बड़ी मणिपीठिका कही हुई है। वह एक योजन की लम्बी-चौड़ी और आधे योजन की मोटी तथा सर्व मणिमय यावत् स्वच्छ है। उस मणिपीठिका के ऊपर एक छोटा महेन्द्रध्वज कहा गया है जो साढे सात योजन ऊँचा, आधा कोस ऊँडा और आधा कोस चौड़ा है। वह वैडूर्यरत्न का है, गोल है और सुन्दर आकार का है, इत्यादि वर्णन पूर्ववत् करना चाहिए यावत् आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ और छत्रातिछत्र हैं।

उस छोटे महेन्द्रध्वज के पश्चिम में विजयदेव का चौपाल नामक शस्त्रागार है। वहाँ विजय देव के परिघरत्न आदि शस्त्ररत्न रखे हुए हैं। वे शस्त्र उज्ज्वल, अति तेज और तीखी धार वाले हैं। वे प्रासादीय यावत् प्रतिरूप हैं।

उस सुधर्मा सभा के ऊपर बहुत सारे आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ और छत्रातिछत्र हैं।[2]

सिद्धायतन-वर्णन

१३९. (१) सभाए णं सुधम्माए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं सिद्धायतणे पण्णत्ते अद्धतेरस-जोयणाइं आयामेणं छ जोयणाइं सकोसाइं विक्खंभेणं नवजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जाव गोमाणसिया वत्तव्वया। जा चेव सहाए सुहम्माए वत्तव्वया सा चेव निरवसेसा भाणियव्वा तहेव दारा मुहमंडवा पेच्छाघरमंडवा झया। थूभा चेइयरुक्खा महिंदज्झया णंदाओ पुक्खरिणीओ। तओ य सुधम्माए जहा पमाणं मणोगुलियाणं गोमाणसीया, धूवयघडीओ तहेव भूमिभागे उल्लोए य जाव मणिफासे।

तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमयी अच्छा०। तीसे णं मणिपेढियाए उप्पि एत्थ णं एगे महं देवच्छंदए पण्णत्ते, दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामए अच्छे। तत्थ णं देवच्छंदए अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमेत्ताणं सन्निक्खित्तं चिट्ठइ।

तासि णं जिणपडिमाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—तवणिज्जमया हत्थतला, अंकामयाइं नक्खाइं अंतोलोहियक्खपरिसेयाइं कणगमया पाया कणगामया गोप्फा कणगामईओ जंघाओ

१. 'बिब्बोयणा—उपधानकानि उच्यन्ते' इति मूल टीकाकारः।
२. वृत्ति में 'यावत् बहुत से सहस्रपत्र समुदाय हैं, सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं यावत् प्रतिरूप हैं' ऐसा पाठ है।

कणगामया जाणू कणगामया ऊरु कणगामईओ गायलट्ठीओ, तवणिज्जमईओ णाभीओ रिट्ठामईओ रोमराईओ, तवणिज्जमया चुच्चुया तवणिज्जमया सिरिवच्छा, कणगमयाओ बाहाओ कणगमईओ पासाओ कणगमईओ गीवाओ रिट्ठामए मंसु, सिलप्पवालमया उट्ठा, फलिहामया दंता, तवणिज्जमईओ जीहाओ, तवणिज्जमया तालुया कणगमईओ णासाओ अंतोलोहियक्खपरिसेयाओ अंकामयाइं अच्छीणि, अंतोलोहितक्खपरिसेयाइं (पुलगमईओ दिट्ठीओ)[1] रिट्ठामईओ तारगाओ रिट्ठामयाइं अच्छिपत्ताइं रिट्ठामईओ भमुहाओ कणगामया कवोला कणगामया सवणा कणगामया णिडाला वट्टा वइरामईओ सीसघडीओ, तवणिज्जमईओ केसंतकेसभूमीओ रिट्ठामया उवरिमुद्धजा ।

[१३९] (१) सुधर्मासभा के उत्तरपूर्व (ईशानकोण) में एक विशाल सिद्धायतन कहा गया है जो साढे बारह योजन का लम्बा, छह योजन एक कोस चौड़ा और नौ योजन ऊँचा है । इस प्रकार पूर्वोक्त सुधर्मासभा का जो वर्णन किया गया है तदनुसार गोमाणसी (शय्या) पर्यन्त सारी वक्तव्यता कहनी चाहिए । वैसे ही द्वार, मुखमण्डप, प्रेक्षागृहमण्डप, ध्वजा, स्तूप, चैत्यवृक्ष, माहेन्द्रध्वज, नन्दा पुष्करिणियाँ, मनोगुलिकाओं का प्रमाण, गोमाणसी, धूपघटिकाएँ, भूमिभाग, उल्लोक (भीतरी छत) आदि का वर्णन यावत् मणियों के स्पर्श आदि सुधर्मासभा के समान कहने चाहिए ।

उस सिद्धायतन के बहुमध्य देशभाग में एक विशाल मणिपीठिका कही गई है जो दो योजन लम्बी-चौड़ी, एक योजन मोटी है, सर्व मणियों की बनी हुई है, स्वच्छ है । उस मणिपीठिका के ऊपर एक विशाल देवच्छंदक (आसनविशेष) कहा गया है, जो दो योजन का लम्बा-चौड़ा और कुछ अधिक दो योजन का ऊँचा है, सर्वात्मना रत्नमय है और स्वच्छ स्फटिक के समान है । उस देवच्छंदक में जिनोत्सेधप्रमाण (उत्कृष्ट पांच सौ धनुष, जघन्य सात हाथ) एक सौ आठ जिन-प्रतिमाएँ रखी हुई हैं ।

उन जिन-प्रतिमाओं का वर्णन इस प्रकार कहा गया है—उनके हस्ततल तपनीय स्वर्ण के हैं, उनके नख अंकरत्नों के हैं और उनका मध्यभाग लोहिताक्ष रत्नों की ललाई से युक्त है, उनके पांव स्वर्ण के हैं, उनके गुल्फ (टखने) कनकमय हैं, उनकी जंघाए (पिण्डलियां) कनकमयी हैं, उनके जानु (घुटने) कनकमय हैं, उनके ऊरु (जंघाए) कनकमय हैं, उनकी गात्रयष्टि कनकमयी है, उनकी नाभियां तपनीय स्वर्ण की हैं, उनकी रोमराजि रिष्टरत्नों की है, उनके चूचुक (स्तनों के अग्रभाग) तपनीय स्वर्ण के हैं, उनके श्रीवत्स (छाती पर अंकित चिह्न) तपनीय स्वर्ण के हैं, उनकी भुजाएँ कनकमयी हैं, उनकी पसलियां कनकमयी हैं, उनकी ग्रीवा कनकमयी है, उनकी मूछें रिष्टरत्न की हैं, उनके होठ विद्रुममय (प्रवालरत्न के) हैं, उनके दांत स्फटिकरत्न के हैं, तपनीय स्वर्ण की जिह्वाएँ हैं, तपनीय स्वर्ण के तालु हैं, कनकमयी उनकी नासिका है, जिसका मध्यभाग लोहिताक्षरत्नों की ललाई से युक्त है, उनकी आँखें अंकरत्न की हैं और उनका मध्यभाग लोहिताक्ष रत्न की ललाई से युक्त है, उनकी दृष्टि पुलकित (प्रसन्न) है, उनकी आँखों की तारिका (कीकी) रिष्टरत्नों की है, उनके अक्षिपत्र (पक्ष्म) रिष्टरत्नों के हैं, उनकी भौंहें रिष्टरत्नों की हैं, उनके गाल स्वर्ण के हैं, उनके कान स्वर्ण के हैं, उनके ललाट कनकमय हैं, उनके शीर्ष गोल वज्ररत्न के हैं, केशों की भूमि तपनीय स्वर्ण की है और केश रिष्टरत्नों के बने हुए हैं ।

---

१. कोष्ठकान्तर्गत पाठ वृत्ति में नहीं है ।

१३९. (२) तासि णं जिणपडिमाणं पिट्ठओ पत्तेयं पत्तेयं छत्तधारपडिमाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं छत्तधारपडिमाओ हिमरययकुंदेंदुसप्पकासाइं सकोरंटमल्लदामधवलाइं आतपत्ताइं सलीलं ओहारेमाणीओ चिट्ठंति। तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासिं पत्तेयं पत्तेयं चामरधारपडिमाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं चामरधारपडिमाओ चंदप्पहवइरवेरुलियनानामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरय-अमयमहियफेणपुंजसण्णिकासाओ, सुहुमरययदीहवालाओ धवलाओ चामराओ सलीलं ओहारेमाणीओ चिट्ठंति।

तासि णं जिणपडिमाणं पुरओ दो दो नागपडिमाओ, दो दो जक्खपडिमाओ, दो दो भूतपडिमाओ दो दो कुंडधारपडिमाओ (विणओणयाओ पायवडियाओ पंजलिउडाओ) सण्णिक्खित्ताओ चिट्ठंति, सव्वरयणामईओ, अच्छाओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ णीरयाओ णिप्पंकाओ जाव पडिरूवाओ।

तासि णं जिणपडिमाणं पुरओ अट्ठसयं घंटाणं, अट्ठसयं चंदणकलसाणं एवं अट्ठसयं भिंगारगाणं, एवं आयंसगाणं थालाणं पातीणं सुपइट्ठकाणं मणगुलियाणं वातकरगाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं हयकंठगाणं जाव उसभकंठगाणं पुप्फचंगेरीणं जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं अट्ठसयं तेल्लसमुग्गाणं जाव धूवकडुच्छुयाणं सण्णिक्खित्तं चिट्ठइ।

तस्स णं सिद्धायतणस्स उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइछत्ता उत्तिमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया तंजहा—रयणेहिं जाव रिट्ठेहिं।

[१३९] (२) उन जिनप्रतिमाओं के पीछे अलग-अलग छत्रधारिणी प्रतिमाएँ कही गई हैं। वे छत्रधारण करने वाली प्रतिमाएँ लीलापूर्वक कोरंट पुष्प की मालाओं से युक्त हिम, रजत, कुन्द और चन्द्र के समान सफेद आतपत्रों (छत्रों) को धारण किये हुये खड़ी हैं। उन जिनप्रतिमाओं के दोनों पार्श्वभाग में अलग-अलग चंवर धारण करने वाली प्रतिमाएँ कही गई हैं। वे चामरधारिणी प्रतिमाएँ चन्द्रकान्त मणि, वज्र, वैडूर्य आदि नाना मणिरत्नों व सोने से खचित और निर्मल बहुमूल्य तपनीय स्वर्ण के समान उज्ज्वल और विचित्र दंडों एवं शंख-अंकरत्न-कुंद-जलकण, चांदी एवं क्षीरोदधि को मथने से उत्पन्न फेनपुंज के समान श्वेत,[1] सूक्ष्म और चांदी के दीर्घ बाल वाले धवल चामरों को लीलापूर्वक धारण करती हुई स्थित हैं।

उन जिनप्रतिमाओं के आगे दो-दो नाग प्रतिमाएँ, दो-दो यक्ष प्रतिमाएँ, दो-दो भूत प्रतिमाएँ, दो-दो कुण्डधार प्रतिमाएँ (विनययुक्त पादपतित और हाथ जोड़े हुई) रखी हुई हैं। वे सर्वात्मना रत्नमयी हैं, स्वच्छ हैं, मृदु हैं, सूक्ष्म पुद्गलों से निर्मित हैं, घृष्ट-मृष्ट, नीरजस्क, निष्पंक यावत् प्रतिरूप हैं। उन जिनप्रतिमाओं के आगे एक सौ आठ घंटा, एक सौ आठ चन्दनकलश, एक सौ आठ झारियां तथा इसी तरह आदर्शक, स्थाल, पात्रियां, सुप्रतिष्ठक, मनोगुलिका, जलशून्य घड़े, चित्र, रत्नकरण्डक, हयकंठक यावत् वृषभकंठक, पुष्पचंगेरियां यावत् लोमहस्तचंगेरियां, पुष्पपटलक, तेल-

---

१. कोष्टकान्तर्गत पाठ वृत्ति में नहीं है।

समुद्गक यावत् धूप के कडुच्छुक—ये सब एक सौ आठ, एक सौ आठ वहाँ रखे हुए हैं। उस सिद्धायतन के ऊपर बहुत से आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ और छत्रातिछत्र हैं, जो उत्तम आकार के सोलह रत्न यावत् रिष्टरत्नों से उपशोभित हैं।[1]

उपपातादि सभा-वर्णन

१४०. तस्स णं सिद्धाययणस्स णं उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं उववायसभा पण्णत्ता। जहा सुधम्मा तहेव जाव गोमाणसीओ। उववायसभाए वि दारा मुहमंडवा सव्वं भूमिभागे तहेव जाव मणिफासो। (सुहम्मासभावत्तव्वया भाणियव्वा जाव भूमीए फासो।)

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमयी अच्छा। तीसे णं मणिपेढियाए उप्पि एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते। तस्स णं देवसयणिज्जस्स वण्णओ उववायसभाए णं उप्पि अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइछत्ता जाव उत्तिमागारा।

तीसे णं उववायसभाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं हरए पण्णत्ते। से णं हरए अद्धतेरस जोयणाइं आयामेणं छ जोयणाइं सक्कोसाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे वण्णओ जहेव णंदाणं पुक्खरिणीणं जाव तोरण वण्णओ।

तस्स णं हरयस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं अभिसेयसभा पण्णत्ता जहा सभा सुहम्मा तं चेव निरवसेसं जाव गोमाणसीओ भूमिभाए उल्लोए तहेव।

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता, जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमया अच्छा। तीसे णं मणिपेढियाए उप्पि एत्थ णं महं एगे सीहासणे पण्णत्ते सीहासणवण्णओ अपरिवारो। तत्थ णं विजयदेवस्स सुबहु-अभिसेक्के भंडे सण्णिक्खित्ते चिट्ठंति। अभिसेयसभाए उप्पि अट्ठट्ठमंगलगा जाव उत्तिमागारा सोलस-विधेहिं रयणेहिं उवसोहिए।

तीसे णं अभिसेयसहाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं अलंकारियसभा वत्तव्वया भाणि-यव्वा जाव गोमाणसीओ मणिपेढियाओ जहा अभिसेयसभाए उप्पि सीहासणं अपरिवारं। तत्थ णं विजयदेवस्स सुबहु अलंकारिए भंडे सन्निक्खित्ते चिट्ठइ। अलंकारियसभाए उप्पि मंगलगा झया जाव छत्ताइछत्ता उत्तमागारा०।

---

१. अत्र संग्रहणिगाथे—

चंदणकलसा भिंगारगा य आयंसगा य थाला य।
पाईओ सुपइट्ठा मणगुलिया वायकरगा य ॥१॥
चित्ता रयणकरंडा हय-गय-नर-कंठगा य चंगेरी।
पडला सीहासण-छत्त-चामरा समुग्गकजुया य ॥२॥

तीसे णं अलंकारियसभाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं ववसायसभा पण्णत्ता। अभिसेयसभावत्तव्वया जाव सीहासणं अपरिवारं। तत्थ णं विजयस्स देवस्स एगं महं पोत्थयरयणं सन्निक्खित्ते चिट्ठइ। तस्स णं पोत्थयरयणस्स अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—रिट्ठामईओ कंबियाओ रययामयाइं पत्तकाइं रिट्ठामयाइं अक्खराइं[1] तवणिज्जमए दोरे नाणामणिमए गंठी, वेरुलियमए लिप्पासणे तवणिज्जमई संकला रिट्ठमए छादने रिट्ठामई मसी वइरामई लेहणी, धम्मिए सत्थे। ववसायसभाए णं उप्पि अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइछत्ता उत्तिमागारेति।

तीसे णं ववसायसभाए[2] उत्तरपुरत्थिमेणं एगे महं बलिपेढे[3] पण्णत्ते दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वरयणामए अच्छे जाव पडिरूवे। तस्स णं बलिपेढस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं णंदापुक्खरणी पण्णत्ता जं चेव माणं हरयस्स तं चेव सव्वं।

[१४०] उस सिद्धायतन के उत्तरपूर्व दिशा (ईशानकोण) में एक बड़ी उपपातसभा कही गई है। सुधर्मा सभा की तरह गोमाणसी पर्यन्त सब वर्णन यहाँ भी कर लेना चाहिए। उपपात सभा में भी द्वार, मुखमण्डप आदि सब वर्णन, भूमिभाग, यावत् मणियों का स्पर्श आदि कह लेना चाहिए। (यहाँ सुधर्मसभा की वक्तव्यता भूमिभाग और मणियों के स्पर्शपर्यन्त कहनी चाहिए।)

उस बहुसमरमणीय भूमिभाग के मध्य में एक बड़ी मणिपीठिका कही गई है। वह एक योजन लम्बी-चौड़ी और आधा योजन मोटी है, सर्वरत्नमय और स्वच्छ है। उस मणिपीठिका के ऊपर एक बड़ा देवशयनीय कहा गया है। उस देवशयनीय का वर्णन पूर्ववत् कह लेना चाहिए। उस उपपातसभा के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजा और छत्रातिछत्र हैं जो उत्तम आकार के हैं और रत्नों से सुशोभित हैं।

उस उपपातसभा के उत्तर-पूर्व में एक बड़ा सरोवर कहा गया है। वह सरोवर साढे बारह योजन लम्बा, छह योजन एक कोस चौड़ा और दस योजन ऊँड़ा है। वह स्वच्छ है, श्लक्ष्ण है आदि नन्दापुष्करिणीवत् वर्णन करना चाहिए। (वह सरोवर एक पद्मवरवेदिका और वनखण्ड से घिरा हुआ है। यहाँ पद्मवरवेदिका और वनखण्ड का वर्णन कर लेना चाहिए यावत् वहाँ बहुत से वानव्यन्तर देव-देवियां स्थित होती हैं यावत् पूर्वकृत पुण्यकर्मों के विपाक का अनुभव करती हुई विचरती हैं। उस ह्रद की तीन दिशाओं में त्रिसोपानप्रतिरूपक हैं। यहाँ त्रिसोपानप्रतिरूपकों का वर्णन कहना चाहिए यावत् तोरणों का वर्णन कहना चाहिए। ऐसा वृत्ति में उल्लेख है।)

उस सरोवर के उत्तर-पूर्व में एक बड़ी अभिषेकसभा कही गई है। सुधर्मसभा की तरह उसका पूरा वर्णन कर लेना चाहिए। गोमाणसी, भूमिभाग, उल्लोक आदि सब सुधर्मसभा की तरह जानना चाहिए।

---

१. अंकमयाइं पत्ताइं इति पाठान्तरम्। 'अंकमयाइं पत्ताइं रिट्ठामयाइं अक्खराइं, अयं पाठः 'वइरामई लेहणी' —इत्यस्यानन्तरं वृत्तौ व्याख्यातः।

२. 'उववाय सभाए' इति वृत्तौ पाठः।

३. अत्र प्रथमं जीर्णपुस्तके नन्दापुष्करीणीविवेचनं वर्तते पश्चात् बलिपिठस्य परं च टीकायां प्रथमं बलिपीठस्य पश्चात् तंदायाः।

उस बहुसमरमणीय भूमिभाग के ठीक मध्यभाग में एक बड़ी मणिपीठिका कही गई है । वह एक योजन लम्बी-चौड़ी और आधा योजन मोटी है, सर्व मणिमय और स्वच्छ है । उस मणिपीठिका के ऊपर एक बड़ा सिंहासन है । यहाँ सिंहासन का वर्णन करना चाहिए, परिवार का कथन नहीं करना चाहिए । उस सिंहासन पर विजयदेव के अभिषेक के योग्य सामग्री रखी हुई है । अभिषेकसभा के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ, छत्रातिछत्र कहने चाहिए, जो उत्तम आकार के और सोलह रत्नों से उपशोभित हैं ।

उस अभिषेकसभा के उत्तरपूर्व में एक विशाल अलंकारसभा है । उसकी वक्तव्यता गोमाणसी पर्यन्त अभिषेकसभा की तरह कहनी चाहिए । मणिपीठिका का वर्णन भी अभिषेकसभा की तरह जानना चाहिए । उस मणिपीठिका पर सपरिवार सिंहासन का कथन करना चाहिए । उस सिंहासन पर विजयदेव के अलंकार के योग्य बहुत-सी सामग्री रखी हुई है । उस अलंकारसभा के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ और छत्रातिछत्र हैं जो उत्तम आकार के और रत्नों से सुशोभित हैं ।

उस आलंकारिक सभा के उत्तरपूर्व में एक बड़ी व्यवसायसभा कही गई है । परिवार रहित सिंहासन पर्यन्त सब वक्तव्यता अभिषेकसभा की तरह कहनी चाहिए । उस सिंहासन पर विजयदेव का पुस्तकरत्न रखा हुआ है । उस पुस्तकरत्न का वर्णन इस प्रकार है—रिष्टरत्न की उसकी कंबिका (पुट्ठे) हैं, चांदी के उसके पन्ने हैं, रिष्टरत्नों के अक्षर हैं, तपनीय स्वर्ण का डोरा है (जिसमें पन्ने पिरोये हुए हैं), नानामणियों की उस डोरे की गांठ हैं (ताकि पन्ने अलग अलग न हों), वैडूर्यरत्न का मषिपात्र (दावात) है, तपनीय स्वर्ण की उस दावात की सांकल हैं, रिष्टरत्न का ढक्कन है, रिष्टरत्न की स्याही है, वज्ररत्न की लेखनी है । वह ग्रन्थ धार्मिक शास्त्र है । उस व्यवसायसभा के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजाएँ और छत्रातिछत्र हैं जो उत्तम आकार के हैं यावत् रत्नों से शोभित हैं ।

उस[1] व्यवसायसभा के उत्तर-पूर्व में एक विशाल बलिपीठ है । वह दो योजन लम्बा-चौड़ा और एक योजन मोटा है । वह सर्वरत्नमय है, स्वच्छ है यावत् प्रतिरूप है । उस बलिपीठ के उत्तर-पूर्व में एक बड़ी नन्दापुष्करिणी कही गई है । उसका प्रमाण आदि वर्णन पूर्व वर्णित ह्रद के समान जानना चाहिए ।

विजयदेव का उपपात और उसका अभिषेक

१४१. (१) तेणं कालेणं तेणं समएणं विजए देवे विजयाए रायहाणीए उववायसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिए अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तीए बोंदीए विजयदेवत्ताए उववण्णे । तए णं से विजए देवे अहुणोववण्णमेत्तए चेव समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छइ, तंजहा—आहारपज्जत्तीए, सरीरपज्जत्तीए, इंदियपज्जत्तीए आणापाणुपज्जत्तीए भासामणपज्जत्तीए । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गयस्स इमेएयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—किं मे पुव्वं सेयं किं मे पच्छा सेयं, किं मे पुव्विं करणिज्जं किं मे पच्छा

१. वृत्ति में 'उपपातसभा के' ऐसा उल्लेख है ।

करणिज्जं किं मे पुव्वि वा पच्छा वा हियाए सुहाए खेमाए णिस्सेसाए अणुगामियत्ताए भविस्सतीति कट्टु एवं संपेहेइ ।

तए णं तस्स विजयदेवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा विजयस्स देवस्स इमं एयारूवं अज्झत्थियं चिंतियं पत्थियं मणोगयं संकप्पं समुप्पण्णं जाणित्ता जेणामेव से विजए देवे तेणामेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता विजयं देवं करतलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, जएणं विजएणं वद्धावित्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं विजयाए रायहाणीए सिद्धायतणंसि अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहपमाणमेत्ताणं सन्निक्खित्तं चिट्ठइ, सभाए य सुधम्माए माणवए चेइयखंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहूओ जिणसकहाओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति, जाओ णं देवाणुप्पियाणं अन्नेसिं य बहूणं विजयरायहाणिवत्थव्वाणं देवाणं देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जाओ । एतं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं पि सेयं, एतं णं देवाणुप्पियाणं पच्छावि सेयं, एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं करणिज्जं पच्छा करणिज्जं एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं वा पच्छा वा जाव आणुगामियत्ताए भविस्सइ त्ति कट्टु महया महया जयजयसद्दं पउंजंति ।

[१४१] (१) उस काल और उस समय में विजयदेव विजया राजधानी की उपपातसभा में देवशयनीय में देवदूष्य के अन्दर अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण शरीर में विजयदेव के रूप में उत्पन्न हुआ । तब वह विजयदेव उत्पत्ति के अनन्तर (उत्पन्न होते ही) पांच प्रकार की पर्याप्तियों से पूर्ण हुआ । वे पांच पर्याप्तियां इस प्रकार हैं—१ आहारपर्याप्ति, २ शरीरपर्याप्ति, ३ इन्द्रियपर्याप्ति ४ आनप्राणपर्याप्ति और ५ भाषामनपर्याप्ति ।[1]

तदनन्तर पांच पर्याप्तियों से पर्याप्त हुए विजयदेव को इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तन, प्रार्थित और मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—मेरे लिए पूर्व में क्या श्रेयकर है, पश्चात् क्या श्रेयस्कर है, मुझे पहले क्या करना चाहिए, मुझे पश्चात् क्या करना चाहिए, मेरे लिए पहले और बाद में क्या हितकारी, सुखकारी, कल्याणकारी, निःश्रेयस्कारी और परलोक में साथ जाने वाला होगा । वह इस प्रकार चिन्तन करता है ।

तदनन्तर उस विजयदेव की सामानिक पर्षदा के देव विजयदेव के उस प्रकार के अध्यवसाय, चिन्तन, प्रार्थित और मनोगत संकल्प को उत्पन्न हुआ जानकर जिस ओर विजयदेव था उस ओर वे आते हैं और आकर विजयदेव को हाथ जोड़कर, मस्तक पर अंजलि लगाकर जय-विजय से बधाते हैं । बधाकर वे इस प्रकार बोले—हे देवानुप्रिय ! आपकी विजया राजधानी के सिद्धायतन में जिनोत्सेध-प्रमाण एक सौ आठ जिन प्रतिमाएँ रखी हुई हैं और सुधर्मासभा के माणवक चैत्यस्तम्भ पर वज्रमय गोल मंजूषाओं में बहुत-सी जिन-अस्थियाँ रखी हुई हैं, जो आप देवानुप्रिय के और बहुत से विजया राजधानी के रहने वाले देवों और देवियों के लिए अर्चनीय, वन्दनीय, पूजनीय, सत्कारणीय, सम्माननीय हैं, जो कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप, चैत्यरूप हैं तथा पर्युपासना करने योग्य हैं । यह आप

---

१. भाषा और मनःपर्याप्ति—एक साथ पूर्ण होने के कारण उनके एकत्व की विवक्षा की गई है ।

देवानुप्रिय के लिए पूर्व में भी श्रेयस्कर है, पश्चात् भी श्रेयस्कर है; यह आप देवानुप्रिय के लिए पूर्व में भी करणीय है और पश्चात् भी करणीय है; यह आप देवानुप्रिय के लिए पहले और बाद में हितकारी यावत् साथ में चलने वाला होगा, ऐसा कहकर वे जोर-जोर से जय-जयकार शब्द का प्रयोग करते हैं।

१४१. [२] तए णं से विजए देवे तेसिं सामाणियपरिसोववण्णगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठ सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हियए देवसयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता दिव्वं देवदूसजुयलं परिहेइ, परिहेइत्ता देवसयणिज्जाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता उववायसभाओ पुरत्थिमेण दारेण णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता जेणेव हरए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता हरयं अणुपयाहिणं करेमाणे करे-माणे पुरत्थिमेणं तोरणेणं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता पुरत्थिमेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहति, पच्चोरुहित्ता हरयं ओगाहइ, ओगाहित्ता जलावगाहणं करेइ, करित्ता जलमज्जणं करेइ, करेत्ता जलकिड्डं करेइ, करेत्ता आयंते चोक्खे परमसुइभूए हरआओ पच्चुत्तरइ पच्चुत्तरित्ता जेणामेव अभिसेयसभा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अभिसेयसभं पदाहिणं करेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं दारेण अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव सए सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरच्छाभिमुहे सण्णिसण्णे।

[१४१] (२) उन सामानिक पर्षदा के देवों से ऐसा सुनकर वह विजयदेव हृष्ट-तुष्ट हुआ यावत् उसका हृदय विकसित हुआ। वह देवशयनीय से उठता है और उठकर देवदूष्य युगल धारण करता है, धारण करके देवशयनीय से नीचे उतरता है, उतर कर उपपातसभा से पूर्व के द्वार से बाहर निकलता है और जिधर ह्रद (सरोवर) है उधर जाता है, ह्रद की प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशा के तोरण से उसमें प्रवेश करता है और पूर्वदिशा के त्रिसोपानप्रतिरूपक से नीचे उतरता है और जल में अवगाहन करता है। जलावगाहन करके जलमज्जन (जल में डुबकी लगाना) और जलक्रीडा करता है। इस प्रकार अत्यन्त पवित्र और शुचिभूत होकर ह्रद से बाहर निकलता है और जिधर अभिषेकसभा है उधर जाता है। अभिषेकसभा की प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशा के द्वार से उसमें प्रवेश करता है और जिस ओर सिंहासन रखा है उधर जाता है और पूर्वदिशा की ओर मुख करके सिंहासन पर बैठ जाता है।

१४१. [३] तए णं तस्स विजयदेवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा आभिओगिए देवे सद्दावेंति सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! विजयस्स देवस्स महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं इंदाभिसेयं उवट्ठवेह। तए णं ते आभिओगिया देवा सामाणियपरिसोववण्णगेहिं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ तुट्ठ जाव हियया करतलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं देवा! तहत्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसिभागं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता वेउव्विय-समुग्घाएणं समोहणंति समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं णिस्सरंति, तहाविहे रयणाणं जाव रिट्ठाणं अहाबायरे पोग्गले परिसाडंति परिसाडित्ता अहासुहुमे पोग्गले परियायंति परियाइत्ता दोच्चंपि वेउव्विय-समुग्घाएणं समोहणंति समोहणित्ता अट्ठसहस्सं सोवण्णियाणं कलसाणं, अट्ठसहस्सं रुप्पामयाणं कलसाणं,

अट्ठसहस्सं मणिमयाणं, अट्ठसहस्सं सुवण्णरुप्पामयाणं अट्ठसहस्सं सुवण्णमणिमयाणं अट्ठसहस्सं रुप्पामणि-मयाणं अट्ठसहस्सं भोमेज्जाणं अट्ठसहस्सं भिंगारागाणं एवं आयंसगाणं थालाणं पाईणं सुपतिट्ठकाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं पुप्फचंगेरीणं जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं जाव लोमहत्थपडलगाणं अट्ठसयं सीहासणाणं छत्ताणं चामराणं अवपडगाणं (वट्टकाणं तवसिप्पाणं खोरकाणं पीणकाणं)[1] तेल-समुग्गकाणं अट्ठसयं धूवकडुच्छुयाणं विउव्वंति, ते साभाविए विउव्विए य कलसे य जाव धूवकडुच्छुए य गेण्हंति, गेण्हित्ता विजयाओ रायहाणीओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमित्ता ताए उक्किट्ठाए जाव उद्धु-याए दिव्वाए देवगईए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं वीयीवयमाणा वीयीवयमाणा जेणेव खीरोदे समुद्दे तेणेव उवागच्छंति। तेणेव उवागच्छित्ता खीरोदयं गिण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं जाव सयसहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव पुक्खरोदे समुद्दे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता पुक्खरोदगं गेण्हंति, पुक्खरोदगं गिण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं जाव सयसहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हंति गिण्हित्ता जेणेव समयखेत्ते जेणेव भरहेरवयाइं वासाइं जेणेव मागधवरदामपभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता तित्थोदगं गिण्हंति, गिण्हित्ता तित्थमट्टियं गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव गंगासिंधुरत्तारत्तवईसलिला तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सरितोदगं गेण्हंति, गेण्हित्ता उभओ तडमट्टियं गेण्हंति गेण्हित्ता जेणेव चुल्लहिमवंत-सिहरिवासधरपव्वया तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवा-गच्छित्ता सव्वतुवरे य सव्वपुप्फे य सव्वगंधे य सव्वमल्ले य सव्वोसहिसिद्धत्थए गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव पउमद्दह—पुंडरीयद्दहा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता दहोदगं गेण्हंति, जाइं तत्थ उप्पलाइं जाव सयसहस्सपत्ताइं ताइं गेण्हंति, ताइं गेण्हित्ता जेणेव हेमवय-हेरण्णवयाइं जेणेव रोहिय-रोहितंस-सुवण्णकूल—रुप्पकूलाओ तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सलिलोदगं गेण्हंति, गेण्हित्ता उभओ तडमट्टियं गिण्हंति गेण्हित्ता जेणेव सद्दावातिमालवंतपरियागा वट्टवेतड्ढपव्वया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सव्वतूवरे य जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव महाहिमवंत-रुप्पिवास धरपव्वया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य तं चेव जेणेव महापउमद्दह-महापुंडरीयद्दहा तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं तं चेव, जेणेव हरिवासे रम्मावासे जेणेव हरकंत-हरिकंत णरकंत-नारिकंताओ सलिलाओ तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सलिलोदगं गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव वियडावइ-गंधावइ वट्टवेयड्ढपव्वया तेणेव उवागच्छंति सव्वपुप्फे य तं चेव जेणेव णिसह-णीलवंत वासहरपव्वया तेणेव उवागच्छंति, सव्वतुवरे य तहेव जेणेव तिगिच्छिदह-केसरिद्दहा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं तं चेव, जेणेव पुव्वविदेहावरविदेह-वासाइं जेणेव सीया-सीयोदाओ महाणईओ जहा णईओ, जेणेव सव्वचक्कवट्टिविजया जेणेव सव्वमागह-वरदामपभासाइं तित्थाइं तहेव, जेणेव सव्ववक्खारपव्वया सव्वतुवरे य, जेणेव सव्वंतरणदीओ सलिलोदगं गेण्हंति तं चेव। जेणेव मंदरे पव्वए जेणेव भद्दसालवणे तेणेव उवागच्छंति, सव्वतुवरे जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव णंदणवणे तेणेव उवागच्छंति, सव्वतुवरे

---

१. कोष्टकान्तर्गत पाठ वृत्ति में नहीं है।

जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य सरसं गोसीसचंदणं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव सोमणसवणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य सरसगोसीसचंदणं दिव्वं च सुमणदामं गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव पंडगवणे तेणामेव समुवागच्छंति समुवागच्छित्ता सव्वतुवरे जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए सरसं य गोसीसचंदणं दिव्वं च सुमणोदामं दद्दरयमलयसुगंधिए य गंधे गेण्हंति, गेण्हित्ता एगओ मिलंति, मिलित्ता जंबुद्दीवस्स पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं णिग्गच्छंति, निग्गच्छित्ता ताए उक्किट्ठाए जाव दिव्वाए देवगईए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं-मज्झेणं वीयीवयमाणा वीइवयमाणा जेणेव विजया रायहाणी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता विजयं रायहाणिं अणुप्पयाहिणं करेमाणा करेमाणा जेणेव अभिसेयसभा जेणेव विजए देवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल-परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति; विजयस्स देवस्स तं महत्थं महग्घं महरिहं विउलं अभिसेयं उवट्ठवेंति ।

[१४१] (३) तदनन्तर उस विजयदेव की सामानिक पर्षद के देवों ने अपने आभियोगिक (सेवक) देवों को बुलाया और कहा कि हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही विजयदेव के महार्थ (जिसमें बहुत रत्नादिक धन का उपयोग हो), महार्घ (महापूजा योग्य), महार्ष (महोत्सव योग्य) और विपुल इन्द्राभिषेक की तैयारी करो । तब वे आभियोगिक देव सामानिक पर्षदा के देवों द्वारा ऐसा कहे जाने पर हृष्ट-तुष्ट हुए यावत् उनका हृदय विकसित हुआ । हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि लगाकर 'देव ! आपकी आज्ञा प्रमाण है' ऐसा कहकर विनयपूर्वक उन्होंने उस आज्ञा को स्वीकार किया । वे उत्तरपूर्व दिशाभाग में जाते हैं और वैक्रिय-समुद्घात से समवहत होकर संख्यात योजन का दण्ड निकालते हैं (अर्थात् आत्मप्रदेशों को शरीरप्रमाण बाहल्य में संख्यात योजन तक ऊंचे-नीचे दण्डाकृति में शरीर से बाहर निकालते हैं—फैलाते हैं) रत्नों के यावत् रिष्टरत्नों के तथाविध बादर पुद्गलों को छोड़ते हैं और यथासूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण करते हैं । तदनन्तर दुबारा वैक्रिय समुद्घात से समवहत होते हैं और एक हजार आठ सोने के कलश, एक हजार आठ चाँदी के कलश, एक हजार आठ मणियों के कलश, एक हजार आठ सोने-चांदी के कलश, एक हजार आठ सोने-मणियों के कलश, एक हजार आठ चांदी-मणियों के कलश, एक हजार आठ मिट्टी के कलश, एक हजार आठ झारियां, इसी प्रकार आदर्शक, स्थाल, पात्री, सुप्रतिष्ठक, चित्र, रत्नकरण्डक, पुष्पचंगेरियां यावत् लोमहस्तकचंगेरियां, पुष्पपटलक यावत् लोमहस्तपटलक, एक सौ आठ सिंहासन, छत्र, चामर, ध्वजा, (वर्तक, तपःसिप्र, क्षौरक, पीनक) तेलसमुद्गक और एक सौ आठ धूप के कडुच्छुक (धूपाणिये) अपनी विक्रिया से बनाते हैं । उन स्वाभाविक और वैक्रिय से निर्मित कलशों यावत् धूपकडुच्छुकों को लेकर विजया राजधानी से निकलते हैं और उस उत्कृष्ट यावत् उद्धुत (तेज) दिव्य देवगति से तिरछी दिशा में असंख्यात द्वीप समुद्रों के मध्य से गुजरते हुए जहाँ क्षीरोदसमुद्र है वहाँ आते हैं और वहाँ का क्षीरोदक लेकर वहाँ के उत्पल, कमल यावत् शतपत्र-सहस्रपत्रों को ग्रहण करते हैं । वहाँ से पुष्करोदसमुद्र की ओर जाते हैं और वहाँ का पुष्करोदक और वहाँ के उत्पल, कमल यावत् शतपत्र, सहस्रपत्रों को लेते हैं । वहाँ से वे समयक्षेत्र में जहाँ भरत-ऐरवत वर्ष (क्षेत्र) हैं और जहाँ मागध, वरदाम और प्रभास तीर्थ हैं वहाँ आकर तीर्थोदक को ग्रहण करते हैं और तीर्थों की मिट्टी लेकर जहाँ गंगा-सिन्धु, रक्ता-रक्तवती महानदियाँ हैं, वहाँ आकर उनका जल ग्रहण करते हैं और नदीतटों की मिट्टी लेकर जहाँ

चुल्ल हिमवंत और शिखरी वर्षधर पर्वत हैं ऊधर आते हैं और वहाँ से सर्व ऋतुओं के श्रेष्ठ सब जाति के फूलों, सब जाति के गंधों, सब जाति के माल्यों (गूंथी हुई मालाओं), सब प्रकार की औषधियों और सिद्धार्थकों (सरसों) को लेते हैं। वहाँ से पद्मद्रह और पुण्डरीकद्रह की ओर जाते हैं और वहाँ से द्रहों का जल लेते हैं और वहाँ के उत्पल कमलों यावत् शतपत्र-सहस्रपत्र कमलों को लेते हैं। वहाँ से हेमवत और हैरण्यवत क्षेत्रों में रोहित-रोहितांशा, सुवर्णकूला और रूप्यकूला महानदियों पर आते हैं और वहाँ का जल और दोनों किनारों की मिट्टी ग्रहण करते हैं। वहाँ से शब्दापाति और माल्यवंत नाम के वट्टवैताढय पर्वतों पर जाते हैं और वहाँ के सब ऋतुओं के श्रेष्ठ फूलों यावत् सर्वौषधि और सिद्धार्थकों को लेते हैं। वहाँ से महाहिमवंत और रुक्मि वर्षधर पर्वतों पर जाते हैं, वहाँ के सब ऋतुओं के पुष्पादि लेते हैं। वहाँ से महापद्मद्रह और महापुंडरीकद्रह पर आते हैं वहाँ के उत्पल कमलादि ग्रहण करते हैं। वहाँ से हरिवर्ष रम्यकवर्ष की हरकान्त-हरिकान्त-नरकान्त-नारिकान्त नदियों पर आते हैं और वहाँ का जल ग्रहण करते हैं। वहाँ से विकटापाति और गंधापाति वट्ट वैताढय पर्वतों पर आते हैं और सब ऋतुओं के श्रेष्ठ फूलों को ग्रहण करते हैं। वहाँ से निषध और नीलवंत वर्षधर पर्वतों पर आते हैं और सब ऋतुओं के पुष्पादि ग्रहण करते हैं। वहाँ से तिगिंछ-द्रह और केसरिद्रह पर आते हैं और वहाँ के उत्पल कमलादि ग्रहण करते हैं। वहाँ से पूर्वविदेह और पश्चिम विदेह की शीता, शीतोदा महानदियों का जल और दोनों तट की मिट्टी ग्रहण करते हैं। वहाँ से सब चक्रवर्ती विजयों (विजेतव्यों) के सब मागध, वरदाम, और प्रभास नामक तीर्थों पर आते हैं और तीर्थों का पानी और मिट्टी ग्रहण करते हैं। वहाँ से सब वक्षस्कार पर्वतों पर जाते हैं। वहाँ के सब ऋतुओं के फूल आदि ग्रहण करते हैं। वहाँ से सब अन्तर् नदियों पर आकर वहाँ का जल और तटों की मिट्टी ग्रहण करते हैं। इसके बाद वे मेरुपर्वत के भद्रशालवन में आते हैं। वहाँ के सर्व ऋतुओं के फूल यावत् सर्वौषधि और सिद्धार्थक ग्रहण करते हैं। वहाँ से नन्दनवन में आते हैं, वहाँ के सब ऋतुओं के श्रेष्ठ फूल यावत् सर्वौषधियाँ और सिद्धार्थक तथा सरस गोशीर्ष चन्दन ग्रहण करते हैं। वहाँ से सौमनसवन में आते हैं और सब ऋतुओं के फूल यावत् सर्वौषधियाँ, सिद्धार्थक और सरस गोशीर्ष चन्दन तथा दिव्य फूलों की मालाएँ ग्रहण करते हैं। वहाँ से पण्डकवन में आते हैं और सब ऋतुओं के फूल, सर्वौषधियाँ, सिद्धार्थक, सरस गोशीर्ष चन्दन, दिव्य फूलों की माला और कपडछन्न किया हुआ मलय-चन्दन का चूर्ण आदि सुगन्धित द्रव्यों को ग्रहण करते हैं। तदनन्तर सब आभियोगिक देव एकत्रित होकर जम्बूद्वीप के पूर्वदिशा के द्वार से निकलते हैं और उस उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से चलते हुए तिरछी दिशा में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के मध्य होते हुए विजया राजधानी में आते हैं। विजया राजधानी की प्रदक्षिणा करते हुए अभिषेकसभा में विजयदेव के पास आते हैं और हाथ जोड़कर, मस्तक पर अंजलि लगाकर जय-विजय के शब्दों से उसे बधाते हैं। वे महार्थ, महार्घ और महार्ह विपुल अभिषेक सामग्री को उपस्थित करते हैं।

१४१. [४] तते णं तं विजयदेवं चत्तारि य सामाणियसाहस्सीओ चत्तारि अग्गमहिसीओ सपरिवाराओ तिण्णि परिसाओ सत्त अणीया सत्त अणीयाहिवई सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ अन्ने य बहवे विजयरायहाणिवत्थव्वगा वाणमंतरा देवा य देवीओ य तेहिं साभाविएहिं उत्तरवेउव्विएहिं य वरकमलपइट्ठाणेहिं सुरभिवरवारिपडिपुण्णेहिं चंदणकयचच्चाएहिं आविद्धकंठगुणेहिं पउमुप्पल-पिधाणेहिं करतलसुकुमालकोमलपरिग्गहिएहिं अट्ठसहस्साणं सोवण्णियाणं कलसाणं रुप्पमयाणं

जाव अट्ठसहस्साणं भोमेज्जाणं कलसाणं सव्वोदएहिं सव्वमट्टियाहिं सव्वतुवरेहिं सव्वपुप्फेहिं जाव सव्वोसहिसिद्धत्थएहिं सव्विड्डीए सव्वजुईए सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वायरेणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं (सव्वारोहेणं सव्वणाडएहिं)[1] सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारविभूसाए सव्वदिव्वतुडियणिणाएणं महया इड्डीए महया जुईए महया बलेणं महया समुदएणं महया तुरिय-जमगसमगपडुप्पवाइतरवेणं संख-पणव-पडह-भेरि-झल्लरि-खरमुहि-हुडुक्क-मुरज-मुयंग-दुंदुहि निग्घोस-सन्निनाइयरवेणं महया महया इंदाभिसेगेणं अभिसिंचंति।

[१४१] (४) तदनन्तर चार हजार सामानिक देव, सपरिवार चार अग्रमहिषियाँ, तीन पर्षदाओं के (यथाक्रम आठ हजार, दश हजार और बारह हजार) देव, सात अनीक, सात अनीकाधिपति, सोलह हजार आत्मरक्षक देव और अन्य बहुत से विजया राजधानी के निवासी देव-देवियां उन स्वाभाविक और उत्तरवैक्रिय से निर्मित श्रेष्ठ कमल के आधार वाले, सुगन्धित श्रेष्ठ जल से भरे हुए, चन्दन से चर्चित, गलों में मौलि बंधे हुए, पद्मकमल के ढक्कन वाले, सुकुमार और मृदु करतलों में परिगृहीत एक हजार आठ सोने के, एक हजार आठ चांदी के यावत् एक हजार आठ मिट्टी के कलशों के सर्वजल से, सर्व मिट्टी से, सर्व ऋतु के श्रेष्ठ सर्व पुष्पों से यावत् सर्वौषधि और सरसों से सम्पूर्ण परिवारादि ऋद्धि के साथ, सम्पूर्ण द्युति के साथ, सम्पूर्ण हस्ती आदि सेना के साथ, सम्पूर्ण आभियोग्य समुदय (परिवार) के साथ, समस्त आदर से, समस्त विभूति से, समस्त विभूषा से, समस्त संभ्रम (उत्साह) से (सर्वारोहण सर्वस्वरसामग्री से सर्व नाटकों से) समस्त पुष्प-गंध-माल्य-अलंकार रूप विभूषा से, सर्व दिव्य वाद्यों की ध्वनि से, महती (बहुत बड़ी) ऋद्धि, महती द्युति, महान् बल (सैन्य) महान् समुदय (आभियोग्य परिवार), महान् एक साथ पटु पुरुषों से बजाये गये वाद्यों के शब्द से, शंख, पणव (ढोल), नगाड़ा, भेरी, झल्लरी, खरमुही (काहला), हुडुक्क (बड़ा मृदंग), मुरज, मृदंग एवं दुंदुभि के निनाद और गूंज के साथ उस विजयदेव को बहुत उल्लास के साथ इन्द्राभिषेक से अभिषिक्त करते हैं।

१४१. [५] तए णं तस्स विजयदेवस्स महया महया इंदाभिसेगंसि वट्टमाणंसि अप्पेगइया देवा णच्चोदगं णातिमट्टियं पविरलफुसियं दिव्वं सुरभिं रयरेणुविणासणं गंधोदगवासं वासंति। अप्पेगइया देवा णिहतरयं णट्ठरयं भट्ठरयं पसंतरयं उवसंतरयं करेंति, अप्पेगइया देवा विजयं रायहाणिं सब्भितरबाहिरियं आसियसम्मज्जितोवलित्तं सित्तसुइसम्मट्ठरत्थंतरावणवीहियं करेंति। अप्पेगइया देवा विजयं रायहाणिं मंचातिमंचकलियं करेंति, अप्पेगइया देवा विजयं रायहाणिं णाणाविह-रागरंजियऊसिय अयविजयवेजयन्तीपडागाइपडागमंडियं करेंति। अप्पेगइया देवा विजयं रायहाणिं-लाउल्लोइयमहियं करेंति। अप्पेगइया देवा विजयं रायहाणिं गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्ण-पंचंगुलितलं करेंति, अप्पेगइया देवा विजयं रायहाणिं उवचियचंदणकलसं चंदणघडसुकयतोरणपडिदु-वारदेसभागं करेंति। अप्पेगइया देवा विजयं रायहाणिं आसत्तोसत्तविपुलवट्टवग्घारियमल्लदाम-कलावं करेंति, अप्पेगइया देवा विजयं रायहाणिं पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं

---

१. 'सव्वारोहेण सव्वाडएहिं' पाठ वृत्ति में नहीं है।

करेंति, अप्पेगइया देवा कालागुरुपवरकुंदरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतमघमघेंतगंधद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूयं करेंति ।

अप्पेगइया देवा हिरण्णवासं वासंति, अप्पेगइया देवा सुवण्णवासं वासंति, अप्पेगइया देवा एवं रयणवासं वइरवासं पुप्फवासं मल्लवासं गंधवासं चुण्णवासं वत्थवासं आभरणवासं । अप्पेगइया देवा हिरण्णविधिं भाइंति, एवं सुवण्णविधिं रयणविधिं वइरविधिं पुप्फविधिं मल्लविधिं चुण्णविधिं गंधविधिं वत्थविधिं आभरणविधिं भाइंति ।

अप्पेगइया देवा दुयं णट्टविधिं उवदंसेंति, अप्पेगइया विलंबितं णट्टविहिं उवदंसेंति, अप्पेगइया देवा दुयविलंबितं णट्टविधिं उवदंसेंति, अप्पेगइया देवा अंचियं नट्टविधिं उवदंसेंति, अप्पेगइया देवा रिभियं णट्टविधिं उवदंसेंति, अप्पेगइया देवा अंचियरिभितं णाम दिव्वं णट्टविधिं उवदंसेंति । अप्पेगइया देवा आरभडं णट्टविहिं उवदंसेंति, अप्पेगइया देवा भसोलं णट्टविहिं उवदंसेंति, अप्पेइया देवा आरभडभसोलं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति । अप्पेगइया देवा उप्पायणिवायपवुत्तं संकुचियपसारियं रियारियं भंतसंभंतं णाम दिव्वं नट्टविधिं उवदंसेंति । अप्पेगइया देवा चउव्विहं वाइयं वादेंति, तं जहा—ततं विततं घणं झुसिरं । अप्पेगइया देवा चउव्विहं गेयं गायंति, तं जहा—उक्खित्तयं, पवत्तयं, मंदायं, रोइयावसाणं । अप्पेगइया देवा चउव्विहं अभिणयं अभिणयंति, तं जहा—दिट्ठंतियं, पाडंतियं सामंतोपणिवाइयं, लोगमज्झावसाणियं ।

अप्पेगइया देवा पीणंति, अप्पेगइया देवा बुक्कारेंति, अप्पेगइया देवा तंडवेंति अप्पेगया देवा लासेंति, अप्पेगइया देवा पीणंति बुक्कारेंति तंडवेंति लासेंति, अप्पेगइया देवा अप्फोडेंति, अप्पेगइया देवा वग्गंति, अप्पेगइया देवा तिवंति छिंदंति, अप्पेगइया देवा अप्फोडेंति वग्गंति तिवंति छिंदंति, अप्पेगइया देवा हयहेसियं करेंति, अप्पेगइया देवा हत्थिगुलगुलाइयं करेंति, अप्पेगइया देवा रहघणघणाइयं करेंति, अप्पेगइया देवा हयहेसियं करेंति हत्थिगुलगुलाइयं करेंति रहघणघणाइयं करेंति, अप्पेगइया देवा उच्छोलेंति, अप्पेगइया देवा पच्छोलेंति अप्पेगइया देवा उक्किट्ठिओ करेंति, अप्पेगइया देवा उच्छोलेंति पच्छोलेंति उक्किट्ठिओ करेंति, अप्पेगइया देवा सीहणादं करेंति अप्पेगइया देवा पाददद्दरयं करेंति, अप्पेगइया देवा भूमिचवेडं दलयंति, अप्पेगइया देवा सीहणादं पाददद्दरयं भूमिचवेडं दलयंति, अप्पेगइया देवा हक्कारेंति अप्पेगइया देवा बुक्कारेंति अप्पेगइया देवा थक्कारेंति, अप्पेगइया देवा पुक्कारेंति, अप्पेगइया देवा नामाइं सावेंति, अप्पेगइया देवा हक्कारेंति बुक्कारेंति थक्कारेंति पुक्कारेंति णामाइं सावेंति; अप्पेगइया देवा उप्पतंति अप्पेगइया देवा णिवयंति अप्पेगइया देवा परिवयंति अप्पेगइया देवा उप्पयंति णिवयंति परिवयंति, अप्पेगइया देवा जलंति अप्पेगइया देवा तवंति अप्पेगइया देवा पतवंति अप्पेगइया देवा जलंति तवंति पतवंति, अप्पेगइया देवा गज्जेंति अप्पेगइया देवा विज्जुयायंति अप्पेगइया देवा वासंति, अप्पेगइया देवा गज्जंति विज्जुयायंति वासंति, अप्पेगइया देवा सन्निवायं करेंति अप्पेगइया देवा देवुक्कलियं करेंति अप्पेगइया देवा देवकहकहं करेंति अप्पेगइया देवा दुहदुहं करेंति, अप्पेगइया देवा देवसन्निवायं देवउक्कलियं देवकहकहं देवदुहदुहं

करेंति। अप्पेगइया देवा देवुज्जोयं करेंति अप्पेगइया देवा विज्जुयारं करेंति अप्पेगइया देवा चेलुक्खेवं करेंति अप्पेगइया देवा देवुज्जोयं विज्जुयारं चेलुक्खेवं करेंति, अप्पेगइया देवा उप्पलहत्थगया जाव सहस्सपत्तहत्थगया घंटाहत्थगया-कलसहत्थगया जाव धूवकडुच्छुगया हट्ठतुट्ठा जाव हरिसवसविसप्पमाणहियया विजयाए रायहाणीए सव्वओ समंता आधावेंति परिधावेंति।

[१४१] (५) तदनन्तर उस विजयदेव के महान् इन्द्राभिषेक के चलते हुए कोई देव दिव्य सुगन्धित जल की वर्षा इस ढंग से करते हैं जिससे न तो पानी अधिक होकर बहता है, न कीचड़ होता है अपितु विरल बूंदोंवाला छिड़काव होता है। जिससे रजकण और धूलि दब जाती है। कोई देव उस विजया राजधानी को निहतरज वाली, नष्ट रज वाली, भ्रष्ट रज वाली, प्रशान्त रज वाली, उपशान्त, रज वाली बनाते हैं। कोई देव उस विजया राजधानी को अन्दर और बाहर से जल का छिड़काव कर, सम्मार्जन (झाड़-बुहार) कर, गोमयादि से लोपकर तथा उसकी गलियों और बाजारों को छिड़काव से शुद्ध कर साफ-सुथरा करने में लगे हुए हैं। कोई देव विजया राजधानी में मंच पर मंच बनाने में लगे हुए हैं। कोई देव अनेक प्रकार के रंगों से रंगी हुई एवं जयसूचक विजयवैजयन्ती नामक पताकाओं पर पताकाएँ लगाकर विजया राजधानी को सजाने में लगे हुए हैं, कोई देव विजया राजधानी को चूना आदि से पोतने में और चंदरवा आदि बांधने में तत्पर हैं। कोई देव गोशीर्ष चन्दन, सरस लाल चन्दन और चन्दन के चूरे के लेपों से अपने हाथों को लिप्त करके पांचों अंगुलियों के छापे लगा रहे हैं। कोई देव विजया राजधानी के घर-घर के दरवाजों पर चन्दन के कलश रख रहे हैं। कोई देव चन्दन घट और तोरणों से घर-घर के दरवाजे सजा रहे हैं, कोई देव ऊपर से नीचे तक लटकने वाली बड़ी बड़ी गोलाकार पुष्पमालाओं से उस राजधानी को सजा रहे हैं, कोई देव पांच वर्णों के श्रेष्ठ सुगन्धित पुष्पों के पुंजों से युक्त कर रहे हैं, कोई देव उस विजया राजधानी को काले अगुरु उत्तम कुन्दुरुक्क एवं लोभान जला जलाकर उससे उठती हुई सुगन्ध से उसे मघमघायमान कर रहे हैं अतएव वह राजधानी अत्यन्त सुगन्ध से अभिराम बनी हुई है और विशिष्ट गन्ध की बत्ती सी बन रही है। कोई देव स्वर्ण की वर्षा कर रहे हैं, कोई चांदी की वर्षा कर रहे हैं, कोई रत्न की कोई वज्र की वर्षा कर रहे हैं, कोई फूल बरसा रहे हैं, कोई मालाएँ बरसा रहे हैं, कोई सुगन्धित द्रव्य, कोई सुगन्धित चूर्ण, कोई वस्त्र और कोई आभरणों की वर्षा कर रहे है। कोई देव हिरण्य (चांदी) बांट रहे हैं, कोई स्वर्ण, कोई रत्न, कोई वज्र, कोई फूल, कोई माल्य, कोई चूर्ण, कोई गंध, कोई वस्त्र और कोई देव आभरण बांट रहे हैं। (परस्पर आदान-प्रदान कर रहे हैं।)

कोई देव द्रुत नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन करते हैं, कोई देव विलम्बित नाट्यविधि का प्रदर्शन करते हैं, कोई देव द्रुतविलम्बित नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन करते हैं, कोई देव अंचित नामक नाट्यविधि, कोई रिभित नाट्यविधि, कोई अंचित-रिभित नाट्यविधि, कोई आरभट नाट्यविधि, कोई भसोल नाट्यविधि, कोई आरभट-भसोल नाट्यविधि, कोई उत्पात-निपातप्रवृत्त, संकुचित-प्रसारित, रेक्करचित (गमनागमन) भ्रान्त-संभ्रान्त नामक नाट्यविधियां प्रदर्शित करते हैं।

कोई देव चार प्रकार के वादित्र बजाते हैं। वे चार प्रकार ये हैं—तत, वितत, घन और झुषिर। कोई देव चार प्रकार के गेय गाते हैं। वे चार गेय ये हैं—उत्क्षिप्त, प्रवृत्त, मंद और रोचिता-

वसान। कोई देव चार प्रकार के अभिनय करते हैं। वे चार प्रकार हैं—दार्ष्टान्तिक, प्रतिश्रुतिक, सामान्यतोविनिपातिक और लोकमध्यावसान।

कोई देव स्वयं को पीन (स्थूल) बना लेते हैं—फुला लेते हैं, कोई देव ताण्डवनृत्य करते हैं, कोई देव लास्यनृत्य करते हैं, कोई देव छु-छु करते हैं, कोई देव उक्त चारों क्रियाएँ करते हैं, कई देव आस्फोटन (भूमि पर पैर फटकारना) करते हैं, कई देव वल्गन (कूदना) करते हैं, कई देव त्रिपदी-छेदन (ताल ठोकना) करते हैं, कोई देव उक्त तीनों क्रियाएँ करते हैं, कोई देव घोड़े की तरह हिन-हिनाते हैं, कोई हाथी की तरह गुड़गुड़ आवाज करते हैं, कोई रथ की आवाज की तरह आवाज निकालते हैं, कोई देव उक्त तीनों तरह की आवाजें निकालते हैं, कोई देव उछलते हैं, कोई देव विशेष रूप से उछलते हैं, कोई देव उत्कृष्टि अर्थात् छलांग लगाते हैं, कोई देव उक्त तीनों क्रियाएँ करते हैं, कोई देव सिंहनाद करते हैं, कोई देव भूमि पर पांव से आघात करते हैं, कोई देव भूमि पर हाथ से प्रहार करते हैं, कोई देव उक्त तीनों क्रियाएँ करते हैं। कोई देव हक्कार करते हैं, कोई देव वुक्कार करते हैं, कोई देव थक्कार करते हैं, कोई देव पुत्कार (फुफु) करते हैं, कोई देव नाम सुनाने लगते हैं, कोई देव उक्त सब क्रियाएँ करते हैं। कोई देव ऊपर उछलते हैं, कोई देव नीचे गिरते हैं, कोई देव तिरछे गिरते हैं, कोई देव ये तीनों क्रियाएँ करते हैं।

कोई देव जलने लगते हैं, कोई ताप से तप्त होने लगते हैं, कोई खूब तपने लगते हैं, कोई देव जलते-तपते-विशेष तपने लगते हैं, कोई देव गर्जना करते हैं, कोई देव बिजलियां चमकाते हैं, कोई देव वर्षा करने लगते हैं, कोई देव गर्जना, बिजली चमकाना और बरसाना तीनों काम करते हैं, कोई देव देवों का सम्मेलन करते हैं, कोई देव देवों को हवा में नचाते हैं, कोई देव देवों में कहकहा मचाते हैं, कोई देव हु हु हु हु करते हुए हर्षोल्लास प्रकट करते हैं, कोई देव उक्त सभी क्रियाएँ करते हैं, कोई देव देवोद्योत करते हैं, कोई देवविद्युत् का चमत्कार करते हैं, कोई देव चेलोत्क्षेप (वस्त्रों को हवा में फहराना) करते हैं। कोई देव उक्त सब क्रियाएँ करते हैं। किन्हीं देवों के हाथों में उत्पल कमल हैं यावत् किन्हीं के हाथों में सहस्रपत्र कमल हैं, किन्हीं के हाथों में घंटाएँ हैं, किन्हीं के हाथों में कलश हैं यावत् किन्हीं के हाथों में धूप के कडुच्छक हैं। इस प्रकार वे देव हृष्ट-तुष्ट हैं यावत् हर्ष के कारण उनके हृदय विकसित हो रहे हैं। वे उस विजयाराजधानी में चारों ओर इधर-उधर दौड़ रहे हैं—भाग रहे है।

विवेचन:—प्रस्तुत सूत्र में कतिपय नाट्यविधियों, वाद्यविधियों, गेयों और अभिनयों का उल्लेख है। राजप्रश्नोयसूत्र में सूर्याभ देव के द्वारा भगवान् श्री महावीर स्वामी के सन्मुख बत्तीस प्रकार की नाट्यविधियों का प्रदर्शन करने का उल्लेख है। वे बत्तीस नाट्यविधियाँ इस प्रकार हैं—

१. स्वस्तिकादि अष्टमंगलाकार अभिनयरूप प्रथम नाट्यविधि।
२. आवर्त प्रत्यावर्त्त यावत् पद्मलताभक्ति चित्राभिनयरूप द्वितीय नाट्यविधि।
३. ईहामृगवृषभतुरगनर यावत् पद्मलताभक्ति चित्रात्मक तृतीय नाट्यविधि।
४. एकताचक्र द्विधाचक्र यावत् अर्धचक्रवालाभिनय रूप।
५. चन्द्रावलिप्रविभक्ति सूर्यावलिप्रविभक्ति यावत् पुष्पावलिप्रविभक्ति रूप।
६. चन्द्रोद्गमप्रविभक्ति सूर्योद्गमप्रविभक्ति अभिनयरूप।
७. चन्द्रागमन-सूर्यागमनप्रविभक्ति अभिनयरूप।

८. चन्द्रावरणप्रविभक्ति सूर्यावरणप्रविभक्ति अभिनय रूप।
९. चन्द्रास्तमयनप्रविभक्ति सूर्यास्तमयनप्रविभक्ति अभिनय।
१०. चन्द्रमण्डलप्रविभक्ति सूर्यमण्डलप्रविभक्ति यावत् भूतमण्डलप्रविभक्तिरूप अभिनय।
११. ऋषभमण्डलप्रविभक्ति सिंहमण्डलप्रविभक्ति यावत् मत्तगजविलम्बित अभिनय रूप द्रुतविलम्बित नाट्य विधि।
१२. सागरप्रविभक्ति नागप्रविभक्ति अभिनय रूप।
१३. नन्दाप्रविभक्ति चम्पाप्रविभक्ति रूप अभिनय।
१४. मत्स्याण्डकप्रविभक्ति यावत् जारमारप्रविभक्ति रूप अभिनय।
१५. ककारप्रविभक्ति यावत् ङकारप्रविभक्ति रूप अभिनय।
१६. चकारप्रविभक्ति यावत् ञकारप्रविभक्ति रूप अभिनय।
१७. टकारप्रविभक्ति यावत् णकारप्रविभक्ति।
१८. तकारप्रविभक्ति यावत् नकारप्रविभक्ति।
१९. पकारप्रविभक्ति यावत् मकारप्रविभक्ति।
२०. अशोकपल्लवप्रविभक्ति यावत् कोशाम्बपल्लवप्रविभक्ति।
२१. पद्मलताप्रविभक्ति यावत् श्यामलताप्रविभक्तिरूप अभिनय।
२२. द्रुत नामक नाट्यविधि।
२३. विलम्बित नामक नाट्यविधि।
२४. द्रुतविलम्बित नामक नाट्यविधि।
२५. अंचित नामक नाट्यविधि।
२६. रिभित नामक नाट्यविधि।
२७. अंचित रिभित नामक नाट्यविधि।
२८. आरभट नामक नाट्यविधि।
२९. भसोल नामक नाट्यविधि।
३०. आरभट-भसोल नामक नाट्यविधि।
३१. उत्पातनिपातप्रसक्त संकुचितप्रसारित रेकरचित (रियारिय) भ्रान्त-सम्भ्रान्त नामक नाट्यविधि।
३२. चरमचरमनामानिबद्धनामा—भगवान् वर्धमान स्वामी का चरम पूर्व मनुष्यभव, चरम देवलोक भव, चरम च्यवन, चरम गर्भसंहरण, चरम तीर्थंकर जन्माभिषेक, चरम बालभाव, चरम यौवन, चरम निष्क्रमण, चरम तपश्चरण, चरम ज्ञानोत्पाद, चरम तीर्थप्रवर्तन, चरम परिनिर्वाण को बताने वाला अभिनय।

उक्त बत्तीस प्रकार की नाट्यविधियों में से कुछ का ही उल्लेख इस सूत्र में किया गया है।

वाद्य चार प्रकार के हैं—(१) तत—मृदंग, पटह आदि।
(२) वितत—वीणा आदि।
(३) घन—कंसिका आदि।
(४) शुषिर—बांसुरी (काहला) आदि।

गेय चार प्रकार के हैं—

(१) उत्क्षिप्त— प्रथम आरंभिक रूप।
(२) प्रवृत्त—उत्क्षिप्त अवस्था से अधिक ऊंचे स्वर से गेय।
(३) मन्दाय—मध्यभाग में मूर्छनादियुक्त मंद-मंद घोलनात्मक गेय।
(४) रोचितावसान—जिस गेय का अवसान यथोचित रूप से किया गया हो।

अभिनेय के चार प्रकार हैं—

(१) दार्ष्टान्तिक (२) प्रतिश्रुतिक (३) सामान्यतोविनिपातिक और (४) लोकमध्यावसान। इनका स्वरूप नाट्यकुशलों द्वारा जानना चाहिए।

१४१. [५] तए णं तं विजयं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ चत्तारि अग्गमहिसीओ सपरिवाराओ जाव सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ अण्णे य बहवे विजयरायहाणीवत्थव्वा वाणमंतरा देवा य देवीओ य तेहिं वरकमलपइट्ठाणेहिं जाव अट्ठसएणं सोवाण्णयाणं कलसाणं तं चेव जाव अट्ठसएणं भोमेज्जाणं कलसाणं सव्वोदगेहिं सव्वमट्टियाहिं सव्वतुवरेहिं सव्वपुप्फेहिं जाव सव्वोसहि-सिद्धत्थएहिं सव्विड्ढीए जाव निग्घोसनाइयरवेणं महया महया इंदाभिसेएणं अभिसिंचंति। अभिसिंचित्ता पत्तेयं पत्तेयं सिरसावत्तं अंजलिं कट्टु एवं वयासी—जय जय नंदा ! जय जय भद्दा ! जय जय नंद-भद्दा ! ते अजियं जिणेहि जियं पालयाहि, अजितं जिणेहि सत्तुपक्खं, जितं पालेहि मित्तपक्खं, जियमज्झे वसाहि तं देव ! निरुवसग्गं इंदो इव देवाणं, चंदो इव ताराणं, चमरो इव असुराणं, धरणो इव नागाणं, भरहो इव मणुयाणं बहूणि पलिओवमाइं बहूइं सागरोवमाणि चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव आयरक्खदेवसाहस्सीणं (विजयस्स देवस्स) विजयाए रायहाणीए अण्णेसिं च बहूणं विजयरायहाणिवत्थव्वाणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव आणाईसर सेणावच्चं करे-माणे पालेमाणे विहराहि त्ति कट्टु महया महया सद्देणं जय जय सद्दं पउंजंति।

[१४१] (५) तदनन्तर वे चार हजार सामानिक देव, परिवार सहित चार अग्र महिषियाँ यावत् सोलह हजार आत्मरक्षक देव तथा विजया राजधानी के निवासी बहुत से वाणव्यन्तर देव-देवियां उन श्रेष्ठ कमलों पर प्रतिष्ठित यावत् एक सौ आठ स्वर्णकलशों यावत् एक सौ आठ मिट्टी के कलशों से, सर्वोदक से, सब मिट्टियों से, सब ऋतुओं के श्रेष्ठ फूलों से यावत् सर्वौषधियों और सिद्धार्थकों से सर्व ऋद्धि के साथ यावत् वाद्यों की ध्वनि के साथ भारी उत्सवपूर्वक उस विजयदेव का इन्द्र के रूप में अभिषेक करते हैं। अभिषेक करके वे सब अलग-अलग सिर पर अंजलि लगाकर इस प्रकार कहते हैं—हे नंद ! आपकी जय हो विजय हो ! हे भद्र ! आपकी जय-विजय हो ! हे नन्द ! हे भद्र ! आपकी जय-विजय हो। आप नहीं जीते हुओं को जीतिये, जीते हुओं का पालन करिये, अजित शत्रु पक्ष को जीतिये और विजितों का पालन कीजिये, हे देव ! जितमित्र पक्ष का पालन कीजिए और उनके मध्य में रहिए। देवों में इन्द्र की तरह, असुरों में चमरेन्द्र की तरह, नागकुमारों में धरणेन्द्र की तरह, मनुष्यों में भरत चक्रवर्ती की तरह आप उपसर्ग रहित हों ! बहुत से पल्योपम और बहुत से सागरोपम तक चार हजार सामानिक देवों का, यावत् सोलह हजार आत्मरक्षक देवों का, इस विजया राजधानी का और इस राजधानी में निवास करने वाले अन्य बहुत-से वानव्यन्तर

देवों और देवियों का आधिपत्य यावत् आज्ञा-ऐश्वर्य और सेनाधिपत्य करते हुए, उनका पालन करते हुए आप विचरें। ऐसा कहकर बहुत जोर-जोर से जय-जय शब्दों का प्रयोग करते हैं—जय-जयकार करते हैं।

१४२. [१] तए णं से विजए देवे महया महया इंदाभिसेएणं अभिसित्ते समाणे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, सीहासणाओ अब्भुट्ठित्ता अभिसेयसभाओ पुरत्थिमेणं दारेणं पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता जेणामेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अलंकारियसभं अणुप्पयाहिणी करेमाणे पुरत्थिमेणं दारेण अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसण्णे।

तए णं तस्स विजयस्स देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा आभिओगिए देवे सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—खिप्पामेव देवाणुप्पिया! विजयस्स देवस्स अलंकारियं भंडं उवणेह। तहेव ते अलंकारियं भंडं जाव उवट्ठवेंति।

तए णं से विजए देवे तप्पढमयाए पम्हलसूमालाए दिव्वाए सुरभीए गंधकासाईए गायाइं लूहेइ, गायाइं लूहित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपइ, अणुलिंपित्ता (तओऽणंतरं च णं) नासाणीसासवायवोज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हयलालापेलवातिरेगं धवलं कणगखइयंतकम्मं आगासफलिहसरिसप्पभं अहयं दिव्वं देवदूसजुयलं णियंसेइ णियंसेत्ता हारं पिणद्धेइ, पिणिद्धेत्ता एवं एकावलिं पिणद्धेइ, एवं एएणं आभिलावेणं मुत्तावलिं रयणावलिं कडगाइं तुडियाइं अंगयाइं केयूराइं दसमुद्दियाणंतकं कडिसुत्तकं (तेअत्थिसुत्तगं) मुरविं कंठमुरविं पालंबंसि कुंडलाइं चूडामणिं चित्तरयणुक्कडं मउडं पिणद्धेइ, पिणिद्धित्ता[1] गंठिमवेढिमपूरिमसंघाइमेणं चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खयंपिव अप्पाणं अलंकिय विभूसियं करेइ, करेत्ता दद्दरमलयसुगंधगंधिएहिं गंधेहिं गायाइं सुक्किडइ, सुक्किडित्ता दिव्वं च सुमणदामं पिणद्धइ।

तए णं से विजए देवे केसालंकारेण वत्थालंकारेण मल्लालंकारेण आभरणालंकारेण चउव्विहेण अलंकारेणं विभूसिए समाणे पडिपुण्णालंकारे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता अलंकारियसभाओ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव ववसायसभा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ववसायसभं अणुप्पदाहिणं करेमाणे करेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे।

तए णं तस्स विजयस्स देवस्स आभिओगिया देवा पोत्थयरयणं उवणेंति। तए णं से विजए देवे पोत्थयरयणं गेण्हइ, गेण्हित्ता पोत्थयरयणं मुयइ, पोत्थयरयणं मुएत्ता पोत्थयरयणं विहाडेइ, विहाडेत्ता पोत्थयरयणं वाएइ, वाएत्ता धम्मियं ववसायं पगेण्हइ, पगेण्हित्ता पोत्थयरयणं पडिणिक्खवेइ, पडिणिक्खवित्ता सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता ववसायसहाओ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं पडिणिक्ख-

---

१. अत्र 'दिव्वं च सुमणदामं पिणद्धई' इत्येवं पाठः दृश्यते वृत्त्यनुसारेण। 'गंठिम० इत्यादि यावत् अलंकियविभूसियं करेइ करेत्ता परिपुण्णालंकारे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ' एवंभूतो पाठः संभाव्यते वृत्तिव्याख्यानुसारेण।

मइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता णंदं पुक्खरिणिं अणुप्पयाहिणी करेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता पुरत्थिमिल्लेणं तिसोपाणपडिरूवएणं पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता हत्थं पायं पक्खालेइ, पक्खालित्ता एगं महं रययामयं विमलसलिलपुण्णं मत्तगयमहामुहागिइसमाणं भिंगारं पगिण्हइ, भिंगारं पगिण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं पउमाइं जाव सयपत्तसहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हइ, गिण्हित्ता णंदाओ पुक्खरिणीओ पच्चुत्तरेइ पच्चुत्तरित्ता जेणेव सिद्धायतणे तणेव पहारेत्थ गमणाए।

[१४२] (१) तब वह विजयदेव शानदार इन्द्राभिषेक से अभिषिक्त हो जाने पर सिंहासन से उठता है और उठकर अभिषेकसभा के पूर्व दिशा के द्वार से बाहर निकलता है और अलंकारसभा की ओर जाता है और अलंकारसभा की प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशा के द्वार से उसमें प्रवेश करता है। प्रवेश कर जिस ओर सिंहासन था उस ओर आकर उस श्रेष्ठ सिंहासन पर पूर्व की ओर मुख करके बैठा।

तदनन्तर उस विजयदेव की सामानिकपर्षदा के देवों ने आभियोगिक देवों को बुलाया और ऐसा कहा—'हे देवानुप्रियो! शीघ्र ही विजयदेव का आलंकारिक भाण्ड (सिंगारदान) लाओ।' वे आभियोगिक देव आलंकारिक भाण्ड लाते हैं। तब विजयदेव ने सर्वप्रथम रोएंदार सुकोमल दिव्य सुगन्धित गंधकाषायिक (तौलिये) से अपने शरीर को पोंछा। शरीर पोंछ कर सरस गोशीर्ष चन्दन से शरीर पर लेप लगाया। लेप लगाने के पश्चात् श्वास की वायु से उड़ जाय ऐसा, नेत्रों को हरण करने वाला, सुन्दर रंग और मृदु स्पर्श युक्त, घोड़े की लाला (लार) से अधिक मृदु और सफेद, जिसके किनारों पर सोने के तार खचित हैं, आकाश और स्फटिकरत्न की तरह स्वच्छ, अक्षत ऐसे दिव्य देवदूष्य-युगल को धारण किया। तदनन्तर हार पहना, और एकावली, मुक्तावली, कनकावली और रत्नावली हार पहने, कड़े, त्रुटित (भुजबंद), अंगद (बाहु का आभरण) केयूर दसों अंगुलियों में अंगूठियाँ, कटिसूत्र (करधनी-कंदोरा), त्रि-अस्थिसूत्र (आभरण विशेष) मुरवी, कंठमुरवी, प्रालंब (शरीर प्रमाण स्वर्णाभूषण) कुण्डल, चूडामणि और नाना प्रकार के बहुत रत्नों से जड़ा हुआ मुकुट-धारण किया। ग्रन्थिम, वेष्टिम, पूरिम और संघातिम—इस प्रकार चार तरह की मालाओं से कल्पवृक्ष की तरह स्वयं को अलंकृत और विभूषित किया। फिर दर्दर मलय चन्दन की सुगंधित गंध से अपने शरीर को सुगंधित किया और दिव्य सुमनरत्न (फूलों की माला) को धारण किया। तदनन्तर वह विजयदेव केशालंकार, वस्त्रालंकार, माल्यालंकार और आभरणालंकार—ऐसे चार अलंकारों से अलंकृत होकर और परिपूर्ण अलंकारों से सज्जित होकर सिंहासन से उठा और आलंकारिक सभा के पूर्व के द्वार से निकलकर जिस ओर व्यवसायसभा है, उस ओर आया। व्यवसायसभा की प्रदक्षिणा करके पूर्व के द्वार से उसमें प्रविष्ट हुआ और जहाँ सिंहासन था उस ओर जाकर श्रेष्ठ सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठा।

तदनन्तर उस विजयदेव के आभियोगिक देव पुस्तकरत्न लाकर उसे अर्पित करते हैं। तब वह विजयदेव उस पुस्तकरत्न को ग्रहण करता है, पुस्तकरत्न को अपनी गोद में लेता है, पुस्तकरत्न को खोलता है और पुस्तकरत्न का वाचन करता है। पुस्तकरत्न का वाचन करके उसके धार्मिक मर्म को ग्रहण करता है (उसमें अंकित धर्मानुगत व्यवसाय को करने की इच्छा करता है)। तदनन्तर पुस्तकरत्न को वहाँ रखकर सिंहासन से उठता है और व्यवसायसभा के पूर्ववर्ती द्वार से बाहर निकल

कर जहाँ नन्दापुष्करिणी है, वहाँ आता है। नंदापुष्करिणी की प्रदक्षिणा करके पूर्व के द्वार से उसमें प्रवेश करता है। पूर्व के त्रिसोपानप्रतिरूपक से नीचे उतर कर हाथ-पांव धोता है और एक बड़ी श्वेत चांदी की मत्त हाथी के मुख की आकृति की विमलजल से भरी हुई झारी को ग्रहण करता है और वहाँ के उत्पल कमल यावत् शतपत्र-सहस्रपत्र कमलों को लेता है और नंदापुष्करिणी से बाहर निकल कर जिस ओर सिद्धायतन है उस ओर जाने का संकल्प किया (उधर जाने लगा)।

१४२. [२] तए णं तस्स विजयदेवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ जाव अण्णे य बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य अप्पेगइया उप्पलहत्थगया जाव (सयसहस्सपत्त) हत्थगया विजयं देवं पिट्ठओ पिट्ठओ अणुगच्छंति। तए णं तस्स विजयस्स देवस्स बहवे आभिओगिया देवा य देवीओ य कलसहत्थगया जाव धूवकडुच्छयहत्थगया विजयं देवं पिट्ठओ पिट्ठओ अणुगच्छंति।

तए णं से विजए देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं जाव अण्णेहि य बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए सव्वज्जुईए जाव णिग्घोसणादियरवेणं जेणेव सिद्धाययणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सिद्धायतणं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे करेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव देवच्छंदए तेणेव उवागच्छाई, उवागच्छित्ता आलोए जिणपडिमाणं पणामं करेइ, करित्ता लोमहत्थगं गेण्हति लोमहत्थगं गेण्हित्ता जिणपडिमाओ लोमहत्थएणं पमज्जति, पमज्जित्ता सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेइ ण्हाणित्ता दिव्वाए सुरभिगंधकासाइएणं गायाइं लूहेइ, लूहित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपइ, अणुलिंपित्ता जिणपडिमाणं अहयाइं सेयाइं दिव्वाइं देवदूसजुयलाइं णियंसेइ, णियंसित्ता अग्गेहिं वरेहिं य गंधेहिं य मल्लेहिं य अच्चेइ, अच्चित्ता पुप्फारुहणं गंधारुहणं मल्लारुहणं वण्णारुहणं चुण्णारुहणं आभरणारुहणं करेइ, करित्ता आसत्तोसत्त-विउल-वट्टवग्घारियमल्लदामकलावं करेइ, करित्ता अच्छेहिं सण्हेहिं (सेएहिं) रययामएहिं अच्छरसातंदुलेहिं जिणपडिमाणं पुरओ अट्ठट्ठमंगलए आलिहति सोत्थिय सिरिवच्छ जाव दप्पणा, आलिहित्ता कयग्गाहग्गहियकरतलपब्भट्ठविप्पमुक्केणं दसद्धवण्णेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फ पुंजोवयारकलियं करेइ, करेत्ता चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडं कंचणमणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवगंधुत्तमाणुविद्धं धूमवट्टिं विणिमुयंतं वेरुलियामयं कडुच्छुयं पग्गहित्तु पयत्तेणं धूवं दाऊण सत्तट्ठपयाइं ओसरइ ओसरित्ता जिणवराणं अट्ठसयविसुद्धगंथजुत्तेहिं महावित्तेहिं अत्थजुत्तेहिं अपुणरुत्तेहिं संथुणइ, संथुणित्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचित्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि णिवाडेइ तिक्खुत्तो मुद्धाणं धराणियलंसि णमेई, णमित्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमित्ता कडयतुडियथंभियाओ भुयाओ पडिसाहरइ, पडिसाहरित्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—'णमोत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं जाव सिद्धिगइणामधेयं ठाणं संपत्ताणं' तिकट्टु वंदति णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता जेणेव सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खइ, अब्भुक्खित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलेणं मंडलं आलिहइ, आलिहित्ता चच्चए दलयइ, चच्चए दलइत्ता कयग्गाहग्गहियकरतलपब्भट्ठविमुक्केणं दसद्धवण्णेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं करेइ, करित्ता धूवं दलयइ, दलइत्ता जेणेव सिद्धायतणस्स दाहिणिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता लोमहत्थयं गेण्हइ, गेण्हित्ता

दारचेडीओ य सालभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पमज्जइ, पमज्जित्ता बहुमज्झदेसभाए सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलेणं अणुलिंपइ, अणुलिंपित्ता चच्चए दलयइ, दलइत्ता पुप्फारुहणं जाव आभरणारुहणं करेइ, करित्ता आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं करेइ, करित्ता कयग्गाहगहिय जाव पुप्फपुंजोवयारकलियं करेइ, करेत्ता धूवं दलयइ, दलइत्ता जेणेव मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता बहुमज्झदेसभाए लोमहत्थेणं पमज्जइ, पमज्जित्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेइ, अब्भुक्खित्ता सरसेण गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलेणं मंडलगं आलिहइ, आलिहित्ता चच्चए दलयइ, कयग्गाह० जाव धूवं दलयइ, दलइत्ता जेणेव मुहमंडवगस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ।

[१४२] (२) तदनन्तर विजयदेव के चार हजार सामानिक देव यावत् और अन्य भी बहुत-सारे वानव्यन्तर देव और देवियां कोई हाथ में उत्पल कमल लेकर यावत् कोई शतपत्र सहस्रपत्र कमल हाथों में लेकर विजयदेव के पीछे-पीछे चलते हैं। उस विजयदेव के बहुत सारे आभियोगिक देव और देवियां कोई हाथ में कलश लेकर यावत् धूप का कडुच्छुक हाथ में लेकर विजयदेव के पीछे-पीछे चलते हैं।

तब वह विजयदेव चार हजार सामानिक देवों के साथ यावत् अन्य बहुत-सारे वानव्यन्तर देवों और देवियों के साथ और उनसे घिरे हुए सब प्रकार की ऋद्धि और सब प्रकार की द्युति के साथ यावत् वाद्यों की गूंजती हुई ध्वनि के बीच जिस ओर सिद्धायतन था, उस ओर आता है और सिद्धायतन की प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशा के द्वार से सिद्धायतन में प्रवेश करता है और जहां देवछंदक था वहां आता है और जिन प्रतिमाओं को देखते ही प्रणाम करता है। फिर लोमहस्तक लेकर जिन-प्रतिमाओं का प्रमार्जन करता है और सुगंधित गंधोदक से उन्हें नहलाता है, दिव्य सुगंधित गंधकाषायिक (तौलिए) से उनके अवयवों को पोंछता है, सरस गोशीर्ष चन्दन का उनके अंगों पर लेप करता है, फिर जिनप्रतिमाओं को अक्षत, श्वेत और दिव्य देवदूष्य-युगल पहनाता है और श्रेष्ठ, प्रधान गंधों से, माल्यों से उन्हें पूजता है; पूजकर फूल चढ़ाता है, गंध चढ़ाता है, मालाएँ चढ़ाता है—वर्णक (केसरादि) चूर्ण और आभरण चढ़ाता है। फिर ऊपर से नीचे तक लटकती हुई, विपुल और गोल बड़ी-बड़ी मालाएँ चढ़ाता है। तत्पश्चात् स्वच्छ, सफेद, रजतमय और चमकदार चावलों से जिन-प्रतिमाओं के आगे आठ-आठ मंगलों का आलेखन करता है। वे आठ मंगल हैं—स्वस्तिक, श्रीवत्स यावत् दर्पण। आठ मंगलों का आलेखन करके कचग्राह से गृहीत और करतल से मुक्त होकर बिखरे हुए पांच वर्णों के फूलों से पुष्पोपचार करता है (फूल पूजा करता है)। चन्द्रकान्त मणि-वज्रमणि और वैडूर्यमणि से युक्त निर्मल दण्ड वाले, कंचन-मणि और रत्नों से विविधरूपों में चित्रित, काला अगुरु श्रेष्ठ कुंदरुक्क और लोभान के धूप की उत्तम गंध से युक्त, धूप की वाती को छोड़ते हुए वैडूर्यमय कडुच्छुक को लेकर सावधानी के साथ धूप देकर सात आठ पांव पीछे सरक कर जिनवरों की एक सौ आठ विशुद्ध ग्रन्थ (शब्द संदर्भ) युक्त, महाछन्दों वाले, अर्थयुक्त और अपुनरुक्त स्तोत्रों से स्तुति करता है। स्तुति करके बायें घुटने को ऊँचा रखकर तथा दक्षिण (दायें) घुटने को जमीन से लगाकर तीन बार अपने मस्तक को जमीन पर नमाता है, फिर थोड़ा ऊँचा उठाकर अपनी कटक और त्रुटित (बाजुबंद) से स्तंभित भुजाओं को संकुचित कर हाथ जोड़ कर, मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार बोलता है—'नमस्कार हो अरिहन्त भगवन्तों को यावत जो सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त हुए

हैं।' ऐसा कहकर वन्दन करता है, नमस्कार करता है। वन्दन-नमस्कार करके जहाँ सिद्धायतन का मध्यभाग है वहाँ आता है और दिव्य जल की धारा से उसका सिंचन करता है, सरस गोशीर्ष चन्दन से हाथों को लिप्तकर पांचों अंगुलियों से एक मंडल बनता है, उसकी अर्चना करता है और कचग्राह ग्रहीत और करतल से विमुक्त होकर बिखरे हुए पांच वर्णों के फूलों से उसको पुष्पोपचारयुक्त करता है और धूप देता है। धूप देकर जिधर सिद्धायतन का दक्षिण दिशा का द्वार है उधर जाता है। वहां जाकर लोमहस्तक लेकर द्वार शाखा, शालभंजिका तथा व्यालरूपक का प्रमार्जन करता है, उसके मध्यभाग को सरस गोशीर्ष चन्दन से लिप्त हाथों से लेप लगाता है, अर्चना करता है, फूल चढ़ाता है, यावत् आभरण चढ़ाता है, ऊपर से लेकर जमीन तक लटकती बड़ी बड़ी मालाएँ रखता है और कचग्राह ग्रहीत और करतल विप्रमुक्त फूलों से पुष्पोपचार करता है, धूप देता है और जिधर मुखमण्डप का बहुमध्यभाग है वहां जाकर लोमहस्तक से प्रमार्जन करता है, दिव्य उदकधारा से सिंचन करता है, सरस गोशीर्ष चन्दन से लिप्त पंचागुलितल से मण्डल का आलेखन करता है, अर्चना करता है, कचग्राहग्रहीत और करतलविमुक्त होकर बिखरे हुए पांचों वर्णों के फूलों का ढेर लगाता है, धूप देता है और जिधर मुखमण्डप का पश्चिम दिशा का द्वार है, उधर जाता है।

१४२. [३] उवागच्छित्ता लोमहत्थगं गेण्हइ, गेण्हित्ता दारचेडीओ य सालभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थगेणं पमज्जइ, पमज्जित्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेइ, अब्भुक्खित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं जाव चच्चए दलयइ, दलइत्ता आसत्तोसत्त० कयग्गाह० धूवं दलयइ, धूवं दलइत्ता जेणेव मुहमंडवगस्स उत्तरिल्लाणं खंभपंती तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता लोमहत्थगं परामुसइ, सालभंजियाओ दिव्वाए उदगधाराए० सरसेणं गोसीसचंदणेणं पुप्फारुहणं जाव आसत्तोसत्त० कयग्गाह० धूवं दलयइ, जेणेव मुहमंडवस्स पुरत्थिमिल्ले दारे तं चेव सव्वं भाणियव्वं जाव दारस्स अच्चणिया। जेणेव दाहिणिल्ले दारे तं चेव पेच्छाघरमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए जेणेव वइरामए अक्खाडए जेणेव मणिपेढिया जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता लोमहत्थगं गिण्हइ, गिण्हित्ता अक्खाडगं य सीहासणं य लोमहत्थगेण पमज्जइ, पमज्जित्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेइ० पुप्फारुहणं जाव धूवं दलयइ। जेणेव पेच्छाघरमण्डवस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे दारच्चणिया उत्तरिल्ला खंभपंती तहेव पुरत्थिमिल्ले दारे तहेव जेणेव दाहिणिल्ले दारे तहेव जेणेव चेइयथूभे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता लोमहत्थगं गेण्हइ, गेण्हित्ता चेइयथूभं लोमहत्थेणं पमज्जइ, दिव्वाए दगधाराए० सरसेणं० पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त० जाव धूवं दलयइ, दलयित्ता जेणेव पच्चत्थिमिल्ला मणिपेढिया जेणेव जिणपडिमा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आलोए पणामं करेइ, करित्ता लोमहत्थं गेण्हइ, गेण्हित्ता तं चेव सव्वं जं जिणपडिमाणं जाव सिद्धगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं वंदति णमंसइ। एवं उत्तरिल्लाए वि, एवं पुरत्थिमिल्लाए वि, एवं दाहिणिल्लाए वि। जेणेव चेइयरुक्खा दारविही य मणिपेढिया जेणेव महिंदज्झए दारविही, जेणेव दाहिणिल्ला नंदा पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, लोमहत्थगं गेण्हइ, चेइयाओ य तिसोवाणपडिरूवए य तोरणे य सालभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थगेण पमज्जइ, दिव्वाए दगधाराए सिंचइ सरसेणं गोसीसचंदणेणं अणुलिंपइ, पुप्फारुहणं जाव धूवं दलयइ, दलइत्ता सिद्धायतणं अणुप्पयाहिणं करेमाणे जेणेव उत्तरिल्ला णंदा पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, तहेव

महिंदज्झया चेइयरुक्खो चेइयथूभो, पच्चत्थिमिल्ला मणिपेढिया जिणपडिमा उत्तरिल्ला पुरत्थिमिल्ला दक्खिणिल्ला पेच्छाघरमंडवस्स वि तहेव जहा दक्खिणिल्लस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे जाव दक्खिणिल्ला णं खंभपंती मुहमंडवस्स वि तिण्हं दाराणं अच्चणिया भाणिऊणं दक्खिणिल्लाणं खंभपंती उत्तरे दारे पुरच्छिमे दारे सेसं तेणेव कमेण जाव पुरत्थिमिल्ला णंदापुक्खरिणी जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

[१४२] (३) (मुखमण्डप के पश्चिम दिशा के द्वार पर) आकर लोमहस्तक लेता है और द्वारशाखाओं, शालभंजिकाओं और व्यालरूपक का लोमहस्तक से प्रमार्जन करता है, दिव्य उदकधारा से सिंचन करता है, सरस गोशीर्ष चन्दन का लेप करता है यावत् अर्चन करता है, ऊपर से नीचे तक लम्बी लटकती हुई बड़ी-बड़ी मालाएँ रखता है, कचग्राहग्रहीत करतलविमुक्त पांच वर्णों के फूलों से पुष्पोपचार करता है, धूप देता है। फिर मुखमंडप की उत्तर दिशा की स्तंभपंक्ति की ओर जाता है, लोमहस्तक से शालभंजिकाओं का प्रमार्जन करता है, दिव्य जलधारा से सिंचन करता है, सरस गोशीर्ष चन्दन का लेप करता है, फूल चढ़ाता है यावत् बड़ी-बड़ी मालाएँ रखता है, कचग्राहग्रहीत करतलविमुक्त होकर बिखरे हुए फूलों से पुष्पोपचार करता है, धूप देता है। फिर मुखमण्डप के पूर्व के द्वार की ओर जाता है और वह सब कथन पूर्ववत् करना चाहिए यावत् द्वार की अर्चना करता है। इसी तरह दक्षिण दिशा के द्वार में वैसा ही कथन करना चाहिए। फिर प्रेक्षाघरमण्डप के बहुमध्यभाग में जहाँ वज्रमय अखाडा है, जहाँ मणिपीठिका है, जहाँ सिंहासन है वहाँ आता है, लोमहस्तक लेता है, अखाडा, मणिपीठिका और सिंहासन का प्रमार्जन करता है, उदकधारा से सिंचन करता है, फूल चढ़ाता है यावत् धूप देता है। फिर प्रेक्षाघरमण्डप के पश्चिम के द्वार में द्वारपूजा, उत्तर की खंभपंक्ति में वैसा ही कथन, पूर्व के द्वार में वैसा ही कथन, दक्षिण के द्वार में भी वही कथन करना चाहिए। फिर जहाँ चैत्यस्तूप है वहाँ आता है, लोमहस्तक से चैत्यस्तूप का प्रमार्जन, उदकधारा से सिंचन, सरस चन्दन से लेप, पुष्प चढ़ाना, मालाएँ रखना, धूप देना आदि विधि करता है। फिर पश्चिम की मणिपीठिका और जिनप्रतिमा है वहाँ जाकर जिनप्रतिमा को देखते ही नमस्कार करता है, लोमहस्तक से प्रमार्जन करता है आदि कथन यावत् सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त अरिहन्त भगवंतों को वन्दन करता है, नमस्कार करता है। इसी तरह उत्तर की, पूर्व की और दक्षिण की मणिपीठिका और जिनप्रतिमाओं के विषय में भी कहना चाहिए। फिर जहाँ दाक्षिणात्य चैत्यवृक्ष है वहाँ जाता है, वहाँ पूर्ववत् अर्चना करता है, वहाँ से महेन्द्रध्वज के पास आकर पूर्ववत् अर्चना करता है। वहाँ से दाक्षिणात्य नंदापुष्करिणी के पास आता है, लोमहस्तक लेता है और चैत्यों, त्रिसोपानप्रतिरूपक, तोरण, शालभंजिकाओं और व्यालरूपकों का प्रमार्जन करता है, दिव्य उदकधारा से सिंचन करता है, सरस गोशीर्ष चन्दन से लेप करता है, फूल चढ़ाता है यावत् धूप देता है। तदनन्तर सिद्धायतन की प्रदक्षिणा करता हुआ जिधर उत्तर दिशा की नंदापुष्करिणी है उधर जाता है। उसी तरह महेन्द्रध्वज, चैत्यवृक्ष, चैत्यस्तूप, पश्चिम की मणिपीठिका और जिनप्रतिमा, उत्तर, पूर्व और दक्षिण की मणिपीठिका और जिनप्रतिमाओं का कथन करना चाहिए। तदनन्तर उत्तर के प्रेक्षाघरमण्डप में आता है, वहाँ दक्षिण के प्रेक्षागृहमण्डप की तरह सब कथन करना चाहिए। वहाँ से उत्तरद्वार से निकलकर उत्तर के मुखमण्डप में आता है। वहाँ दक्षिण के मुखमण्डप की भांति सब विधि करके उत्तर द्वार से निकल कर सिद्धायतन के पूर्वद्वार पर आता है। वहाँ पूर्ववत् अर्चना करके पूर्व के मुखमण्डप

के दक्षिण, उत्तर और पूर्ववर्ती द्वारों में क्रम से पूर्वोक्त रीति से पूजा करके पूर्वद्वार से निकल कर पूर्व-प्रेक्षामण्डप में आकर पूर्ववत् अर्चना करता है। फिर पूर्व रीति से क्रमशः चैत्यस्तूप, जिनप्रतिमा, चैत्यवृक्ष, माहेन्द्रध्वज और नन्दापुष्करिणी की पूजा-अर्चना करता है। वहाँ से सुधर्मा सभा की ओर आने का संकल्प करता है।

१४२. [४] तए णं तस्स विजयस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ एयप्पभिइं जाव सव्विड्ढीए जाव णाइयरवेणं जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तं णं सभं सुहम्मं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता आलोए जिणसकहाणं पणामं करेइ, करित्ता जेणेव मणिपेढिया जेणेव माणवचेइयखंभे जेणेव वइरामया गोलवट्टसमुग्गका तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता लोमहत्थयं गेण्हइ, गेण्हित्ता वइरामए गोलवट्टसमुग्गए लोमहत्थएण पमज्जइ, पमज्जित्ता वइरामए गोलवट्टसमुग्गए विहाडेइ, विहाडित्ता जिणसकहाओ लोमहत्थेणं पमज्जइ, पमज्जित्ता सुरभिणा गंधोदगेणं तिसत्तखुत्तो जिणसकहाओ पक्खालेइ, पक्खालित्ता सरसेणं गोसीस-चंदणेणं अणुलिंपइ अणुलिंपित्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं मल्लेहिं य अच्चिणइ, अच्चिणित्ता धूवं दलयइ, दलइत्ता वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु पडिणिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता माणवकं चेइयखंभं लोमहत्थएणं पमज्जइ, पमज्जित्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेइ, अब्भुक्खित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चए दलयइ, दलइत्ता पुप्फारुहणं जाव आसत्तोसत्त० कयग्गाह० धूवं दलयइ, दलइत्ता जेणेव सभाए सुहम्माए बहुमज्झदेसभाए तं चेव, जेणेव सीहासणे तेणेव जहा दारच्चणिया जेणेव देवसयणिज्जे तं चेव, जेणेव खुड्डागे महिंदज्झए तं चेव, जेणेव पहरणकोसे चोप्पाले तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पत्तेयं पत्तेयं पहरणाइं लोमहत्थएणं पमज्जइ, पमज्जित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं तहेव सव्वं सेसं पि दक्खिणदारं आदिकाउं तहेव णेयव्वं जाव पुरच्छिमिल्ला णंदापुक्खरिणी। सव्वाणं सभाणं जहा सुहम्माए सभाए तहा अच्चणिया उववायसभाए णवरि देवसयणिज्जस्स अच्चणिया, सेसासु सीहासणाण अच्चणिया, हरयस्स जहा णंदाए पुक्खरिणीए अच्चणिया, ववसायसभाए पोत्थयरयणं लोम० दिव्वाए उदगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं अणुलिंपइ, अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं य मल्लेहिं य अच्चिणइ, अच्चिणित्ता सीहासणे लोमहत्थएणं पमज्जइ जाव धूवं दलयइ सेसं तं चेव, णंदाए जहा हरयस्स तहा जेणेव बलिपीढं तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आभिओगिए देवे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! विजयाए रायहाणीए सिंघाडगेसु य चउक्केसु य चच्चरेसु य चउम्मुहेसु य महापहपहेसु य पासाएसु य पागारेसु य अट्टालएसु य चरियासु य दारेसु य गोपुरेसु य तोरणेसु य वावीसु य पुक्खरिणीसु य जाव बिलपंतियासु य आरामेसु य उज्जाणेसु य काणणेसु य वणेसु य वणसंडेसु य वणराईसु य अच्चणियं करेह करित्ता ममेयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह।

तए णं ते आभिओगिआ देवा विजएणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा जाव हट्ठतुट्ठा विणएणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता विजयाए रायहाणीए सिंघाडगेसु य जाव अच्चणियं करेत्ता जेणेव विजए देवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणंति।

तए णं से विजए देवे तेसिं णं आभिओगियाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ-चित्तमाणंदिए जाव हयहियए जेणेव नंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पुरत्थिमिल्लेणं तोरणेणं जाव हत्थपायं पक्खालेइ, पक्खालित्ता आयंते चोक्खे परमसुइभूए णंदापुक्खरिणीओ पच्चुत्तरइ, पच्चुत्तरित्ता जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

तए णं विजए देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं जाव सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं सव्विड्ढीए जाव णिग्घोसणाइयरवेणं जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सभं सुहम्मं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव मणिपेढिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरच्छिमाभिमुहे सण्णिसण्णे।

[१४२] (४) तब वह विजयदेव अपने चार हजार सामानिक देवों आदि अपने समस्त परिवार के साथ, यावत् सब प्रकार की ऋद्धि के साथ वाद्यों की ध्वनि के बीच सुधर्मा सभा की ओर आता है और उसकी प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशा के द्वार से उसमें प्रवेश करता है। प्रवेश करने पर जिन-अस्थियों को देखते ही प्रणाम करता है और जहाँ मणिपीठिका है, जहाँ माणवक चैत्यस्तंभ है और जहाँ वज्ररत्न की गोल वर्तुल मंजूषाएँ हैं, वहाँ आता है और लोमहस्तक लेकर उन गोल-वर्तुलाकार मंजूषाओं का प्रमार्जन करता है और उनको खोलता है, उनमें रखी हुई जिन-अस्थियों का लोमहस्तक से प्रमार्जन कर सुगन्धित गन्धोदक से इक्कीस बार उनको धोता है, सरस गोशीर्ष चन्दन का लेप करता है, प्रधान और श्रेष्ठ गंधों और मालाओं से पूजता है और धूप देता है। तदनन्तर उनको उन गोल वर्तुलाकार मंजूषाओं में रख देता है। इसके बाद माणवक चैत्यस्तंभ का लोमहस्तक से प्रमार्जन करता है, दिव्य उदकधारा से सिंचन करता है, सरस गोशीर्ष चन्दन का लेप करता है, फूल चढ़ाता है, यावत् लम्बी लटकती हुई फूलमालाएँ रखता है, कचग्राहग्रहीत और करतल से विमुक्त हुए बिखरे पांच वर्णों के फूलों से पुष्पोपचार करता है, धूप देता है। इसके बाद सुधर्मा सभा के मध्यभाग में जहाँ सिंहासन है वहाँ आकर सिंहासन का प्रमार्जन आदि पूर्ववत् अर्चना करता है। इसके बाद जहाँ मणिपीठिका और देवशयनीय है वहाँ आकर पूर्ववत् पूजा करता है। इसी प्रकार क्षुल्लक महेन्द्रध्वज की पूजा करता है। इसके बाद जहाँ चौपालक नामक प्रहरणकोष [शस्त्रागार] है वहाँ आकर शस्त्रों का लोमहस्तक से प्रमार्जन करता है, उदकधारा से सिंचन कर, चन्दन का लेप लगाकर, पुष्पादि चढ़ाकर धूप देता है। इसके पश्चात् सुधर्मा सभा के दक्षिण द्वार पर आकर पूर्ववत् पूजा करता है, फिर दक्षिण द्वार से निकलता है। इससे आगे सारी वक्तव्यता सिद्धायतन की तरह कहना चाहिए यावत् पूर्वदिशा की नंदापुष्करिणी की अर्चना करता है। सब सभाओं की पूजा का कथन सुधर्मा सभा की तरह जानना चाहिए। अन्तर यह है कि उपपात सभा में देवशयनीय की पूजा का कथन करना चाहिए और शेष सभाओं में सिंहासनों की पूजा का कथन करना चाहिए। ह्रद की पूजा का कथन नंदापुष्करिणी की तरह करना चाहिए। व्यवसायसभा में पुस्तकरत्न का लोमहस्तक से प्रमार्जन, दिव्य उदकधारा से सिंचन, सरस गोशीर्ष चन्दन से अनुलिपन, प्रधान एवं श्रेष्ठ गंधों और माल्यों से अर्चन करता है। तदनन्तर सिंहासन का प्रमार्जन यावत् धूप देता है। शेष सब कथन पूर्ववत् करना चाहिए। ह्रद का कथन नंदापुष्करिणी की तरह करना चाहिए। तदनन्तर जहाँ बलिपीठ है, वहाँ जाता है और वहाँ अर्चादि करके आभियोगिक देवों को बुलाता है और उन्हें कहता है कि हे